अंक : 67, भाग : 1, वर्ष : 2021-22
Vol. : 67, No. : 1, Year : 2021-22

ISSN:0554-9884
U.G.C. Care Listed Journal

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

भारत रत्न महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय जी का सन्देश

"दीन निर्धन देशवासियों की सेवा द्वारा ईश्वर की उपासना करें, तथा सार्वजनिन प्रेम से इस सत्यज्ञान के प्रचार से ईश्वरीय शक्ति का संगठन और विस्तार करें, जगत् से अज्ञान को दूर करें, अन्याय और अत्याचार को रोकें, और सत्य, न्याय और दया का प्रचार कर मनुष्यों में परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें।।"

"मनुष्य को परमात्मा ने सबसे बड़ी निधि बुद्धि दी है। जो वस्तु बुद्धि को मैली करती है या हर लेती है उसको मादक अर्थात् नशीला द्रव्य कहते हैं। मनुष्य को उचित है कि किसी प्रकार का नशीला पदार्थ कभी ग्रहण न करें।"

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नाऽपुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ।।

भारतरत्न पं० मदन मोहन मालवीय जी

संस्थापक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आविर्भाव : वि.सं. 1918 पौषकृष्ण 8 (25.12.1861)
तिरोभाव : वि.सं. 2003 मार्गशीर्षकृष्ण (12.11.1946)

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
BANARAS HINDU UNIVERSITY

सुधीर कुमार जैन
कुलपति
Sudhir K. Jain
Vice Chancellor

जून २५, २०२२

शुभ–संदेश

भारत रत्न पूज्य महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी द्वारा संस्थापित विश्वविख्यात काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठित शोध पत्रिका **प्रज्ञा** के नवीनतम अंक– 67, भाग–1, वर्ष 2021–22 के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपनी हार्दिक प्रसन्नता अभिव्यक्त करता हूँ। हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी भाषा में लिखे गये गवेषणापूर्ण लेखों का संकलित स्वरूप यह त्रैभाषिक पत्रिका सन् 1958 ई. से अनवरत प्रकाशित हो रही है जिसमें राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के अनेक विद्वानों के शोध प्रपत्र/लेख संकलित रहते हैं। निःसंदेह यह पत्रिका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की वैदुष्य परम्परा का सफल निर्वहन करती आ रही है। लेखों की सारगर्भिता के कारण ही यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रस्तुत ''केयर लिस्ट'' में भी सम्मिलित की गयी है।

आशा है गत अंकों की भाँति यह अंक भी प्रबुद्ध पाठकों द्वारा सहर्ष स्वीकार्य व सराहनीय होगा। मैं इस शोध पत्रिका के लेखों के संकलन, संपादन एवं प्रकाशन से जुड़े समस्त लोगों को साधुवाद देता हूँ तथा पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु शुभकामनाएं प्रेषित करता हूँ।

सुधीर जैन

(सुधीर जैन)

Banars Hindu University, Varanasi, 221005, U.P., India
Phone: +91-542-2368938, 2368339 | E-mail: vc@bhu.ac.in | Website: www.bhu.ac.in

सम्पादकीय

भारत की राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के प्रबल समर्थक, भारत की अमूल्य धरोहर एवं सांस्कृतिक-परम्परा के संरक्षण एवं संवर्धन में अग्रगण्य महान् विभूति, बहुआयामी प्रतिभा के धनी एवं दूरदृष्टि सम्पन्न, भारत-रत्न से अलंकृत महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय द्वारा संस्थापित विविधशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन-स्थल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय उनके अक्षय यश का साक्षात् विग्रह स्वरूप है। अपने हृदय की महानता के कारण सम्पूर्ण भारतवर्ष में 'महामना' के नाम से पूजनीय मालवीय जी को संसार में सत्य, दया और न्याय पर आधारित सनातन-धर्म सर्वाधिक प्रिय था। **''सिर जाय तो जाय प्रभु! मेरो धर्म न जाय''** मालवीय जी का यह जीवन-व्रत था जिससे उनका वैयक्तिक और सामाजिक जीवन समान रूप से प्रभावित था।

लगभग 62 वर्षों से निरन्तर प्रकाशित होने वाली काशी हिन्दू विश्विद्यालय की अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका ***प्रज्ञा*** के वर्तमान अंक-67, भाग-1, वर्ष 2021-22 में कुल 51 (इक्यावन) शोध-पत्र/लेख संकलित हैं, जिनमें 27 लेख हिन्दी भाषा में, 02 लेख संस्कृत भाषा में तथा 22 लेख अंग्रेजी भाषा में संकलित हैं। इसमें ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों से सम्बन्धित विविध स्तरीय लेख हैं, जिनमें धर्म एवं दर्शन, हिन्दी भाषा एवं साहित्य, भाषा-विज्ञान एवं लोक-साहित्य, योग-दर्शन, शिक्षा एवं संगीत, ऋग्वेद,राष्ट्रवैभव, भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व, पाश्चात्त्य-दर्शन तथा अंग्रेजी-साहित्य आदि विविध पक्षों से सम्बन्धित शोध प्रपत्र/लेख सम्मिलित किये गये हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि गत अंकों की भाँति प्रस्तुत अंक भी पाठकवर्ग में समादरणीय होगा एवं लोगों की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करेगा।

प्रज्ञा के प्रस्तुत अंक-67, भाग-1, वर्ष 2021-22 के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम विश्वप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो0 सुधीर कुमार जैन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। आप अपार बौद्धिक क्षमता एवं उदार मानवीय संवेदना से ओत-प्रोत हैं। आपकी कर्तव्य-परायणता हम सभी को ऊर्जावान् बनाये रखती है। तत्पश्चात् कुलगुरु प्रो0 विजय कुमार शुक्ल, कुलसचिव प्रो0 अरुण कुमार सिंह, वित्ताधिकारी श्री अभय कुमार ठाकुर, परीक्षा नियन्ता प्रो0 एस0के0 उपाध्याय एवं अन्य सभी अधिकारियों को उनके सकारात्मक सहयोग के लिये धन्यवाद व्यक्त करता हूँ। अपने शैक्षणिक योगदान से इस अंक को समृद्धि प्रदान करने वाले विद्वानों के प्रति मैं आभार ज्ञापित करता हूँ। मैं बी0एच0यू0 प्रेस के प्रभारी प्रो0 हीरालाल प्रजापति को पत्रिका के मुद्रण हेतु धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्त में मैं ***प्रज्ञा*** कार्यालय के सहयोगियों श्री जयप्रकाश एवं श्री अशोक कुमार को उनके सकारात्मक एवं सक्रिय सहयोग हेतु साधुवाद देता हूँ।

विजय बहादुर सिंह

(प्रो0 विजय बहादुर सिंह)
संकाय प्रमुख, कला संकाय
एवं
सम्पादक 'प्रज्ञा' जर्नल
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मानद सम्पादक की कलम से

भारत सरकार की नई शिक्षा नीति में भारतीय अस्मिता एवं सांस्कृतिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक चेतना के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। भारतीय शिक्षा की इस मूल अवधारणा को समृद्ध करके ही हमारा देश विश्वगुरू की गरिमामयी स्थिती को प्राप्त कर सकता है। देश की बहुप्रतिक्षित इस नवीन शिक्षा नीति की बहुत दिनों से तीव्र प्रतिक्षा थी। ध्यातव्य है कि दूरदर्शी एवं भविष्य दृष्टा भारत रत्न महामना पंडित मदन मोहन मालवीय जी ने इन्ही शुभ-संकल्पों एवं उदात्त विचारों को ध्यान में रखकर इस महान विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। नयी शिक्षा नीति के निर्धारण में महामना के विचारों एवं सिद्धांतों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। महामना के संकल्पों एवं उद्देश्यों के प्रचार-प्रसार हेतु सन् 1958 में **'प्रज्ञा'** जर्नल का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया, जो आज तक निरन्तर प्रकाशित हो रही है। यह आरम्भ से त्रैभाषिक शोध पत्रिका है, जिसमें हिंदी, अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषा में लिखे गये शोध प्रपत्र/लेख प्रकाशित होते रहे हैं। **'प्रज्ञा'** पत्रिका के अंक विश्वविद्यालय की वेबसाइट www.bhu.ac.in पर भी उपलब्ध हैं। यह पत्रिका यू0जी0सी0 की केयर लिस्ट में भी सम्मिलित है।

'प्रज्ञा' के प्रस्तुत अंक-67, भाग-1, वर्ष 2021-22 में कुल 51 (इक्यावन) शोध प्रपत्र/लेख संकलित हैं। इस अंक में धर्म, दर्शन, पुरातत्व, इतिहास, चिकित्सा विज्ञान, विधि, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र, कोविड-19 एवं स्त्री विमर्श आदि से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण लेख संकलित हैं, जिससे पाठकों को पर्याप्त लाभ मिलेगा।

इस अंक के प्रकाशन के अवसर पर मैं सर्वप्रथम कुलपति प्रो0 सुधीर कुमार जैन जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनके उद्बोधनों से हमें पर्याप्त उर्जा मिलती है। तदनन्तर कुलगुरू प्रो0 बी0के0 शुक्ला एवं कुलसचिव प्रो0 अरूण कुमार सिंह को उनके सकारात्मक सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ। **'प्रज्ञा'** जर्नल के प्रकाशन कर्म से जुड़े विद्वान लेखकगण, सदस्य संरक्षक मण्डल, सदस्य सम्पादक मण्डल, बी0एच0यू0 प्रेस के प्रभारी एवं **'प्रज्ञा'** कार्यालय के सभी सहयोगियों को भी साधुवाद देता हूँ।

(डॉ0 श्रीनिवास पाण्डेय)
इमरिटस प्रोफेसर एवं
मानद सम्पादक 'प्रज्ञा' जर्नल
पूर्व कलासंकाय प्रमुख तथा पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रज्ञा

PRAJÑĀ

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अंक 67, भाग 1

वर्ष 2021-22

Published
by
The Banaras Hindu University

PRAJÑĀ
(Journal of the Banaras Hindu University)
Vol. 67 No. 1, 2021-22
ISSN 0554-9884
U.G.C Care Listed Journal

© Banaras Hindu University
August, 2022

All correspondence should be addressed to
The Editor 'PRAJÑĀ'
BANARAS HINDU UNIVERSITY
VARANASI - 221 005

Printed at
B.H.U. Press
BANARAS HINDU UNIVERSITY

प्रज्ञा

मुख्य संरक्षक : प्रो. सुधीर कुमार जैन
कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संरक्षक मण्डल

रेक्टर, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

निदेशक, चिकित्सा विज्ञान संस्थान

निदेशक, भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (बी.एच.यू.)

निदेशक, विज्ञान संस्थान

निदेशक, कृषि विज्ञान संस्थान

निदेशक, पर्यावरण एवं धारणीय विकास संस्थान

निदेशक, प्रबन्ध शास्त्र संस्थान

प्रमुख, संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय

प्राचार्या, महिला महाविद्यालय

प्रमुख, दृश्य कला संकाय

प्रमुख, सामाजिक विज्ञान संकाय

प्रमुख, विधि संकाय

प्रमुख, संगीत एवं मंच कला संकाय

प्रमुख, वाणिज्य संकाय

सम्पादक मण्डल

प्रो. जय शंकर झा
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. सदाशिव कुमार द्विवेदी
संस्कृत विभाग, कला संकाय

प्रो. कमल नयन द्विवेदी
द्रव्यगुण विभाग, आयुर्वेद संकाय,
चिकित्सा विज्ञान संस्थान

प्रो. आनन्द प्रसाद मिश्र
भूगोल विभाग, विज्ञान संस्थान

प्रो. सुमन जैन
महिला महाविद्यालय

प्रो. मिथिलेश कुमार पाण्डेय
अंग्रेजी विभाग, कला संकाय

प्रो. शत्रुघ्न त्रिपाठी
ज्योतिष विभाग, संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकाय

डॉ. ज्ञान प्रकाश मिश्र
पत्रकारिता एवं जनसम्प्रेषण विभाग, कला संकाय

सम्पादक
प्रमुख, कला संकाय
प्रो. विजय बहादुर सिंह

मानद सम्पादक
प्रो. श्रीनिवास पाण्डेय
इमेरिटस प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कुलगीत

मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी।
यह तीन लोकों से न्यारी काशी।
सुज्ञान धर्म और सत्यराशी॥
बसी है गंङ्गा के रम्य तट पर, यह सर्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
नये नहीं हैं ये ईंट पत्थर।
है विश्वकर्मा का कार्य सुन्दर॥
रचे हैं विद्या के भव्य मन्दिर, यह सर्वसृष्टी की राजधानी। मधुर०॥
यहाँ की है यह पवित्र शिक्षा।
कि सत्य पहले फिर आत्म-रक्षा॥
बिके हरिश्चन्द्र थे यहीं पर, यह सत्यशिक्षा की राजधानी। मधुर०॥
वह वेद ईश्वर की सत्यबानी।
बनें जिन्हें पढ़ के ब्रह्मज्ञानी॥
थे व्यास जी ने रचे यहीं पर, यह ब्रह्म-विद्या की राजधानी। मधुर०॥
वह मुक्तिपद को दिलानेवाले।
सुधर्मपथ पर चलाने वाले॥
यहीं फले-फूले बुद्ध शंकर, यह राज-ऋषियों की राजधानी। मधुर०॥
सुरम्य धाराएँ वरुणा अस्सी।
नहाए जिनमें कबीर तुलसी॥
भला हो कविता का क्यों न आकर, यह वागविद्या की राजधानी। मधुर०॥
विविध कला अर्थशास्त्र गायन।
गणित खनिज औषधि रसायन॥
प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर, यह विश्वविद्या की राजधानी। मधुर०॥
यह मालवी की है देशभक्ति।
यह उनका साहस यह उनकी शक्ति॥
प्रकट हुई है नवीन होकर, यह कर्मवीरों की राजधानी।
मधुर मनोहर अतीव सुन्दर, यह सर्वविद्या की राजधानी॥

- डॉ. शान्ति स्वरूप भटनागर

★

विषय-सूची

1. स्त्री शिक्षा और स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि 1
वंदना राय एवं प्रो. अवधेश प्रधान

2. नव-अन्वेषित आद्य ऐतिहासिक पुरास्थल बभनियाँव, जनपद-वाराणसी, उ0प्र0 5
प्रो. ओंकार नाथ सिंह, डॉ. अशोक कुमार सिंह एवं डॉ. रवि शंकर

3. मेहरुन्निसा परवेज़ के कथा साहित्य में स्त्री 10
डॉ. चम्पा कु0 सिंह

4. भारतीयदर्शन में कर्मवाद 18
डॉ. छाया एवं प्रो. कृष्णाकान्त शर्मा

5. राष्ट्र की अवधारणा और अर्थ 22
प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय

6. ऐतिहासिक परिदृश्य में आनंदमठ की पृष्ठभूमि और बंकिम 26
डॉ. अनुराधा सिंह एवं प्रतीक गुप्ता

7. समाजविज्ञान में विज्ञान दर्शन की दुविधा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन 30
डॉ. दिनेश कुमार सिंह

8. दैवव्याश्रय-चिकित्सा अन्तर्गत होम (हवन) चिकित्सा का महत्व 35
रंजना आचार्या एवं डॉ. के0एच0एच0वी0एस0एस0 नरसिम्ह मूर्ति

9. भोजपुरी लोक जीवन में संस्कार, संस्कृति एवं संगीत 38
डॉ. कुमार अम्बरीष चंचल

10. भारतीय संगीत का चिकित्सा में प्रयोग : एक अध्ययन 42
डॉ. रामशंकर

11. ऋग्वैदिक जीवन और आज का भारतीय समाज 46
डॉ. राकेश कुमार द्विवेदी

12. सामाजिक हिंसा एवं जनसंचार माध्यम : एक विश्लेषण 52
डॉ. दिनेश कुमार सिंह एवं शुभम पाण्डेय

13. डॉ0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन और उनकी सार्वभौम शान्ति की संकल्पना 57
डॉ. श्रुति मिश्रा

14. रामचरितमानस के 'सुन्दरकाण्ड' का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन 62
डॉ. प्रेमनिवास सिन्हा

15. पश्चिमी उत्तर प्रदेश से प्राप्त कुषाणकालीन मृण्मूर्तिकला का सांस्कृतिक अध्ययन 74
ज्योति सिंह एवं डॉ. विनय कुमार

16. प्राचीन भारत में काशी की खाद्यान्न परम्परा का सांस्कृतिक अध्ययन 85
पवन कुमार एवं डॉ. सर्वेश कुमार

17. 'संज्ञा-प्रकरण' का तुलनात्मक अध्ययन : कच्चायन व्याकरण और लघुसिद्धान्तकौमुदी के विशेष सन्दर्भ में 88
हिमांशु कुमार सिंह एवं डॉ. ठाकुर शिवलोचन शाण्डिल्य

18. प्रारंम्भ से बौद्ध काल तक के समाज में स्त्रियों की स्थिति 94
रेखा विजयता एवं डॉ. सर्वेश कुमार

19. पूर्वी भारत की कृष्ण-लोहित मृदभाण्ड परम्परा : समावेशन के तत्व एवं निरन्तरता 107
सुधा कुमारी एवं डॉ. विनय कुमार

20. मध्य गंगा घाटी से प्रतिवेदित शक्ति मृण्मूर्तियों में सप्तमातृकाएँ: एक पुरातात्त्विक अध्ययन 112
डॉ. सर्वेश कुमार

21. संस्कृत-काव्यों में प्रतिहारी का समीक्षात्मक अध्ययन 115
डॉ. प्रदीप कुमार

22. प्राचीन भारतीय मठ बद्ध शिक्षा 118
डॉ. पेशन्स फिलिप्स

23. संगीत एवं सौन्दर्य 122
डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

24. गोंड एवं भील जनजातीय नृत्य परम्परा (मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में) 126
हेबा सईद एवं डॉ. शैलेन्द्र कुमार

25. कोरोना काल में योग एवं संगीत : आवश्यकता एवं उपचार 131
सौम्या कुमारी एवं डॉ. ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

26. रूपक शैली के अन्यतम कवि तुलसीदास 136
डॉ. अनुकूलचंद राय

27. सामाजिक न्याय पहुँचाने में स्वच्छ भारत मिशन की भूमिका 143
डॉ. रविश कुमार तिवारी एवं प्रो. शैलेश कुमार मिश्र

28. "लक्षणावृत्तिविमर्शः" 146
डॉ. शान्तिलालसालवी

29. राष्ट्रवैभवं नमोवैभवम् 150
प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय

30. Prison Administration in India During Covid 19 Pandemic 153
Prof. Bibha Tripathi

31. Ananda Kentish Coomaraswamy : A Re-Assessment (Part-I, 1877 to 1917) 157
Dr. Vipul Tiwari and Prof. Atul Tripathi

32. Financial Planning for Senior Citizens Through PPF 162
Dr. S. P. Agrawal

33. Analysis of Cariya with Special Reference to Visuddhimagga 172
Himanshu Kumar Singh and Prof. Bimlendra Kumar

34. Jim Morrison and the Myth of the American 60s: A Critique of Countercultural Dionysia 178
Shankhadeep Chattopadhyay and Prof. M. K. Pandey

35. Spirituality and Religion in Competitive Sports 184
Dr. Archana Singh

36. Kautilya on Elements of State 190
Prof. Rachna Srivastava

37. Exploring the Unpaid Women Work in Rural India: Need for Economic Sec urity Measures 197
Dr. Anup Kumar Mishra

38. Hermeneutics and Translation: Some Reflections on Approaches to Literary Translation in the German Translation Tradition 208
Dr. Om Prakash

39. Unit of Empowerment:Women, Labour and Land 212
Dr. Susmita Singh

40. Imagining the Real : Select Social Issues in Ramnika Gupta's The Funeral of Truth 217
Dr. Umesh Kumar

41. Imperial Tone in J.G. Farrell's The Siege of Krishnapur and the Hill Station 222
Dr. Virendra Kumar Singh and Dr. Kanchan Yadav

42. Representation of Caste in Popular Hindi Cinema 228
Dr. Swarn Suman

43. The Usage of ICT for Teaching and Learning Amidst the Pandemic in Bihar 234
Dr. Amita and Smrity

44. A Review on "Replacement of Invassive Technique by Intranasal Nanoemulsion 240
Ravi, Prof. H.H. Awasthi, Prof. N.S. Tripathi and Dr. Ajai K. Pandey

45. Covid-19 Prevention : A Dietary Approach 247
Shatakshi, Dr. B.M.N. Kumar, Dr. A. K. Pandey and Prof. H.H. Awasthi

46. The Analytical Methods for Standardization of Kushmanda Avaleha 251
Abhilasha Pandey, Dr. A. K. Kushwaha, Dr. M.K. Nandi, Dr. D.N.S. Gautam, Dr. B.M.N. Kumar and Dr. Ambrish Kumar Singh

47. The Epidemic of Covid-19 and Indian School Education System 256
Vishal Gupta and Dr. Vandana Verma

48. Rudra as Delineated in the Vājasaneyisamhitā 260
Dr. Maumita Bhattacharjee and Dr. Jagadish Sharma

49. Esops and Culture : A Theoretical Relationship 264
Dr. Astha Dewan

50. Ontological Significance of Man and Being in the Light of Heidegger's SEIN UND ZEIT (Being and Time) 268
Ashutosh Pandey & Dr. Jai Singh

51. Politics and Aesthetics of the city of Delhi 272
Ishan Shahi & Prof. Shubha Rao

52. **''प्रज्ञा'': नियम एवं निर्देश** 177

आवश्यक सूचना : **''प्रज्ञा''** पत्रिका के इस अंक में छपे हुए सभी लेखों/शोध-प्रपत्रों में व्यक्त विचार लेखकों के स्वयं के विचार हैं। उनसे सम्पादक, प्रकाशक अथवा विश्वविद्यालय प्रशासन का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

स्त्री शिक्षा और स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि

वंदना राय एवं प्रो0 अवधेश प्रधान***

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में (1863 ई.) जिस समय स्वामी विवेकानंद का जन्म हुआ था भारत पराधीन था। तत्कालीन समय में स्त्रियों की दशा अत्यंत दयनीय थी, उनको लेकर कई तरह के विरोधाभास थे। बाल विवाह, पर्दाप्रथा, सती प्रथा जैसे तमाम प्रकार के दोष समाज में प्रचलित थे और स्त्री शिक्षा पूरी तरह से उपेक्षित थी।

स्वामी विवेकानंद स्त्री शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। स्त्री शिक्षा के संदर्भ में उनका विचार उदार था, उनके लिए स्त्री और पुरुष दोनों समान थे और दोनों को ही शिक्षा की जरूरत थी। स्वामी जी का यह मानना था कि देश के कल्याण के लिए आधी आबादी की शिक्षा जरूरी है। वे कहते हैं, ''स्त्रियों की अवस्था को बिना सुधारे जगत के कल्याण की कोई संभावना नहीं है। पक्षी के लिए एक पंख से उड़ना संभव नहीं है।[1] स्त्री शिक्षा का समर्थन करते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि, ''हमारे धर्म में तो स्त्रियों को शिक्षा देने का निषेध है ही नही। लड़कियों को पढ़ाना होगा, उन्हें गढ़ लेना होगा। पुराने ग्रंथों में लिखा है कि विद्यापीठों में लड़के-लड़कियाँ दोनों ही जाते थे। पर बाद में सारे राष्ट्र की ही शिक्षा उपेक्षित हो गई।''[2] शिक्षा से वंचित देश की स्त्रियों के प्रति स्वामी विवेकानंद की सहानुभूति अपार थी। स्त्रियों को भी शिक्षा मिले, वे भी पढ़-लिखकर योग्य बने। वे स्वदेश वासियों से कहते हैं, ''तुम्हारे देश में स्त्रियों को पढ़ना-लिखना सिखाने के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं दीख पड़ता। तुम लोग स्वयं पढ़-लिखकर योग्य बन रहे हो, परन्तु जो तुम्हारे सुख-दुःख की भागी हैं, प्रतिक्षण जी जान से सेवा करती हैं, उनकी शिक्षा के लिए, उनके उत्थान के लिए तुम लोग क्या कर रहे हो?..... तुम्हारे धर्मशास्त्र और देश की परिपाटी के अनुसार क्या कहीं कोई पाठशाला है? स्मरण रहे कि स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुए बिना उन्नति का कोई दूसरा उपाय नहीं है।''[3]

भारतीय स्त्रियों की अशिक्षा और समाज में उनकी स्थिति को देखकर स्वामी विवेकानंद बहुत दुःखी थे। देश में स्त्री और पुरुष के बीच व्याप्त अंतर की आलोचना करते हुए वे कहते हैं कि, ''सभी प्राणियों में वही एक आत्मा विद्यमान है, आत्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह पुरुष है या स्त्री। इसलिए स्त्रियों के ऊपर अनुचित नियंत्रण अवांछनीय है।''[4] उन्होंने स्त्री को पुरुष के समकक्ष स्थान देते हुए कहा- ''किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है वहाँ की महिलाओं के साथ होने वाला व्यवहार।''[5] स्वामी विवेकानंद ने समाज और राष्ट्र को महान बनाने में स्त्री शिक्षा को सर्वोपरि रखा है। देश के महान बनने के क्रम में वे स्त्रियों की भूमिका पर बात करते हुए कहते हैं कि, ''All nation have attained greatness by paying proper respects to the women. That country and the nation wich do not respect the women have never become great. Nor will ever be in future.''[6]

शिक्षा के अधिकार से वंचित स्त्रियों के लिए स्वामी विवेकानंद वैदिक कालीन स्त्रियों की शिक्षा का उदाहरण देते हैं। वे कहते हैं, ''तुम लोग स्त्रियों की निंदा करते हो, पर उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया? स्मृति आदि लिखकर, नियमों में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को केवल बच्चे पैदा करने की मशीन बना डाला है। भारत का अधःपतन तभी से शुरू हो गया, जब ब्राह्मण-पंडितों ने अन्य जातियों को वेद-पाठ का अनधिकारी घोषित किया और साथ ही स्त्रियों के भी सभी अधिकार छीन लिये। नहीं तो देखो, वेदों तथा उपनिषदों के युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रातः स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्म-विचार में ऋषि तुल्य हो गयी हैं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने गर्व के साथ याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान पर शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी थी। इन आदर्श विदुषी स्त्रियों को जब उन दिनों अध्यात्म में अधिकार था, तो फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हो चुका है, वह अवश्य हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।''[7] 'कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीया अति यत्नतः' (मनुस्मृति, 8/47) मनुस्मृति के इस श्लोक को उद्धृत करते हुए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि, ''पुत्रियों का भी इसी तरह खूब यत्न के साथ पालन और शिक्षण होना चाहिए। जैसे 30 वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन के साथ पुत्रों की शिक्षा होनी चाहिए, वैसे ही पुत्रियों की भी शिक्षा होनी चाहिए।''[8] स्त्री-शिक्षा को लेकर स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि तत्कालीन समय 19वीं शताब्दी को देखते हुए अपूर्व थी। जहाँ बाल विवाह की प्रथा प्रचलित होने के कारण लड़कियों का विवाह 8-9 वर्ष की उम्र में कर दिया जाता है, शिक्षा उनके लिए जरूरी नहीं है ऐसी मान्यता हो, ऐसे समय में भी बाल विवाह के विरुद्ध शिक्षा देना और लड़के और लड़कियाँ दोनों को ब्रह्मचर्य के साथ 25-30 वर्ष तक शिक्षा देने की बात करना स्वामी विवेकानंद जैसे महान शिक्षाविद् ही कर सकते हैं। वास्तव में यदि गंभीरता के साथ देखा जाये तो यही ज्ञात होता है कि भारत के पतन और अवनति का एक प्रमुख कारण स्त्रियों की अशिक्षा है।

स्वामी विवेकानंद शिक्षा के क्षेत्र में एक नयी शिक्षा-व्यवस्था की बात करते हैं, जब वे कहते हैं कि, बालक और बालिकाओं

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

दोनों को शिक्षा की जरूरत है- पुरुषों के लिए जैसे शिक्षा केन्द्र हैं, वैसे ही स्त्रियों के निमित्त भी बालिका विद्यालय या महिला विद्यालय स्थापित करने होंगे। इन विद्यालयों में शिक्षा देने का अधिकार सिर्फ स्त्री शिक्षिकाओं को ही होना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद की स्त्री-शिक्षा विषयक जो अवधारणा है उस पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। स्त्री-शिक्षा के संदर्भ में स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि को जानने-समझने के लिए कुछ प्रमुख बिंदु निम्नवत् है-

- स्त्री शिक्षा कैसी हो?
- स्त्री शिक्षा का उद्देश्य
- स्त्री शिक्षा का स्वरूप
- स्त्री शिक्षा का विषय
- स्त्री शिक्षा का पाठ्यक्रम

स्त्री शिक्षा कैसी हो? स्त्री शिक्षा के संदर्भ में स्वामी विवेकानंद का दृष्टिकोण पूर्णतया भारतीय था। स्त्रियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाये? इस पर स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि, ''स्त्रियों को पुराण, इतिहास, गृहकार्य, शिल्प और गृहस्थी के सारे नियम वर्तमान विज्ञान की सहायता से सिखाने होंगे। और आदर्श चरित्र-गठन के लिए उपर्युक्त आचरण की भी शिक्षा देनी होगी। कुमारियों को धर्म-परायण और नीति-परायण बनाना पड़ेगा; जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों।''[9] स्वामी विवेकानंद स्त्रियों की दयनीय स्थिति के प्रति बड़े सचेत थे, तत्कालीन समय में प्रचलित बाल-विवाह के वे कट्टर विरोधी थे। स्त्री शिक्षा के संदर्भ में स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने वाली शिक्षा पर इन्होंने विशेष बल दिया है। शिक्षा के द्वारा स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने के संबंध में उनका कहना है कि, ''प्राचीन कलाओं को पुनरुज्जीवित करो। अपनी लड़कियों को खोये के फलों से नमूने बनाना सिखाओ। उन्हें कलात्मक पाक-क्रिया और सीना-पिरोना सिखाओ। उन्हें चित्रकला, फोटोग्राफी सोने-चाँदी, कागज, जरी और कसीदाकारी पर चित्र बनाने की शिक्षा दो। इसका ध्यान रखो कि प्रत्येक को किसी-न-किसी ऐसी कला का ज्ञान हो जाये, जिसके द्वारा आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी जीविका अर्जन कर सकें।''[10]

पश्चिम की स्त्रियों की शिक्षा, स्वतंत्रता और उनकी कर्म कुशलता को देखकर स्वामी विवेकानंद भारत की स्त्रियों की अशिक्षा, अज्ञानता और घर की चारदीवारी में कैद उनके जीवन के बारे में सोच कर व्यथित हो जाते हैं। स्त्रियों की शिक्षा, स्वतंत्रता पर इनका कहना है कि, ''पहले स्त्रियों को उचित शिक्षा दो, फिर उन्हें इतनी स्वतंत्रता दो कि वे अपने जीवन संबंधी निर्णय खुद ले सकें, उन्हें अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता दो, फिर वे तुम्हें खुद ही बतायेंगी कि उन्नति के लिए कौन-कौन से सुधार आवश्यक है। वे अपनी उन्नति का मार्ग खुद ही प्रशस्त करेंगी।''[11] 19वीं सदी के अंत में स्त्री शिक्षा पर ये विचार स्वामी विवेकानंद के हैं जिस समय स्त्री शिक्षा पर बात करना भी पाप माना जाता था। स्त्री सिर्फ पारिवारिक उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए ही थी शिक्षा की कल्पना भी उनके लिये असंभव थी। स्वामी विवेकानंद का यह मानना था कि, शिक्षा के द्वारा ही स्त्रियों की वर्तमान दशा में सुधार संभव है, जब वे शिक्षित होंगी तब स्वयं ही अपनी सभी समस्याओं का हल ढूँढ लेंगी और अपनी आत्मरक्षा भी कर लेंगी। उनके मतानुसार धार्मिक शिक्षा, चरित्र-निर्माण और ब्रह्मचर्य पालन की शिक्षा स्त्रियों के लिए आवश्यक है। स्वामी विवेकानंद यह बात सदैव कहा करते थे कि, एक स्त्री को शिक्षित करना राष्ट्र और उसके पूरे परिवार को शिक्षित करना है।

स्त्री शिक्षा का उद्देश्य :

स्वामी विवेकानंद के अनुसार स्त्रियों को सुशील, चरित्रवान, निडर, आत्मनिर्भर और शक्तिशाली व्यक्तित्व के रूप में विकसित करना ही स्त्री शिक्षा का उद्देश्य है। 19वीं शताब्दी में आर्थिक आत्मनिर्भरता की दृष्टि से स्त्री-शिक्षा कोसों दूर थी। स्त्री शिक्षा को लेकर स्वामी विवेकानंद का सुखद स्वप्न था कि शिक्षा के द्वारा स्त्रियों में आत्मविश्वास, आत्मरक्षा, आत्मनिर्भरता और अस्तित्व बोध का भाव जागे। वे पढ़-लिखकर अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं करें। वे कहते हैं, ''निश्चित ही स्त्रियों की समस्याएँ अनेक और गंभीर भी हैं, परंतु उनमें एक भी ऐसी नहीं है जो जादू भरे शब्द 'शिक्षा' से हल न की जा सकती हो''[12]

स्वामी विवेकानंद स्त्री शिक्षा पर जोर देते हुए स्त्रियों को मानसिक धरातल पर सशक्त और मजबूत बनाना चाहते थे। स्त्री शिक्षा को लेकर स्वामी विवेकानंद का उद्देश्य था कि, स्त्रियाँ इतनी आत्मनिर्भर और स्वाधीन हों कि वे अपने निर्णय स्वयं ले सकें, पुरुषों के समान ही उनका भी बौद्धिक विकास हो और वे भी शिक्षा प्राप्त कर देश की उन्नति में सहायक हों। तत्कालीन समय में स्त्रियों की स्थिति और शिक्षा से वे संतुष्ट नहीं थे। 'स्त्री शिक्षा' स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि के अनुसार- ''नारियों के मामले में हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल उनमें शिक्षा का प्रचार तक ही सीमित है। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना होगा, जहाँ वे अपनी समस्याओं को स्वयं अपने ढंग से सुलझा सकें। उनके लिए यह काम न कोई कर सकता है और न किसी को करना चाहिए। और हमारी भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्हीं भी नारियों की भाँति इसे करने में पूर्ण सक्षम हैं।[13] स्वामी विवेकानंद ने राष्ट्र के निर्माण में स्त्री की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यदि हमें सामाजिक आजादी प्राप्त करना है तो स्त्रियाँ स्वतंत्र आत्मनिर्भर एवं आत्मशक्ति से भरपूर हों। स्त्री शिक्षा के इसी उद्देश्य को लेकर स्वामी विवेकानंद ने लंदन में रह रही अपनी शिष्या सिस्टर निवेदिता को भारत आने के लिए आमंत्रित किया। सिस्टर निवेदिता इंग्लैण्ड में स्त्री शिक्षा के लिए काम कर रही संस्था

'सीसेम क्लब' की सदस्या थीं और स्त्री शिक्षा के लिए कार्य करती थीं। स्वामी विवेकानंद ने सिस्टर निवेदिता को भारत में स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए प्रेरित किया। वे चाहते थे कि स्त्रियाँ शिक्षा की ओर उन्मुख हों और अपनी उन्नति करें। लंदन में 1896 में स्वामी जी ने सिस्टर निवेदिता से कहा था कि, मैं चाहता हूँ कि स्त्री शिक्षा के लिए कुछ कार्य करूँ और इस कार्य में आप काफी मददगार होंगी। स्त्री शिक्षा के अपने उद्देश्य को लेकर निवेदिता भारत आयीं और कलकत्ता के बाग बाजार में 13 नवम्बर 1898 को 'निवेदिता कन्या पाठशाला' की स्थापना की। पुस्तकीय शिक्षा के अलावा वे स्त्रियों के लिए चरित्र-निर्माण की शिक्षा भी जरूरी मानते थे।

स्त्री शिक्षा का स्वरूप :

स्त्री शिक्षा का स्वरूप कैसा हो? स्वामी विवेकानंद के मतानुसार शिक्षा धर्मपूर्वक होनी चाहिए। उनका कहना है कि, ''अब धर्म को केन्द्र बनाकर स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना होगा, धर्म के सिवा दूसरी शिक्षाएँ गौण होंगी। धर्म बोध, चरित्र-गठन तथा ब्रह्मचर्य-पालन इन्हीं के लिए तो शिक्षा की जरूरत है।''[14] स्त्रियों की शिक्षा में आत्मरक्षा के गुण को वे जरूरी मानते थे। उनका विचार था कि, शिक्षा के द्वारा स्त्रियों में झाँसी की रानी जैसी वीरता एवं आत्म सुरक्षा की भावनाएँ जगायी जा सकती हैं। स्वामी विवेकानंद के शब्दों मे, ''अब तक उन्होंने केवल असहाय के रूप में दूसरों पर आश्रित होकर जीवन बिताना और जरा-सी भी आशंका होने पर आँसू बहाना ही सीखा है। दूसरी बातों के साथ-साथ उन्हें वीरता के भाव भी सीखना चाहिए। आज के जमाने में उनके लिए आत्मरक्षा सीखना भी जरूरी हो गया है। देखो, झाँसी की रानी कैसी महान थीं।''[15] स्त्री-शिक्षा पर स्वामी विवेकानंद के विचार को स्पष्ट करते हुए सिस्टर निवेदिता कहती हैं कि, ''स्वामी जी को बहुत पहले ही पता चल गया था कि स्त्री-शिक्षाके बिना समाज की उन्नति संभव नहीं।''[16] स्त्रियों को भी उपयुक्त स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा देने और उनके रूचि के विषय में उन्हें शिक्षित करने की पहल करते हुए स्वामी जी कहते हैं कि, ''देव पूजा के निमित्त तुम्हें प्रतिमाओं का प्रयोग करना पड़ेगा ही। परन्तु तुम इन्हें बदल सकते हो। काली का सदैव एक ही स्थिति में रहना आवश्यक नहीं है। अपनी लड़कियों को उसे नये रूपों में चित्रित करने के लिए प्रोत्साहित करो। सरस्वती की सौ भिन्न-भिन्न मुद्राएँ बनाओ। उन्हें अपनी-अपनी कल्पनाओं का आरेखन, मूर्तिकरण और चित्रण करने दो।''[17]

स्वामी विवेकानंद चरित्र-निर्माण के लिए स्त्रियों के समक्ष सीता का आदर्श चरित्र प्रस्तुत करते हैं- पवित्रता, सहनशीलता और धैर्य की प्रतिमूर्ति 'सीता'। न्यूयॉर्क में भाषण देते समय एक बार स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि- मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी भारतीय स्त्रियों की बौद्धिक प्रगति हो पर चरित्र के शर्त पर नहीं। भारतीय स्त्रियों के बौद्धिक पुनरुत्थान के लिए वे पश्चिम से शिक्षिकाएँ भेजने पर भी विचार कर रहें थे।

स्वामी विवेकानंद अपने समय के पहले ऐसे शिक्षाविद् हैं जो स्त्री-पुरुष की समानता और शिक्षा पर बात करते हैं। स्वामी जी के व्याख्यान, संभाषण और पत्र स्त्री उन्नति और स्त्री शिक्षा विषयक महत्त्वपूर्ण विचारों से परिपूर्ण हैं। स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने के संदर्भ में स्वामी विवेकानंद का कहना है कि, ''आजकल यूरोपीय ढंग पर उच्च शिक्षा देने की ओर लोगों का विशेष ध्यान है। स्त्रियों को भी उच्च शिक्षा देने के पक्ष में अधिक लोगों की सम्मति है। लेकिन भारत में कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो यह पसंद नहीं करते; पर प्रबल सम्मति स्त्री-शिक्षा के समर्थकों की ही है। असामान्य प्रतिभा वाली कुछ गिनी-चुनी बालिकाओं के लिए उच्चतर शिक्षा की भी व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि इच्छा होने पर वे महिला-चिकित्सकों, अस्पताल की अधिक्षिकाओं, बालिका विद्यालय की शिक्षिका और महिला कॉलेजों में प्राध्यापक के रूप में योग्यता प्राप्त कर सकें।''[18] स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा प्राथमिक स्तर से लेकर, सिलाई, कढ़ाई जिससे वे जीविका भी प्राप्त कर सकें और जो प्रतिभाशाली हैं उन्हें उच्च शिक्षा भी दी जानी चाहिए।

स्वामी विवेकानंद स्त्रियों को स्वावलंबी बनाने उन्हें शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने के पक्षधर थे। स्त्रियों में भी प्रतिभा है और वे भी पुरुषों के समान ही शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं ऐसा उनका मानना था। भारत में स्त्रियों को शिक्षा नहीं दी जाती इस भ्रमपूर्ण धारणा का खण्डन करते हुए उन्होंने 18 जनवरी, 1900 ई. को पॅसाडेना, कैलिफोर्निया में भाषण देते हुए पश्चिम और भारत की स्त्रियों की शिक्षा को लेकर एक भाषण दिया जिसमें उन्होंने कहा कि, ''यह आश्चर्य की बात है कि ऑक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के दरवाजे स्त्रियों के लिए आज भी बंद हैं। यही हालत हार्वर्ड और येल के विश्वविद्यालयों की भी है; पर कलकत्ता विश्वविद्यालय ने बीस वर्ष पूर्व ही स्त्रियों के लिए अपना द्वार खोल दिया था। मुझे स्मरण है, जिस साल मैं बी.ए. में उत्तीर्ण हुआ, उस साल कई लड़कियाँ भी बी.ए. में उत्तीर्ण हुई थीं। उन लोगों की पाठ्य-पुस्तकें और अन्यान्य विषय लड़कों के ही समान थे; फिर भी बहुत सी लड़कियाँ बड़ी सफलता पूर्वक उत्तीर्ण हुई।''[19]

स्वामी विवेकानंद सह शिक्षा के समर्थक नहीं थे। उनका पहला तर्क तो यह था कि स्त्री और पुरुष की शिक्षा का पाठ्यक्रम समान नहीं होता इसलिए उन्हें साथ-साथ कैसे पढ़ाया जा सकता है? उनके अनुसार स्त्री शिक्षा के विषय हैं- ''धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन बनाना, सीना, शरीर-पालन आदि मोटी-मोटी बातें।''[20] इसलिए वे स्त्रियों की शिक्षा के निमित्त स्त्री शिक्षा केन्द्र पर बल देते हैं। वे कहते हैं, ''हमें अपनी बालिकाओं के लिए शिक्षा के न्यूनतम से उच्चतम विशिष्ट कोर्सों के साथ उनके लिए अगल से संस्थाएँ रखनी होगी अतः सह शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता।''[21] सह शिक्षा को लेकर उनका दूसरा तर्क यह था कि सहशिक्षा आत्म संयम में बाधक होती है, इसलिए लड़कियों के

लिए वे अलग से विद्यालय खोलने के पक्ष में थे जिसमें गृहस्थ पुरुष शिक्षकों का निषेध और सिर्फ स्त्री शिक्षिकाओं की नियुक्ति के पक्षधर थे। इस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद ने कहा था, ''शिक्षित विधवा या ब्रह्मचारिणियों को ही बालिकाओं के विद्यालय का कुल भार सौंपना चाहिए। इस देश की नारी शिक्षण संस्थाओं में पुरुषों का संसर्ग बिल्कुल भी अच्छा नहीं है।''[22] स्वामी विवेकानंद द्वारा परिकल्पित अलग से बालिकाओं की शिक्षा के मूल में जो विचार है वह यह है कि पुरुष और स्त्रियों की शिक्षा अलग-अलग हो तो देश और समाज का स्वस्थ और संतुलित भविष्य होगा।

स्वामी विवेकानंद के स्त्रीशिक्षा के आधारभूत सिद्धांत :

- बालक एवं बालिकाओं दोनों को समान शिक्षा मिले।
- स्त्री समाज के लिए उपयुक्त शिक्षा तथा आत्मोन्नति का पथ प्रशस्त कर देना होगा। सुशिक्षित स्त्रियाँ स्वयं ही अपनी समस्याओं का हल ढूँढ लेंगी।
- आज स्त्रियों की अनेक समस्याएँ हैं। उन समस्याओं के समाधान का अवसर स्वयं स्त्रियों को ही प्रदान करने की आवश्यकता है। स्त्रियों को भी उपयुक्त स्वतंत्र वातावरण में शिक्षा देनी चाहिए।
- धार्मिक शिक्षा, चरित्र निर्माण और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन स्त्री शिक्षा के मुख अंग होंगे।
- स्वास्थ्य शिक्षा, आत्मरक्षा, लौकिक दक्षता एवं कार्य कुशलता स्त्रियों के लिए आवश्यक है।

स्त्री शिक्षा का विषय :

स्वामी विवेकानंद के अनुसार स्त्री शिक्षा के विषय हैं- धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन बनाना, हस्तशिल्प (सिलाई, कढ़ाई, कसीदाकारी, जरी का काम आदि) चित्रकला, शिशु-पालन, और स्वास्थ्य रक्षा आदि मोटी-मोटी बातें। इसके साथ ही उनके मतानुसार- जप-तप, पूजा-आराधना, शौर्य-पराक्रम, आत्मनिर्भरता और आत्मरक्षा आदि के भाव ग्रहण करने योग्य विषयों की भी शिक्षा दी जानी चाहिए।

शिक्षा का पाठ्यक्रम :

स्त्री शिक्षा का पाठ्यक्रम कैसा हो? इस पर स्वामी विवेकानंद ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए व्यापक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है। उनके पाठ्यक्रम में स्त्रियों के लिए धार्मिक शिक्षा, पुराण, इतिहास की शिक्षा, अध्यात्म की शिक्षा, गृहकला और विज्ञान की शिक्षा, हस्तकला और पाकक्रिया, स्वास्थ्य शिक्षा और आत्मरक्षा, भूगोल और समाज सेवा जैसे विषयों को जगह दी गई है। स्वामी विवेकानंद का यह मानना था कि, स्त्री शिक्षा के पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य शिक्षा को प्रमुख स्थान देना चाहिए। स्त्रियों के पाठ्यक्रम के संदर्भ में उनका कहना है कि, पुरुषों का कार्यक्षेत्र भिन्न है और स्त्रियों का भिन्न। अतः स्त्रियों की शिक्षा भी भावी उत्तरदायित्वों को निर्वहन कर सकने की योग्यता विकसित करने वाली ही होनी चाहिए।

स्वामी विवेकानंद ने स्त्रियों के लिए शिक्षा, समानता, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भर बनने की जो कल्पनाएँ की थी आज 21वीं सदी में वह अपने साकार रूप में है। स्त्री शिक्षा के संदर्भ में स्वामी विवेकानंद की शिक्षा-दृष्टि तत्कालीन समय 19वीं शताब्दी को देखते हुए अद्‌भुत थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-4, पृ. 317, प्रकाशक-स्वामी तत्त्वविदानंद, अद्वैत आश्रम कोलकाता
2. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-1, पृ. 321
3. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-6, पृ. 36-37
4. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-5, पृ. 27
5. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-1, पृ. 321
6. The Complete works of Swami Vivekananda, Volume-7, page. 213
7. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-6, पृ. 181-182
8. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-2, पृ. 316
9. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-6, पृ. 36
10. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-8, पृ. 139-140
11. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-1, पृ. 297
12. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-4, पृ. 268
13. वही, पृ. 267
14. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-6, पृ. 186
15. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-8, पृ. 277
16. सिस्टर निवेदिता, प्रव्रजिका आत्मप्राणा, पृ. 121, रामकृष्ण मठ धन्तोली नागपुर
17. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-8, पृ. 139
18. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-8, पृ. 139
19. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-1, पृ. 321
20. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-8, पृ. 40
21. हमारी शिक्षा, स्वामी विवेकानंद, पृ. 89, प्रकाशकः स्वामी ब्रह्मस्थानंद, रामकृष्ण मठ धन्तोली नागपुर
22. विवेकानंद साहित्य, खण्ड-6, पृ. 38

●

नव-अन्वेषित आद्य ऐतिहासिक पुरास्थल बभनियाँव, जनपद-वाराणसी, उ0 प्र0

प्रो0ओंकार नाथ सिंह* *डा0 अशोक कुमार सिंह**** *एवं डा0 रवि शंकर****

आद्य-ऐतिहासिक पुरास्थल बभनियाँव (अक्षांश 25^0 12' 49'' उत्तरी एवं देशांतर 82^0 51' 45'' पूर्वी) गंगा नदी के एक विलुप्त हो चुके सहायक पुराप्रवाह-पथ पर वाराणसी जनपद में अवस्थित है। जनपद मुख्यालय से उक्त पुरास्थल की दूरी दक्षिण-पश्चिम में कोई 25 किमी है। मई 2019 ई0 में लेखकों तथा विशेषज्ञ-दल द्वारा इस पुरास्थल-परिक्षेत्र का व्यापक सर्वेक्षण किया गया। परिणामस्वरूप सद्य नूतन पुरास्थल बभनियाँव की अन्वेषणा हुई, तत्रापि इसके पुरातात्त्विक महत्त्व को उद्घाटित किया गया।

अनुमानतः 1 किमी क्षेत्रफल में विस्तृत एवं 5 मी0 ऊँचाईयुक्त टीले के अधिकांश पूर्वी भाग पर वर्तमान बभनियाँव ग्राम की सघन बसावट है। ग्रामवासियों द्वारा किये जा रहे विस्तृत कृषि कार्य, जागरुकता के व्यापक अभाव तथा क्रमविहीन समुत्खनन के कारण पुरास्थल का मूल स्वरूप पर्याप्त विखण्डित हो गया है। अस्तु पुरास्थल पर यत्र-तत्र बिखरे मृद्भाण्डावशेष, विविध ब्राह्मण देवी-देवताओं की भग्नाभग्न प्रतिमाएँ, अभिलेख इत्यादि इसके महत्त्व के विपुल सुपरिचायक हैं।

बभनियाँव पुरास्थल ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्व के पंचकोसी-पथ पर स्थित है। पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड के 65 वें अध्याय में 'पंचकोसी परिक्रमा' का धार्मिक माहात्म्य मिलता है।[1] वाराणसी के चतुर्दिक विस्तृत पंचकोसी परिक्रमा-पथ इसकी वास्तविक धार्मिक सीमा का निर्धारण करता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो बभनियाँव स्थल प्राचीन वाराणसी का अभिन्न एवं महत्त्वपूर्ण अंगोपांग रहा है।

बभनियाँव के सर्वेक्षणोंपरान्त अनेक सांस्कृतिक महत्त्व की पुरावस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। पुरास्थल के सतह पर जहाँ मुक्त आकाश में प्रस्तर निर्मित प्रतिमाएँ, फलक, द्वार - स्तम्भ, एकाधिक शिवलिंग एवं अनेक सादे अनगढ़ स्तम्भ जहाँ-तहाँ अस्त-व्यस्त पड़े हैं, वहीं एक महत्त्वपूर्ण शिवलिंग सहित अनेक विग्रह ग्रामीणों द्वारा निर्मित स्थायी-अस्थायी मंदिरों में उपासित हैं।

फलक जो मंदिर की दीवारों पर लगाये गये थे, इनपर उकेरी हुई प्रतिमाएँ मंदिर में आध्यात्मिक शोभा बढ़ाने के लिए की गई

बभनियाँव पुरास्थल का सामान्य दृश्य

* प्रोफेसर, प्रा0भा0इ0, सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्रा0भा0इ0, सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
*** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्रा0भा0इ0, सं0 एवं पुरातत्त्व विभाग, आर्य महिला पीजी कालेज, वाराणसी।

प्रतीत होती हैं। 10 सेमी चौड़े कुछ फलकों पर दोनों ओर प्रतिमाओं को सुन्दरता और कुशलतापूर्वक उकेरा गया है। प्रस्तर प्रतिमाओं में शिव-पार्वती, महिषासुर-मर्दिनी, दुर्गा, सूर्य, हनुमान, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय आदि प्रमुख हैं। उल्लिखित सारुप्यमान कतिपय प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है-

शिव-पार्वती

चुनार के बलुए प्रस्तर से निर्मित प्रस्तुत प्रतिमा लगभग 10 सेमी मोटे, 50 सेमी लम्बे तथा 65 सेमी ऊँचे फलक पर उत्कीर्ण है। इस प्रतिमा में चतुर्भुजी शिव पार्वती को आलिंगित किये हुए हैं। दाहिनी प्रथम भुजा में त्रिशूलास्त्र है। स्थानक मुद्रा में प्रदर्शित प्रतिमा के दोनों ओर अनुचरों का अंकन द्रष्टव्य है। प्रतिमा के घर्षित एवं खण्डित हो जाने के कारण अन्य लक्षण अस्पष्ट हैं। इस प्रकार की प्रतिमाओं के अंकन का उद्देश्य आध्यात्मिक तथा धार्मिक शोभा बढ़ाने के लिए रहा होगा। खजुराहो के पार्श्वनाथ मंदिर से राम-सीता तथा बलराम-रेवती की संयुक्त स्थानक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।[2]

महिषासुर-मर्दिनी

यह प्रतिमा लगभग 10 सेमी मोटे तथा 150X150 सेमी वर्गाकार भुजा के एक फलक पर उत्कीर्ण है। चुनार के बलुए प्रस्तर से निर्मित देवी को राक्षस महिष का वध करते हुए दर्शाया गया है। सिंह पर सवार देवी क्रोध की मुद्रा में हैं तथा दायां पैर महिष के पीठ पर रखी हुई हैं। उनका त्रिशूल महिष के वक्ष में गड़ा हुआ है। इस प्रतिमा में महिष को पशु-रूप में प्रदर्शित किया गया है। मुकुट तथा आभूषणों से अलंकृत यह प्रतिमा निःसन्देह महत्पूर्ण है। चतुर्भुजी देवी के हाथों में दक्षिणाधक्रम में त्रिशूल, खड्ग, खेटक? प्रदर्शित है तथा वामवर्ती एक हाथ महिष का पैर पकड़े हए है। प्रतिमा के घर्षित हो जाने के कारण वाहनादि लक्षण अस्पष्ट हैं। पुराणों में देवी के इस रूप से सम्बद्ध अनेक कथाएँ मिलती हैं। महिषमर्दिनी प्रतिमाओं का प्रारम्भ कुषाणकाल से ही हो जाता है। इस काल में चतुर्भुज तथा षड़भुज दोनों ही रूप मिले हैं; किंतु इनका आकार छोटा है।[3] गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में भी देवी की महिषमर्दिनी स्वरूप वाली प्रतिमाएँ अनेक परिवर्तनों के साथ बनती रहीं।

सूर्य

सूर्य प्रतिमा का निर्माण कुषाण काल से प्रारम्भ हो जाता है तथा गुप्तकाल और उसके बाद अनेक परिवर्तनों के साथ निर्बाध रूप से इनका निर्माण होता रहा। वृहत्संहिता, विष्णुधर्मेत्तर पुराण, विश्वकर्मा-शिल्प, मत्स्य पुराण, अग्नि पुराण, भविष्य पुराण सहित दक्षिण भारतीय ग्रन्थों अंशुमद्भेदागम और सुप्रभेदागम में भी सूर्य प्रतिमा निर्माण के विषय में विविध प्रकार से प्रकाश डाला गया है।[4]

प्रस्तुत सूर्य की प्रतिमा स्थानक मुद्रा में है जो लगभग 30 सेमी चौड़ी है। चुनार के बलुए प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा का ऊपरी हिस्सा नष्टप्राय है। देव-विग्रह के दाएँ तथा बाँए पार्श्व में क्रमशः दण्डी, पिंगल का अंकन प्रतीत होता है। पैरों में प्रदर्शित लम्बा उपानह विदेशी प्रभाव का द्योतन करता है। यह प्रतिमा वर्तमान समय में ग्रामीणों द्वारा उपास्य है।

हनुमान

चुनार के बलुए प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा की खण्डित अवस्था में भी लगभग 01 मी0 से अधिक ऊँचाई शेष है। प्रतिमाशास्त्रीय दृष्टि से यह हनुमान प्रतिमा अत्यंत महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। प्रो0 मारुती नंदन प्रसाद तिवारी का कहना है कि ''यह प्रतिमा खजुराहो से प्राप्त हनुमान प्रतिमा से साम्यता रखती है''। गुप्तकाल के मध्य में हनुमान की ख्याति रामकथा के माध्यम से स्वतन्त्र देव के रूप में परिलक्षित होती है।[5]

उत्तरवर्ती गुप्तकाल (लगभग सातवीं और आठवीं शती ई0) में हनुमान का अंकन रामायण के दृश्यों में चलता रहा। इसके माध्यम से उनकी उत्तरोत्तर बढ़ती लोकप्रियता के फलस्वरूप आठवीं शती ई0 से वीरभाव हनुमान की विशाल प्रतिमाएँ बनने लगीं। उनके मंदिरों का निर्माण भी पूर्व मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ।

हनुमान की आठवीं शती ई0 की एक प्रस्तर प्रतिमा लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरी प्रतिमा मध्य प्रदेश के गुना जिले से प्राप्त है। प्रतिमा की चरण चौकी पर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि इसका निर्माण नवीं शती ई0 में हुआ होगा। इसी प्रकार की एक प्रतिमा खजुराहो के पश्चिमी मंदिरों के समूह के किनारे एक मण्डल में सुरक्षित है।[6]

दुर्गा

यह प्रतिमा लगभग 35 सेमी चौड़ी तथा 55 सेमी ऊँची है। चुनार के बलुए प्रस्तर से निर्मित देवी के दाएँ हाथ में उनका त्रिशूल द्रष्टव्य है। देवी वाहन पर सवार हैं जो खण्डित हो गया है किंतु निश्चित ही सिंह है। प्रतिमा के घर्षित हो जाने के पश्चात भी मुकुट तथा आभूषणों से अलंकृत देवी की आभा देखते ही बनती है।

गणेश

यह प्रतिमा भी चुनार के बलुए प्रस्तर द्वारा एक 10 सेमी मोटे प्रतिमा-फलक के दूसरी ओर उत्कीर्ण है। गणेश प्रतिमा का निर्माण भी तीसरी से चौथी शती ई0 के मध्य प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक प्रतिमाएँ दो हाथों वाली तथा अलंकरण रहित हैं। इसके अतिरिक्त एक दाँत का प्रदर्शन, सर्पाज्ञोपवीत इत्यादि गणेश प्रतिमाओं की विशेषता थी। यही बात गुप्तकाल में भी प्रचलित रही। वाहन के रूप में मूषक का प्रदर्शन न किया जाना, स्थानक मुद्रा तथा गणेश के परिवार का अंकन न होना इत्यादि विशेषताएँ इस काल में प्रचलन में रहीं।[7] मध्यकाल में गणेश प्रतिमा को स्थानक, आसन तथा नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित करने का क्रम दिखलायी पड़ता है। साथ ही प्रथम पूज्य देव होने के कारण देवालयों के उदुम्बरों तथा फलकों पर भी गणेश प्रतिमा उत्कीर्ण किया जाने लगा। बभनियाँव से प्राप्त यह गणेश प्रतिमा मध्यकालीन परम्परा का अनुसरण करती है। मध्यकालीन कला में गणेश प्रतिमाएँ इतनी लोकप्रिय थीं कि विदेशियों ने भी भारतीय प्रतिमा निर्माण परम्परा का अनुकरण कर गणपति प्रतिमाओं का निर्माण किया।[8]

सर्वेक्षण से प्राप्त बभनियाँव के कतिपय द्वारस्तम्भों पर चित्ताकर्षक अलंकरण भी किया गया है। पुरास्थल पर स्थान-स्थान पर 2 मीटर से अधिक लम्बे अनेक सादे प्रस्तर-स्तम्भ पूर्णापूर्ण अवस्था में देखे जा सकते हैं। विविध देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ तथा मंदिर अवशेषों को बनाने में प्रयुक्त प्रस्तर खण्डों की गवेषणा-पश्चात यह निश्चय हो पाया कि इनमें प्रायः चुनार, जो इस पुरास्थल से अनुमानतः 12 किमी दक्षिण में स्थित है, के गुलाबी बलुए प्रस्तरों का अच्छी मात्रा में उपयोग किया गया है।

बभनियाँव से प्राप्त प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष

विशाल अनगढ़ और आंशिक रूप से गढ़े हुए प्रस्तर-खण्डों पर मिले छेनी-हथौड़ी के स्पष्ट चिह्न इंगित करते हैं कि पुरास्थल पर ही इन्हें बनाया जा रहा था। सम्पूर्ण अवशेषों के सामान्य अवलोकन से प्रतीत होता है कि यहाँ 7 वीं 8 वीं ई0 सदी में किसी वृहत देवालय समूह का निर्माण कार्य प्रगतिशील था। साथ ही यह स्थान तत्कालीन समय में महत्त्वपूर्ण धार्मिक स्थल होने के साथ-साथ शिल्पियों की कोई कार्यशाला भी रही होगी। उल्लेखनीय है कि वाराणसी जनपद में ही स्थित एवं उत्खनित राजापुर[9] तथा आशापुर[10] जैसे पुरास्थलों से मूर्ति निर्माण सम्बन्धी कार्यशालाओं का अनावरण पूर्व में हो चुका है।

बभनियाँव पुरास्थल से एक कुषाणकालीन (लगभग द्वितीय शताब्दी ई0) का स्तम्भ-लेख भी प्रकाश में आया है। वर्तमान ग्राम के मध्य भाग में भूमि में खड़े तथा विखण्डित हो चुके स्तम्भ की ऊँचाई लगभग 1 मी0 है। इस स्तम्भ की निर्माण-शैली ऐसी है कि इसके शिवलिंग होने की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता। इसका ऊपरी भाग अष्टकोणीय तथा निचला भाग लगभग 25 सेमी भुजा वाला वर्गाकार है। इसी वर्गाकार एक भुजा पर तीन पंक्तियों का कुषाणकालीन ब्राह्मी लिपि में लेख उत्कीर्ण है। लिपिवेत्ताद्वय प्रो0 डी0 पी0 दुबे एवं डॉ0 मुनीरत्नम ने इसे उद्वाचित किया है।[11] उद्वाचन इस प्रकार है-

1. .....भनी
2. स ग्रामिकेन (सं) करस (स्य) बलय.....
3. ष्टी प्रतिष्ठापितः पुन्नवर्ध (ये)

उपरोक्त अभिलेख की भाषा लगभग द्वितीय शताब्दी ई0 की संस्कृत एवं लिपि ब्राह्मी है। लिपिशास्त्रीयों का अनुमान है कि इस स्तम्भ की स्थापना ग्राम की समृद्धि के लिए किसी ग्रामिक (ग्राम प्रमुख) द्वारा भगवान शिव के सम्मान में की गई थी। अभिलेख की प्रथम पंक्ति के शेषांत (भनी) अक्षरों में वर्तमान ग्राम बभनियाँव नाम की छवि भी देखी जा सकती है।

बभनियाँव से प्राप्त प्रस्तर-स्तम्भ एवं उसपर उत्कीर्ण अभिलेख, कुषाण काल (द्वितीय शताब्दी ई0)

इस पुरास्थल के सर्वेक्षणोंपरान्त एकाधिक पात्र परम्पराएँ भी प्रकाश में आयी हैं। कृष्ण-लोहित, कृष्ण-लेपित, धूसर, उत्तरी कृष्ण परिमार्जित, लोहित तथा लोहित-लेपित प्रमुख पात्र परम्पराएँ हैं। मध्यम गढ़न के स्थूल अवठयुक्त, बहिर्नत अवठयुक्त, गहरे व छिछले, सीधे आधार वाले कटोरे, विविध आकार-प्रकार की थालियाँ, बाहर की ओर विस्तृत अवठ वाले थाल, कलश, गोलाकार घड़े, कील शीर्षाकार अवठ वाले तसले इत्यादि प्रमुख पात्र प्रकार हैं। विवेचित पात्रों की निःसंदिग्ध तुलना वाराणसी जनपद के उत्खनित राजघाट,[12] रामनगर[13] तथा समीपवर्ती जनपद मिर्जापुर में स्थित अगियाबीर[14] जैसे पुरास्थलों से प्रतिवेदित ताम्रपाषाण, उत्तरी कृष्ण परिमार्जित, शुंग-कुषाण, गुप्त तथा गुप्तोत्तर कालों से प्राप्त विविध आकार-प्रकार के पात्रों से की जा सकती है। उल्लिखित पुरास्थलों से ज्ञात सापेक्ष-निरपेक्ष तिथियों की औसत प्राचीनता लगभग 1300 ई0 पू0 से 10वीं शताब्दी ई0 तक जाती है। अतः उपरोक्त प्रमाणों के विश्लेषण तथा अवलोकन से यह सिद्ध हो जाता है कि बभनियाँव पुरास्थल के गर्भ में लगभग 3500 वर्षों से अधिक प्राचीन अतीत की कहानी छिपी हुई है।

यदि भविष्य में बभनियाँव पुरास्थल का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक उत्खनन किया जाये तो निश्चित ही अदृश्यमान वाराणसी की प्राचीन तथा अनुपम विरासत को तर्कपूर्वक प्रमाणित किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. *पद्म पुराण*, सृष्टि खण्ड, 65.14-20
2. श्रीवास्तव, बृजभूषण, *प्राचीन भारतीय प्रतिमा-विज्ञान एवं मूर्ति-कला*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, चित्र 8 एवं 10, 2010
3. जोशी, नीलकण्ठ, पुरुषोत्तम, *प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान (प्रारम्भ से गुप्तकाल तक की ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैनधर्मों की प्रमुख मूर्तियों का अध्ययन)*, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पृ0 137, पटना, 2000
4. श्रीवास्तव, बृजभूषण, पूर्वोक्त, पृ0 84
5. सिंह, ओंकार नाथ एवं इन्द्रजीत सिंह, *मुद्राओं पर अंकित ''हनुमान'': एक प्रतिमाशास्त्रीय अध्ययन*, भारती, भाग-32 (2007-2008), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
6. वही।
7. जोशी, नीलकण्ठ, पुरुषोत्तम, पूर्वोक्त, पृ0 167
8. श्रीवास्तव, बृजभूषण, पूर्वोक्त, पृ0 143
9. जायसवाल, विदुला, *एन्शिएन्ट वाराणसी, ऐन आर्कियोलॉजिकल पर्सपेक्टिव (ऐक्सकेवेशन्स एट अकथा)*, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नई दिल्ली, 2009
10. वही।

11. लेख उद्वाचनकर्त्ताद्वय लिपिविद् प्रो0 डी0 पी0 दुबे एवं डॉ0 मुनीरत्नम क्रमशः इलाहाबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, प्रयागराज के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग में वरिष्ठ आचार्य एवं पुरालिपि शाखा मैसूर में निदेशक हैं।

12. जायसवाल, विदुला एवं बी0 आर0 मणि, *अर्ली हिस्ट्री ऑफ वाराणसी, रिसेण्ट एक्सकेवेशन्स एट राजघाट*, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नई दिल्ली एवं ज्ञान प्रवाह, वाराणसी, 2016

13. जायसवाल, विदुला एवं मनोज कुमार, 2005-06,*एक्सकेवेशन एट रामनगरः डिस्कवरी ऑफ सपोर्टिंग सेटलमेण्ट ऑफ एन्शिएण्ट वाराणसी*, पुरातत्त्व नं. 36, पृ. 85

14. सिंह, पुरुषोत्तम एवं अशोक कुमार सिंह, *आर्कियोलॉजी ऑफ मिडिल गंगा प्लेन (एक्सकेवेशन्स एट अगियाबीर)*, आई0 आई0 ए0 एस0 शिमला एवं आर्यन बुक इण्टरनेशनल, नई दिल्ली, 2004

●

मेहरुन्निसा परवेज़ के कथा साहित्य में स्त्री

*डॉ0 चम्पा कु0 सिंह**

बीसवीं सदी में भारतीय समाज एवं संस्कृति, साहित्य की दुनिया में पूरे बदलाव के साथ अवतरित होता है जिसमें औपनिवेशिक मानसिकता, मध्यवर्गीय चेतना, राष्ट्रीय चेतना, लोकतांत्रिक जीवन दृष्टि एवं अस्मिता प्रमुख बिन्दु है। राजनैतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक आजादी की बात तेजी से उठने लगी। राजनैतिक आजादी तो 15 अगस्त 1947 को मिल गई लेकिन आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक आजादी के लिए शोषित पीड़ित समाज आज भी संघर्षरत है। सबसे अच्छी बात तो यह है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के हिन्दी साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति को लेकर एक बहस छिड़ गयी जिसके परिणामस्वरूप दलित, आदिवासी, स्त्री एवं मुस्लिम के बीच से साहित्यकारों की एक शृंखला शुरू हो गई जिसकी मजबूत कड़ी के रूप संवेदनशील कथाकार पद्मश्री मेहरुन्निसा परवेज़ हमारे सामने मौजूद हैं।[1]

इस मानवीय जगत में स्त्री और पुरुष समाज रूपी रथ के दो पहिए हैं किसी एक के बिना आगे बढ़ना असंभव है। आज भले ही पुरुष अपना वर्चस्व कायम करते हुए समाज को पितृसत्तात्मक बना दिया है लेकिन नारी के बिना वह अधूरा है। स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्ध के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए 'सीमोन द बोउवार' लिखती हैं- 'नारी में उर्वरा शक्ति निहित है उसका शान्त स्वभाव एक गुण है। वह पृथ्वी है और पुरुष बीज रूप। नारी जल है पुरुष अग्नि। अग्नि और जल के संयोग से ही सृष्टि का कार्य होता है। उष्णता और नमी ही जीव को जीवन प्रदान करते हैं। सूर्य समुद्र का स्वामी है अग्नि और सूर्य पुरुष देव हैं, जब कि समुद्र व्यापक रूप में मातृत्व का प्रतीक है। शान्त समुद्र में उर्वरा शक्ति तप्त और जलती हुई रश्मियाँ ही पैदा करती हैं। इसी प्रकार भूमि अपने गर्भ में बीज को धारण करती है, यह जीव को आश्रय देती है, रक्षा करती है और विकास को खाद्य देती है। यहीं कारण है कि पुरुष निरन्तर उर्वरा शक्ति से सम्पन्न देवी की आराधना करता है।'[2] भारतीय समाज में आजादी के बाद नारी जीवन में बदलाव तेजी से देखने को मिलता है। नारी ने खुले आसमान के नीचे खुली हवा में साँस लेना सीखा एवं सामाजिक परिवर्तन की जिम्मेदारी भी अपने कंधों पर ली। भारतीय संस्कृति में 'नारी का भी कितना विचित्र जीवन होता है वह सबको त्यागकर अपनों को छोड़कर दूसरे के घर आती है। दूसरे का सब अपना लेती है नया रिश्ता, नया रहन-सहन, नया तौर-तरीका, यहाँ तक कि नया खान-पान सब ग्रहण करती है,सारी उम्र वह रिश्तों की भूल-भुलैया में घूमती रहती है, भटकती रहती है और अन्त में वह भटक-भटक कर प्राण त्याग देती है बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं खोज पाती है।'[3]

स्वातंत्र्योत्तर भारत में शुरू हुई नारी चेतना ने मुस्लिम स्त्रियों को भी प्रभावित किया है। मुस्लिम लेखिकाओं की सोच में कहीं न कहीं यह बात मजबूती से बैठी है कि हमारे धर्म ने औरतों को बराबरी का अधिकार दिये हैं मगर कट्टर सोच के मर्द और मौलवी उन हकों को देने से डरते हैं। इसलिए उनका आक्रोश उनकी लेखनी में ऐसे हीन व कुंठित विचार रखने वालों पर बड़े दमदार तरीके से प्रहार करता है। समाज को बुराइयों से बचाने की ललक, शिक्षा प्राप्त करने की तीव्र इच्छा, कुछ बन जाने की तड़प मेहरुन्निसा परवेज द्वारा रचित नारी पात्रों में शिद्दत से उभर कर आई है।

इनकी कथा के केन्द्र में समाज का वंचित व उपेक्षित तबका है विशेषतः नारी, आदिवासी एवं निम्नवर्गीय मुस्लिम (पसमान्दा) समाज जो कि मुख्य धारामें शामिल होने के कारण वर्षों से संघर्षरत है। लेखिका ने नारी जीवन और आदिवासी जीवन के विविध पहलुओं से जुड़ी समस्याओं को बड़ी संजीदगी के साथ अपने कथा साहित्य में प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्य में नारी का चित्रण देवी, माँ, सहचरी, प्राण के रूप में होता रहा है, लेकिन आधुनिक महिला लेखिकाओं ने इसका विस्तार करते हुए तमाम रूपों में इसका चित्रण किया है। पद्मश्री मेहरुन्निसा परवेज़ ने भी अपने कथा साहित्य में दादी-नानी, माँ, पुत्री, प्रेमिका, पत्नी एवं सेविका आदि सभी रूप में नारी का जीवन्त चित्रण किया है। नारी के पास प्रकृति ने एक असीम शक्ति दी है- मातृत्व, भातृत्व के कारण ही नारी की महत्ता सर्वोपरि बनी हुई है।

लेखिका के मातृत्व अनुभूति को 'समर' तथा 'लाल गुलाब' कहानी की 'माँ' के पात्र के रूप में पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। 'लाल गुलाब' कहानी में लेखिका लिखती है कि 'माँ का दर्जा तो इस्लाम में बहुत ऊँचा है।'[4] चाहे जाति, धर्म या क्षेत्र जो भी हो माँ का दर्जा श्रेष्ठ और सार्वभौमिक है। 'माँ की ममता ऐसी होती कि बच्चे के भूख से तो माँ की छाती में दूध भर जाता है।'[5] 'अकेला पलाश' उपन्यास की तहमीना अपने इकलौते बेटे 'रिंकू' के सहारे सारे कष्ट को झेल लेती है- 'औरत माँ बनकर सब सह लेती है सारे कष्टों को झेल लेती है।'[6]

---

* प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

'पासंग' उपन्यास की बानो आपा अपने नवजात बच्चे के लिए बिलखते व तड़पते हुए कहती है- 'आह! खानदान पर मेरी बलि मत चढ़ाओ, मेरे बच्चे की बलि मत चढ़ाओ, मुझ अभागन को भी मार दो। मैं कुएँ में छलांग लगा लूंगी। मुझे मेरा बच्चा चाहिए। खुदा के कहर से डरो....वह जैसे रस्सा तोड़कर पागल गाय की तरह बेकाबू हो रही थी। धरती पर लोट-लोटकर सर पटक रही थी। उसके लम्बे बाल जमीन पर पछाड खा रहे थे।'[7]

नारी जीवन का सबसे बड़ा कलंक होता है बाँझपन। कोई भी औरत नहीं चाहती कि वह बाँझ बनी रहे। मृदुला गर्ग ने अपने 'कठगुलाब' उपन्यास में बहुत ही मजबूती से इसे अभिव्यक्त किया है। 'समरांगण' उपन्यास की 'लता' आजीवन संतान सुख हेतु लालायित रहती है। मिट्ठू सिंह को किसी चीज की कमी नहीं थी, बस एक सन्तान की कमी खलती रहती है। सबसे विडम्बना की बात यह है कि 'सन्तान न हो तो कोई पुरुष पर उँगली नहीं उठाता, सब नारी को दोष देते हैं।'[8]

हर माँ चाहती है कि वह अपनी आँखों के सामने बेटा-बेटी की शादी देखे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों की गिनती करने वाली माँ भी उठ खड़ी होती है जब घर में अपने बेटा या बेटी की शादी होती है। 'समरांगण' उपन्यास की 'सुहासनी' का चित्रण करते हुए लेखिका लिखती हैं- 'बेटे के ब्याह के सुख ने सुहासिनी के शरीर में ताकत ला दी थी। रोज बिस्तर पर पड़ी रहने वाली सुहासिनी अब चलने-फिरने लगी थी। सुहासिनी अपनी बिमारी,अपने कष्टों को भूल गई थी। देह की स्थूलता को मन जैसे नकार चुका था। सुहासिनी को सारे घर में डोलते देख सभी आश्चर्यचकित थे।'[9]

लेकिन कुछ ऐसी भी माताएँ होती हैं जो अपने बच्चों के साथ सौतेला व्यवहार करती हैं। 'उसका घर' उपन्यास की 'रेशमा', 'देव' नामक हिन्दू लड़के से प्रेम करती है जो कि रेशमा की माँ को पसन्द नहीं। रेशमा और उसकी माँ के बीच इसी बात को लेकर झगड़ा होता रहा है। एक दिन रेशमा ऐलमा के बड़े भाई से कहती है-

'यह माँ थोडे ही हैं भईया, यह तो सौतेली माँ है।'

'कोरजा' उपन्यास में तो सौतेली माँ की क्रूरता देख पाठक का दिलदहल जाता है। जमशेद नामक बेहाया मर्द जो कि रब्बो की सौतेली माँ के दूर का भाई है वह 'रब्बो' तथा उसकी सौतेली माँ दोनों के साथ सम्बन्ध बनाता है। 'बात तब खुली जब रब्बो माँ बनने वाली थी। जमशेद का पाप पेट में पलकर फन काढ़े बैठा था तब पास कोई नहीं था। सौतेली माँ को जब पता चला तो वह एक ईर्ष्यालु औरत बन गई....रब्बो को रस्सी से बाँधकर इतना मारा कि सारे शरीर में ओल के निशान पड़ गये थे। कई औरतों ने सलाह दी कि इसे दवा खिलाकर गर्भ गिरा दिया जाए, पर उसकी सौतेली माँ तैयार नहीं हुई। क्यों दवा दे? भोगे अपने कर्म का फल।'

नारी का परिश्रमी माँ के रूप में चित्रण करते हुए लेखिका 'कोरजा' उपन्यास में लिखती हैं कि- 'साजो खाला अपने बच्चों के भरण-पोषण के लिए कठोर परिश्रम करती है और अन्ततः बेचारी अपने शरीर तक को गिरवी रखने को मजबूर हो जाती है। इसी तरह 'अकेला पलाश' की तहमीना अपने बेटे रिंकू के लिए बाहर भी मेहनत करती है और घर में भी खटती है। गरीब परिवार की माताएँ तो खून पसीना सब एक कर देती हैं। 'चमड़े की खोल' कहानी में शुभा से उसकी माँ कहती है- 'तू क्यों चिंता करती है, मेरे जीते जी इस घर में तेरा हक है। तेरा हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं है, आँख रहते मैं अपने बच्चों को परायापन महसूस नहीं होने दूंगी। मरने के बाद क्या होगा? मैं जानती हूँ....तू चिंता मत कर, मैं अपनी चमड़ी के भी कपड़े बनवाकर अपने बच्चों को पहना सकती हूँ।'[10]

लेखिका ने कहीं माता-पिता के प्रेम में डूबी पुत्री का चित्रण किया है तो कहीं माता-पिता द्वारा उपेक्षित पुत्री का, तो कहीं कर्मठ तथा परिश्रमी पुत्री की, तो कहीं उम्र से ज्यादे समझदार तथा चिन्तनशील पुत्री भी है। कुछ ऐसी बेटियों का भी चित्रण है जो बाप की बुरी नजर पड़ने के कारण बाल विवाह एवं अनमेल विवाह की शिकार बन जाती हैं।

कहीं-कहीं ऐसी पुत्री का भी चित्रण मिलता है जो माँ के बर्ताव के कारण माँ से नफरत करने लगती हैं। जैसे- 'आँखों की दहलीज' उपन्यास में तालिया अपनी अम्मा और (सिद्दकी साहब) की लाडली थी। तालिया दोनों से स्नेह करती थी लेकिन बाद में अपनी माँ से नफरत करने लगी थी क्योंकि उसकी माँ ने उसे जावेद के साथ प्रेम सम्बन्ध बनाने के लिए प्रोत्साहित किया ताकि वह माँ बन सके, जिसमें कि असफलता ही हाथ लगी। 'उसका घर' उपन्यास की 'ऐलमा' अपनी मम्मी-पापा को बहुत प्यार करती है। माता-पिता दोनों के गुजर जाने पर 'ऐलमा' बार-बार अपने पापा के कथन का स्मरण करती रहती है- 'ऐनी बेटी! मैं तुझे क्या दूंगा, बस मेरी सारी जायदाद ये किताबें हैं जो मेरे बाद सिर्फ तेरे लिए होंगी।'[11]

'पासंग' उपन्यास की 'कनी' और 'कुलसुम' दोनों अपने परिवार की चहेती कन्या हैं। कनी अपनी माँ को अपने घर लाना चाहती है- 'अम्मा आप घर चलो मैं दादी को मना लूंगी।'[12] बेचारी भोली-भाली कनी को कहाँ पता था कि अम्मा किसी और के घर की बहू बन गई है। माँ-बेटी के मिलन का चित्रण बहुत ही भावपूर्ण है ''मेरी बच्ची, मेरे कलेजे का टुकड़ा, तुझे देखने को आँखे तरस जाती हैं। जाने कितनी दुआ मन्नतों के बाद यह दिन देखना नसीब होता है। जालिमों ने औलाद से मिलने पर भी पाबंदी लगा रखी है। अम्मा रोते हुए बोल रही थी।....

बहुत दिनों बाद जैसे गाय को अपना बछड़ा मिल गया था। अम्मा वैसे ही उसे दुलार रही थी।[13]

कनी और कुलसुम में तो समझदारी और चिन्तनशीलता भी कूट-कूटकर भरी है। कुलसुम तो कनी को ऐसी-ऐसी बातें बताती हैं कि कनी भौचक रह जाती है। 'कोरजा' उपन्यास की नसीमा बचपन से ही समझदार हो गयी थी। एक दिन उसका छोटा भाई मुन्ना कहता है 'आपा अब तो अम्मा तरकारी भी नहीं बनाती। मुझसे रूखा खाया नहीं जाता' नसीमा आँखे भर भावुकता से बोली- 'चुप रह मुन्ना कोई सुन लेगा' नसीमा अपने अम्मी-अब्बा के हर रोज की झगड़ा से अपना बचपना ही खो चुकी थी।'[14]

कई बार कन्याओं का जीवन यौन शुचिता के कारण नर्क बन जाता है। पुरुष की बहशी आँखों से बचाने के लिए बाल्यावस्था में ही शादी हो जाती है। इसे 'अकेला पलाश' की 'तहमीना' तथा 'कोरजा' उपन्यास की 'फातमा' में देखाजा सकता है जिनकी शादी कम उम्र में हो गयी वह भी अनमेल विवाह। दोनों के जल्दी विवाह का कारण बेटी पर बाप की बुरी नजर। 'अरमान भी वक्त की मार खाई अनुभवी औरत थी। पारखी आँखों ने ताड़ लिया और पति को बाज सा जा पकड़ा। वह समझ गई थी कि अचानक लड़की की ओर बाप का प्रेम नहीं उमड़ा है बल्कि यह मक्कार आदमी की बहशी आँखों का पानी था, जो घर में फुदकती नये परों की फड़फड़ाती चिड़ियाँ को एक ही बार में दबोच लेना चाहता था।'[15]

गरीबी इन्सान को समय से पहले समझदार बना देती है। 'नसीमा' तथा 'रब्बो' इसका साक्षात उदाहरण हैं। 'कोरजा' उपन्यास की रब्बो की जब शादी पड़ती है तो अपनी शादी हेतु जुटाए वस्तुओं को जब बाहर निकालती है तो सब देखकर दंग रह जाती हैं- 'रब्बो आपा की पेटी से कढ़े हुए तस्तख्वान,तकिए के गिलाफ, किरोशिया के टेबल क्लॉथ, किरोशिया से बनी थैली। कढ़ाई किए हुए कुर्ते, लेस से बुने हुए दुपट्टे। छोटे-छोटे काँच के बर्तन, पीतल के बर्तन, साबुनदानी, आईना, साबुन की बट्टी, खुशबूदार तेल की शीशी, सेंट, पाउडर, स्नो, नई चमकदार चूड़ियों के सेट, नई सूरमेदानी और न जाने क्या-क्या भरा था जोड़ रखा था आपा ने।'[16] नानी रब्बो की चतुरता तथा समझदारी पर गर्व करते हुए कहती है- 'गरीब की लड़की अन्दर ही अन्दर जोड़ती रही कितना बोझ मेरा हल्का हो गया।'[17] विभिन्न प्रकार की भूमिका में बेटियों का चित्रण लेखिका द्वारा किया गया है।

मानव संसार को निरन्तर आगे बढ़ाने के लिए जैविक रूप से स्त्री पुरुष को सम्बन्ध कायम करना पड़ता है और इसी सम्बन्ध को सामाजिक स्वीकृति प्रदान करने के लिए विवाह जैसी संस्था विकसित की गयी है जिसके बाद स्त्रीपुरुष, पति-पत्नी के रूप में जीवन निर्वाह करते हैं। लेखिका अपनी रचनाओं में पत्नी के विविध रूपों का चित्रण किया है। पुरातन सोच से लेकर आधुनिक सोच वाली पत्नी पति से असंतुष्ट रहने व पर पुरुष से अवैध सम्बन्ध वाली पत्नी, पुनर्विवाह करने वाली पत्नी, शिक्षित पत्नी एवं पति परायण पत्नी आदि सभी रूपों में चित्रित नारियाँ हैं।[18]

'समरांगण' उपन्यास की सुहासिनी, लता और पृथा पति परायण पत्नी हैं। तीनों आजीवन पति को ही सब कुछ मानती रहीं, जबकि पण्डित गोपीलाल तथा मोहन का दूसरी औरतों से अवैध सम्बन्ध भी स्थापित था। हमारे समाज की संरचना ऐसी है कि पत्नी अपने पति को स्वामी या देवता मान बैठती है या यों कहें कि पुरुष सत्ता की मानसिक दासता को स्वीकार कर लेती हैं। इसी यथार्थ का चित्रण करते हुए लेखिका सुहासनी के माध्यम से स्पष्ट करती है कि 'स्त्री केवल गर्भ धारण करती है तथा जन्म देती है परन्तु उसका स्वामी तो पुरुष है। पुरुष की ही वह सन्तान कहलाती है। पुरुष से ही दुनिया चली बढ़ी है इस बात को भला कैसे भूला जा सकता है। यह बहस का मुद्दा नहीं, आस्था है और जहाँ आस्था होती है सारे प्रश्न अपने आप समाप्त हो जाते हैं।'[19] यह अवस्था एक दिन का नहीं बल्कि वर्षों से चलती आ रही मानसिक दासता का प्रतिफल है।

भारत की पारम्परिक औरतें तो अपनी जान से ज्यादा गहनों से प्रेम करती हैं। इसे 'समरांगण' उपन्यास में 'सुहासनी' का कंगन के प्रति प्रेम में देखा जा सकता है। 'संकट के कारण सुहासनी का चेहरा सूख गया था पर कंगन जाने के कारण वह और अधिक दुखित लग रही थी। विपत्ति में भी नारी को अपने गहनों का मोह रहता है। गहनों से लगाव हर स्त्री का अपना जन्मजात गुण होता है। इसलिए नारी को गहनों से प्रेम होता है कि गहनों पर एक मात्र उसका अधिकार है।' वह उसकी अपनी नीजी सम्पत्ति, पूँजी होती है जिन्हें अपने अधिकार में लेते हुए पुरुष दस बार विचार करता है, झिझकता है।

हमारे समाज पति-पत्नी के बीच एक विरोधाभास जो देखने को मिलता है वह है पत्नी पति से प्रेम व अधिकार चाहती है जबकि पति को लगता है कि पत्नी को धन-वैभव से खुश रखा जा सकता है। इस पुरुषवादी सोच की अभिव्यक्ति करते हुए लेखिका लिखती है- 'पत्नी को क्या चाहिए? कोठी, कार, गहने, साड़ियाँ, वैभव, नौकर-चाकर सभी तो है। अच्छी और आदर्श पत्नियाँ इसी में अपना मन लगाती हैं। पति पत्नी के पल्लू से बँधे होने के लिए नहीं होता। उसे तो बाहर काम करना है शासन और सत्ता संभालनी है।'[20]

पतिव्रता पत्नी पति की हर विपत्ति में साथ देती है कभी मुँह नहीं खोलती। पति के हर कमजोरियों पर पर्दा डालने की कोशिश करती है, लेकिन पति की चरित्रहीनता बर्दाश्त नहीं कर पाती। 'समरांगण' उपन्यास की सुहासिनी पति के करतूत से टूट जाती है 'गोपीलाल के चरित्र के गिरावट की रोज खबरे सुन सुनकर उसका रहा-सहा खून भी जल जाता था।'

समाज में गरीबी व दहेज के कारण युवती अर्थात किशोरी पुत्री की शादी अधेड़ मर्द से कर दिया जाता है इसका चित्रण लेखिका 'अकेला पलाश' उपन्यास की नायिका तहमीना के माध्यम से करती हुई कहती है- 'तहमीना' का विवाह उसके पिता की उम्र के जमशेद से कर दी जाती है। कोरजा उपन्यास की रब्बो की शादी

तीन बच्चों के बाप से की जाती है। 'फाल्गुनी' कहानी में फाल्गुनी के माता-पिता उसका विवाह एक अंधेड़ एवं कुरूप देखने वाले व्यक्ति से कर देते हैं। दुल्हन बनी फाल्गुनी जब सर उठाकर अपने दुल्हे को देखा 'मैंने एकदम हैरान होकर मुंह ऊपर किया और सेहरे की ढेर-ढेरलाड़ियों को सरका कर फटी-फटी आँखों से देखती रह गई। मेरे सपनों वाला राजकुमार कहाँ है? क्या यहीं मेरे पति हैं? अग्नि की तपिश से मेरी सारी कुँआरी कोमल भावनाएँ राख हो गई।' इसी प्रकार 'आकाशनील' कहानी की 'तरु' का विवाह भी एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति से होता है जो हमेशा सस्ती औरतों के साथ ऐयाशी करता है।

पति की नपुंसकता अथवा पति से असंतुष्टी के कारण ही कुछ पत्नियाँ शारीरिक भूख मिटाने के लिए विवाहेतर सम्बन्ध भी स्थापित कर लेती हैं। इसे 'अकेला पलाश' उपन्यास की मुख्य नायिका तहमीना दुर्राज जो एस.पी. तुषारपंकज से जुड़ जाती है में देखा जा सकता है। तहमीना अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति करते हुए कहती है 'औरत बहुत भूखी होती है तुषार, वह कहीं न कहीं से प्यार चाहती है, ममता चाहती है और मुझे कहीं से कुछ भी नहीं मिला, यहाँ तक कि जिन्होंने मुझे पैदा किया उन्होंने भी मुझे ममता, प्यार कुछ नहीं दिया।'[21] इसी मजबूरी का फायदा उठाकर तुषार तहमीना के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाता है और धोखा देकर भाग जाता है। 'रेगिस्तान' कहानी की नीरा एक बच्ची की माँ है और अमित दो बच्चों का बाप। दोनों के बीच विवाहेतर सम्बन्ध है, दोनों एक दूसरे से शादी करना चाहते हैं। यह जानकर अमित के बूढ़े काका चीख पड़ते हैं- 'प्रेम, प्रेम क्या बकवास लगा रखी है? बच्चे बड़े हो गये हैं उनके सामने यह नाटक करते तुम्हें शर्म नहीं आती?

'सोचो तुम दोनों का अब शादी रचाना कितना नाटकीय लगेगा।'[22]

आधुनिक औरतें अब पाप-पुण्य में यकीन नहीं करती। उन्हें अपने स्वाभिमान और अस्तित्व की पहचान हो गई है। मर्यादा के नाम पर भला कब तक घुट-घुट कर मरती रहेगी। 'समरांगण' उपन्यास की पृथा लता से कहती है- 'ताई जी आशा कहिए, मर्यादा मत कहिए। जाने क्यों इस शब्द से मुझे आहुति की, बलि की बू आती है। मर्यादा के लिए ही तो हम अपनी बलि दे देते हैं आशा हमें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करती है, परन्तु मर्यादा हमारे जीवित शरीर की बलि माँगता है।'[23]

कई बार बाँझपन के कलंक से मुक्त होने के लिए औरतें पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। आखिर दूसरा रास्ता भी क्या है? भारत में यदि पत्नी बच्चा पैदा करने में असमर्थ है तो पति दूसरी शादी कर लेता है और समाज स्वीकृति भी प्रदान कर देता है लेकिन पति बच्चा पैदा करने में असमर्थ है तो पत्नी के लिए दूसरे विवाह का विकल्प समाज ने दिया ही नहीं। मेहरुन्निसा परवेज़ ने अपनी रचनाओं में ऐसी महिलाओं को बखूबी चित्रित किया है। 'आँखों की दहलीज' उपन्यास की तालिया बच्चा पैदा करने में असमर्थ है जिनकी जानकारी उसकी माँ को नहीं है। वह जावेद और तालिया के बीच गहरे होते रिश्ते में भरपूर सहयोग करती हैं इतना ही नहीं, उन दोनों के प्रेम मिलन की पहरेदारी भी करती हैं, लेकिन सारा प्रयास असफल रहता है-

'अम्मी की सारी प्लानिंग बेकार हो गयी थी, उन्होंने यही सोचा था कि तालिया जावेद के बच्चे की माँ बन जायेगी और तालिया की जंग खाई जिन्दगी फिर चमक उठेगी। उन्हें क्या मालूम था कि डॉक्टर ने शमीम में नहीं, खुद उसमें ऐब निकाले थे। शमीम तो ठीक था।' 'चुटकी भर समर्पन' कहानी की नायिका 'पाखी' भी पति से माँ न बन पाने के कारण अपने पुरुष मित्र 'मनीष' से गर्भ धारण कर लेती है।

नारी शोषण का एक कारीगर हथियार पुरुषों के पास तलाक है। जब इच्छा हुई देह शोषण किया, फिर तलाक देकर पत्नी को दूर कर दिया। लेखिका ने इस समस्या को बहुत ही गंभीरता से उजागर किया है। 'उसका घर' उपन्यास विवाह विच्छेद को ही केन्द्र में रखकर लिखा गया है। ऐलमा दर्मे से पीड़ित रहती है जिसके कारण उसका पति उसे तलाक देना चाहता है। ऐलमा के पति का पत्र घर में हलचल पैदा कर देता है। ऐलमा भी तलाकनामा के लिए खुद को तैयार कर लेती है। ऐलमा रेशमा से कहती है- 'सोचना क्या है रेशमा? यह तो दिल के सम्बन्ध होते हैं। पत्नी को भीख में माँगा हुआ अधिकार कभी सुखी नहीं करता। जब उनके मन से ही मैं उतर गई तो जबर्दस्ती करके वह अधिकार या सम्मान पाया तो जाएगा नहीं। रही अदालत जाने की बात, तो पति-पत्नी में यदि दरार पड़ जाए तो दुनिया की कोई अदालत उसे जोड़ नहीं सकती। मैंने सोच लिया है मैं तलाक स्वीकार कर लूंगी।'[24]

'कोरजा' उपन्यास की 'फातिमा' ऐलमा के ठीक विपरीत है, जब करीम मियाँ कुछ लोगों को साथ लेकर घर आते हैं और सबके सामने फातिमा को तलाक देने की बात करते हैं तब फातिमा सबको खरी खोटी सुनाते हुए कहती है- 'मैं कहती हूँ अपनी दाढ़ी की सलामती चाहते हो तो सब मेरे घर से चले जाओ, वरना मैं चूल्हे की कोलती से सबका मुँह झुलस दूंगी....मैं कोई भागकर आई हुई लौंडिया नहीं हूँ चार के सामने ब्याह के आई हूँ क्यों जाऊँ। अपने बाप के घर? यह मेरा घर है तुम्हें जाना है जाओ। मेहरुन्निसा परवेज़ के कथा साहित्य में पत्नी के विविध रूपों का चित्रण है जो वर्तमान समय के समाज का प्रतिनिधित्व भी करती हैं। लेखिका ने बहुत ही सलीके से स्त्री-चित्रण किया है।'[25]

उम्र के साथ किशोर तथा किशोरियाँ विपरीत लिंगों के प्रति झुकाव महसूस करने लगते हैं। मध्यकालीन समय में लड़की लड़के के बीच इतनी दूरी बना दी जाती थी कि खुलकर दिल की बात भी साँझा नहीं कर पाते थे, लेकिन इतिहास गवाह है कि भारत में प्राचीन समय में प्रेम विवाह अथवा गंधर्व विवाह होता रहा है। एक समय लड़कियों का प्रेम करना पाप के समान समझा जाता था

लेकिन समय के साथ समाज में बदलाव आया और प्रेम को विवाह में तब्दील कर ससम्मान लड़की को विदा किया जाने लगा। नासिरा शर्मा का मानना है कि प्रेम के साथ सम्मान भी जरूरी है- 'औरत मर्द के रिश्ते में प्रेम के साथ सम्मान का होना बहुत जरूरी है। केवल प्रेम से जीवन नहीं चल सकता। यदि प्रेम में सम्मान होगा तो एक दूसरे के विचार अहसास की कदर करनी पड़ेगी।'[26] सीमोन द बोउवार कहती हैं कि आदर्श प्रेमिकाओं के उदाहरण किशोरावस्था के ही युवक और युवतियों में मिलते हैं।[27]

मेहरुन्निसा के कथा साहित्य में नारी का चित्रण प्रेमिका के रूप में भी किया गया है जिसमें लेखिका ने मुख्य रूप से प्रेमिका को दो वर्गों में बाँटकर देखने का प्रयास किया है। पहला प्रेम को विवाह में परिणत करने वाली प्रेमिका और दूसरा प्रेम को विवाह में परिणत न करने वाली प्रेमिका। 'उसका घर' उपन्यास की रेशमा, देव नामक हिन्दू लड़के की प्रेमिका है। शादी से पूर्व वह देव के बच्चे की माँ भी बन जाती है जो उसकी माँ को बिल्कुल पसन्द नहीं है। रेशमा ऐलमा से कहती है- 'मैं तो देव को इस घर के दामाद का सम्मान दिलाऊँगी और खुद मैं सम्मान से विदा होकर जाऊँगी।'[28] जबकि रेशमा की माँ यह मानने को हरगिज तैयार नहीं है। देव चाहता है कि रेशमा उसके साथ रहे, परन्तु रेशमा कहती है 'क्या तुम ममा की मौत तक इंतजार नहीं कर सकते? जिस दिन ममा मरेगी उसी दिन तुम्हारे पास चली आऊंगी क्योंकि मुझे ममा के बाद रोकने वाला कोई नहीं होगा?'[29] अन्ततः वहीं होता है। माँ के मरने के बाद रेशमा देव की पत्नी बन जाती है।

मेहरुन्निसा परवेज़ की रचनाओं में ऐसे कई नारी पात्र हैं जो प्रेमिका तो बनती हैं लेकिन प्रेम को विवाह में परिणत कर पत्नी नहीं बन पाती हैं। नारीयाँ जाति बड़ी भावुक होती हैं और अपने इसी भावुकता के कारण कई बार छली जाता हैं। 'रावण' कहानी में शुभी का प्रेमी प्रशान्त उसके साथ प्रेम तो करता है परन्तु शादी की बात पर कन्नी काट जाता है। इसी तरह 'चुटकी भर समर्पण' तथा 'आदम और हव्वा' कहानी में क्रमशः मनीष तथा महीम द्वारा प्रेमिका को धोखा मिलता है। 'हत्या एक दोपहर की' कहानी में नुपूर अपने साथ पढ़ने वाले महेश से प्रेम करने लगती है किन्तु गर्भधारण कर लेने पर महेश उससे कन्नी काटने लगता है। लेखिका लिखती है- 'महेश यह वही है जो कॉलेज के जमाने में एक बार उसे पतन की ओर ले गया था और जब वह माँ बनने वाली थी तब भागता फिरा था, तब उसने इसी महेश को कितना श्राप दिया था और खुद डॉक्टर के पास दौड़ी थी।'[30] 'कोरजा' उपन्यास की रब्बो, 'पासंग' उपन्यास की 'बानो आपा' एवं 'समरांगण' उपन्यास की 'राधा' तथा 'जूली' शादी से पहले ही अपने प्रेमी द्वारा गर्भधारण कर लेती हैं और प्रेमी के साथ शादी भी नहीं कर पाती हैं। ये सभी प्रेमी द्वारा पीड़ित प्रेमिकाएँ हैं।

कई बार महिलाएँ प्रेम के चक्कर में पुरुषों के वासनापूर्ति का शिकार बन जाती हैं, इतना ही नहीं, कई बार तो पुरुष प्रेमिका के बजाय नारी को रखेल समझ लेता है। कुछ ऐसा ही 'समरांगण' उपन्यास में 'बूंदाजान' के साथ हुआ। वह पण्डित गोपीलाल की रखैल बनकर रह जाती है। धीरे-धीरे वह दो बच्चों की माँ बन जाती है। दूसरी बच्ची के जन्म के बाद गोपीलाल उससे दूरी बनाने लगता है। बूंदाजान गोपीलाल को लताड़ते हुए कहती है- 'तुम अब बहुत विचार करने लगे हो, आगा-पीछा सोचने लगे हो? गुस्सा तो आएगा ही न? मैंने तो अपना सारा जीवन तुम पर समर्पित कर दिया। हम नौटंकी वाले हैं तो क्या, हमारी भी इज्जत होती है, मर्यादाएँ होती हैं, सात्विकता हमारे भी गुण होते हैं।'[31]

'उसका घर' उपन्यास में ऐलमा के साथ भी वैसा ही होता है। ऐलमा के भईया अपनी बहन का सौदा अपने बॉस मिस्टर आहूजा से कर देते हैं। मेहरुन्निसा परवेज़ लिखती हैं- 'ऐलमा आहूजा के लिए पहली लड़की नहीं। उसे रात को सोने के लिए लड़की चाहिए। ऐलमा की तरह उसकी कितनी ही प्रेमिकाएँ हैं जिनसे वह प्रेम जताता है। ऐलमा का प्रेम वह उधार खाते में नहीं लिखता बल्कि भईया का बैंक बैलेन्स काफी बढ़ रहा है।'[32] ऐलमा की तरह सोफिया भी भुक्तभोगी है। वह मर्दों के दोगले चरित्र को बेनकाब करती हुई कहती है- 'ऐलमा औरत प्यार के लिए भटकती है पर उसे प्यार नहीं मिलता। औरत हमेशा मर्द से घर का सुख माँगती है पर मर्द हमेशा उसे बाज़ारू सुख देता है। मैंने कितने मर्द बदले हैं पर क्या उन्होंने मुझे प्यार दिया? नहीं सब शरीर के सुख को चाहते हैं....जब उनका शारीरिक सम्पर्क होता है तो वही स्मार्ट लगने वाला युवक ऊबे पति सा अलग औरत की नंगी टांगो को हटाता नजर आता है।'[33] 'अकेला पलाश' में तहमीना से तुषार प्रेम का ढोंग कर अपनी वासना पूर्ति करता है तो 'कोरजा' में रब्बो से जमशेद।

परवेज की कथा संसार में प्रेमिकाओं का व्यापक प्रेम जाल है। प्रेमिकाओं की अपनी अलग-अलग पहचान है जिसमें कुछ खुशहाल, तो कुछ पीड़ित हैं।

हमारे देश में सास बहू का रिश्ता बहुत ही रोचक माना जाता है। यदि देखा जाए तो सास-बहू का रिश्ता माँ-बेटी के समान है किन्तु व्यावहारिक स्तर पर बहुत कम ही सास-बहू के बीच में माँ-बेटी का रिश्ता होता है। हर सास एक समय बहू होती है किन्तु सास बनते ही भूल जाती है। 'जगार' कहानी में लेखिका एक रंक के घर की सास-बहू का मार्मिक चित्रण करते हुए कहती है 'जगार' कहानी में रॉड़ की बेटी गोमती का विवाह लंगड़े, पति ननकू से होता है विवाह होते ही ननकू को आठ दिन के लिए शहर भेज दिया जाता है, और उसकी पत्नी गोमती को आठ दिन तक हर रात छोटे मालिक के साथ कोठी में सोना पड़ता है। आठ दिन बाद ननकू लौटकर आता है, तब उसकी अम्मा सुहाग सेज सजाती है और बहू की पीठ पर हाथ रखते हुए कहती हैं- 'बहू हम छोटी औकात के लोग। सारी उम्र मालिक का जूठा ही खाने को मिले हैं, जूठे से ही हमारी जिन्दगानी चले हैं। बड़े लोगों की यूँ ही मेहरबानी नहीं मिले

हैं, आहुति देनी पड़ती है। देवी को प्रसन्न करने बेटा बलि लगे है, तब देवी प्रसन्न होत है मन में कोई सोच न कर। अरे, ऊँचे पेड़ की छाया तो हम पर पड़े हैं।'[34] गोमती लाचार होकर सब सह लेती है। मालिक लम्बे समय से सरपंच थे, लेकिन एकाएक आरक्षित पद घोषित हो जाने से उन्हें गोमती को मैदान में उतारना पड़ा। अनपढ़ गोमती सरपंच तो बन गई किन्तु उसे कुछ पता ही नहीं चलता, फिर कमला का उसे साथ मिला और कलेक्टर से अधिकार तथा सम्मान। गोमती अब मंच तथा सभा में शामिल होने लगी, तब उसकी सास कहती है- ''बैठे-ठाले की महाजनी हाथ लग गई। अब बहू मुँह उघाड़े फिरेगी। घूँघट में मुँह नहीं ढके जाते बेटा, घूँघट में तो अपनी इज्जत ढकी जाती है।[35] हमारे समाज की सासें सदा बहू को लोक-लाज व पर्दा प्रथा का पाठ पढ़ाती रहती हैं। गोमती कमला की मदद से धीरे-धीरे चालाक हो जाती है एक दिन छोटे मालिक को मुंहतोड़ जवाब देते हुए कहती है- 'नागिन के पास केंचुली कहाँ है मालिक! केंचुली तो आपने गाँव में आते ही उतार ली थी। अब तो मेरा घाव ही घाव है।'[36] गोमती इतने पर भी नहीं रूकती बल्कि वह बगावती स्वर में अपने सास से कहती है- 'अम्मा हम मालिक की जूठन पर नहीं पल रहे, मालिक हमारी जूठन खा रहे हैं।'[37]

'अकेला पलाश' उपन्यास में नाहिदबाज़ी की सास उससे छुआछूत मानती हैं, क्योंकि नाहिदबाज़ी मुस्लिम सम्प्रदाय से है जबकि सास हिन्दू। नाहिदबाज़ी महेश अग्रवाल से कोर्ट मैरिज तो कर लेती है लेकिन घर परिवार के व्यवहार से अफसोस करती है। महेश कहते हैं तुम माँ की बातों पर ध्यान मत दो, पर कैसे न दूँ।[33] अधिकांशतः देखा जाता है कि चाहे बहू जैसी भी हो,परन्तु सास के आखिरी समय में वह जरूर सेवा करती है। फिर भी सास है कि बहू की बुराई गाते चलती है। 'पासंग' उपन्यास में कुलसुम की दादी 'जैनब' कनी की दादी से कहती है- 'आपा तुमसे कितनी बार बताया, पर तुम तो कभी मेरी बात का यकीन नहीं करती न? मेरी बहू कमख़्त ऐसी है कि घर का पका खाना तक खाने नहीं देती। भला वह बाहर से आई कोई अच्छी-बुरी चीज देगी? खुद डकार गई होगी। चाटने में कम है क्या? सारा दिन तो बकरी की तरह मुँह चलाती रहती है। छोटे घर की दलीदरों के घर से है कहाँ ढंग से खाना-पीना मिला होगा। यहाँ मौज कर रही है।'[39] कुछ तो सास-बहू ऐसी होती हैं कि जब तक एक दूसरे की शिकायत न करें तो उनका खाना नहीं पचता।

भारतीय समाज संयुक्त परिवार के लिए प्रसिद्ध रहा है। घर के बच्चे अपनी माँ से ज्यादा दादी-नानी के यहाँ ही पलते हैं, जिसके कारण नानी-दादी, और नाती-पोते के बीच गहरा लगाव हो जाता है लेकिन अब आधुनिक समाज में संयुक्त परिवार का ढाँचा ढहता ही जा रहा है एवं दादी-नानी को वृद्धाश्रम की तरफ मोड़ा जा रहा है।[40]

'कोरजा' उपन्यास में नानी के घर रब्बो, नसीमा, साजो खाला, और साजो खाला के तीनों बेटे रहते हैं। नसीमा स्मरण करती हुई कहती है- 'आज मैं सोचती हूँ आपा, तो बड़ा अजीब सा लगता है क्या उन दिनों बिखरे-छितरे लोग ही नानी के घर पनाह ढूँढ़ने आ जाते थे? नानी के उस पुराने गरीब घर में कितनी मजबूर जिन्दगियाँ साँस ले रही थी। अपने में दूसरों के इतिहास को समेटकर रखवाली करती थी नानी।'[41]

श्रीमती मेहरुन्निसा परवेज़ ने अपने विपुल साहित्य में कुछ नारी पात्रों को आधुनिक नारी के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया है जिसमें प्रमुख रूपसे 'समरांगण' उपन्यास की 'चन्द्रकला' एवं 'अंग्रेजीन', कोरजा उपन्यास की 'कम्मो', 'रन्नो' एवं मोना दीदी 'अकेला पलाश' उपन्यास की तहमीना तथा नाहिदबाज़ी और 'लालगुलाब' तथा 'समर' कहानी की 'नेहा' का नाम रेखांकित किया जा सकता है। आधुनिक महिला कलाकारों ने अपने कथा साहित्य में स्त्री को मजबूती के साथ रखा है जिसमें मेहरुन्निसा परवेज़ अग्रणी भूमिका में हैं। इनके कथा साहित्य में तो पूरा स्त्री संसार ही है। हरेक रूप में नारी मौजूद है। नारी पात्रों में विविधता होने के बाद भी लगभग उद्देश्य एक है-[42] 'अपने अस्तित्व तथा स्वतंत्रता की लड़ाई।' लेखिका ने नारी को विविध रूपों में चित्रित करते हुए पुरुष की दोगली नीति तथा अहम् को बेनकाब कर ईमानदार मनुष्य बनने का संदेश दिया है।

परवेज़ जी अपने कथा साहित्य में नारी को विविध रूपों में चित्रित करते हुए उनकी तमाम समस्याओं व संघर्षों को रेखांकित करने का प्रयास किया है। 'आँखों की दहलीज' उपन्यास में स्त्री के प्रेम, कर्तव्य और बलिदान के त्रिकोणात्मक संघर्ष की कथा है तो 'उसका घर' उपन्यास में ऐलमा, रेशमा और सोफिया जैसे पात्रों के माध्यम से मानव मूल्यों को केन्द्र में रखते हुए सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों का ताना बाना बुना गया है, जबकि 'कोरजा' उपन्यास में निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में व्याप्त भूख, घुटन, पीड़ा, शोषण, सेक्स, तनाव, गरीबी आदि का यथार्थ वर्णन किया है। लेकिन 'अकेलापलाश' उपन्यास में विवाह, बाह्य सम्बन्ध, अन्तर्जातीय व अन्तधार्मिक विवाह, विवाहित जीवन की समस्याएँ, ऊँचे ओहदे पर कार्यरत नारी की समस्याएँ आदि का चित्रण किया गया है। 'समरांगण' उपन्यास नायक प्रधान होते हुए भी स्त्रीजीवन का सूक्ष्म चित्रण प्रस्तुत करता है। इसमें स्त्रियों को पुरुषों ने वस्तु के रूप में उपयोग किया है। चाहे पत्नी हो या प्रेमिका। 'पासंग' उपन्यास में पुरुषपात्रों की स्थिति नगण्य है। इसमें अविवाहित माँ, विधवा, और तलाकशुदा माँ से बिछड़ी लड़की की समस्या प्रमुख है।

श्रीमती मेहरुन्निसा परवेज की समकालीन लेखिकाएँ जैसे शशिप्रभा, शिवानी, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, उषा प्रियंवदा, कान्ता भारती, मंजुल भगत, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, मृणाल पाण्डेय एवं नासिरा शर्मा आदि ने स्त्री अधिकारों के लिए बढ़-चढ़ कर लिखा है। कृष्णा सोबती कृत 'मित्रों मरजानी'

उपन्यास के प्रकाशित होते ही हिन्दी साहित्य में जैसे भूचाल सा आ गया। महिला कथाकारों द्वारा लिखित उपन्यास पितृसत्तात्मक पुरुषवादी समाज के सीने में गोली जैसा प्रहार किया। लेखिकाओं ने अपनी उपन्यास शृंखला से पूरे पितृसत्तात्मक समाज के नक़ाब उतार दिए हैं।

कोई भी साहित्यकार अपने समय का सबसे बड़ा गवाह व साक्षी होता है,जो उसके साहित्य का केन्द्रीय तत्व होता है। परवेज जी अपने समय की एक सजग लेखिका हैं, जिन्होंने हर छोटी बड़ी घटना को गहरे संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया है। इनका कथा साहित्य प्रत्येक पाठकों को ठहरकर सोचने हेतु विवशकर देता है।

परवेज़ जी ने भाषा और शिल्प के माध्यम से अपने कथा साहित्य को जीवन्तता प्रदान किया है। इनकी कथाएँ भाषा, कथ्य, पात्र एवं वातावरण के साथ चलती है। इनके पात्रों की भाषा परिस्थिति और परिवेश के अनुकूल है। मुसलमान पात्रों के मुख से उर्दू-फारसी मिश्रित भाषा निकलती है तो आधुनिक पात्रों के मुख से अंग्रेजी शब्द वाक्य निकलते हैं और आदिवासी पात्रों के मुख से आदिवासी बोली के शब्द प्रयोग हुए हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों ने इनकी भाषा का वजन बढ़ा दिया है। इनकी भाषा में प्रवाह, अलंकारिता, चित्रात्मकता, प्रतीकात्मकता, नाटकीयता, बिम्बात्मकता, आत्मकथात्मक शैली एवं पूर्वदीप्ति पद्धति आदि प्रमुख गुण हैं।

मुस्लिम परिवार में जन्म तथा पालन-पोषण होने के कारण परवेज़ जी की रचनाओं में मुस्लिम परिवेश का भरपूर चित्रण देखने को मिलता है। भारतीय मुस्लिम परिवार शुरू से ही अपनी संस्कृति, रीति-रिवाज, बोली-भाषा से भारतीय समाज को निरन्तर समृद्ध करता रहा है। भारत में इस्लाम के आगमन से लेकर आज तक के सामाजिक परिदृश्य के अवलोकन से पता चलता है कि भारतीय मुस्लिम समुदाय भी अन्य[43] समुदायों की भाँति आन्तरिक कमजोरियों और अन्तर्विरोधों से ग्रस्त है जिसको लेखिका ने बहुत ही संजीदगी से उकेरा है। भारत में मुसलमानों के बीच भी शुरू से दो ऐसे बौद्धिक वर्गों का विकास हुआ है जिसमें एक उदारवादी दृष्टिकोण और दूसरा कट्टरवादी दृष्टिकोण का वाहक रहा है। शिया-सुन्नी भेदभाव, जाति व्यवस्था, ऊँच-नीच की भावना, नस्लवाद-वंशवाद आदि धारणाएँ भारतीय मुस्लिम समाज को विश्व के अन्य मुस्लिम समाज से अलग करती है। भारत की सबसे बड़ी विडम्बना है कि यहाँ जातिगत व धार्मिक भेदभाव तथा ऊँच-नीच से कोई भी सम्प्रदाय या समाज अछूता नहीं है चाहे वह बाहर से ही क्यों न आया हो। लेखिका ने भारतीय समाज में व्याप्त साम्प्रदायिकता, जातीयता और लव जिहाद जैसे समस्याओं के समाधान हेतु अन्तरजातीय तथा अन्तर धार्मिक वैवाहिक सम्बन्ध का मसौदा पेश किया है जो बहुत ही कारगर साबित होगा, साथ ही अन्धविश्वास एवं कुप्रथा को दूर करने के लिए शिक्षा को ब्रह्मास्त्र मानती हैं।

परवेज़ जी ने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में व्यतीत किया है। इसलिए इनके कथा साहित्य में बस्तर के आदिवासी समाज एवं संस्कृति का भरपूर चित्रण हुआ है। लेखिका ने आदिवासी जीवन में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वास, जादू-टोना और दरिद्रता का सूक्ष्म अवलोकन करते हुए उन्हें सुधारने का प्रयास किया है। भारतीय भाषाओं में सर्वसम्पन्न,हिन्दी साहित्य में अपराजेय जिजीविषा की धनी, अति संवेदनशील वरिष्ठ कथाकार पद्मश्री मेहरुन्निसा परवेज़ ने अपने जीवन में आए हुए समस्त अनुभवों को ज्यों का त्यों कलम में बाँध लेने का सफल प्रयास किया है। इनके कथा साहित्य की अन्तर्वस्तु एवं अभिव्यक्ति में अद्भुत सामंजस्य है। भावशिल्प तथा कलाशिल्प दोनों का ही समन्वय के साथ बेहतर प्रयोग हुआ है। इनका साहित्य आधुनिक समाज का सांस्कृतिक दस्तावेज है। सभ्य समाज में जब सांस्कृतिक समरसता की बात होगी, तब-तब इनके कथा साहित्य के महत्व को रेखांकित करना जरूरी होगा। बढ़ते धार्मिक उन्माद व फसाद, असहिष्णुता और बर्बर होते समाज के लिए इनका कथा साहित्य सदैव आइने का काम है करेगा।

सन्दर्भ :

1. मेहरुन्निसा परवेज़ का कथा साहित्य : आदिवासी एवं मुस्लिम स्त्री, डॉ. दिनेश पाल, पृ. 96.
2. प्रभा खेतान (अनुवाद) स्त्री : उपेक्षिता (द सेकेण्ड सेक्स-सीमोन द बोउवार), दिल्ली, संस्करण 2008, पृ. 77.
3. मेहरुन्निसा परवेज़ संस्मरण, 2008, नई दिल्ली, 2006, पृ. 107.
4. लाल गुलाब, मेहरुन्निसा परवेज़, पृ. 28.
5. वही, पृ. 23.
6. मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ. 174.
7. मेहरुन्निसा परवेज़, पासंग, पृ. 175-176.
8. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 106.
9. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 196.
10. मेहरुन्निसा परवेज, 'मेरी बस्तर की कहानियाँ', पृ. 238.
11. मेहरुन्निसा परवेज़, उसका घर, पृ. 153.
12. मेहरुन्निसा परवेज़, पासंग, पृ. 43.
13. मेहरुन्निसा परवेज़, पासंग, पृ.43-44.
14. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 37.
15. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 20.
16. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 144.
17. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 194.
18. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 70.
19. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 71.
20. मेहरुन्निसा परवेज़ का कथा साहित्य, समरांगण, पृ. 192.
21. मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ. 137.

22. मेहरुन्निसा परवेज़, मेरी बस्तर की कहानियाँ, पृ. 128.
23. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 205.
24. मेहरुन्निसा परवेज़, उसका घर, पृ. 05.
25. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 23.
26. नासिरा शर्मा, औरत के लिए औरत, पृ. 16.
27. प्रभा खेतान, स्त्री उपेक्षिता, पृ. 332.
28. उसका घर, पृ.81.
29. मेहरुन्निसा परवेज़, उसका घर, पृ. 80.
30. मेहरुन्निसा परवेज़, लाल गुलाब, पृ. 162.
31. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 247.
32. मेहरुन्निसा परवेज़, उसका घर, पृ. 58.
33. उसका घर, पृ. 83.
34. मेहरुन्निसा परवेज़, समरांगण, पृ. 26.
35. वही, पृ. 37.
36. वही, पृ.47.
37. वही, पृ. 49.
38. मेहरुन्निसा परवेज़, अकेला पलाश, पृ. 171-172.
39. मेहरुन्निसा परवेज़, पासंग, पृ053.
40. वही, पृ. 131.
41. मेहरुन्निसा परवेज़, कोरजा, पृ. 15-16,
42. मेहरुन्निसा परवेज़, पासंग, पृ. 53.
43. वही, पृ0 244.

●

भारतीयदर्शन में कर्मवाद

डॉ0 छाया एवं प्रो0 कृष्णकान्त शर्मा***

मनुष्य का जीवन कर्ममय है। कर्म के द्वारा ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षनामक चतुर्विध पुरुषार्थों की सिद्धि होती है; परन्तु कर्म का रहस्य मुनियों के लिये भी अगम्य है, साधारण जन की बात ही क्या? भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार कर्म के कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जो कर्म करणीय है, वही कर्म दूसरी परिस्थिति में अकरणीय भी हो सकता है। अत एव श्रीमद्भगवद्गीता कर्म की गहनता को व्यक्त करती हुई कहती है –

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥[1]

अर्थात् कर्म क्या है? और अकर्म क्या है? इस प्रकार इसका निर्णय करने में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये उस कर्मतत्त्व को मैं तुमसे कहूँगा जिसे भलीभाँति जानकर तुम अशुभ से अर्थात् कर्मबन्धन से मुक्त हो जाओगे। महाभारत के प्रारम्भ में ही अर्जुन को इसी प्रकार का संशय होता है कि भीष्म, द्रोणादि के विरुद्ध युद्ध करना चाहिये अथवा नहीं। कदाचित् मन में यह भी सन्देह उत्पन्न होता है कि मर्यादापुरुषोत्तम राम के द्वारा किया गया, बालिवध, सीता के अपरहण पर लक्ष्मण की भर्त्सना, दुष्ट प्रजा के अभियोगमात्र से सीता का परित्याग, क्या यह सब कर्त्तव्य था? आप्तवचन के अनुसार द्रौपदी के साथ क्या पाँच पाण्डवों का विवाह उचित था? क्या माता कुन्ती का यही अभिप्राय था? इन सब पर विचार करने पर श्रीमद्भगवद्गीता का यह वचन स्मृति पर अवतरित होता है –

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥[2]

भारतीयदर्शनों में कर्मवाद पर विचार करने से पूर्व यह ज्ञातव्य है कि भारतीयदर्शन मूलतः दो भोगों में विभक्त है – आस्तिक दर्शन एवं नास्तिक दर्शन। जो दर्शन वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करता है, वह आस्तिक कहलाता है और जो वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता है, वह नास्तिक कहलाता है। आस्तिक दर्शन छः हैं – सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा (मीमांसा) एवं उत्तर मीमांसा (वेदान्त) आस्तिक दर्शन हैं। चार्वाक बौद्ध और जैन नास्तिक दर्शन हैं।

चार्वाकदर्शन में कर्मवाद –

कर्मवाद पर विचार के प्रसंग में सर्वप्रथम चार्वाकदर्शन की दृष्टि से कर्मवाद पर संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करना उचित है। चार्वाक ही लोकायतिक नाम से प्रसिद्ध है। वे यदृच्छावादी एवं चतुर्भूततत्त्ववादी कहलाते हैं। उनके अनुसार पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु के यदृच्छा संघात से शरीर उत्पन्न होता है और उसमें चैतन्य की उत्पत्ति उस प्रकार से होती है जिस प्रकार जौ, गुड़ आदि मिलकर मद्य के रूपमें परिणत होने पर उसमें मद की उत्पत्ति होती है। उनके अनुसार मरण ही मुक्ति है। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करने के कारण परलोक या पुनर्जन्म की कोई व्यवस्था चार्वाक-दर्शन में नहीं है। चार्वाक प्रत्यक्षप्रमाणवादी है। वे अनुमान या शब्दादि प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। पुनर्जन्म के स्वीकार करने पर ही तत्तद् दर्शनों में कर्मफलभोग की व्यवस्था चलाई गई है। चार्वाक के अनुसार इसी जन्म में कर्मफल का भोग प्राप्त होता है। चार्वाक-दर्शन में कहा गया है कि –

''यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥''[3]

बौद्धदर्शन में कर्मवाद –

बौद्ध के प्रस्थान में अष्टादश धर्म परिगणित हैं और वे ही तत्त्व हैं। ये धर्म प्रतीत्यसमुत्पाद हैं। धर्मों का संघात (समुदाय) मिथ्या है। तथापि अनादि वासना के कारण संघात की प्रतीति होती है। अतः जगत् की व्यवस्था मिथ्या ही है। आत्मा की प्रतीति स्कन्धों में सत्काया दृष्टिदोष के कारण अनादि वासना के आरूढ़ होने से होती है।

अब प्रश्न उठता है कि अनात्मरूप उन-उन धर्मों में कहीं भी आत्मा का परिगणन नहीं हुआ है और आत्मा के अस्तित्व के बिना कर्मों का भोग कैसे संभव है? इसका उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना और विज्ञाननामक पाँच उपादान स्कन्धों में आत्मत्व के आरोप के कारण पुनर्जन्म एवं कर्मविपाक (फल) की व्याख्या उपपन्न होती है। अनात्म में जो यह आत्मबुद्धि है वह भी अनादिवासना से उत्पन्न होती है। उसके निरोध से जो नैरात्म्य की सिद्धि होती है वही बौद्धों का निर्वाण है। स्कन्ध ही कर्मों के प्रतीत्यसमुत्पाद में हेतु हैं। उन्हीं का जन्म, उन्हीं की मृत्यु एवं उन्हीं का पुनर्जन्म होता है। मिथ्यारूप स्कन्धसंघात का कर्मफल ही

---

* पूर्व शोध-छात्रा, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** प्रोफेसर, शोध –निर्देशक, वैदिक दर्शन विभाग, संस्कृतविद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

धर्मी है। उनके अनुसार शुभकर्म से सुखरूपवेदना और अशुभकर्म से दुःखरूपवेदना उत्पन्न होती है। अब यह प्रश्न उठता है कि पूर्वजन्म में किये गये कर्मों से वर्तमान जन्म में सुख-दुःख-रूप वेदना कैसे उत्पन्न होती है? इसका उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि दो जन्मों के मध्य में प्रतिसन्धि होती है। अतीत जन्मों के समस्त कर्मों का फल वर्तमान जन्म में प्राप्त नहीं होता, जिन कर्मों का फल प्राप्त होता है उन्हीं कर्मों को विपक्वविपाक (भलीभाँति कर्मफल को देने वाला) अन्य कर्म अविपक्वविपाक रहते हैं और तृतीय आदि जन्मों की प्रतीक्षा करते हैं, जिन कर्मों का प्रतिसन्धि में ही भोग हो जाता है, वे विप्रकृतविपाक कर्म कहलाते हैं।

वसुबन्धु के अनुसार कर्म नियत और अनियत होते हैं। नियत कर्म पुनः तीन प्रकार के होते हैं– दृष्टधर्मवेदनीय, उत्पद्यवेदनीय और अपरपर्यायवेदनीय।[4] दृष्टधर्मवेदनीय कर्म जिस जन्म में किया गया है, उसी जन्म में उसका फल प्राप्त होता है; उत्पद्यवेदनीय कर्म का फल दूसरे जन्म में प्राप्त होता है और अपरपर्यायवेदनीय कर्म का फल उसके भी बाद प्राप्त होता है।

सौत्रान्तिक बौद्ध आठ प्रकार के कर्मविपाक मानते हैं। योग में जिन कर्मों को जातिविपाक (जन्मरूपफल को देने वाला) एवं आयुविपाक (आयुरूप फल को देने वाला) तथा भोगविपाक (भोगरूप फल को देने वाला) कहा जाता है, उन्हीं को सौत्रान्तिकों ने विपाकफल, निःष्यन्दफल तथा अधिपतिफल कहा है।[5]

जैनदर्शन में कर्मवाद –

जैनदर्शन कर्मफलदाता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करता है। जीवों के कर्मों के अनुसार पुद्गल एवं जीव उस प्रकार के परिणाम को प्राप्त होते हैं और तत्तद् योनियों में जन्म प्राप्त करते हैं। जैनदर्शन के अनुसार जीव न व्यापक है न परमाणु-परिमाण है अपितु मध्यमपरिमाण है। इसीलिए जब जीव का जन्म जिस योनि में होता है, तब उस शरीर के परिमाण के अनुसार ही जीवपरिमाण (आकार) होता है। कर्म के अनुसार ही जीवों की गति निर्धारित होती है।

जन्म के अनन्तर पुनर्भव को अनुभाव कहते हैं[6] और वह गति के भेद से चार प्रकार के होते हैं – 1. नारक विपाक, 2. तिर्यक् विपाक, 3. मानुष विपाक तथा 4. दैव विपाक। विपाक के क्षय होने पर तथा कर्म के क्षय होने पर पुनर्जन्म नहीं होता है और निर्जरानामक तत्त्व उदित होता है, जिससे कर्मक्षय होता है। परिणामरूप फल को जैनदर्शन में पाक कहा गया है और विविध पाक को विपाक कहा गया है। पाक में विविधता तब देखी जाती है जब कहीं कर्म के अनुसार फल उत्पन्न होता है और कहीं अन्यथा। कदाचित् जीव पूर्व कर्मविपाक का अनुभव करते हुये ऐहिक कर्मों की शक्ति से पूर्वकर्मभोग की समाप्ति के बिना ही दूसरे कर्म में संक्रान्त होते हैं, जिसके कारण कर्म अनियतविपाक होते हैं। अर्द्धभुक्त फलों को छोड़कर भी अन्य शुभकर्म में संक्रमित होने पर पाक नहीं होता है, वहाँ शुभाशुभ कर्मप्रकृतियों के शुभाशुभ विपाक होते हैं। शुभ के द्वारा अशुभ का और अशुभ के द्वारा शुभ का अतिक्रमण भी संभव है। समर्थ कर्म के द्वारा ही उस कर्म का अतिक्रमण किया जाता है, जो दुर्बल होते हैं अर्थात् कर्म अनियत फल देने वाले होते हैं, ऐसा उनका सिद्धान्त है।

वैशेषिक-दर्शन एवं न्याय-दर्शन में कर्मवाद –

वैशेषिक-दर्शन एवं न्याय-दर्शन समानतन्त्र हैं। इनके अनुसार जीवात्मा परमात्मा की भाँति विभु है और मन अणुपरिमाण है। उसके सन्निकर्ष से आत्मा कर्मफलों का भोग करता है। आत्मा में नौ धर्म माने गये हैं, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावनानामक संस्कार। इन विशेष गुणों को आत्मगुण भी कहा जाता है। इनमें से सुख और दुःख ये दोनों कर्मविपाक हैं। कर्म धर्म और अधर्म को उत्पन्न करके नष्ट हो जाते हैं। धर्म और अधर्म का व्यवहार अदृष्ट नाम से होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि समस्त विपाकों के साधारण कारण ईश्वर, दिक्, काल एवं धर्माधर्मरूप अदृष्ट होते हैं। इनके बिना कथमपि पुनर्जन्म अथवा सुख-दुःखरूप विपाक सम्भव नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि एक शरीर से दूसरे शरीर की प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हुये न्याय-वैशेषिक का कहना है कि मृत्यु का काल अदृष्ट के द्वारा निश्चित होता है और शरीरपात के पूर्व ही भावी खण्ड शरीर की कर्म के अनुसार उत्पत्ति होती है। अतः एक शरीर को छोड़कर जीव दूसरे शरीर में प्रेत्यभाव को प्राप्त करते हैं। न्यायदर्शन में धर्म एवं अधर्म का व्यवहार प्रवृत्ति के नाम से होता है। अत एव न्यायसूत्र, भाष्य एवं वार्तिक में इस प्रकार कहा गया है कि – **''प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्''[7] सुख-दुःख- संवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च। तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम् (भाष्यम्)। शरीरादीन् धर्माधर्मावारभ्य सुखदुःखोपभोगं कुरु इति (वार्तिकम्)।**[8]

इस प्रकार धर्म और अधर्मरूप प्रवृत्ति रागद्वेषादि-दोष-जनित-सुख-दुःख-संवेदन-रूप फल को देती है। सुख-दुःख का संवेदन ही भोग है और वह जन्म तथा आयु के द्वारा सम्पन्न होता है। इस प्रकार जन्म, आयु और भोग समवेत रूप से विपाक के नाम से व्यवहृत होते हैं। वर्तमान जन्म में अर्जित कर्माशय से पुनर्जन्म होता है और वह प्रेत्यभाव नाम से व्यवहृत होता है।

अब प्रश्न उठता है कि पुनर्जन्म आत्मा का होता है या शरीर का? क्योंकि आत्मा अजन्मा एवं नित्य है। वह पुनर्जन्म को कैसे प्राप्त कर सकता है? शरीर एक है अतः वह बार-बार जन्म ग्रहण नहीं कर सकता। अतः मन का ही पुनर्जन्म होता है, ऐसा उद्योतकर का कहना है। न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टकहते हैं– **''आत्मनश्च स्थायित्वेन क्रियाभ्यावृत्तिसम्भवात् तस्यैव पुनः पुनरुत्पत्तिं ब्रूमः। उत्पत्तिवन्मरणमपि। सोऽयम् आत्मन एव मृत्वा पुनर्जन्म प्रेत्यभाव इति.....मरणमात्मनो भोगायतनदेहेन्द्रियादिवियोग उच्यते जन्म तु तत्सम्बन्धः।''**[9]

इस प्रकार इस दर्शन में स्थूलशरीर और इन्द्रियाँ चूँकि भौतिक हैं, अतः मन के साथ आत्मा का ही प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म माना गया है क्योंकि न्यायदर्शन के अनुसार आत्मा और मन शाश्वत हैं, परन्तु सुख-दुःख की उपलब्धि में अचेतन मन चूँकि साधन- मात्र है, अतः आत्मा का ही प्रेत्यभाव अभिमत है।

सांख्यदर्शन में कर्मवाद –

यह सर्वविदित है कि सांख्यदर्शन के अनुसार प्रधान या प्रकृति ही कर्त्री है, पुरुष केवल द्रष्टा एवं भोक्ता है। प्रकृति के सन्निधान से ही पुरुष का भोक्तृत्व सम्पन्न होता है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही विभु, अनादि एवं नित्य हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि निर्लेप पुरुष बुद्धि आदि का ग्रहण कैसे करता है? इसका उत्तर है कि इसमें अनादि वासना ही कारण है। भोग्यों के भोग के लिये अन्तःकरण में निहित वासना ही उस प्रकार के भोग परिणामों के प्रति हेतु है। उसी वासना से अष्टादश-तत्त्वात्मक लिंग-शरीर की उत्पत्ति होती है और लिंगशरीर के माध्यम से ही भोक्तृत्व सिद्ध होता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि पहले वासना हो तब लिंगशरीर की उत्पत्ति हो? परन्तु लिंगशरीर के बिना वासना का संचय कैसे संभव है? इस प्रकार वासना एवं लिंगशरीर परस्पराश्रित हैं। किन्तु यहाँ यह परस्पराश्रय बीजवृक्ष की भाँति गुण ही है, दोष नहीं है, इसलिये सांख्यकारिकाकार कहते हैं कि –

न बिना भावैर्लिङ्गं, न बिना लिङ्गेन भावनिर्वृत्तिः।

लिङ्गाख्यो भावाख्यस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः॥[10]

यही लिंगशरीर भाव से अधिवासित होकर भोग के लिये वासना के अनुसार तत्तद् जन्म को प्राप्त करता है। विभु पुरुष का न जन्म होता है, न मरण। जब तक पाँचभौतिक शरीर प्राप्त नहीं होता है तब तक लिंगशरीर भोगशून्य होकर संसरण करता है। भोग के लिये ही लिंगशरीर स्थूलशरीर में प्रवेश करता है और भोग प्राप्त करता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि स्थूल शरीर की अपेक्षा लिंगशरीर या सूक्ष्मशरीर व्यापक है। अतः स्थूलशरीर में उसका प्रवेश कैसे सम्भव है? इसके समाधान के लिये एक आतिवाहिक शरीर की भी कल्पना की गयी है –

''लोकाल्लोकान्तरं लिङ्गदेहम् अतिवाहयति इति आतिवाहिकम्।''[11]

पातञ्जलयोगदर्शन में तन्मात्रकृत सूक्ष्मशरीर ही इन्द्रियों का भोगयोनि तक पहुँचाता है और वह सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरपात के साथ उत्पन्न होता है और स्थूलशरीर की उत्पत्ति के साथ नष्ट होता है, पुनः जन्म होता है। सांख्यसूत्रकार के मत में आतिवाहिक शरीर के बिना देहयात्रा सम्भव नहीं है, किन्तु सांख्यकारिकाकार लिंगशरीर को ही पुनर्जन्म के लिये पर्याप्त मानते हैं और कहते हैं कि –

चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विना यथा छाया।

तद्वद्विना विशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम्॥[12]

योगदर्शन में कर्मवाद –

पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ही कर्माशयविपाक के प्रति मूल कारण हैं। जैसा कि योगसूत्रकार ने कहा है कि- **''सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः''**[13] और कर्माशय क्लेशमूलक होता है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है कि – **'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।'**[14] पुण्य एवं अपुण्य कर्माशय काम, लोभ, मोह एवं क्रोध से उत्पन्न होते हैं और वह कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय भेद से दो प्रकार का होता है। तीव्र संवेग, मन्त्र, तत्त्व एवं समाधि के द्वारा तथा ईश्वर, देवता, महर्षि एवं महानुभवों की आराधना से जो परिनिष्पन्न होता है, वह पुण्य कर्माशय शीघ्र परिपक्व होता है। इसी प्रकार तीव्र क्लेश के द्वारा भय से, व्याधि से युक्त कृपणों में अथवा महानुभावों में किये गये बार-बार के अपकार से होने वाला कर्माशय भी शीघ्र परिपक्व होता है। नरक में रहने वाले जीवों के दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता। कर्माशय की व्याख्या करते हुए विवरणकार ने कहा है कि **'आकर्मफलप्रदानाद् अन्तःकरणे शेते इति कर्माशयः शुक्लकृष्णात्मकः'** अर्थात् कर्मफल प्रदान करने तक अन्तःकरण में रहने वाले कर्माशय शुक्लकृष्णात्मक होते हैं, इस प्रकार कर्माशय शब्द स्थायी वासना का पर्याय है और वह पाप-पुण्य एवं मिश्रात्मक इस प्रकार तीन प्रकार का होता है। तीन प्रकार के होते हुए भी यह कर्माशय कहीं इसी लोक में वेदनीय होता है और कहीं परलोक में और यह कर्माशय योगी के लिये वेदनीय नहीं है। अत एव भाष्यकार ने कहा है कि – **'सत्सु क्लेशेषु कर्माशयो विपाकारम्भी भवति नोच्छिन्नक्लेशमूलः'**[15] जिस प्रकार तुष (छिलका) से अवनद्ध (मढ़ा हुआ) शालीतण्डुल चूँकि अदग्धबीज भाव है (जिसका बीज दग्ध नहीं हुआ है अर्थात् जलकर राख नहीं हुआ है) अत एव उससे अंकुर प्रस्फुटित हो सकता है किन्तु जिसके तुष हटा दिये गये हों अथवा जिसका बीज दग्ध हो गया हो ऐसे शालीतण्डुल कभी अंकुर को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी प्रकार क्लेश से अवनद्ध कर्माशय ही फल को प्रदान करने में सक्षम होता है, न कि क्लेशविहीन कर्माशय और न ही विवेकज्ञान से दग्धबीज कर्माशय।

कर्म के विपाक या फल तीन प्रकार के होते हैं – जाति, आयु और भोग। जाति अर्थात् जन्म, आयु अर्थात् जीवनकाल और भोग अर्थात् सुख-दुःखरूप उपभोग। ये तीनों प्रकार के विपाक या फल कर्मफलनिष्पत्तिरूप फल है और इसमें कर्माशय ही हेतु है। योगदर्शन में कर्मवाद के सन्दर्भ में कुछ प्रश्न उठाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं –

1. क्या एक कर्म एक जन्म के प्रति कारण है?
2. अथवा एक कर्म अनेक जन्मों के प्रति कारण है?
3. अथवा अनेक कर्मों के द्वारा अनेक जन्मकी निष्पत्ति होती है।
4. अथवा एक जन्म के प्रति अनेक कर्म कारण होते हैं।

इन समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुये योगदर्शन में इन पर विशद चर्चा की गयी है।

मीमांसादर्शन में कर्मवाद -

जैन दार्शनिकों ने पुनर्जन्म के लिये कार्मण शरीर, योगदर्शन में कर्माशय, सांख्य एवं वेदान्ती ने आतिवाहिक शरीर की स्थापना कर उसकी व्याख्या की है; नैयायिक एवं वैशेषिक के अनुसार आत्मा अथवा मन धर्माधर्म संस्कारों का अनुसरण करते हुए उन-उन शरीरों में प्रवेश करके प्रेत्यभाव को प्राप्त करते हैं। पूर्वमीमांसा प्रस्थान में उस प्रकार के शरीर की अवधारणा नहीं है। तब यह प्रश्न उठता है कि देहान्तर की उपपत्ति किस प्रकार से होती है अथवा कर्म का फल किस प्रकार से प्राप्त होता है और किस प्रकार से पूर्वजन्म की व्यवस्था बनती है? कर्म चूँकि क्षणध्रंशी है, अतः फलपर्यन्त उनका अनुधावन संभव नहीं है, यदि ऐसा कहा जाय तो इसका उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि – कर्मजन्य अपूर्व फलभोगपर्यन्त जीवात्मा में विद्यमान रहता है।[16] अपूर्व शब्द अदृष्ट का पर्याय है। यह अपूर्व तब तक आत्मा में उपस्थित रहता है जब तक फल को उत्पन्न नहीं करते। भोगसाधन दूसरे शरीर को प्रदान करके ही वह नष्ट होता है।

यहाँ यह अवधेय है कि धर्माधर्मरूप विविध कर्मों से अनेक अपूर्व उत्पन्न होते हैं। उनमें से प्रधान अपूर्व जन्म के प्रति कारण होता है और गौण अपूर्व उन प्रधान अपूर्व के साथ अपना-अपना फल प्रदान करते हैं। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य भेद से तीन प्रकार के कर्म होते हैं और ये विहित कर्म कहलाते हैं। नियत कर्म नित्य एवं नैमित्तिक भेद से दो प्रकार के होते हैं।

स्वर्गादिफल की इच्छा से काम्यकर्म का जब अनुष्ठान किया जाता है तो वह काम्य कर्म पुनर्जन्म के प्रति कारण होता है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्म आत्मज्ञान के सहकारी होने से मोक्ष के प्रति कारण होते हैं।

मीमांसा दर्शन में अन्य प्रकार से भी कर्मों का परिगणन किया गया है, तदनुसार कर्म दो प्रकार के होते हैं – लौकिक कर्म एवं वैदिक कर्म। वैदिक कर्म भी तीन प्रकार के हैं – 1. प्रवृत्तिरूप, 2. निवृत्तिरूप एवं 3. उभयरूप। पुनः ये तीनों प्रकार के कर्म क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार से मीमांसादर्शन में कर्म का विशद विवेचन किया गया है।

वेदान्तदर्शन में कर्मवाद –

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है –

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति।

पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।।[17]

तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जैसा करता है उसे उसी प्रकार पुण्य या पाप की प्राप्ति होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही यह भी कहा गया है कि – ''तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिंगं मनो यत्र निषक्तमस्य।।

प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किञ्चेह करोत्ययम्।

तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे।।[18]

इस प्रकार अपवर्गपर्यन्त यह कर्मचक्र सतत चलता रहता है। जिस कर्म में जो आसक्त होता है उस कर्म के साथ लिंगशरीर वासित होता हुआ प्रारब्ध कर्म के अन्त में वर्तमान या पुनर्जन्म प्राप्त कर संचित कर्मों के फल भोगने हेतु उसी लिंग शरीर के साथ कर्म करने के लिये इस संसार में आता है। अतः कर्मविपाक इच्छाधीन है। वासना के अनुरूप ही लोक-विशेष की प्राप्ति होती है और वासना आसक्ति को उत्पन्न करती है और इसी के कारण मनुष्य एक लोक से दूसरे लोक तक भ्रमण करता है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि – **''अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति। सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः।''**[19] यहाँ ध्यातव्य है कि दो प्रकार के कर्म होते हैं – नियतकर्म और काम्यकर्म। नियतकर्म नित्य एवं नैमित्तिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। नियत कर्मों का त्याग वेदान्तियों का अभिमत नहीं है। काम्य कर्मों का त्याग ही श्रेयस्कर है। प्रारब्धकर्म का क्षय भोग से ही होता है। निष्काम कर्म से अपूर्व का संचय चूँकि नहीं होता है अत एव निष्काम कर्म बंधनकारक नहीं होता है।

सन्दर्भ-

1. श्रीमद्भगवद्गीता, 4/16.
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 4/17.
3. सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन, पृ0 24, डॉ0 उमाशंकर शर्मा 'ऋषि'।
4. अभिधर्मकोशः, 4/50.
5. अभिधर्मकोशभाष्य, 4/85
6. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य, 8/22-24.
7. न्यायसूत्र, 1/1/20.
8. न्यायसूत्र न्यायवार्तिक, 1/1/20.
9. न्यायमञ्जरी-2, पृ0 72.
10. सांख्यकारिका, 52.
11. सांख्यप्रवचनभाष्य, 5/103.
12. सांख्यकारिका, 41.
13. पातञ्जलयोगदर्शन, योगसूत्र, 2/13.
14. पातञ्जलयोगदर्शन, योगसूत्र, 2/12.
15. पातञ्जलयोगदर्शन, व्यासभाष्य 2/13, पृ0सं0 186.
16. तन्त्रवार्तिक, 2-1-5.
17. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/5.
18. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/6.
19. बृहदारण्यकोपनिषद्, 1/5/16.

राष्ट्र की अवधारणा और अर्थ

प्रो. उपेन्द्र पाण्डेय[*]

सुसंस्कृत सुराष्ट्र भारतदेश में अत्यन्त विशाल एवं समृद्ध संस्कृत वाङ्मय विश्वशान्ति के लिए तथा अपने भारत राष्ट्र के समुचित विकास एवं वृद्धि के लिए भारतीय लोगों के अन्तःकरणों में राष्ट्र प्रेम की विशुद्ध तथा सहज ज्ञानालोकप्रभा को फैलाता हुआ दिन-प्रतिदिन निरन्तर प्रकाशमान है। संस्कृतवाङ्मय के सम्पूर्ण ग्रन्थों में स्थित अन्य विषयों के साथ-साथ सर्वत्र प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से संसार और राष्ट्र की चर्चा तो होती ही है। वहाँ राष्ट्रोत्कर्ष हेतु शस्त्र और शास्त्र इन दो विद्याओं का सम्यक् वर्णन भी पर्याप्त रूप में किया गया है, परन्तु महामूल्यवान् इस वर्तमान युग में राष्ट्राभिवृद्धि के प्रतिपादक संस्कृतग्रन्थ महान् यत्नों के द्वारा भी कुछ लोग ही तत्तद् ग्रन्थों की प्राप्ति के पश्चात् अवलोकन, अध्ययन करने में समर्थ हो पाते हैं। कदाचित् ग्रन्थों के उपलब्ध हो जाने पर भी, भाषा की कठिनता और विषय की बहुलता के कारण वर्णित राष्ट्रसमृद्धि विचारों को सरलता से सर्वसाधारण लोग मूलतः जानने में समर्थ नहीं होते और जो जानते हैं वे विज्ञ होते हुए भी, शास्त्रचिन्तन-परायण, तप और स्वाध्याय को ही केवल धन मानने वाले शास्त्रज्ञ मनीषी विद्वान् राष्ट्रसमुन्नति की अपेक्षा न करके, अपने-अपने शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन में ही केवल निरत रहते हुए अधिकतर दिखाई दे रहे हैं तथा जो लोग राष्ट्र की समस्याओं के समाधान में तत्पर हैं वे भी सम्यक् रूप से शास्त्र-वचनों को न समझने के कारण उनका अनादर करके जैसे-तैसे राष्ट्रोन्नयन-कार्य को करते हैं।

अतः उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर राष्ट्रवादी, देशभक्त नायकों के लिए ही विशेषरूप से अनेक गुणों से परिपूर्ण 'राष्ट्रवैभवम्' नामक राष्ट्रिय कविताओं से समन्वित यह लघुग्रन्थ निदर्शन हेतु प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसका अध्ययन वे अच्छी तरह से करके राष्ट्र-रक्षण और उसके संवर्धन में जागरूक और समर्थ हो सकेंगे। क्योंकि शस्त्र द्वारा रक्षित राष्ट्र में ही कवि, विद्वान् और लेखक किसी काव्य के प्रणयन अथवा विविध शास्त्रों की चर्चा तथा अनेकविध प्रबन्धों के लिखने में समर्थ होते हैं। जब किसी कारण से राष्ट्र अशान्त और अस्थिर होता है, उस समय किसी को भी शास्त्र-चर्चा रुचिकर नहीं लगती। जैसा कि गरुड़पुराण में कहा गया है-

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते।

अत एव आमूलतः सम्पूर्ण बिन्दुओं पर विचार करके राष्ट्रोत्कर्ष-विमर्श के निमित्त अतिसरल, अतिसुगम और अतिसरसोत्पादक इस काव्यग्रन्थ की रचना के लिए शिवसङ्कल्प लिया गया है, जिससे न केवल छात्रों के अपितु राष्ट्रवादी नेताओं, सामाजिक राजनीतिज्ञों तथा अन्यान्य लोगों के मानसपटल पर राष्ट्र, भूमि, धर्म, नीति आदि विषयों की वास्तविक ज्ञानज्योति का उदय हो सकेगा। उपर्युक्त वर्णित ज्ञान के बिना छात्रादि लोग समीचीन ढ़ंग से राष्ट्र अथवा विश्व की किसी भी समस्या का मूलरूप से समाधान करने में समर्थ नहीं हो पायेंगे।

राष्ट्र की अवधारणा और अर्थ-

राष्ट्र शब्द ''राजृ = दीप्तौ'' इस धातु से ''सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्'' इस औणादिक सूत्र से ''ष्ट्रन्'' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

राष्ट्र शब्द का कहाँ और किस अर्थ में प्रयोग किया गया है, इसकी यदि हम आलोचना करें, तो सबसे पहले जो अनादि और अपौरुषेय भगवान् वेद हैं, उनका हमें समीक्षण करना चाहिए, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है-

आत्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥[1]

इस मन्त्र में राष्ट्र का अर्थ राज्य किया गया है, पृथिवी का वह भाग, जिस पर राजा का आधिपत्य होता है और प्रजायें जहाँ निवास करती हैं। इस मन्त्र में राजा को सम्बोधित करते हुए कहा गया है, कि हे राजन्! तुमको समस्त प्रजा स्वामी के रूप में चाहें, तुम्हारा राष्ट्र कभी अस्थिर न हो, तुम इस राष्ट्र के अधिपतिरूप में अविचलित होकर स्थिर रहो। अन्यत्र भी राष्ट्र शब्द का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है-

इहैवैधि मापच्योष्टा पर्वत इवाविचाचलत्।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुपधारय॥[2]

अर्थात् हे राजन्! आप इन्द्र की भाँति राज्य को धारण करें और अक्षुण्ण रूप से विराजमान् रहें। आगे के मन्त्र में भी प्रार्थना की गई है-

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्॥[3]

हे राजन्! गुणों से प्रकाशित वरुणदेव आपके राज्य को हमेशा स्थिर बनाएं और देवगुरु बृहस्पति एवं स्वयं देवराज इन्द्र और अग्निदेव आपके राज्य को स्थिर बनाए रखें।

---

* प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

राष्ट्रस्वामी प्रजाओं का रञ्जन करता रहता है, क्योंकि संसार का मालिक सबसे पहले अनुरञ्जन किया, फिर राजा की सृष्टि हुई जैसा कि अथर्ववेदोक्ति कहती है-

सोऽरज्यत ततो राजन्येऽजायत।[4] स विशोऽनुव्यचलत्[5]।

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्[6]॥

अर्थात् भारतीयों का सार्वकालिक संविधान वेद है, उसके अर्थों का निर्धारण करने वाली सभा अर्थ का निर्णय करती है। सभा तीन प्रकार की होती है, वही सभा संविधान निर्णेत्री कहलाती है। संविधान का कार्यान्वयन-सम्पादन दूसरी सभा करती है। तीसरी सभा विवाद होने पर संविधान के तात्पर्य का निर्णय करती है और सेना इन सभाओं की सहायता करती है, यही राजधर्म कहलाता है। इस राजधर्म का पालन सभा, समिति और सेना करें और कराएँ। सभा में सदस्य किस प्रकार के होने चाहिए यह शुक्रनीति में अच्छी तरह से बताया गया है-

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः।

रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥

निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः।

राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥[7]

अर्थात् व्यवहारवेत्ता, प्राज्ञ, आचारवान्, शीलवान्, गुणवान्, शत्रु एवं मित्र में समानदृष्टिवाले, धर्मज्ञ, सत्यवादी, निरालसी, काम-क्रोध-लोभ को वश में करने वाले और प्रियवादी सभ्य (सभा के लिए उपयुक्त) सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा सम्पूर्ण जातियों में से करनी चाहिए।

राजा सभी सभ्य सदस्यों से विनयपूर्वक अनुरोध करता है कि-

सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।[8]

अर्थात् हे सभ्य सभासद! मेरी इस सभा की समस्त मर्यादाओं की आप लोग रक्षा करें।

उपर्युक्त वेद-प्रणाली वर्तमान युग में भी दिखाई दे रही है। प्रथम संविधान-निर्मात्री सभा, द्वितीय कार्यपालिका सभा, तृतीय न्यायपालिका सभा के भेद से तीन प्रकार की सभाएँ विद्यमान हैं और इन तीनों सभाओं की सहायता सेना करती है। राष्ट्र को जानराज्य भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है- **जनानामिदं जानम्, जानं च तद्राज्यं जानराज्यम् इति।** जैसा कि शुक्ल यजुर्वेद में कहा गया है-

महते ज्येष्ठाय महते जानराज्याय।[9]

राज्यसिंहासन पर अभिषिक्त सम्राट् सभी प्रजाओं का नियमन करता है, राजा एवं सम्राट् का नियन्त्रण धर्म करता है। इस प्रकार धर्म के द्वारा नियन्त्रित शासक कहता है कि-

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।

नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

यही धर्म-नियन्त्रित राजतन्त्र है, जिसकी प्रतिष्ठा मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिवि, रन्तिदेव और जनक प्रभृति राजर्षियों ने की है। इसीलिए शुक्लयजुर्वेद में प्रोक्त है-

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।

आराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥[10]

यह मन्त्र **राष्ट्रगीत** के नाम से जाना जाता है, इस मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हमारे राष्ट्र में ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण हों, और लक्ष्य को भेदने वाले शूर धनुर्धर महारथी राजा होवें, गाय दूध देने वाली, बैल भार ढ़ोने वाले, घोड़े तेज दौड़ने वाले, कुलीन स्त्रियाँ वंश वृद्धि करने वाली प्रतिव्रता हों तथा रथी विजयशील, युवा समुदाय पराक्रमी, प्रियदर्शी और सभ्य होवें। समय- समय पर भगवान् इन्द्र (पर्जन्य) अपेक्षानुसार वर्षा करें। ओषधियाँ फल से लदी पकी हुई हों, उपर्युक्त गुणों से युक्त राष्ट्र हमारा योगक्षेम का सम्पादन करे। इसी प्रकार वेदों में अनेक जगह राष्ट्र शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है-

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्[11], राष्ट्रं राज्यम्[12], राष्ट्रं राज्यम्[13], राष्ट्रं जनपदम्[14], राष्ट्रे स्वकीये देशे[15], राष्ट्रं जनपदः[16], राष्ट्रं जनपदसमूहः[17]।

विविध वेदमन्त्रों के द्वारा ज्ञात होता है, कि राजा के द्वारा प्रशासित भूभाग को राष्ट्र कहते हैं और उसका भूभाग-रूप राज्य होता है। अतिविस्तृत भूभाग युक्त क्षेत्र साम्राज्य और विस्तृत भूभाग क्षेत्र महाराज्य कहलाता है। इन क्षेत्रों का शासक राजा राजसूय यज्ञ और वाजपेय यज्ञ को करता था-

राजसूयेन राजा भवति, वाजपेयेन सम्राड् भवति।[18]

माता पृथ्वी राष्ट्राय त्विषामूर्जां च प्रयच्छति स्म।[19]

वरुणो राजा राष्ट्राणाम्[20] मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य[21],

युवो राष्ट्रं बृहत्,[22] तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य[23],

स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च,[24] सा नो राष्ट्रं दधातूत्तमम्[25]

राष्ट्रं रोह, राष्ट्रं दधात् सुमनस्यमानः,[26]

पुरोहिता वयं राष्ट्रे जागृयाम[27]

इन मन्त्रों में प्रयुक्त राष्ट्र शब्द भारतीय मनीषा के प्रकर्ष को दर्शाता है। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों के अध्ययन से भी यह बात अच्छी तरह सुस्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन भारत में अत्यन्त विकसित अनेक राज्य थे। जैसा कि प्रो. काणे महोदय ने इस तथ्य

का निरूपण इस प्रकार किया है- These passages are suficent to establish that the idea of suzerainty extending over many kingdoms was known in the times of the Regveda and had been fully developed before the composition of the Aitareya and Sata-Patha Brahmanas.[28]

ऐतरेय ब्राह्मण का राज्याभिषेक प्रकरण भारतवर्ष में अतिप्राचीन काल से ही राष्ट्र, राज्य तथा इसके भूभाग सम्बन्धी शासन पद्धति को सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करता है-

ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुषाऽआन्तादा परार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्तायाऽएकराडिति।

राज्य, महाराज्य, साम्राज्य तथा पारमेष्ठ्य इत्यादि राज्य के व्यवस्थित रूप हैं। विराजक होने से वैराज्य होता है; वैराज्य की भी स्वस्ति-कामना इस मन्त्र में की गयी है। राज्य भेद से ही राजा, महाराज, सम्राट् शासक आदि पदों का भेद प्रकल्पित किया गया है। इसी प्रसंग में महाभारत में महती चर्चा प्राप्त होती है-

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियङ्कराः[29]

अराजक स्थिति के कारण उत्पन्न परिणाम से ही महाभारत का युद्ध हुआ था। अतः इससे स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में राष्ट्र की परिकल्पना पुराने समय में भी पल्लवित और पुष्पित थी। फ्रांस का राष्ट्रवाद पाश्चात्त्य देशों के लिए नई उपलब्धि होगी, परन्तु कौटिल्य का यह देश राष्ट्र- चिन्तन में प्रारम्भ से ही अग्रणी है। अतः इन तथ्यों के समालोचन से ज्ञात होता है कि राष्ट्र शब्द के अर्थ- राज्य, देश, विषय, जनपद, सीमाबद्ध भूभाग और वहाँ निवास करने वाले प्राणी राष्ट्रवादी लोक में विख्यात थे। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है-

अशासन् तस्करान् यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥[30]

फिर भी देशवासियों का संरक्षण राष्ट्र के अधिपति का मूल कर्त्तव्य है, जो राजा चोरों पर नियन्त्रण नहीं करता, किन्तु कर लेता है, ऐसे राजा का राष्ट्र क्षुब्ध हो जाता है। संक्षिप्त रूप में निर्दिष्ट अर्थों का ही समय-समय पर प्रसंगानुरूप मनीषियों के द्वारा उपबृहंण किया जाता है। दण्ड- व्यवस्था को लागू करते हुए मनु कहते हैं कि अच्छी तरह से विवेचना करके दण्ड प्रयोग का विधान करना चाहिए। अनुचित दण्डविधान राष्ट्र को पीड़ित करता है, अर्थात् जो राजा अपने राष्ट्र को अज्ञान के वशीभूत होकर पीड़ित करता है वह नष्ट हो जाता है। जैसा कि उक्त है-

ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोके च सचराचरम्।

अन्तरिक्षगताँश्चैव मुनीन् देवाँश्च पीडयेत्॥[31]

मोहाद् राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।

सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः॥

शरीरकर्षणात् प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥[32]

मनु ने राज्य के सात अंगों को भी इस प्रकार कहा है-

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।

सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥[33]

यहाँ राष्ट्र राज्यांग पद से निर्दिष्ट है, जिसका अर्थ जनपद है। कौटिल्य तो धार्मिक जनता को, बुद्धिमानों को, स्वामियों को और नृपति, प्रभृति को राष्ट्र के अन्तर्गत मानते हैं। राष्ट्र में जिन वस्तुओं की अनिवार्यता है उन वस्तुओं का निर्देश करके कौटिल्य उन्हीं को गौणी वृत्ति से राष्ट्र-शब्दार्थ को अंगीकार करते हैं और वे वस्तुएँ कृषि धान्योपहार, कर, वाणिज्यलाभ, नदी, तीर्थादि-प्राप्ति नगरादिजन्य लाभ, सीमावर्ती, पर्वत, जंगल आदि हैं। मध्य एवं अन्त में स्थानवान्, आत्मसाधारण, परधारण और विपत्ति में आत्मरक्षा, अपनी वृत्ति से जीवनयापन, शत्रु, द्वेषी, शक्य, सामन्त पङ्क पाषाण, उषर, विषम-कण्टक-श्रेणी और सर्प मृगों से युक्त जंगल, कान्तार, सीता, श्वान, द्रव्य, हस्तीवान्, गव्य, पौरुषेय, गुप्तचर, पशुमान्, अदेवमातृक, वारिस्थल स्थित मार्गों में सारचित्रों से प्राप्त पुण्य दण्डकर के सहयोग से संवलित मनुष्य जनपद की सम्पदा है, ऐसा जनपद संपद्विभाग में कहा गया है। राष्ट्रवृद्धि करने वाले शोभा एवं दीप्तिप्रद पदार्थों को गणनाकर कौटिल्य ने इन पदार्थों को भी लक्षणा शक्ति से राष्ट्र शब्द का व्यवहार किया है। कामन्दकीय नीतिसार में भी कहा गया है[34] -

भूगुणैर्वर्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्धनवृद्धये।

तस्माद् गुणवतीं भूमिं भूत्यै नृपतिरादिशेत्॥[35]

Nation शब्द लैटिन् भाषा के Natio से उत्पन्न हुआ है, Natio शब्द स्थान में जन्म लेने वाले मानव समूह को द्योतित करता है, परन्तु यह तत्त्व बाद में शिथिल हो गया तथा इस समय एकरूपता के बिना भी Nation शब्द है। इस समय भी पाश्चात्त्य विचारक राष्ट्र के सर्वमान्य परिणाम को परिभाषित नहीं कर पा रहे हैं। सर जान राबर्ट सीले, इजरामल जैंगवाइल्सर जान मेरियट-जेम्स, ब्राइस-जान-पी-गूच-एच.-एल. फीदरस्टोन प्रभृति विद्वानों ने राष्ट्र की सुसंगत परिभाषा सुनिश्चित करने में असामर्थ्य प्रकट किया है। भारतवर्ष के कुछ प्रतिगामी चिन्तकों ने वैदिक राष्ट्र अथवा हिन्दू

राष्ट्र का चिन्तन भयानक माना है। इन लोगों के मतानुसार किसी समुदाय विशेष का ऐतिहासिक और भौगोलिक गौरव भयप्रद सिद्ध होता है। लुई एल. स्नाइडर महोदय ने **दी मिनिंग ऑफ नेशलिज्म** नामक अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है कि-

सम्बन्धित जनसमाज के द्वारा निज ऐतिहासिक अनुभव के अनुसार राष्ट्रवाद का जो अर्थ किया जाता है, वह समाज के प्रसंग में राष्ट्रवाद का वही अर्थ जानना चाहिए। इस समय पश्चिम के लोगों की धारणा से ही अल्पसंख्यक शब्द प्रचार और प्रसार में आया। भारतीय दृष्टि में तो प्रजा शब्द ही पर्याप्त था, जो शब्द प्रजा सन्तति को स्थानीय माना। अल्पसंख्यक यह शब्द युद्ध महायुद्ध के उत्पन्न होने की स्थिति में बार-बार प्रजाओं को आकृष्ट करता है। इसलिए श्री अरविन्द ने **लीग ऑफ नेशन** का विरोध किया।

राष्ट्र चिन्तक मेरे मित्र डॉ. कामेश्वर उपाध्याय ने राष्ट्र के मूल में संस्कृति और धर्म का सुभगोदय तथा अखण्डिता भूमि- इन तीन तत्त्वों को निहित मानते हैं-

संस्कृतेर्यावती सीमा धर्मस्य सुभगोदयः।

यावदखण्डिता भूमिस्तावद् राष्ट्रमिहोच्यते॥

वे कहते हैं कि जो राष्ट्र की संस्कृति को नहीं मानता है वह देश के अस्तित्व में निष्ठा को स्थापित नहीं करता। संस्कृति से युक्त व्यक्ति ही राष्ट्र को आत्मसात् करता है। इसलिए वे जन के अस्तित्व को संस्कृति में निहित मानते हैं-

जनानामन्तर्भावो हि संस्कृतावेव दृश्यते।

न हि संस्कृतिहीनानां राष्ट्रे निष्ठा प्रतिष्ठिता॥

इस प्रकार कर्म में ''ष्ट्रन्'' प्रत्यय के विधान से निष्पन्न राष्ट्र शब्द विविध सामग्रियों से दीप्त देश को बोधित करता है और करण में ष्ट्रन् प्रत्यय से निष्पन्न राष्ट्र शब्द उस देश को बोधित करता है जिसके द्वारा राज्य दीप्त अथवा राजा प्रदीप्त होता है। देशदीप्ति के सम्पादन के लिए धर्म, संस्कृति, जाति, भाषा, प्रभृति पक्ष अपेक्षित होते हैं। इनके उत्कर्ष से ही राष्ट्रवैभव का संरक्षण सम्भव होता है।

सन्दर्भ-सूची-

1. अथर्ववेद, 6/8/1.
2. अथर्ववेद, 6/87/2.
3. अथर्ववेद, 6/88/2.
4. अथर्ववेद, 15/5/2.
5. अथर्ववेद, 15/9/1.
6. अथर्ववेद, 15/9/2.
7. शुक्रनीति, 4/539-40.
8. अथर्ववेद, 19/55/5.
9. शुक्लयजुर्वेद, 9/4.
10. शुक्लयजुर्वेद, 22/22.
11. ऋग्वेद, 10/125/3.
12. ऋग्वेद, 7/84/2.
13. अथर्ववेद, 3/4/1.
14. अथर्ववेद, 3/39/2.
15. महीधरभाष्यम् (यजु.) 10/3.
16. उव्वटमहीधरभाष्यम् (यजु.) 12/11.
17. उव्वटमहीधरभाष्यम् (यजु.) 12/11
18. ऐतरेयब्राह्मण, 5/1/1/13.
19. अथर्ववेद, 12/1/8.
20. ऋग्वेद, 7/34/11.
21. ऋग्वेद, 4/42/1.
22. ऋग्वेद, 7/8/42.
23. ऋग्वेद, 10/109/3.
24. अथर्ववेद, 10/3/12.
25. अथर्ववेद, 12/1/8.
26. अथर्ववेद, 13/34/35.
27. यजुर्वेद, 9/23.
28. धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीयभाग, पृष्ठ 65.
29.
30. मनुस्मृति, 9/254.
31. मनुस्मृति, 7/29.
32. मनुस्मृति, 7/111-12.
33. मनुस्मृति, 9/294.
34. कौटिल्यार्थशास्त्रप्रकरण, 96.
35. कामन्दकीयनीतिसार, 4/48-50.

●

'ऐतिहासिक परिदृश्य में आनंदमठ की पृष्ठभूमि और बंकिम'

डॉ0 अनुराधा सिंह एवं* प्रतीक गुप्ता**

बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारत के आरंभिक उपन्यासकारों में से एक हैं, जिन्होंने भारत में पश्चिमी उपन्यासलेखन विधा का अनुसरण करते हुए आधुनिक उपन्यास लेखन शुरू किया। कालान्तर में बंकिम ने सामाजिक उपन्यास लेखन की एक नवीन शैली विकसित की, जिसका अनुसरण पश्चिमी उपन्यासकारों ने भी किया।[1] बंकिम ने अपना पहला उपन्यास 'Rajmohan's Wife' 1864ई0 में अंग्रेजी भाषा में लिखा। बंकिम ने उसके बाद, सभी उपन्यास बांग्ला भाषा में लिखें, जिनका विभिन्न देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ। 1882ई0 में बंकिम ने उपन्यास 'आनंदमठ' को पूर्ण कर प्रकाशित कराया।

फणीश्वर नाथ रेणू ने अपने उपन्यास लेखन की विषयवस्तु के बारे में कहा था, 'मेरे आस-पास घटने वाली घटनाएँ, मेरे उपन्यास का हिस्सा बनती जा रही थीं।' बंकिम के उपन्यासों पर भी ये उक्ति एकदम सटीक बैठती है। बंकिम एक गहन अध्येता और मजिस्ट्रेट थे। बंकिम ने इतिहास और दर्शन का गहन अध्ययन किया था। मजिस्ट्रेट पद पर रहते हुए बंकिम को समय-समय पर होने वाले स्थानान्तरण के कारण बंगाल के कई नगरों और गाँवों के जीवन को देखने-समझने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हुए थे। अदालतों में आने वाले मुकदमों के विश्लेषण ने बंकिम में गहन विश्लेषण क्षमता विकसित कर दी थी। बंकिम ने अपने अध्ययन और अनुभवों को अपने संदेशों व आँकाक्षाओं के साथ समन्वित कर अपने उपन्यासों की विषयवस्तु के रूप में प्रस्तुत किया। बंकिम के तीन उपन्यासों ने प्रसिद्धि और साहित्यिक प्रतिष्ठा के शीर्ष को हुआ था। इनमें से प्रथम दो 'कपालकुण्डला' और 'विषवृक्ष' का परिप्रेक्ष्य सामाजिक था जबकि तीसरा 'आनंदमठ' राजनीति केन्द्रित था।

'आनंदमठ' में बंकिम ने इतिहास के एक दीर्घकालखण्ड (1783ई0 से 1880ई0) में भारत में घटने वाली (अपने दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण) घटनाओं का वैचारिक चित्र खींचा। बंकिम ने आनंदमठ की शुरूआत अकाल और उसके कारण उत्पन्न होने वाली मार्मिक परिस्थितियों से की। 1877-1878ई0 में दक्षिण भारत में पड़े अकाल के कारण एक करोड़ से अधिक लोगों की मृत्यु हो गई थी। अकाल की भयावहता और त्रासदी के लिये प्रकृति की निष्ठुरता से अधिक वायसराय लिटन की नीतियाँ जिम्मेदार थीं। लिटन ने अकाल में अनाज के अभाव में मर रहे लोगों में अनाज वितरित करने के बदले 3,20,000 टन गेहूँ ब्रिटेन निर्यात कर दिया था।

मद्रास से पहले 1873-74ई0 में बिहार में अकाल पड़ा था। सर रिचर्ड टेम्पल बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर थें। बिहार उस समय बंगाल प्रांत का हिस्सा था। सर रिचर्ड टेम्पल ने बर्मा (म्यांमार) से 4 करोड़ रूपये में 4,50,000 टन चावल खरीद कर अकाल पीड़ित क्षेत्रों में वितरित कराया था। रिचर्ड टेम्पल के इस सराहनीय प्रयास ने बिहार को अकाल के दुष्प्रभावों से बचा लिया था। तत्कालीन भारतीय बुद्धिजीवी, वायसराय लिटन से भी ऐसी ही अपेक्षा कर रहे थें, किन्तु लिटन की नीतियों ने उन्हें न सिर्फ निराश किया अपितु उनमें औपनिवेशिक सत्ता के प्रति रोष भी पैदा किया। भारतीय बुद्धिजीवी, ये एक ऐसा वर्ग था जिसने औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थाओं में आधुनिक शिक्षा प्राप्त की थी, आधुनिक पश्चिमी शिक्षा प्राप्त कर ये औपनिवेशिक सत्ता के प्रशंसक बन गये थे और उसके शासन को भारत के लिये आवश्यक और कल्याणकारी मानते थे। ब्रिटिश क्राउन द्वारा सत्ता प्रत्यक्ष रूप से, कम्पनी से, अपने हाथ में हस्तगत कर लेने के बाद, साम्राज्ञी की घोषणा से अधिकांश भारतीय बुद्धिजीवियों की, ब्रिटिश शासन की नैतिक सत्ता (की कपोलकल्पित धारणा) में आस्था और भी दृढ़ हो गयी थी।

अकाल और अकाल के दौरान औपनिवेशिक सत्ता द्वारा उठाये गये कदमों ने भारतीय बुद्धिजीवियों को औपनिवेशिक चरित्र को पुनर्विश्लेषिण करने को प्रेरित किया। अकाल के दौरान कार्नेलियस वालफोर्ड द्वारा प्रतिपादित सांख्यिकीय विश्लेषण ने बुद्धिजीवियों के कल्याणकारी-नैतिक सत्ता के प्रति विश्वास पर एक गहरी चोट की। कार्नेलियस वालफोर्ड दक्षिण भारत में 1876-1878ई0 में पड़े अकाल के दौरान कार्यरत थे। कार्नेलियस वालफोर्ड ने अपने सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर ये निष्कर्ष प्रतिपादित किया कि भारत में ब्रिटिश शासन से पहले, 2000 वर्षों में 17 बार अकाल का प्रकोप हुआ और ब्रिटिशों के 120 वर्षों के शासन काल में भारत में (1878ई0 तक) 34 अकाल पड़े। कार्नेलियस वालफोर्ड के अनुसार 1876 से 1878ई0 के बीच दक्षिण भारत में अकाल के कारण एक करोड़ तीन लाख लोगों की मृत्यु हुई।

बंकिम मद्रास अकाल में औपनिवेशिक सत्ता की उदासीनता के कारण भूख से मर रहे लोगों की पीड़ा को मानसिक रूप से महसूस कर रहे थें, किन्तु औपनिवेशिक सत्ता के न्यायिक तंत्र का

* ऐसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध छात्र, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अंग होने के कारण वो मुखर होकर औपनिवेशिक सत्ता की भर्त्सना नहीं कर सकते थें।

औपनिवेशिक सत्ता के अधीन काम करने वाले भारतीयों में उनका मानसिक भय इस कदर व्याप्त था कि दीन बंधु मित्र ने जब किसानों पर अत्याचार करने वाले नील कारखानों के अंग्रेज मालिकों पर नील दर्पण नाटक लिखा, तो उसमें लेखक के रूप में अपना नाम नहीं छपवाया। दीनबंधु मित्र सरकारी पोस्टमास्टर थे। इस उदाहरण से हम बंकिम की मनोदशा को समझ सकते हैं। बंकिम पर औपनिवेशिक सत्ता के छद्म नैतिक औचित्य को किसी भी तरह का नुकसान न पहुँचाने का दबाव इसलिये भी अधिक था क्यों कि वो मजिस्ट्रेट के पद पर थे और अंग्रेजी सभ्यता के आधुनिक स्तम्भों में से एक कहे जाने वाले न्यायिक तंत्र के अंग थें, जो सभी के लिये एक समान कानून और आधुनिक-निष्पक्ष, न्यायकेन्द्रित न्यायालयों का दंभ भरता था।

बंकिम ने इसीलिये मद्रास की अकाल कालीन दशा दिखाने के लिये 1769-70ई0 में बंगाल में पड़ने वाले अकाल का वर्णन आनंदमठ में किया। बंकिम ने आनंदमठ में अकाल का वर्णन करते हुए लिखा, 'हर देश का राजा अपनी प्रजा की दशा का, उसके भरण पोषण का ख्याल रखता है। हमारे देश का मुसलमान राजा क्या हमारी रक्षा कर रहा है, किस देश के मनुष्य भोजन के अभाव में घास खा रहे हैं, किस देश की जनता लतापत्ते खाती है किस देश के मनुष्य सियार, कुत्ते, मुर्दे खाते हैं?[3]

बंकिम ने आगे लिखा कि 'उस समय लोगों के कुल, सम्पत्ति की रक्षा का भार पापिष्ठ, नराधम, विश्वासघातक, मनुष्यकुलकलंक मीरजाफर पर था।'[4] जबकि बंकिम इस ऐतिहासिक तथ्य से अच्छी तरह परिचित थे कि मीरजाफर अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली था। उसे 'कर्नल क्लाइव का गीदड़' कहा जाता था।[5] ये दिखाता है कि समकालीन घटनाएँ बंकिम को किस स्तर तक प्रभावित कर रही थीं और औपनिवेशिक सत्ता का मानसिक वर्चस्व कितना प्रभावशाली था।

बंकिम औपनिवेशिक शोषण और भय से मुक्ति का मार्ग 1857ई0 के असफल विद्रोह और उसकी असफलता के कारणों में खोज रहे थें। 1857ई0 के विद्रोह में बंगाल और दक्षिण भारत में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। बंकिम बंगवासियों द्वारा 1857 के विद्रोह में भाग न लेने की भर्त्सना, आनंदमठ में इन शब्दों में कर रहे थें, ''साँप मिट्टी में अपना पेट घीसटते हुए चलता है। साँप से बढ़कर हीन तो शायद कोई भी न होगा, लेकिन उसके शरीर पर पैर रख दो तो वो भी फन काढ़कर डसने की कोशिश करता है। तुम लोगों का धैर्य क्या किसी भी तरह नष्ट नही होता है।[6]

विलियम हंटर द्वारा प्रकाशित 7 पत्रों और पुस्तक इण्डियन मुसलमान्स की विषयवस्तु, भी एक मुख्य कारण था जिसकी वैचारिक प्रतिक्रिया में बंकिम ने 'आनंदमठ' लिखा। विलियम विल्सन हंटर ने अपने लेखों के माध्यम से औपनिवेशिक सत्ता को ये समझाने का प्रयास किया कि 'भारत में ब्रिटिश सत्ता के सामने जो सबसे बड़ा जोखिम है वो शासक और शासितों के बीच की खाई है।[7] ब्रिटिशों से पहले मुस्लिम, भारत के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग थें। प्रशासन के अधिकांश उच्च पदों पर उनका एकाधिकार था। ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद, उसकी नीतियों के कारण ये वर्ग धीरे-धीरे अपनी स्थिति से नीचे गिरता गया। प्रशासनिक संस्थाओ में कार्यरत लोगों में मुस्लिमों की लगभग न के बराबर सहभागिता को विश्लेषणों द्वारा प्रदर्शित कर, हंटर ने ये सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'वहाबी' और '1857ई0' के विद्रोह इसी असंतोष की परिणति हैं। हंटर ने मुस्लिमों को अपने पक्ष में लाने के लिये विशेषाधिकार देने की वकालत की। हंटर के प्रयासों के बाद औपनिवेशिक सत्ता ने मुस्लिमों को अपने पक्ष में लाने के लिये, अपनी नीतियों में बदलाव किये।

बंकिम द्वारा आनंदमठ में वर्णित 'सन्यासी विद्रोह', हंटर द्वारा 'इंडियन मुसलमान्स' में वर्णित 'वहाबी विद्रोह' का वैचारिक प्रत्युत्तर था। बंकिम का परिवार पिछली पीढ़ी से औपनिवेशिक नौकरशाही का अंग था। बंकिम उस हिन्दू मध्यवर्ग का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जिसने आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर, उसके माध्यम से आजीविका, और सामाजिक प्रतिष्ठा अर्जित की थी। बंकिम के परिवार के अधिकांश पुरूष सदस्य विभिन्न औपनिवेशिक संस्थाओं में कार्यरत (नौकरी करते) थें। बंकिम ने आनंदमठ द्वारा औपनिवेशिक सत्ता को ये बताने की कोशिश की, कि बहावी विद्रोह से पहले हिन्दुओं द्वारा उससे उग्र सन्यासी विद्रोह हो चुका है, जिसका संख्यात्मक आधार देशी राजाओं की सेना के बेरोजगार सैनिक और अकाल पीड़ित किसान थें। हंटर ने 'इंडियन मुसलमान्स' की प्रस्तावना में ही अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहा था, 'इन पृष्ठों में मैनें स्थायी रूप से युद्धरत वर्ग (मुस्लिम) के अतीत के इतिहास और उसकी वर्तमान आवश्यकताओं को स्पष्ट ढंग से व्यक्त करने का प्रयास किया है। उस वर्ग को, जिसे उत्तरोतर अनेक सरकारों ने भारतीय साम्राज्य के लिये स्थायी खतरे का स्रोत करार दिया है।'[8] हंटर भारतीय समाज का अपने अनुभवों के आधार पर विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे थें कि भारत में ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिये, मुस्लिमों को अपनी ओर करना नितांत आवश्यक है।

सन्यासी ब्रिदोह के ऐतिहासिक घटनाक्रम के आरंभिक चरणों में सन्यासियों ने अनेक स्थानों पर अंग्रेजी सेना को हराया था। बंकिम ने तुलनात्मक रूप से इस तथ्य को दिखाने का प्रयास कि वहाबी विद्रोह को ब्रिटिश सेना ने दृढ़ता पूर्वक दबा दिया था। दोषियों को फाँसी के तख्तों पर लटका दिया गया था लेकिन सन्यासी विद्रोह में संन्यासियों ने कई स्थानों पर अंग्रेजी सेनाओं को हराकर अपना राज्य कायमकर लिया था।

आनंदमठ बंकिम का एक वैचारिक प्रयास था जिसके मूल में बंगाली हिन्दू मध्यवर्ग को नौकरियों के माध्यम से प्राप्त आजीविका

और सामाजिक प्रतिष्ठा की अक्षुण्णता बनाए रखने की आकाँक्षा निहित थी।

अपनी पुस्तक 'सन्यासी व्रिदोह' में ए0 एन0 चंदर ने लिखा है कि औपनिवेशिक सत्ता ने सन्यासियों द्वारा प्रतिवर्ष की जाने वाली धार्मिक यात्राओं पर प्रतिबंध लगा दिया था, जिसके कारण ये विद्रोह शुरू हुआ। 1769ई0 के अकाल के बाद अनेक गरीब किसान भी सन्यासियों के दल में शामिल हो गये थें। कालखण्ड के सापेक्ष ए0 एन0 चंदर ने सन्यासी विद्रोह को 7 चरणों (1763-69, 1770-72, 1773-74, 1775-80, 1981-86, 1787-92 और 1793-1800) में विभाजित किया। बैकरगंज, सारण, रंगपुर, दीनाजपुर, ढाका, किशनगंज, वर्धमान, नटौर, मालदा, चंपारण सन्यासी विद्रोह के केन्द्र थे।[9]

आनंद भट्टाचार्य ने मौखिक स्रोतों (लोकगीतों, लोककथाओं और साक्षात्कारों) व क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर अपनी पुस्तक 'सन्यासी एण्ड फकीर रिबेलियन' में लिखा है, ये गिरि सम्प्रदाय के सन्यासी प्रतिवर्ष किसी कुंभ स्थल से अपनी यात्रा शुरू कर मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न तीर्थ स्थलों की यात्रा करते हएु जनकपुर के धार्मिक मेले में भाग लेते थें। उसके बाद कुछ तो जगन्नाथ पुरी की यात्रा पर निकल जाते थे और शेष गंगा सागर की यात्रा करने आते थें। गिरि सन्यासी, शंकराचार्य द्वारा स्थापित दशनाम अखाड़े से सम्बद्ध थें, ये गृहस्थ थें, शस्त्र धारण करते थें, शस्त्र पूजा करते थें। महाजनी करते थें और विभिन्न वस्तुओं (यथा सूती वस्त्र, कच्चे रेशम) का सुदूर क्षेत्रों में व्यापार करते थें।[10] तीर्थ यात्राओं के साथ-साथ वो एक स्थान पर उत्पादित होने वाली वस्तु को दूसरे नगरों के व्यापारियों तक पहुँचाते थें।

औपनिवेशिक सत्ता द्वारा देशी राज्यों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष अधीनता में लाने की नीति के कारण इन राज्यों के राजस्व का एक बड़ा हिस्सा इन राज्यों से छिन गया था। औपनिवेशिक सत्ता इन राज्यों को आंतरिक विद्रोहों और बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा का आश्वासन देकर अपने व्यापार और प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से इन्हें प्राप्त होने वाले अधिकांश राजस्व से इन्हें वंचित कर दे रही थी। ऐसी स्थिति में इन राज्यों ने अपने व्यय कम करने के लिये अपनी सेनाएँ विघटित कर दी। राज्यों से निकाले गये बेरोजगार सैनिक, आजीविका प्राप्त करने के लिये सन्यासियों के दल में शामिल होने लगे। गिरि सम्प्रदाय के ये सन्यासी गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए, शस्त्र और मल्ल विद्या का भी अभ्यास करते थे, इसलिये इन सैनिकों को सन्यासी दल में सम्मिलित होने में कोई दिक्कत नहीं हुई। गिरि सन्यासियों ने अपने मठों और आश्रमों को केन्द्र बनाकर वहाँ से व्यापार, महाजनी और मठ की जमींदारी से राजस्व वसूली का कार्य करने का एक तंत्र विकसित कर लिया था।[11]

अंग्रेज मूलतः व्यापारी थे और व्यापारियों का ये सहज स्वभाव होता है कि अगर कोई छोटी पूँजी का व्यापारी किसी बड़े व्यापारी द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय को छोटे स्तर पर भी प्रारंभ करे तो वो बड़ा व्यापारी सशंकित हो जाता है और उसे अपना भावी प्रतिस्पर्धी मानने लगता है। उस छोटे व्यापारी को नुकसान पहुँचाने और उसके व्यापार को समाप्त करने के लिये वो साम-दाम-दण्ड-भेद सभी तरह के उपाय करता है।

अंग्रेजों की भी यही स्थिति थी। इन सन्यासियों ने तीर्थ यात्राओं को ही अपने व्यापार का माध्यम बना लिया था। ये बनारस में निर्मित वस्त्रों को बंगाल के व्यापारियों तक पहुँचा रहे थें। बंगाल में उत्पादित होने वाले कच्चे रेशम को बनारस पहुँचा रहे थें। विभिन्न मठों की जमींदारी के अन्तर्गत कई-कई हजार बीघे कृषि भूमि थी, जिसका राजस्व इन्हें प्राप्त होता था। जब ये राज्यों से निकाले गये सैनिकों को अपने दल में सम्मिलित करने लगे तो ब्रिटिश कम्पनी के अधिकारी इन्हें प्रतिस्पर्धी की तरह देखने लगे जो भविष्य में उनके व्यापार और क्षेत्राधिकार दोनों को हानि पहुँचा सकते थें, इसलिये ब्रिटिश अधिकारियों ने तीर्थयात्राओं पर प्रतिबंध लगा दिया। सन्यासियों ने इस आज्ञा का हिंसक प्रतिरोध किया। ग्रामीण क्षेत्र के किसानों ने भी इनका साथ दिया। सन्यासियों ने एक किले का भी निर्माण किया। आरंभिक कुछ विजयों के बाद सन्यासियों को कैप्टन जेम्स रेनल, कैप्टन ब्रुक, कैप्टन हे व अन्य अधिकारियों के नेतृत्व में गई सेनाओं ने हराया। 19वीं सदी के आरंभिक दशक तक ये विद्रोह लगभग दबा दिया गया।

आनंदमठ में सन्यासी विद्रोह से अधिक 1857 के विद्रोह प्रतिबिम्बित होता है। 1857 के विद्रोह के समय बंकिम की आयु 20 वर्ष थीं। बंकिम, 1857 के विद्रोह के समय की परिस्थितियों के प्रत्यक्षदर्शी थें, इसलिये आनंदमठ के अधिकांश पात्रों और 1857 के विद्रोही नेताओ तथा उनके कृत्यों में समानता परिदृश्यित होती है।

बंकिम दक्षिणेश्वर के संत स्वामी रामकृष्ण परमहंस से बहुत प्रभावित थें। बंकिम के अधिकांश उपन्यासों में एक मार्गदर्शक, प्रेरक धार्मिक संत, मुख्य पात्र रहा है। बंकिम नौकरी के दौरान, विभिन्न व्यस्तताओं के बाद भी निरंतर उपन्यास लेखन करते रहे, किन्तु 1887ई0 में रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के बंकिम एक भी उपन्यास नहीं लिख सके। बंकिम ने अपना अंतिम उपन्यास 'सीताराम' 1887ई0 में लिखा था। बंकिम ने सन् 1891 में नौकरी से स्वैच्छिक सेनानिवृत्ति भी ले ली थी। 8 अप्रैल, 1894ई0 को बंकिम की मृत्यु हुई। 1891ई0 से 1894ई0 के मध्य 3 वर्षों में पर्याप्त समय मिलने पर भी बंकिम उपन्यासों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं कर सकें। रामकृष्ण परमहंस बंकिम की प्रेरणा थें और उनकी मृत्यु के साथ ही बंकिम के उपन्यास लेखन पर भी विराम लग गया, यद्यपि बंकिम ने इस कालखण्ड में अपने कई उपन्यासों के कथानक में परिवर्तन किये।

बंकिम ने हिन्दू धर्म के शाक्त सम्प्रदाय में मातृ शक्ति के तीनों स्वरूपों विद्या की अधिष्ठात्री 'सरस्वती', भौतिक समृद्धि दात्री

'लक्ष्मी' और शक्ति स्वरूपा 'दुर्गा' के साथ भारत माँ के एक दैवीय स्वरूप की परिकल्पना की। भारत माँ के दैवीय स्वरूप की परिकल्पना में बंकिम ने तत्कालीन स्वरूप को मलिन, दुर्बल, विलाप करते और भविष्य के स्वरूप को रत्न-आभूषणों से सुसज्जित, प्रसन्न मुख, समृद्धि शालिनी दिखाया। बंकिम ने एक ऐसे बंग समाज की परिकल्पना की जो जाति-धर्म के भेदों से रहित हो। 'भारत माँ की संतान', यही सभी बंगवासियों की एकमात्र पहचान हो और भारत माँ के उस भविष्यमय स्वरूप को साकार करने के लिये सभी संतान आपसी भेदों और विरोधाभासी पहचानों को विस्मृत कर संयुक्त प्रयास करें। आनंदमठ में वर्णित भारत माँ का दैवीय स्वरूप क्राँतिकारियों के हृदय ओर मन मस्तिष्क में जीवंत हो उठा ओर उन्होंने भारत माँ के भविष्यमय स्वरूप को साकार करने को, अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया। भारत माँ की स्तुति में संतानों द्वारा गाथा गया गीत 'वंदे मातरम' स्वदेशी आंदोलन के बाद से प्रत्येक बंगवासी और गाँधी के राजनैतिक जीवन में प्रवेश के बाद से प्रत्येक भारतवासी की जवान पर चढ़ गया। अंग्रेज विभिन्न अवसरों पर साम्राज्य गान ''God Save the King/Queen'' गाते थें। बंकिम ने इसका प्रतिरोध करने के लिये, इसके विकल्प के रूप में 'वंदे मातरम' की रचना आनंदमठ लिखने से कई वर्ष पहले ही की थी।

औपनिवेशिक शासक वर्ग भारतीयों को स्त्रैण चरित्र वाला मानते और कहते थें। बंकिम ने ब्रिटिशों द्वारा भारतीयों का मनोबल तोड़ने के लिये गढ़े गये इस कपोलकल्पित मिथक का न केवल खण्डन किया, अपितु भारत माता के रूप में स्त्री के एक ऐसे ईश्वरीय स्वरूप की परिकल्पना की, जो शक्ति, ज्ञान और समृद्धि का समन्वित और जीवंत बिंब था। माँ और पुत्र के रिश्ते को भारतीय संस्कृति में सबसे पवित्र और आदर्श माना गया है। सनातन धर्म ग्रंथों में वर्णित कर्मों को करके कोई व्यक्ति पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण से उऋण हो सकता है, किन्तु संतान कभी भी माँ के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता। बंकिम ने माँ-पुत्र के इस रिश्ते को बंगाल में प्रचलित शाक्त सम्प्रदाय की शक्ति स्वरूपा आराध्या देवी 'दुर्गा' (कालरात्रि) के साथ एकाकार कर 'भारत माँ' के रूप में प्रस्तुत किया। बंकिम को 'भारत माँ' के इस सगुण साकार रूप की प्रेरणा रामकृष्ण परमहंस से मिली। रामकृष्ण परमहंस दक्षिणेश्वर के आश्रम स्थित देवी-विग्रह के उग्र शक्ति स्वरूप (काली अथवा कालिका अथवा कालरात्रि) को 'माँ' कहते और मानते थें। बंकिम ने आनंदमठ में दक्षिणेश्वर की काली माँ के विग्रह स्वरूप का वर्णन किया और दक्षिणेश्वर मठ को आनंदमठ के रूप में चित्रित किया।

'आनंदमठ' कालांतर में 'क्राँतिकारियों की बाइबिल' बन गई। 'भारत माँ', 'साकार प्रेरणा पुंज' और 'वंदे मातरम', 'करोड़ों हृदयों को राष्ट्रभक्ति से आप्लावित और प्रेरित करने वाला राष्ट्रीय उदबोधन' बन गया। आनंदमठ ने अपने साथ बंकिम को भी अमर कर दिया।

संदर्भः-

1. ओंकार शरद. बंकिम ग्रंथावली. वाराणसी : माडर्न दीपक प्रेस, 1987, पृ0सं0 14
2. पाण्डेय, रूप नारायण. बंकिम चंद्र चटर्जी : समग्र, लखनऊ : गंगा पुस्तक माला, 1976, पृ0सं0 127
3. चटर्जी. बंकिम चंद्र. बंकिम समग्र, वाराणसी : हिन्दी प्रचारक प्रचारिणी प्रा0लि0, 2002, पृ0सं0 746
4. चटर्जी. बंकिम चंद्र. बंकिम समग्र, वाराणसी : हिन्दी प्रचारक प्रचारिणी प्रा0लि0, 2002, पृ0सं0 746
5. पोरवाल, अरविंदकुमार – संजय कुमार त्रिपाठी भारतीय इतिहास. इलाहाबाद : यूनिवर्सल बुक्स, 2020, पृ0सं0 130
6. चटर्जी. बंकिम चंद्र. बंकिम समग्र, वाराणसी : हिन्दी प्रचारक प्रचारिणी प्रा0लि0, 2002, पृ0सं0 740
7. हंटर, विलियम विल्सन, इंडियन मुसलमान्स, नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान, 2014, पृ0सं0 3
8. हंटर, विलियम विल्सन, इंडियन मुसलमान्स, नई दिल्ली : प्रकाशन संस्थान, 2014, पृ0सं0 3
9. शुक्ल, रामलखन. आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली : हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 2014, पृ0सं0 207
10. भट्टाचार्य, आनंद. सन्यासी एण्ड फकीर रिबेलियन इन बंगाल, कलकत्ता : बायोग्रीन बुक्स, 2015
11. भट्टाचार्य, आनंद, ओरल सोर्सेज फार राइटिंग द हिस्ट्री ऑफ द सन्यासी एण्ड फकीर रिबेलियन (1763-1800) वर्ड्स एण्ड साइलेन्सेज (इन्टरनेशनल ओरल हिस्ट्री एसोसिएशन) वाल्यूम 6, नं0-2, 2012, पृ0सं0 4-11

●

समाजविज्ञान में विज्ञान दर्शन की दुविधाः एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

डा0 दिनेश कुमार सिंह[*]

विज्ञान इन दिनों बौद्धिक आक्रमण के दौर से गुजर रहा है। वर्तमान समय में विगत कुछ दशकों से विज्ञान की सत्ता व प्रतिष्ठा में गिरावट आयी है। पिछले चार दशकों से पूर्व विज्ञान के माध्यम से ही सत्य के निश्चित रूप तक पहुँचा जाता था। हम यह मानते हैं कि यह विज्ञान दर्शन ही है जिसने धर्मशास्त्रीय, तत्वशास्त्रीय, लोकशास्त्रीय अवस्था से बौद्धिक विकास के परिणामस्वरूप प्रत्यक्षवादी दर्शन से सत्यता के दावे को प्रस्तुत किया। 19वीं तथा 20वीं सदी में यह मान लिया गया था कि वैज्ञानिकता के माध्यम से ही वास्तविकता के मूलाधार में पहुँचा जा सकता है। यूरोपीय परम्परावाद की जड़ों को समाप्त करते हुए 'आधुनिकता' व 'वैज्ञानिकता' दोनों एक दूसरे के पर्याय बन गये। सभी लोगों के माध्यम से इसकी औचित्यता के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

सामाजिक विज्ञान अधिक विशिष्ट रूप में समाजशास्त्र ज्ञान का एक औपचारिक निकाय है, जो फला-फूला है, जिसका उद्विकास हुआ है, जिसने बुद्धिजीवियों के समुदाय को सृजित किया है और जिसने प्राज्ञता अथवा सीखने की विशिष्ट परम्परा को स्थापित किया है। यह संभव हुआ है, क्योंकि सामाजिक यथार्थता का प्रेक्षण करने और ज्ञान के सुव्यवस्थित निकाय के निर्माण विज्ञान के अपने मार्गदर्शन में हुआ।

विज्ञान दर्शन का अभिप्राय आध्यात्मिक रूप में नहीं बताया जा सकता है। इसका अभिप्राय देखने और प्रेक्षण करने के तरीके से है, सोचने के ढंग से है और तर्क करने तथा सच्चाई तक पहुँचने से है। समाजविज्ञानों में अन्वेषण की तर्क विधि क्या है, समाज के बारे में ज्ञान कैसे निर्मित होता है, तथा साहित्यिक शास्त्रों से समाजशास्त्रों में अनुसंधान कैसे भिन्न है ? यह सभी मुद्दे विज्ञान दर्शन से जुड़े हैं।

समाजविज्ञान का वर्तमान परिदृश्य अत्यधिक गत्यात्मक स्वरूप को धारण करता जा रहा है। समाजविज्ञानों द्वारा विज्ञान दर्शन को अपनाने से ही सामाजिक बोध का दायरा परिमार्जित होता जा रहा है। प्राचीन पौराणिक कथाएं, लोक कथाएं, महाकाव्य, यात्रावृत्तांत और साहित्य ऐसे अनगिनत स्रोत हैं जिनसे हमें इस समाज के बारे में ज्ञान मिलता है। लेकिन सामाजिक विज्ञान को इसकी विशिष्ट पहचान प्रदान होने के पीछे इसके शोध-विधि और ज्ञान प्राप्त करने के तरीके से है। इस तथ्य को समझने हेतु विज्ञान के आधारशिला को समझना होगा।

विज्ञान की आधारशिला :-

विज्ञान के बारे में सदैव ही चर्चा करते हुए यह तथ्य सार्वभौमिक रूप से मस्तिष्क में आते हैं कि विज्ञान तथ्यों पर आधारित होता है। विज्ञान के अन्तर्गत भावनात्मक या मनोभावात्मक निर्णय के स्थान पर तार्किक और निष्पक्ष विश्लेषण का समावेशन होता है। विज्ञान की आधारशिला की दार्शनिक परम्परा प्रमुख रूप से फ्रांसिस बेकन (1561-1626) तथा रेने डेस्कार्ट (1564-1650) के द्वारा अभिव्यक्त किए गये चिंतन पर आधारित है। 17वीं शताब्दी में इसके योगदान ने ही आधुनिक विज्ञान की आधारशिला रखी।[1]

फ्रांसिस बेकन ने इस तथ्य को व्यक्त करने की कोशिश की है कि किस प्रकार किसी पूर्वाग्रह या पक्षपात के यथार्थ का बोध हो सकता है। बेकन के अनुसार ऐसे बहुत से भ्रम होते है जो हमें सत्यता से परे करते हैं और अवरोधों के रूप में दिखाई देते हैं। बेकन के अनुसार इन भ्रमों को दूर करने के बाद ही आगमन विधि का प्रयोग किया जा सकता है। इन भ्रमों को फ्रांसिस बेकन ने 'मस्तिष्क की प्रतिमाओं' (Idol of Minds) के रूप में अभिव्यक्त किया है। इन्होंने इसकी चार श्रेणियाँ बतायी है।

(1) **जनजाति की प्रतिमाएँ**- ये मानवीय समूहों में समान रूप से पायी जाती है तथा मानवीय दुर्बलता से आर्विभूत होती है। बेकन का तर्क है मानव मस्तिष्क टेढ़े मेढ़े दर्पण की भाँति है जो सच्चाई को भ्रमित करता है। इस प्रकार की प्रतिमाओं की वजह से अंधविश्वास और पूर्वाग्रह हमेशा मौजूद होते हैं, जो कि मनुष्य की भावनाओं को अतिसूक्ष्म तरीकों से और अनेक रूपों से समझ को भ्रमित कर वास्तविकता से दूर कर देती है।

(2) **निजी कक्ष की प्रतिमाएँ**- ये जनजातिगत प्रतिमाओं की भाँति न होकर विशिष्ट व्यक्तियों के लिये अनोखी होती है। प्रत्येक व्यक्ति की स्वयं की ही निजी मनोवृत्ति और प्रतिमाएँ होती है। जैसे कोई व्यक्ति नवाचारवादी होती है तथा कोई पुरातनवादी होता है, कोई आशावादी तो, कोई निराशवादी। ये सभी विशिष्ट विशेषताएँ व्यक्ति के देखने के ढंग को प्रभावित करती है और इस प्रकार सच्चाई को भ्रमित करती है।

---

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

(3) **क्रय विक्रय की प्रतिमाएँ**- इस प्रकार प्रतिमाएँ मानवीय अंतःक्रिया से उत्पन्न होती है और गंभीर भाषायी उलझनों को पैदा करती है। ये भाषायी उलझने बहुधा भाषायी यथार्थता को व्यक्त करने में अपर्याप्ता को सिद्ध करती है। बेकन[2] ने कहा कि ''विद्वत्जों के महान और विचारशील तर्क वितर्क बहुधा शब्दों और नामों से जुड़ा शास्त्रार्थों में समाप्त हो जाते हैं।''

(4) **नाटकगृह की प्रतिमाएँ-** यह वे प्रतिमाएँ हैं जो दर्शनशास्त्र की विशिष्ट पद्धतियों को विविध सिद्धान्तों से मनुष्यों के मस्तिष्क में घर कर चुकी होती है।

बेकन ने इस प्रतिमाओं को अवरोधक के रूप में बताया है तथा इसको दूर करना आवश्यक बताया है तभी बिना किसी पक्षपात के इस संसार की वास्तविकताओं का अवलोकन संभव है। इन्होंने बताया है प्रकृति का अस्तित्व तो है ही, और हमारी भावनाओं और संवेदनाओं से अदूषित मात्र, शुद्ध अनुभववाद से ही प्रकृति को समझा जा सकता है। बेकन के अनुसार निरपेक्ष ज्ञान ही मानव प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित कर पायेगा। ज्ञान वास्तव में शक्ति है और ज्ञात और ज्ञान के बीच का सम्बन्ध तटस्थ और अवैयक्तिक हो जाता है। अनुसंधानकर्ता की स्वयं की दुर्बलता नियंत्रित हो जाती है तथा अन्वेषण का कार्य निष्पक्ष हो जाता है।

बेकन ने अनुभववाद को प्रोत्साहित किया था। सचवण्डत[4] ने अनुभववाद को व्यक्त करते हुए बताया कि ज्ञानमीमांसात्मक सैद्धान्तिक प्रभामण्डल में वह ज्ञान शामिल है जो इन्द्रियपरक अनुभव से शुरू होता है। सामाजिक विद्वानों में विशुद्ध अनुभववाद में उस ज्ञान को शामिल किया जाता है जिसमें सामाजिक वास्तविकता और मानवीय क्रिया को निश्चित तथ्य के साथ परीक्षण कर सके और यह प्रामाणिकता को व्यक्त करता हो तथा अवलोकनीय रूप से यह प्राप्त हो तथा किसी भी प्रकार के वैयक्तिक निवर्चन से मुक्त हो।

बेकन ने जिस प्रकार अनुभववाद अथवा आगमन विधि से वास्तविकता को खोजने का प्रयास किया उसी प्रकार, विज्ञान की आधारशिला को रखने वालों में रेने डेस्कार्ट है, जिन्होंने वास्तविकता को खोजने हेतु निगमनात्मक विधि को प्रोत्साहित किया। डेस्कार्ट ने मानसिक और बुद्धिजीविता को विशेष माना है एवं तर्क दिया है कि केवल स्पष्ट विचारों अथवा अशुद्ध विवेकशीलता से व्यक्ति सभी अनिश्चितताओं को दूर कर सकता है तथा वास्तविकता तक पहुँच सकता है। इन्द्रिय ज्ञान का विश्वसनीय स्रोत नहीं है, इन्द्रियों से भी धोखा मिल सकता है। डेस्कार्ट[5] ने उन सभी बातों पर शंका व्यक्त की जिन्हें इन्द्रियों के माध्यम से सीखा था। इन्होंने चेतना के माध्यम से बुद्धिवाद को ज्ञान का स्रोत बताया है तथा इसी के माध्यम से वास्तविक ज्ञान तक पहुँचने पर बल दिया है।

इन दोनों ने आधुनिक विज्ञान को गतिमान किया है। वैज्ञानिक क्रांति ने ब्राह्मण्डीय सिद्धान्तों को बदल कर रख दिया। कापरनिकस (1473-1543) ने सूर्य केन्द्रित सिद्धान्त को दिया तथा पृथ्वीकेन्द्रित सिद्धान्त को खारिज किया। तत्पश्चात् गैलिलीयों ने आनुभविक तथ्यों के आधार पर सूर्य केन्द्रित सिद्धान्त का समर्थन किया। इनके द्वारा इस ब्राह्मण्डीय दावों को चर्च द्वारा विरोध किया गया क्योंकि उस समय यूरोपीय समाज दो प्रमुख धर्म-सम्प्रदायों के संघर्ष के मध्य जूझ रहा था। जिनका सरोकार काल्विन और कैथोलिक के मध्य था।[6]

न्यूटन (1642-1727) ने आनुभविकता को अपनाते हुए आगमन विधि को स्वीकार किया। इन्होंने प्रयोगात्मक एवं अवलोकनात्मक पद्धति को विकसित किया तथा गुरूत्वाकर्षण एवं गति के तीन नियमों को प्रतिपादित किया। इनके विचारों ने विज्ञान को और अधिक विकसित किया तथा सामाजिक विज्ञानों में अवलोकन प्रयोगात्मक पद्धतियों को प्रयोग भी बाद में होने लगा।[7]

डेस्कार्ट की निगमनात्मक पद्धति ने बुद्धिवाद के माध्यम से, सिद्धान्तों से उपकल्पनाओं का निर्माण कर निष्कर्षों तक पहुँचने की बात कही है। डेस्कार्ट के शब्दों में ''मेरा अस्तित्व इसलिए है क्योंकि मैं सोचता हूँ।'' डेस्कार्ट ने इस तथ्य को स्थापित किया है कि ''ईश्वरीय तत्व या भगवान उससे जीत नहीं सकता।'' डेस्कार्ट का दर्शनशास्त्रीय आन्दोलन बुद्धिवाद के रूप में जाना जाता है जिसमें तर्क (Reasoning) को ही ज्ञान के प्राथमिक स्रोत के रूप में जाना जाता है। संक्षेप में अनुभववाद तथा बुद्धिवाद ने दो प्रकार के तर्कों की नींव रखी जो कि निगमन पद्धति तथा आगमन पद्धति के रूप में जानी जाती है।[8]

प्रबोधन युग एवं ब्रिटिश अनुभववाद- सामान्यतः आनुभविक अभिमुखन को 16वीं तथा 17वीं सदी में वैज्ञानिकों तथा ब्रिटिश अनुभववादियों द्वारा व्यापक तौर पर समर्थन मिला है जिसमें लॉक, बर्कले, हयूम तथा मिल का नाम उल्लेखनीय है। इनके दार्शनिक अनुभवों ने शास्त्रीय तथा तार्किक प्रत्यक्षवाद पर व्यापक प्रभाव डाला जो कि 19वीं तथा 20वीं शती में उभर कर सामने आया।

अनुभववादियों के अनुसार सभी प्रकार का ज्ञान अनुभव के माध्यम से ही आता है। ब्रिटिश अनुभववाद के प्रतिपादक जानलॉक (1632-1704) अपने तावुलासा Tabula Rasa की अवधारणा से प्रसिद्ध है, जिसमें उन्होंने व्याख्या की है कि मानव मस्तिष्क बिल्कुल कोरा होता है जिसमें अनुभव के माध्यम से ही ज्ञान सृजित होता है।[9]

डेविड हयूम (1711-1776) के लॉक के विचारों को तार्किक ढंग से लागू किया और यह तर्क रखा कि हर तरह की सोच साधारण और अलग-अलग प्रभावों से बनती है। डेविड हयूम का तर्क है चूंकि मनुष्यों का जीवन यापन और कामकाज दरअसल

भौतिक जगत में होता है इसलिए हमें यह अवलोकन करना चाहिए कि किस प्रकार ऐसा होता है। छवियों की हमारी मानसिक विषय-वस्तुओं में सावधानीपूर्वक किये गये अंतर से हयूम मानव आस्था का विश्लेषण शुरू करता है। ये छवियां तत्काल अनुभव की प्रत्यक्ष, जीवंत और प्रभावशाली उपज है। विचार इन मौलिक छवियों की प्रतिलिपियां मात्र हैं।

क्योंकि प्रत्येक विचार की व्युत्पत्ति पहले हुई छवि में होती है, हयूम का मानना है कि यह हमेशा सार्थक है कि विचार विशेष के मूल में जाने के लिये पूछा जाये कि इस प्रकार की उत्पत्ति कौन सी छवि पर आधारित है। एक विचार का दूसरे विचार से सीधा जोड़ सदैव ऐसे तालमेल का परिणाम है जो कि व्यक्ति स्वयं निर्मित करता है। मानसिक प्रक्रिया को तीन तरीकों से अनुभववाद में शामिल होती है- समरूपता (Resemblance), समीपता (Contiguity) तथा कारण व प्रभाव (Cause & Effect) संक्षेप में हयूम ने न्यूनीकृत संशयवाद को उचित स्थिति में माना तथा ज्ञान के स्रोत के रूप में साधन माना है जिसमें अनुभववाद को स्वीकार करने पर हयूम ने बल दिया है।

जे0एस0मिल0 (1806-1873) 19वीं शताब्दी में प्रमुख ब्रिटिश अनुभवशास्त्रियों में से एक है, जिनको आगमन कारणात्मक विश्लेषक के रूप में जाना जाता है। मिल के कारणात्मकता को निर्धारित करने की कुछ विधियाँ दी जिनको शोध कार्य में प्रयोग लिया जाता है।

सहमति की विधि (Method of agreement) - जब विषम जातीय समुच्चयों का परीक्षण किया जाता है तो उसमें भी कुछ परिणाम एक जैसे प्राप्त होते हैं जो कि कुछ केसों पर समानरूप से लागू होता है तथा कारणात्मक विश्लेषण में कुछ सामान्य कारण अवलोकित होते हैं जिसमें सभी की सहमति होती है।

विभेद की विधि (Method of difference)- जब दो समूहों को तुलनात्मक विधि से अवलोकित किया जाता है एवं दोनों की समान विशेषताएं भी मौजूद होती है फिर भी एक कारण या चर पर परिणाम में भिन्नता होती है जो सामान्यतः परिलक्षित होती है।

सहवर्ती भिन्नता की विधि (Method of concomitant Variation)- जब परिणामों में भिन्नता या विचरण होता है तो असमानता के साथ के कारण, कारण को भी दर्शाते हैं।

अवशेष की विधि (Method of residuces) - जब हम जानते हैं कि किसी घटना के पीछे निश्चित कारण है, तो सामान्यतः घटना के कारणों से दूसरे कारणों को आपस में सम्बद्ध करके देखा जाता है जो अवशेष रह जाते हैं।

मिल की इस विधि के अनुसार ऐसी स्थितियाँ कभी स्वाभाविक रूप से चाहे अनचाहे रूप से कभी नहीं पैदा हो सकती है और चूंकि व्यापकीय नियमों के बनाने हेतु ऐसी स्थितियाँ जरूरी थी, सामाजिक विज्ञान में इस तरह की तुलनाएं संभव नहीं हो पाई लेकिन फिर भी कुछ सीमा तक अवलोकनीय रूप से यह तथ्य है कि एक चर में परिवर्तन होने पर विभिन्न चरों पर कुछ न कुछ प्रभाव तो निश्चित रूप से पड़ेगा।[10]

इमानुअल कांट (1724-1804) ने अनुभववाद एवं बुद्धिवाद की सुलह पर कार्य किया। उन्होंने यह व्यक्त किया कि मनुष्य के पास पूर्व निर्धारित या स्वयंसिद्ध (a priori) अंतज्ञान होता है जिसमें मानव मस्तिष्क सभी अनुभवों के सामान्य या सार्वभौमिक समुच्चयों को प्रस्तुत करता है। काण्ट का यह दावा है कि मस्तिष्क सभी अनुभव को सृजित करता है। काण्ट के लिये ज्ञान का स्रोत अनुभव है लेकिन मस्तिष्क से सार्वभौमिक समुच्चयों का श्रेणियों के रूप में यह रचित होता है। काण्ट ने अनुभव व निगमनात्मक विधि को मिलाकर विज्ञान के दर्शन को नवीन दिशा प्रदान की है।[11]

प्रबोधनवादी प्रोजेक्ट के माध्यम से विज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि को एक सार्थक दिशा मिली। यूरोपीय समाज में 18वीं सदी में दार्शनिक एवं सामाजिक आंदोलनों ने वैज्ञानिक क्रांति को फलने-फूलने हेतु एक आधार मिलनी शुरू हो गयी। वाल्टेयर (1694-1778), माण्टेस्क्यू (1689-1755), एडम स्मिथ (1723-1790) ने प्रबोधनवादी प्रोजेक्ट पर एक जैसी भाषा तो नहीं व्यक्त की लेकिन प्रबोधनवादी प्रोजेक्ट निम्न विचारों पर बल देता है।

- मानव प्राणी में तर्क करना प्रमुख विशेषता है।
- ज्ञानमीमांसा अनुभव से सम्बन्धित है जो निश्चितता एवं आधार की तलाश करती है (जैसे- बुद्धिवाद, अनुभववाद, प्रत्यक्षवाद)
- सामाजिक एवं नैतिक विकास
- मानवतावाद प्रमुख राजनीतिक लक्ष्य।

प्रबोधनवाद तथा आधुनिकतावाद दोनों सामान्यतः एक पर्याय के रूप में समझे जाते हैं। होलिस[12] ने इस पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि प्रबोधनवाद एक ऐसा प्रोजेक्ट है जिसमें प्रकृति के सभी छुपे हुए रहस्यों को उजागर करने का सम्पूर्ण वृहद प्रयास है जिसमें मानवतावाद भी प्रमुखतः शामिल है। इमानुअल काण्ट[13] ने लिखा है कि ''हमारा युग एक विशेष कोटि में है, यह समालोचना का युग है और हर बात की समालोचना होनी चाहिए।'' किसी की बात को यू ही नहीं मान लेना चाहिए। इस समालोचनात्मकता ने एक नई गति प्रदान की और मनुष्यों को बंद या रूढ़िगत सोच के पिंजरे से बाहर निकालने में सक्षम किया और अंत में तर्क स्वतंत्रता, विज्ञान और सच्चाई के बीच को सकारात्मक सम्बन्ध को प्रत्यक्ष किया।

इस समालोचनात्मकता की प्रकृति अनिवार्यता नकारात्मक नहीं थी। दरअसल, जहाँ इसने तोड़ा, वही इसने जोड़ा। इसने ईसाई धर्म की गूढ़ आध्यात्मिकता और नीतिशास्त्रीयता का खण्डन नहीं किया। इसने केवल ईसाई धर्म की बंद और रूढ़िगत विशेषता का ही खण्डन नहीं किया, बल्कि धर्म निरपेक्ष/उदारवादी विश्वदृष्टि के आधार पर नये विश्व की नींव डाली। दूसरे शब्दों में आधुनिकता की जड़ें यानि वैज्ञानिकता, तर्कसंगतता और व्यक्तिगत विशेषताओं को सम्मान करने वाला प्रकल्प प्रबोधन के प्रोजेक्ट में शामिल था। यह प्रगतिशील था, इसकी आस्था रैखिक/ऐतिहासिक प्रगति में थी जिसमें ज्ञान, नवीनताओं और प्रयोगों की खोजबीन के लिये नई गति प्रदान की

विज्ञान दर्शन पर पुनः चिन्तन-

विज्ञान की प्रकृति को लेकर बौद्धिकों के मध्य काफी बहस हो रही है। विज्ञान को किस प्रकार का होना चाहिए इस पर वाद-विवाद का दौर प्रमुख रूप से विगत तीन दशकों से हो रहा है। अब विज्ञान की प्रकृति पर भी प्रश्न चिन्ह लग रहे हैं, विज्ञान को भी वैचारिकीय, विषयगत एवं अविश्वसनीयता का ठप्पा लग रहा है यह तर्क प्रस्तुत किया जा रहा है कि कोई भी वैज्ञानिक समुदाय के सैद्धांतीकरण को देखा जाये तो ज्ञात होता है कि इसमें स्वयं आधारिकाएं हैं। इनके अलावा ये कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं करती लेकिन सांस्कृतिक विचारों से प्रभावशालीनता को प्रदर्शित करते हैं। विज्ञान की दुविधा में यह भी तर्क दिया जा रहा है कि यह तथ्यों को हेरफेर करके प्रस्तुत करता है तथा पुनः सार्वजनिक लोगों के भरोसों को भी चालाकी से मोड़ देते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों की मात्रा में वृद्धि हुई है, जो संपोषित हो रही है।

आलोचनाओं के बावजूद विज्ञान ने सार्वभौमिक तथ्यों को न प्रस्तुत करने के संदर्भ में स्वयं की साख को बनाए रखने के लिए सापेक्षिता का सहारा लिया जिसमें आज किसी भी घटना या संस्कृति की व्याख्या सापेक्षिता के आधार पर की जा रही है। वैश्विक दृष्टि से एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से आज यह निरंतर एक इस प्रकार की बहस को सामने ला रहा है जिसमें संसाधनों तथा ज्ञान की संस्थाओं के प्राधिकार है। विज्ञान के मानकों एवं वैज्ञानिक गतिविधियों को सांस्कृतिक जामे में तौल कर राजनीति के माध्यम से ज्ञान की संरचना को निर्धारित किया जा रहा है।

हमें यह कैसे ज्ञात होता है कि नवीन वैज्ञानिक दावे वैध एवं सर्वमान्य हैं। इसको प्रमाणिकता विशेषज्ञों का संकुल प्रदान कराता है। लेकिन क्या यह सभी लोगों पर सामान्य रूप से लागू होगा यह विचारणीय है ? इसका उत्तर ढूढ़ने के लिए हम उसकी संस्थाओं का प्रतिष्ठानों पर देखना शुरू कर देते हैं। अगर कोई अनुसंधान नेचर पत्रिका में प्रकाशित हुआ और कोई अनुसंधान कार्य किसी सामान्य कोटि के अखबार में प्रकाशित हुआ तो उसमें हम उस पत्रिका के दावे को मंजूरी देते हैं जो कि उच्चकोटि का है।

जो कि औचित्यात्मक है। ये सभी तथ्य विज्ञान की प्रकृति पर पुनःचर्या को व्यक्त करते हैं। इस संदर्भ के प्रमुख वैज्ञानिक दार्शनिकों कार्ल पॉपर (1902-1994), थामस कुन (1922-1996), पाल फेयर बैंड (1924-1999) का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने इसकी प्रकृति पर पुनः चर्चा प्रस्तुत की है।

कार्ल पॉपर (1902-1994) ने प्रत्यक्षवाद तथा मार्क्सवाद को गहन रूप से अध्ययन किया और विज्ञान की विशेष वैचारिकी को सभी के समक्ष प्रस्तुत किया। आइनस्टीन के सापेक्षिता के सिद्धांत से वे बहुत प्रभावित थे। इनका मानना था कि दो शताब्दी तक अपना प्रभुत्व कायम रखने वाले न्यूटनवादी भौतिकशास्त्र पर अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं। उन्होंने विज्ञान की सापेक्ष प्रकृति की विवेचना की और कहा कि विज्ञान कोई ठोस और स्थायी चितरंजन रूप में मान्य वस्तु नहीं है। पॉपर ने यह अभिव्यक्त किया है, कि विज्ञान अटकलों का विषय है जिसमें मिथ्यासिद्धीकरण और खंडन का बोलबाला है। जैसा कि पॉपर[14] ने कहा था, ''एक सिद्धान्त की वैज्ञानिक प्रस्थिति इसके मिथ्यासिद्ध होने या खंडन के योग्य होने या परीक्षण योग्य होने पर निर्भर करती है। ऐसा सिद्धांत जिसका किसी संकल्पनीय घटना से खण्डन नहीं किया जा सकता पॉपर के अनुसार अवैज्ञानिक है।'' इनका कहना है कि ज्ञान के किसी विशेष स्रोत की अखण्डता या पवित्रता को सिद्ध करना जरूरी नहीं है, चाहे यह बेकन का अनुभववाद हो या डेस्कार्ट या बुद्धिवाद हो और यह तो कभी न सोचा जाये कि इसके द्वारा अर्जित ज्ञान निश्चिता का क्षेत्र है। इससे हठधर्मिता का विकास होता है और एक मिथ्यापूर्ण विश्वास पैदा हो जाता है कि संसार विद्यमान सिद्धांत के सत्यापन से परिपूर्ण है। पॉपर ने इस हठधर्मी विचारधारा की आलोचना की और तर्क दिया कि विज्ञान केवल खुली या मुक्त संस्कृति के साथ ही प्रगति कर सकता है, जिसमें उसकी खंडनीय (refutabilitiy) और मिथ्यासिद्धीकरण (falsifiability) की स्फूर्ति को बढ़ावा देना होगा।[15]

केवल समालोचनीय बुद्धिवाद की संस्कृति से ही विज्ञान प्रगति करता है। विज्ञान स्वयं में समालोचनात्मक और लोकतांत्रिक होता है। परीक्षण और त्रुटि, अनुमान और खण्डन से ही विज्ञान हमेशा प्रगति करता है। लेकिन नकली विज्ञान हठधर्मी होता है, यह अपनी व्याख्यात्मक शक्ति के प्रति आश्वस्त होता है, यह केवल पुष्टि और सत्यापन की अपेक्षा करता है विज्ञान की इस समझ से पॉपर ने तार्किक प्रत्यक्षवाद, निश्चयवाद और मार्क्सवाद की आलोचना की। दूसरे शब्दों में कार्ल पॉपर ने विज्ञान को एक नया अर्थ प्रदान किया। उसने विज्ञान को प्रत्यक्षवादी निश्चितताओं से मुक्त कराने का प्रयास किया है। उसके लिए विज्ञान सापेक्ष है, विज्ञान मिथक बनाने जैसा है। संज्ञानात्मक निश्चितता से उत्पन्न घमण्ड विज्ञान का संवर्धन नहीं करता, बल्कि विज्ञान की वृद्धि विनम्रता की उस भावना से होती है मिथ्यासिद्धीकरण और खंडनीयता की संभावनाओं को प्रोत्साहित करें।

थामस कुन (1922-1996) ने भी वैज्ञानिक दर्शन पर कार्य किया है। इनके लिये सामान्य विज्ञान ऐसे निदर्शन की केन्द्रीयता पर निर्भर करता है जिसे कोई विशेष वैज्ञानिक समुदाय सत्य मानता है। कुन के शब्दों में, ''निदर्शन (Pradigm) तो वास्तविक वैज्ञानिक आचार के कुछ स्वीकृत उदाहरण है जैसे- कानून, सिद्धांत, अनुप्रयोग और क्रियान्वयन आदि। ये निर्देशन एक ऐसा मॉडल प्रदान करते हैं, जिनसे वैज्ञानिक शोध की सुसम्बद्ध परम्परा विशेष का विकास होता है। निदर्शन की केन्द्रीयता, इसके प्रति प्रतिबद्धता और इसकी विशिष्टता विज्ञान को ठोस आधार प्रदान करती है इसकी दिशा निर्धारित करती है, इसमें खण्डनीयता या मिथ्याकरण नहीं होता है।''[16]

पाल फेयर बैंड (1924-1999) ने वैज्ञानिक विधि के आधिपत्य की आलोचना की। इनके लिये कोई भी विधि, यहाँ तक कि सर्वाधिक विधि भी दूसरी विधियों को अपने अधीन नहीं कर सकती और उसको हाशिये पर नहीं रख सकती है। इन्होंने वैज्ञानिकवाद को अपनी स्वीकृति नहीं दी, जिनकी यह मान्यता है कि विज्ञान ही ज्ञान का वैध रूप है। इसके स्थान पर इन्होंने विज्ञान की राजनीति, शक्ति के साथ इसके संबंध और प्रचार तथा अन्य युक्तियों से इसके द्वारा ज्ञान के सभी वैकल्पिक रूपों की हत्या करने रहस्योद्घाटन किया। इन्होंने जोरदार ढंग से कहा कि वैज्ञानिकवाद लोकतांत्रिक समाज की भावना के विरूद्ध काम करेगा क्योंकि लोकतंत्र में ज्ञान, पद्धतियों, विधियों और शोध की परम्पराओं में बहुलता होती है। फेयरबैंड के अनुसार प्रत्येक परम्परा, प्रत्येक दंत कथा की अपनी वैधता होती है। कुछ भी मृत या अर्थहीन नहीं है।[17]

पॉपर के लिए विज्ञान उस अनुमान की भाँति है जिसका खण्डन हो, कुन के लिये विज्ञान संरक्षणवादी है यह इसलिए व्याप्त है क्योंकि लोगों के अन्य समूहों की तरह वैज्ञानिकों पर समकक्ष समूह और अन्य सामाजीकरण की शक्तियों का दबाव पड़ता है। फेयर बैंड के लिये विज्ञान के आधिपत्य और हिंसा का अपना इतिहास है।

उत्तर आधुनिकतावादी चिंतन ने विज्ञान की सत्ता को सांस्कृतिक संदर्भों को लेते हुए इसे धराशाही करने का कार्य किया है। प्रत्यक्षवादी दर्शन की जगह समाजविज्ञानों में गैर प्रत्यक्षवादी दर्शन का प्रवेश होता जा रहा है तथा विज्ञान को इस संदर्भ में स्वयं को स्थापित करना इसकी सबसे बड़ी दुविधा है। सांस्कृतिक विविधता होने के परिणामस्वरूप विज्ञान दर्शन में ऐसा कोई प्रारूप अभी तक विकसित नहीं हो पाया जो कि वैश्विक स्तर पर प्रयोग हो, जो कि एक समान रूप से ज्ञान का निर्माण कर सके। इन सांस्कृतिक तथा मानवीय व्यवहार की जटिलताओं ने सामाजिक विज्ञान में विज्ञानदर्शन की चुनौतियों को प्रस्तुत किया है। जो कि गत्यात्मक स्वरूप की भविष्यवाणी करने की पूर्णरूप से सार्थक नहीं हो पा रहा है, सामाजिक विज्ञानों में विज्ञान को किस प्रकार स्थापित कर पायेगा यही इसके दर्शन की सबसे बड़ी दुविधा है।

सन्दर्भ-

1. दुर्गादत्त पाण्डेय (2009), 'आधुनिक पाश्चात्य दर्शन', शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या 5-6
2. Francis Bacan (1970), "On the Interpretation of Nature and Empire of Man" (Translated) MJE Publication, Page No. 99
3. ibid, 90
4. T. Schwandt (1997), "Qualitative Inquiry, A Dictionary of terms", Sage Publications, California, Page No. 39
5. Rane Descartes (1641), Mediation on the first Philosophy (English Translation in 1991), OUP, London, Page No. 439-440
6. Teddiec & Tashakkon (2005), Foudnation of mixed method research, Sage Thousand Oaks California, Page No. 49
7. ibid-49
8. या मसीह (2005), 'पाश्चात्य दर्शन समीक्षात्मक इतिहास', मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृष्ठ संख्या 197
9. Teddiec & Tashakkon (2005), Foudnation of mixed method research, Sage Thousand Oaks California, Page No. 50
10. ibid, 51-52
11. या मसीह (2005), 'पाश्चात्य दर्शन समीक्षात्मक इतिहास', मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृष्ठ संख्या 299-300
12. Hollis M. (2002), The Philosophy of Science : An introduction (RV. ed.) Cambridge, UK Cambridge University Press.
13. या मसीह (2005), 'पाश्चात्य दर्शन समीक्षात्मक इतिहास', मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, पृष्ठ संख्या 301
14. Popper Karl (1970), Conjecture and refutation, Harper Torch Books, New York, Page No. 32
15. Popper Karl (1989), The logic of scientific discovery Basic Books (New York).
16. Khun Thomas (1970), The structure of Scientific Revolution Chicago University of Chicago Press, Page No. 10
17. ParthaNath Mukrjee (2000), Methodology in Social Research, Saga Publication, N

●

दैवव्याश्रय-चिकित्सा अन्तर्गत होम (हवन) चिकित्सा का महत्व

रंजना आचार्या[*] *एवं* डॉ0 के0एच0एच0वी0एस0एस नरसिम्ह मूर्ति[**]

यज्ञ का विज्ञान अत्यन्त प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण का है क्योंकि मन्त्रों की शक्ति को जब हवन कुण्ड में समिधा और हविष्य के साथ अग्नि में मिलाया जाता है तब सक्रिय शक्ति-तरंगें उत्पन्न होता है। जो दूसरे मंत्रों की तरह संसार के किसी भी दूसरे कोने में सरलतापूर्वक भेजने योग्य होती है एवं किसी भी विशिष्ट व्यक्ति के शरीर में डाली जा सकती है। इसका प्रयोग अच्छी बरसात, उत्तम अनाज, उत्तम स्वास्थ्य एवं प्राणजीवन आदि की धरा पर वृद्धि कराने हेतु किया जाता है। यज्ञ आत्मा का कल्याण तथा शरीर और मन को भी स्वच्छ एवं निर्मल बनाकर शान्ति, सुख-वैभव प्रदान कराता है। इसीलिए ऋषि-मुनि ने इसको ज्यादा महत्व दिया था क्योंकि वर्तमान समय में इसे भौतिक शक्तियों का प्रदात्ता भी कहा जा सकता है।कहा गया है की ठोस और द्रव की विधाओं से बढ़कर, वाष्पीकृत औषधि अधिक प्रभावकारी, गहरी और व्यापक होती है। चूंकि यज्ञ द्वारा उपचार की क्रिया की प्राचीन काल से ही मान्यता है जो की एक प्रतिष्ठा विद्या के रूप में प्रचलित रहा है। इसके अन्तर्गत अनेक वन औषधियाँ वाष्पीकृत स्थिति में फेफड़ों से होती हुई मस्तिष्क आदि अंगो में होकर शरीर के जीवकोषों तक पहुँचती है व अपनी सीधी पहुँच के कारण ही प्रभावकारी होती है।

अग्निदेव मनुष्य की भावनाओं एवं कामनाओं से युक्त आहुति को देवता तक संप्रेषित करते है, जिससे देवताओं द्वारा मनुष्यों पर प्राण, आयु, बुद्धि-बल, ज्ञान और सुखों की वृद्धि होती है। विदित है की यज्ञ का मुख्य लक्ष्य आत्म कल्याण ही है। शतपथ ब्राह्मण में पंचमहाभूतों के अन्तर्गत अग्नि को तीसरा स्थान प्राप्त है। यथा- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। अग्नि की प्रथम उत्पत्ति प्राण अथवा वायु से माना गया है क्योंकि इनके बिना अग्नि जलती ही नही है। अग्नि में जो ज्योति है वह प्राण का ही उपस्थित रूप है। अतः अग्नि ही पुरुष रूप में मनुष्य के शरीर में धारित होती है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है और उसी में समाहित होती है। क्योंकि प्रत्येक भूतत्त्व दूसरे भूतत्व में समाया है।

यज्ञ का अर्थ –

1. **यज्ञों वै श्रेष्ठामं कर्म।[1] (शतपथ 01/6/1/5)**

   अर्थात् यज्ञ ही संसार का सर्वश्रेष्ठ शुभ कार्य है।

2. **सर्वेषां देवानां आत्मा यद् यज्ञः।[2] (शतपथ– 13/3/2/1)**

   अर्थात् सब देवताओं की आत्मा यज्ञ ही है।

3. **असस्थितोऽथ वा एषः यज्ञः।[3] (तै0 ब्रा0 1/4/9)**

   अर्थात् यज्ञ का पुण्यकाल कभी नष्ट नहीं होता

4. **तां वेद विहित मिष्टमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ।[4] (परम पुराण)**

   अर्थात् आरोग्य चाहने वाले को वेदोक्त रीति से हवन करना चाहिये।

यज्ञ का वैज्ञानिक स्वरूप : –

मन के अन्दर ही सूक्ष्म परत को भावना के द्वारा गहन परतों में प्रविष्ट करा कर धर्मानुष्ठानपूर्वक मंत्र द्वारा उपचार, यज्ञ द्वारा उपचार एवं पाप निष्क्रमण की प्रायश्चित प्रक्रिया को आयुर्वेद में देवव्यापाश्रय चिकित्सा के नाम से जाना जाता है। प्राचीन आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति में मानस रोगों के औषधि उपचार पद्धति के मूल कारणों की ओर इंगित करके यह बताया गया है कि यज्ञ एवं प्रायश्चित जैसे धर्मानुष्ठानपरक उपाय उपचार के माध्यम से जीवन चक्र को अत्यधिक पवित्र एवं सुन्दर बनाने का क्रम भी रोग निवारण के लिए महत्त्वपूर्ण और जरूरी माना गया है। इसे घरेलू उपचार के रूप में भी जाना जाता है। इसके द्वारा शारीरिक एवं मानसिक आधि-व्याधि का निराकरण होता है तथा जीवनीशक्ति भी बढ़ती है।

योगवाशिष्ठ के अन्तर्गत– मन ही समस्त विचारों के उत्पत्ति का उद्गम स्थल है एवं परमात्मा की कल्पना का केन्द्र भी कहा गया है। ये मन जब रजोगुण और तमोगुण से भरता है तब अनेक विकृतियों का कारण बन जाता है। मानसिक रोग के साथ उत्पन्न व्यथा शरीर के माध्यम से बाह्य रूप से भी दिखाई देने लगती है।

महर्षि चरक के अनुसार – 'मानसः पुनरिष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते।'[5]च.सं.सू. (11/41)

---

* शोध छात्रा, कायचिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** प्रोफेसर, कायचिकित्सा विभाग, आयुर्वेद संकाय, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अर्थात् मन के अनुकूल वस्तु का प्राप्त न होने पर मानसिक रोग उत्पन्न होता है। शरीर और मन परस्पर घनिष्ठता से जुड़े रहने के कारण एक की विकृति का असर दूसरे पर भी पड़ता है एवं दिखाई देता है।

सुश्रुतसंहिता–सूत्रस्थान, 1/56 के अन्तर्गत– 'त एते मनः शरीराधिष्ठानाः' अर्थात् शरीर और मन ही रोगों के आश्रयस्थल है। वात, पित्त और कफ की विकृति जिस प्रकार शारिरिक रोगों का मुख्य कारण है उसी प्रकार रज और तम मानसिक रोग का मुख्य कारण हैं।

चरक संहिता के सूत्रस्थान 1/58 में वर्णित है कृत कर्मों की शान्ति के लिए दैवव्यापाश्रय औषध बताई गई है, इस चिकित्सा के अन्तर्गत मंत्र, औषध, मणिधारण, मंगल कर्म, बलि एवं हवन कर्म का विधान है। प्रायश्चित, उपवास एवं ईश्वर भजन द्वारा शरीर की शुद्धि होती है। इस चिकित्सा के अन्तर्गत पूर्वकृत कर्मो को दूर कर रोग दूर करने का प्रयास किया जाता है।

शरीर में बल का संचालन, चमक, गर्मी अन्न का पचाना अग्नि के गुण है। जो शरीर को शक्तिशाली व हल्का रखता है। तथा मानसिक शक्तियों को ऊपर उठाकर देवशक्तियों से जोड़कर आत्मा का विकास करता है। ये गुण पाँच प्राण एवं पाँच उपप्राण की अलग-अलग क्रियाओं एवं गुण के रूप में कार्यान्वित करता है जो ये सभी यज्ञ, प्राणायाम, ध्यान, वैदिक मंत्रों के उच्चारण आदि के रूप में व्यवहारिक रूप से विज्ञान के रूप में ही व्यवहारित है। जन्म के बाद जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, मुण्डन, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत आदि अनेक संस्कार बाल्यावस्था में सम्पन्न किये जाते है। सभी संस्कार में यज्ञ का अनिवार्य विधान है, जिसके द्वारा बालक को शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य संवर्धन का लाभ बराबर मिलता रहता है। जिससे उसके विकास की पृष्ठभूमि यहाँ तैयार हो जाती है एवं मनुष्य को अपनी सामर्थ्य बढ़ने के साथ आयु भी बढ़ती जाती है।

यज्ञ चिकित्सा के द्वारा मनुष्य के अन्तराल के बदलते हुए परिवर्तित रुप तथा अदृश्य वातावरण का सामंजस्य किया जाता है जो उनके अनुकूल होते है तथा शरीर के प्राण रूपी ऊर्जा से मनुष्य के जीवन में स्थिरता रहती है चूंकि वातावरण के प्रभाव को सिर्फ शरीर ही नहीं चेतना भी अनुभव कर पाती है। अतः उसकी स्थूल प्रतिक्रिया स्वास्थ्य के बदलाव के रूप में एवं मनोवृत्तियों परिस्थितियों के बदलाव के रूप में प्रत्यक्ष रूप से दिखती है।

यज्ञ चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य पर प्रभाव :–

यज्ञ के आरोग्य वर्धक और रोग निवारण गुणों का वर्णन करने वाले मंत्रों के द्वारा लाभ इस प्रकार बताया गया है– ''ममाग्ने वर्चो विहवेष्वरतु वयं त्वेन्धाना रतन्वं पुषेम।।[6] अथर्व 5/3/1, अर्थात् हे अग्नि! हम आपको यज्ञ में प्रदीप्त करते है, आप हमारे शरीर को पुष्ट और तेज को प्रदीप्त करो।

प्राचीन काल में रोग फैलने के समय बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया जाता था जिसे आरोग्य लाभ प्राप्त होता है। जिन्हें आज हम यज्ञ के नाम से जानते है। भैषज के सम्बन्ध में कहा गया है कि– ''अग्निष्कृणोतु भैषजम्''[7] अर्थात् यज्ञाग्नि औषधि का काम भी करती है। (अथर्व 6/106/1)।

यदि क्षितामुर्यदि वापरेतो यदि, मृत्योन्तिकं नीत एव।
तभा हरामि निऋंतेरुपस्था, दस्यार्ष मेन शतशारदाय।।[8]

अथर्व 3/11/2

अर्थात्– अग्निहोत्र के माध्यम से, आयु क्षीण हुए जीवनी शक्ति नष्ट हुए तथा मृत्यु के समीप पहुँचे हुए व्यक्ति रोग के चंगुल से छूटते है। रोगी मृत्यु के मुख से पुनः वापस आते है और 100 वर्ष जीवित रहने की शक्ति प्राप्त करते है।

व्यक्तिगत रोगों के लिए भी प्राचीन समय में हवन किया जाता था। यह देखा जाता था कि रोगी के शरीर में कौन सी व्याधि बढ़ी हुई है, तथा कौन से तत्व घटे हुए है। उसकी पूर्ति करते हुए घटे हुए तत्व का सन्तुलन ठीक करने के लिए औषधि का चयन का निर्णय किया जाता था तथा यज्ञ सामग्री में उसी प्रकृति के वेद मन्त्रों से आहुतियाँ दिलाकर हवन कराया जाता था। रोगी को उसी यज्ञ के धुमें के वातावरण में रखकर उसी वायु से सुवासित जल वायु एवं आहार ग्रहण कराया जाता था। आरोग्य रक्षा हेतु जैसा की विदित है की जब मनुष्य अपनी संवेदना को जीवन में उचित स्थान नहीं देता तब तक उसके उत्तम स्वास्थ्य की उपलब्धि अधूरी रही रहती है। इसीलिए मनुष्य को उदारता सेवाभाव, करुणा, दया को अपने जीवन में समावेश कर उत्तम स्वास्थ्य के लिए जरुरी व महत्त्वपूर्ण मानना होगा। इसीलिए शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता को विपत्ति के रूप में शारीरिक स्वास्थ्य के अन्तर्गत माना गया है, क्योंकि ऐसे लोगों में उमंग एवं उत्साह का अभाव ही रहता है। इसीलिए शरीर एवं मन की दुर्बलता निवारण हेतु यज्ञ द्वारा उपचार भी अपनाना आवश्यक हो गया है।

यज्ञ द्वारा शोधन : –

वर्तमान समय में अनेक प्रदूषण के साथ एक और प्रदूषण तेजी से प्रचलन में आया है जिसे चिन्तन के रूप में जाना जाता है। इसे विचारों का, आस्थाओं का, भावनाओं का प्रदूषण के रूप में जाना जाता है। हविष्य में रोग विशेष के लिए प्रयुक्त होने वाली औषधियों आधार वस्तुतः वहीं रहता है जो रासायनिक क्रिया द्वारा विश्लेषण से प्राप्त चिकित्सा वैज्ञानिक प्राचीनकाल से करते हुए आ रहे है। उपयोगी वनस्पतियों का चयन विभिन्न रोगों के लिए उनकी

रासायनिक विशेषताओं के आधार पर ही किया जाता है। समिधाऐं भी हविष्य के रूप में ही मान्य है, क्योंकि कुछ विशिष्ट लकड़ियों का जलना भी न्यूनाधिक रूप से वन की औषधियों के समान ही प्रभाव उत्पन्न करता है। इसीलिए हविष्य में पत्तियाँ, फल-फूल के साथ लकड़ियों का प्रयोग होता है। जैसे चन्दन, देवदारु, अगर-तगर, आम, शमी, गूलर, पीपल, बिल्व इत्यादि।

शरीर की आन्तरिक क्रिया के अन्तर्गत रक्त में गैसा का अनुपात स्वस्थ एवं रोगी व्यक्ति में अलग होता है। आक्सीजन को उत्तकों, जीवकोषों के लिए प्राणवायु माना गया हैं और कार्बनडाइऑक्साइड गैस इन्हीं अंगों को चयापचय क्रिया की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होती है। विकार युक्त द्रव्य इसी गैस के रूप में श्वास मार्ग से बाहर आती है। यज्ञ प्रक्रिया के फलस्वरूप औषधियाँ वाष्पीकृत हो कर धुयें के रूप में चारों ओर फैल जाती है। व्यक्ति के शरीर में मुँह तथा श्वांस मार्गो एवं रोमकूपों से प्रवेश होकर ये धूआँ सूक्ष्मतम अंगो तक पहुँचते हैं तथा वातावरण में भी चारों ओर फैल कर शुद्धता प्रदान करते है। यज्ञ के द्वारा वायुमण्डल का शोधन, वातावरण में व्याप्त विषाणु का नाश और आरोग्य रक्षा में विशेष रूप से लाभ प्राप्त होता है।

निष्कर्ष :–

आज मनुष्य की जो भी समस्या है वह सिर्फ मानसिक असंतुलन के कारण ही उत्पन्न हुई समस्या है जिसका प्रभाव शरीर पर पड़ने लगता है, जो गम्भीर बीमारियों के रूप में परिलक्षित होता है। क्योंकि मनुष्य के अन्दर असंतुलित और अव्यवस्थित सोच के कारण उनके व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अकारण, भय, चिन्ता, उत्तेजना, आकांक्षाओं के कारण व्यक्ति का मनोबल व आत्मशक्ति कमजोर होने लगती है। जो मानसिक विकृतियों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यज्ञ चिकित्सा के अन्तर्गत मन्त्रों के साथ आहुति देने से सुखद परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। इसके द्वारा मनुष्य की आत्मा में शुद्धता आती है। एवं उनके संचित कुसंस्कार नष्ट होते हैं तथा मनोविकार घटने लगते हैं। मनुष्य के अन्दर शुभ-संकल्प एवं तेज, भय, शक्ति के साथ आत्मबल की तीव्रता में वृद्धि होने लगती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. यज्ञ चिकित्सा- लेखक-ब्रह्मवर्चस[7] (2019), पृष्ठ संख्या 18-20, 26-28, 190-196, गायत्री तपो भूमि, मथुरा- 281003
2. यज्ञ : एक समग्र उपचार प्रक्रिया [(1,2,3,4)] (1998)- पं0 श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्मय प्रकाशक- अखण्ड ज्योति संस्थान; मथुरा 281043, पृष्ठ संख्या-1.48-1.49, 3.34-3.52, 4.39-4.40
3. यज्ञ का ज्ञान- 'विज्ञान[5](2005)- पं0 श्री राम शर्मा आचार्य वाङ्मय प्रकाशक- अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा पृष्ठ सं0 39-53, 290-292
4. कल्याण-योगाङ्क (2000) गीता प्रेस, गोरखपुर, 10वाँ वर्ष पृष्ठ सं0 774
5. यज्ञ का महत्त्व एवं लाभ-मनोहर आर्य- स्वतंत्र लेखक एवं वेब टिप्पणीकार http://www.pravakta.com/author/manmohanarya.
6. यज्ञ स्वास्थ्य का पर्याय[6]-वीणाविश्नोई शर्मा- Interdisciplinary journal of yogya research 1(2) : 07-14.
7. प्रलयंकर प्र. सम्पादक, मनुस्मृति 3/76 कुल्लूक भट्ट टीका, प्रथम संस्करण, न्यू भारतीय कारपेरिशन, दिल्ली।
8. गीता (2014) 4/29-30 गीता प्रेस गोरखपुर
9. ऋग्वेद[8] 10/186/1, श्री दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, सतोड़ा, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी
10. ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का सांस्कृतिक अध्ययन, दिल्ली, 1991, पृ0 236-270

ईसंचार माध्यम द्वारा लेख-

11. http://www.homeatherapie.de/.en/Agnihotrazeitenprogramm.html.
12. यज्ञ चिकित्सा से रोग निवारण- My Bapuji health care for life, April 23, 2018. Articles.
13. यज्ञ चिकित्सा- डॉ0 कुन्दनलाल अग्निहोत्री
14. धर्म ही नहीं अच्छी सेहत के लिए भी किया जाता है- यज्ञ : डॉ0 प्रणव पण्डया- 27 Oct, 2018 01:58 PM IST.
15. अग्निहोत्री चिकित्सा- सर्वायुष प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग-अनुसंधान केन्द्र-बुरहानपुर (म0प्र0)

●

भोजपुरी लोक जीवन में संस्कार, संस–ति एवं संगीत

डॉ0 कुमार अम्बरीष चंचल[*]

लोक शब्द संस्कृत भाषा के दर्शन धातु में 'धञ' प्रत्यय लगाने से हुआ है। लोक का अर्थ है 'देखना' ल्ट लकार अन्य पुरुष एक वचन में इसका रूप लोकते होता है।[1] अतः लोक का अर्थ देखना वाला। डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार ''लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, उसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है।[2]

पाणिनी ने संज्ञा प्रमाण द्वारा इस अवधारणा की पुष्टि है-

सर्वाथानां व्याकरणाद्वैयाकरण उच्यते।

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।।

अर्थात् सम्पूर्ण लोक का दर्शन करना है तो व्याकरण के नेत्रों द्वारा ही किया जा सकता है। व्याकरण में लोक चेतना के सूक्ष्म स्थूल सभी तत्व विद्यमान है। लोक परिवर्तनशील एवं चैतन्य उसकी संस्कृति से परिलक्षित होता है।

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- ''लोक शब्द का अर्थ जनपद अथवा ग्राम नहीं है, बल्कि गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है, जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं, ये लोग प्राकृतिक और सरल जीवन व्यतीत करते हैं।''

लोक की चर्चा के बाद लोक साहित्य की चर्चा भी कर लेना उचित होगा। लिपी बद्ध साहित्य लोक साहित्य नहीं है, लोक में साहित्य अर्न्तभूत भावनाएं दीर्घ काल से मौलिक धरातल पर चलती आ रही है। 'बाटिकन' ने भी लोक की मौलिक भावाभिव्यक्ति को लोक साहित्य का मूल तत्व मानते हैं। लोक में व्याप्त प्राणियों के जीवन का मुखरित व्यापार लोक साहित्य है। लोक साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है। (1) लोक गीत (2) लोक गाथा (3) लोक कथा (4) लोक नाट्य (5) विविध।[3]

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता सम्पूर्ण विश्व की सबसे प्राचीन एवं सुमुन्नता संस्कृति है क्योंकि इसका आधार स्त्रोत वेद है। वैदिक साहित्य विश्व में प्राचीनतम है। भारतीय संस्कृति ने ही सारे विश्व को मानवता एवं सभ्यता का सर्वप्रथम पाठ पढ़ाया जाता है।

संस्कृति शब्द का अर्थ सम्यक् कृति है। वैदिक दर्शन भारतीय संस्कृति को पूर्णता को प्रकाशित करने वाला अखण्ड प्रदीप हैं।[4] संस्कृति –संस्कृति शब्द संस्कृत भाषा का है। किन्तु आजकल इसका प्रयोग 'कल्चर' शब्द के अनुसार रूप में किया जा रहा है। 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन' प्रत्यय होकर 'सम्परिभ्यां करौतौ भूषणे' इस पाणिनी सूत्र से भूषण सुट् का आगम होने पर संस्कृति शब्द बनता है। इसका अर्थ मानव का वह कर्म जो भूषण स्वरूप अलंकर स्वरूप है। मनुष्य द्वारा किये जाने वाले ऐसे कार्य जिससे उसे लोक अलंकृत और सुसज्जित समझें। उन कर्मों का नाम है- 'संस्कृति' अंग्रेजी भाषा का 'कल्चर' शब्द 'कल्ट' से बनता है। इसके अनुसार किसी देश के रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, क्रीड़ा, कला-कौशल, संगीत नृत्य और गीत का अन्तर्भाव उसमें होता है। कला और संस्कृति परम्परा की तरह हमारी पहचान को लोक संस्कृति ही देश दुनिया में प्रकट करती है।[5]

संस्कृति के प्रमुख अंग लोक संस्कृतियों को मुख्यतः 6 अंगों के आधार पर विभाजित किया गया है।

1- **प्राकृतिक जीवन-** प्रकृति लोक संस्कृति का आधार है- वन, उपवन साँझ-सवेरा, पक्षी जानवर, वृक्ष-लताएँ, कृषि, ऋतुएँ सभी ने लोक संस्कृति को समृद्ध तथा विस्तारित किया है।

2- **सामाजिक जीवन-** सामाजिक, पारिवारिक जीवन, शिष्टाचार, संस्कार, मनोविनोद, प्रथाएँ, स्त्रियों की कथा-व्यथा से लोक संस्कृति समृद्ध रही है। समाज के रीति-रिवाजों, परम्पराओं, देवी-देवताओं, सामाजिक मान्यताओं, वर्ण व्यवस्था, का संस्कारों, उप संस्कारों का जगह स्थान स्थिति का आवास खान-पान, व्यंजन, वस्त्र सौन्दर्य, प्रसाधन, मनोविनोद स्त्रियों के स्थान पुत्र-पुत्री स्वभाव क्रिया-कलाप आदि का सजीव चित्रण लोक संस्कृति में दिखाई देता है।

3- **आर्थिक जीवन-** मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है समाज में जीवन यापन हेतु धन की आवश्यकता है तो अर्थ जुड़े विविध पक्ष लोक संस्कृति में दिखाई देते हैं।

4- **राजनैतिक जीवन का चित्रण-** परिवार, पंचायत, राजा, दण्ड, विधान, साम्प्रदायिक सद्भाव, सामंत तथा उनके अवशेष ज़मीदारों के अत्याचार एवं विवेक, वीरता तथा देशभक्ति की चेतना, धर्म-जाति समन्वय, प्रजा का चैतन्य, नीति निर्धारण आदि विषयों का चिन्तन लोक संस्कृति में प्राप्त होता है।

5- **धार्मिक जीवन-** जीवन से जुड़े समस्त धार्मिक कृत्यों, देवी-देवता, पूजा-पाठ गणेश, सूर्य, हनुमान, राम, कृष्ण, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवी शीतला, सरस्वती, दुर्गा, संकठा आदि के शृंगार से लेकर मनौतियों तक की व्याख्या लोक संस्कृति की धरोहर है।

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

6- **सौन्दर्यनुभूति का चित्रण-** कला-लोक कला, वास्तुकला, मूर्ति कला, चित्रकला, गायन, वादन, नृत्य, रामलीला, नौटंकी, रासलीला, डोमकछ, विदेसिया, मॉड, खटकिन, अभिनय विधान से जुड़े तत्वों, कथानक, काव्य, पद्य, रस, तत्व, अलंकार छन्द आदि का विस्तृत सौन्दर्यात्मक चित्रण लोक संस्कृति में प्राप्त होता हैं।

भोजपुरी समाज में खान-पान विविधता लिये होता है। खान-पान के माध्यम से किसी भी समाज के चरित्र का मूल्यांकन हो सकता है। भोजपुरी लोग बहुत ही सरल स्वभाव के होते है। उनका खान-पान भी वैसा ही सरल होता है। भोजपुरी समाज में 'मसालेदार' खाने का विरोध मिलता है। भोजपुरी लोग सादा खाने के कारण स्वास्थ्य के धनी होते हैं। भोजपुरी समाज में सत्तू, खिचड़ी, बाटी-चोखा, मालपुआ आदि काफी प्रसिद्ध व्यंजन हैं। खिचड़ी के बारे में कहा गया हैं कि –

खिचड़ी के चार इयार, दही, पापड़, घी, आचार।

भोजपुरी की वेष भूषा सरल एवं आकर्षक होती है। भोजपुरी क्षेत्र में पंडितों के द्वारा पगड़ी बाँधी जाती है। उन पर इसी कारण व्यंग्य भी किया गया है-[6]

''बड़ा धोता, बड़ा पोथा। पण्डिता पगड़ा बड़ी''।।

लोक साहित्य में लोक गीतों का प्रमुख स्थान है। लोक गीत हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष का स्पर्श करते है। अतः यह लोक गीत काल-समय, रहन-सहन आदि के अनुसार निम्नलिखित नामों के रूप में वर्गीकृत हुई। संस्कार गीत, व्रत एवं त्यौहार गीत, ऋतु गीत, जाति गीत, श्रम गीत, विविध लोक गीत है। हमारी संस्कृति में व्रत, पर्व त्यौहार का प्रचलन रहा है। यहाँ तक कि एक लोकोक्ति बन गयी है-

''हिन्दुओं में सात बार, नौ त्यौहार है''[7]

पूरे वर्ष में एक दिन भी ऐसा नहीं हैं, जो पर्व न हो, कोई तिथि ऐसी नहीं है, जिसमें कहीं भी किसी के द्वारा पर्व आयोजन न मनाया जाता हो। कार्तिक शुक्ल षष्ठी को छठी माता व्रत किया जाता है। वास्तव में यह सूर्य व्रत है, परन्तु षष्ठी तिथि सम्पादित किये जाने के कारण ही इसे छठी माता व्रत कहते हैं।

रोई-रोई बोलेली छठीय मईया, सुन ए सेवक लोगए।

मोरा घाटे दुबिया ऊपजिऽ गइले, मकड़ी बसेड़ लेई।।[8]

वर्षा ऋतु में गाये जाने वाले गीतों को 'कजली' वसन्तु ऋतु में गाये जाने वाले गीतों को फगुआ या फाग या होरी, चैत्र मास में गाये जाने वाले गीतों को चैता-चैती कहते हैं।

चैता गीत-

1.ए रामा सासुए हो ननदिया, जनमवा के बैरी हो रामा, आधी रातिऽ

फूलवा लोढ़न ऽमोहे भेजे ए रामा, आधी रातिऽ।

2. रामा पिया परदेशे देवर घर लरिका ए रामा, केकरा से

कहबि दिलवा के बतिया ए रामा, केकरा से।।[9]

हिन्दू समाज में संस्कार का अर्थ उस क्रिया से लगाया जाता हैं, जिससे शुद्धता प्राप्त कर व्यक्ति उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। महर्षि व्यास के षोड्श संस्कार इस प्रकार बताये गये हैं-

''गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जात कर्म च।

नाम क्रिया निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपन क्रिया।।

कणवेधो व्रतादेशो वेदरम्भ क्रियाविधः।।

केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्रिपरिग्रहः।।

त्रेताग्निसंग्रहश्चेति संस्कारा षोड्शस्मृताः।। अर्थात्

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्रासन, चुड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ (विद्यारम्भ) समावर्तन, विवाह तथा अग्न्याधान। अग्न्याधान के अन्तर्गत तीन अग्रियाँ (गार्हपत्य आहवनीय, अक्षिपाग्रि) स्थापित की जाती थी। इन अग्रियों का व्यावहारिक वानप्रस्थ, अन्त्येष्टि और मरणोतर संस्कारों में होने से संस्कारों की मान्य संख्या सोलह सिद्ध हो जाती है। इन नामों में कहीं-कहीं विभिन्नता भी दिखाई देती है। हिन्दू धर्म में इन संस्कारों के समय गीत, संगीत एवं नृत्य का भी विधान मिलता है। किन्तु मृत्यु अर्थात् अन्त्येष्टि संस्कार का समय प्रायः गीत नहीं गाये जाते, उस समय केवल निर्गुण गाये जाते हैं। संस्कारों का परिचय एवं गीत इस प्रकार है।[10]

1. **गर्भाधान संस्कार-** यह संस्कार संतानोपत्ति हेतु किया जाता है। पुरुष द्वारा स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, गर्भाधान संस्कार कहते हैं।

केवना बने उपजेला केसर, केवना बने कुसुम हो

ललना केवना बने उपजे गुलाब, चुनरिया हम रंगाईबे हो।

बाबा बने उपजेला केसर, भईया बने कुसुम हो

ललना सईंया बने उपजे गुलाब, चुनरिया हम रंगाईब हो।।[11]

2. **पुंसवन संस्कार-** स्त्री द्वारा गर्भाधारण के तीसरे, चौथे अथवा आठवें माह में पुत्र प्राप्ति की इच्छा हेतु यह संस्कार किया जाता है।

मोरा पिछुबरवा गुलाबवा के पेड़वा, चुवेला रसबुनवा गुलाब चुवेला।

आही रसबुनवा में पगिया रंगवलो, बाँधेले होरिलवा के बाप बाँधेले।।[12]

3. **सीमन्तोन्नयन संस्कान-** यह संस्कार गर्भवती स्त्री के रक्षा के लिये किया जाता है। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन ये तीनों संस्कार शिशु जन्म से पूर्व किये जाते हैं।

सुतल रहली अटरिया सपनावा एक देखीला हो,

सासू सपना के करहूँ विचार, सपनवा बड़ा सुनर हो॥

सासु जटल-जुटल दुई जोगिया, दुअरवा हमरे आवेले हो।

एक फूल फूलेला अंगनवा दूसर फूल ओसरवा नू हो,

सासू तीसर फूल फूलेला अंगनवा, चउथा हमरे आँचल हो॥[13]

4. **जन्म संस्कार-** शिशु के जन्म के उपरान्त होने वाला प्रथम संस्कार है। इसमें मुख्य रूप से सोहर गाया जाता है।

कहवां ही जनमे ले राम त कहवा कन्हैया जनमें हो

ललना कहवा ही जनमें गणेश त तीनों घारवा सोहर हो।

अवध में जनमें ले राम त गखुला कन्हईया जनमें हो

ललना परवत पर जनमें गणेश त तीनों घारवा सोहर हो।[14]

5. **नामकरण संस्कार-** यह संस्कार नवजात शिशु के नाम रखने पर किया जाता है।

आईं-आईं पंडीजी बईठी मोरे अंगना

बबुआ के नामवा बिचारी शुभ अंगना॥[15]

6. **निष्क्रमण संस्कार-** यह संस्कार नवजात शिशु के गृह से बाहर निकाले जाने पर किया जाता है।

काजर के कजरवटा से कजरा लगाई

बबुआ के अँखिया लाई घुमन जाई॥[16]

7. **अन्नप्राशन संस्कार-** इस संस्कार के समय शिशु को ठोस अन्न खिलाया जाता है।

बाबा के गोदिया बईठल किलके ललनवा,

सखिया सलेहर गावे मंगल गीत गानवा।

चाँदी के कटोरवा में खीर खाला ललना,

बाबा के गोदिया बईठल किलके ललनावा,[17]

8. **चूड़ाकर्म संस्कार-** इस संस्कार को मुंडन अथवा चौल संस्कार के नाम से भी जाना जाता है। इस संस्कार का आयोजन का उद्देश्य यह है कि इससे हर्ष, सौभाग्य और उत्साह की वृद्धि होती है।

केकरा हाथ छूड़ा कैची केकरा हांथे केस

मोरा बबुआ के आजु होला मण्डल कटे केस।[18क]

9. **कर्णवेध संस्कार-** यह संस्कार रोगादि से बचने और आभूषण करने के उद्देश्य से होता है।

आज कर्णवेध संस्कार मोरे ललना के

धीरे-धीरे छेदहि सोनरा कान मोरे ललना के॥[18ख]

10. **उपनयन संस्कार-** इस संस्कार का मुख्यतः प्रयोजन या शिक्षा आरम्भ होने से पूर्व किया जाता है। बालक के शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो जाने पर यह संस्कार किया जाता है। यह संस्कार शूद्रों के लिए वर्जित है। इस संस्कार के बाद व्यक्ति द्विज हो जाता है अर्थात् उसका दूसरा जन्म माना जाता है।[19]

पुछेली कोशिला रानी दशरथ जी से बो हे॥

कइसे-कइसे होला सिरीराम के जनेव हे॥

हांथे पारसु डंण्डा गले मृगछाला है।

सोने के खड़ऊँवा सिरीराम के जनेव है॥[20]

11. **वेदारम्भ संस्कार-** गुरू के सानिध्य में पहुँचकर शिष्य का वेदाध्ययन प्रारम्भ करना भी एक संस्कार माना जाता है।

12. **समावर्तन संस्कार-** यह संस्कार बालक के ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति का सूचक हैं, यह संस्कार अधिकांशतः 25 वर्ष की आयु में किया जाता है।

काशी गाया पढ़ी लिखी अइले सुनर बरूआ,

जुड़ावे लगली ना माई अपनी नयनवा॥[21]

13. **विवाह संस्कार-** यह संस्कार हिन्दू धर्म के अनुसार आठ भागों में विभाजित है। ब्रह्मविवाह, देवविवाह, आर्षविवाह, प्रजापत्य विवाह, असुर विवाह, गन्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पिशाच विवाह।[22] विवाह भोजपुरी समाज का महत्वर्पूण संस्कार है। यह समाज सीधे-साधे एवं सरल लोगों के लिये मशहूर रहा है। भोजुपरी शादी एवं कर्मकाण्ड काफी सरल ढंग से एवं कम खर्चीले होते थे। इसका कारण भोजुपरियों के किसान प्रवृत्ति थी। अब यह स्थिति पूर्णतः बदल चुकी है। विवाह आज भोजपुरी समाज में सामाजिक प्रदर्शन और देहज जैसी कुप्रथाओं के कारण विभत्स रूप धारण कर चुका है। आज इस भोजपुरी किसान के प्रवृत्ति पर आद्ध-सामंतीय पूँजीवादी प्रवृत्ति हावी हो चुकी है। सामाजिक प्रदर्शन का उल्लेख प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में किया है। गोत्र एवं कुण्डली जैसे शास्त्रीय संयोग का मिलान तो कम हुआ है, लेकिन उसकी जगह दहेज जैसी सामाजिक कुरीति

ने ले लिया है। दहेज जैसी कुरीतियों के दबाव का दर्द एक लोक गीत में व्यक्त हो रहा है, जैसे-

''जाहि घर कनिया हो कुँवारी, सो कइसें सोवे निरभेद॥''[23]

14. **वानप्रस्थ संस्कार-** यह संस्कार व्यक्ति को वनों में जाकर ईश्वर उपासना करने से है।

15. **सन्यास संस्कार-** यह सन्यास आश्रम में प्रवेश से है।

16. **अन्त्येष्टि संस्कार-** यह मनुष्य के जीवन का अन्तिम संस्कार है। जो व्यक्ति के मृत्योपरान्त किया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. लोक साहित्य की भूमिका– डॉ0 कृष्ण देव उपाध्याय
2. भिम्मा एवं देवार जनजाति की सांस्कृतिक परंपरा- प्रकाश लता साहित्य सदन लोनी बार्डर, गाजियाबाद।
3. भोजपुरी लोक-संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत- डॉ0 संजय कुमार सिंह, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली- पृ0 सं0 2
4. भारतीय लोक संगीत- वीणा श्रीवास्तव, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, पृ0 सं0 146।
5. कल्याण संस्कार अंक, गीता प्रेस गोरखपुर, जनवरी 2006, पृष्ठ संख्या 77।
6. पूर्वांचल के लोक गीतों में अभिव्यक्ति, भारतीय समाज एवं संस्कृति- जय कृष्ण सिंह, पृ0 सं0 50-51।
7. धर्मचक्र प्रवर्त्तन- पं0 श्री राम शर्मा आचार्य, पृ0सं0 3.8
8. पारंपरिक।
9. बबन साह गोंड, बलिया, बैरिया, मिर्जापुर के साचवार्ता।
10. कर्मकाण्ड भास्कर- पं0 श्री राम शर्मा आचार्य, पृ0सं0 134।
11. पारंपरिक।
12. पार्वती वर्मा, बलिया, बैरिया, मिर्जापुर, के साचवार्ता।
13. वही।
14. पारंपरिक।
15. नन्द कुमारी देवी, ग्राम+पोस्ट- शेर, बांसडीह बलिया, वार्ता।
16. वही।
17. वही।
18. (क) पवन कुमारी देवी, दयाछपरा, बैरिया, बलिया, वार्ता।
18. (ख) वही।
19. षोड्श संस्कार विवेचन पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय, पृ0सं0 9.1
20. पवन कुमारी देवी, दयाछपरा, बैरिया, बलिया, वार्ता
21. पवन कुमारी देवी, दयाछपरा, बैरिया, बलिया, वार्ता
22. कल्याण संस्कार- अंक- जनवरी, 2006, पृ0सं0 114-115
23. पूर्वांचल के लोकगीतों में अभिव्यक्ति, भारतीय समाज एवं संस्कृति- जय कृष्ण सिंह, पृ0सं047

●

भारतीय संगीत का चिकित्सा में प्रयोगः एक अध्ययन

डॉ0 रामशंकर[*]

संगीत का उपयोग मानव की भौतिक,मानसिक और मनोवैज्ञानिक दुर्बलताओं से मुक्त होने के लिए किया जाता रहा है। प्राचीन काल से ही मानसिक ताजगी व शारीरिक स्फूर्ति के लिए मानव गायन, वादन, नृत्य उत्सव करता रहा है। वेदों में भी संगीत को स्वस्थ जीवन शैली का परिचायक बताया गया है। भारतीय कलाओं का आधार सदैव आध्यात्मिक और धार्मिक रहा है। भारतीय संगीत की भी विशेष विशिष्टता रही है उसकी आध्यात्मिक अभिव्यंजना। इस कारण यह मानव जीवन से अभिन्न रही। प्राचीन ग्रंथकारों ने नाद, श्रुति, स्वर आदि का विशद विश्लेषण करके ध्वनि उत्पन्न के सिद्धांत को शरीर विज्ञान के साथ संबंधित किया है। भरत, दत्तिल, लोचन तथा नानदेव जैसे आचार्य ने संगीत को विज्ञान का दर्जा दिया है। आज विश्व में भारतीय संगीत की वैज्ञानिकता सिद्ध है। ग्राम, राग, मूर्च्छना, रागों की अवधारणा, रागों का समय सिद्धांत, श्रुतियों का विवेचन, ध्वनि सिद्धांत, स्वर संवाद, थाट पद्धति, ताल व लय का सौंदर्य, सारणा चतुष्टयी, आदि समस्त बातें विज्ञान के अनुकूल है। भारतीय संगीत एक भाव प्रधान कला है। इसमें सृजनात्मक व कल्पना शक्ति का प्रचुर महत्व है। संगीत के माध्यम से मस्तिष्क एवं नाड़ी संस्थान पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला जा सकता है।[1]

मानव मन, प्रकृति व संगीत का आपस में परस्पर संबंध सदैव ही रहा है जिस प्रकार प्रकृति अपने अभूतपूर्व सौंदर्य से मानव को अपनी ओर आकर्षित करती रही है उसी प्रकार संगीत भी मानव मन को अपनी ओर खींचता रहा है। उसे अपनी सुमधुर झंकार से रससिक्त करता रहा है।

संगीत की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम बद्ध अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता हैं कि मनुष्य संगीत का उपयोग मनोरंजन के अतिरिक्त भी विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्राचीन काल से ही करता आ रहा है। संगीत का उपयोग चिकित्सा हेतु करना भी उन विभिन्न उद्देश्य पूर्ण उपयोगों में से एक है। कला व विज्ञान के समन्वय से संगीत चिकित्सा का प्रचलन आरंभ होता है।

संगीत चिकित्सा के अंतर्गत सहायक तत्वों में राग के विशिष्ट तत्वों की भूमिका निर्विवाद है। इसके महत्वपूर्ण घटक स्वर, लय, ताल, पद (बंदिश) रस -भाव इत्यादि राग को उपचारी रूप प्रदान करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। अतः राग के नियमित इन तत्वों की विशिष्टता का उल्लेख क्रमशः इस प्रकार है - राग संगीत का मुख्य उपादान स्वर है। इन सात स्वरों के 5 विकृत रुप भी होते हैं अतः शुद्ध विकृत मिलाकर कुल 12 स्वर होते हैं। गायन/ वादन की आधारशिला बाइस श्रुतियाँ तथा सात स्वर हैं। यह स्वर ताल श्रुतियाँ हमारे शरीर के विभिन्न गात्रों, चक्रों तथा ग्रंथियों से निस्तारित होकर कंठ स्थित मूर्धा, तालू, जिह्वा तथा ओष्ठ आदि से होकर साकार रूप में मुख से उच्चारित होती हैं। श्रुतियों के संदर्भ में पंडित अहोबल ने कहा है-

हृद्यूजऩाडिकास्वट्टाविंशत्यणुतिराजज्ञाडीषु ।

तावन्तः श्रुतिसंज्ञाः स्युनीदा. परपरोच्चोच्चा।।[2]

अर्थात हृदय की उर्ध्वस्थित में तीन नाड़ीयों (इंगला, पिंगला तथा सुषुम्ना) के संयोग से 22 ग्रंथियां निर्मित हैं जिनसे 22 श्रुतियाँ निर्धारित होती हैं।

नारद ने अपने ग्रंथ 'संगीत मकरंद' में इस बात का उल्लेख किया हैं कि किस जाति के राग का गायन किस फल की प्राप्ति के लिए किया जाना चाहिए। इनके अनुसार - आयु, धर्म, यश, बुद्धि, धान्य, फल, लाभ व संतान की अभिवृद्धि के पूर्ण रागों का गायन करना चाहिए। संग्राम, रूप लावण्य, विरह और किसी के गुण - कीर्तन की दशाओं में षाडव रागों का गायन करना चाहिए तथा किसी व्याधि को दूर करने, शत्रु नाश करने, भय शोक में, किसी व्याधि या दरिद्र की, संताप के लिए, शारीरिक स्वास्थ्य व मंगल के लिए औडव रागों का गायन करना चाहिए।[3]

शारंगदेव एवं दामोदर पंडित ने भी स्वरों से इन्हीं रसों की उत्पत्ति को बताया है। इसके साथ ही शुद्ध स्वरो एवं कोमल स्वरों के भिन्न-भिन्न प्रभाव होते हैं। विशेषतः शुद्ध स्वर संयोग श्रृंगार, वीर इत्यादि रसों के वाहक होते हैं वहीं कोमल स्वर वियोग श्रृंगार करुण एवं शांत रसों के वाहक होते हैं। रागों के रस निर्धारण एवं प्रभावी बनाने में वादी स्वरों का विशेष महत्व होता है।

रंगो के आधार पर चिकित्सा के अंतर्गत शरीर पर पड़नें वाले प्रभाव का विशेष महत्व है - जैसे सात स्वरों के रंग इस प्रकार हैं -

सा- गुलाबी रंग (गुलाबी रंग भावुकता रंग है) इससे दिमाग संबंधी रोगों का नाश होता है।

रे- हरा रंग (हरे रंग का प्रकृति ठंडी है) यहीं वजह है कि आज भी अस्पतालों में हरे रंग का इस्तेमाल किया जाता है ।

ग- सुनहरा रंग, स्वर्ण व नारंगी (नारंगी गर्म होता है) इसमें, हार्मोन संबंधी रोगों के उपचार में सहायक मिलती है ।

---

* सहायक आचार्य, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

म- हल्का गुलाबी (मिश्रित पीला) यह रंग आनंद का प्रतीक है तथा तनाव व चिंता को दूर करता है ।

प- लाल रंग (ऊर्जा, स्फूर्ति व आवेश उत्साह युक्त है) उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्तियों को लाल रंग से परहेज करना चाहिए।

ध - हल्दिया रंग (पीला) पीला रंग गर्म होता है तथा सूर्य का प्रतीक माना गया है यह रंग पेट के रोगों को शांत करता है।

नी - (लाल) समस्त रंग इन सभी रंगों का शरीर पर प्रभाव पड़ता है जिससे मानव शरीर में कंपन उत्पन्न होता है और रोगों की चिकित्सा करता है।[4]

स्वर तथा रागों का व्यक्ति के मनोभाव के साथ गहरा संबंध है। आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित रस सिद्धांत इसी बात की पुष्टि करता है। चिकित्सकीय दृष्टिकोण से देखा जाए तो रस हमारे मनः स्थिति भावों को जागृत करते हैं। और यह भाव यथा क्रोध, मोह, खुशी, भय आदि शरीर में स्थित अंतः स्त्रावी ग्रंथियों के स्त्राव की न्यूनता या अधिकता के कारण जागृत होती हैं। प्रत्येक राग में स्वरों के लगाने का अलग-अलग ढंग होता है स्वरों की विभिन्न स्थितियाँ यथा शुद्ध, कोमल तीव्र आदि की प्रधानता से राग का मूल स्वरूप अथवा आकार निश्चित होता है जैसे कि शुद्ध स्वर वाले राग अधिकतर शांत व गंभीर प्रकृति के होते हैं जैसे- बिलावल, भूपाली। दोनों मध्यम वाले राग श्रृंगार प्रधान होते हैं जैसे - छायानट, बिहाग, श्याम कल्याण आदि। कोमल ऋषभ धैवत वाले राग भक्ति रस प्रधान होते हैं जैसे - भैरव कलिगड़ा आदि। कोमल गंधार, धैवत व निषाद वाले राग वीर रस प्रधान होते हैं।[5]

इस प्रकार भिन्न- भिन्न रागों के भिन्न-भिन्न रस हैं। परिणाम की दृष्टि से भावों के भी दो रूप हैं- कुछ सुखात्मक व कुछ दुखात्मक किंतु रस रूप में आ जाने पर जो अनुभूति होती है वह आनंददायक ही होती है और कला की यही विशेषता है कि वह दुखात्मक होकर भी सुख देती है।[6]

स्वर साधना एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम है जो स्वयं में एक चिकित्सा है संगीत का प्रयोग फेफड़े, गले, कंठ, तालु, जबड़े व अमाशय का फलप्रद व्यायाम है इसमें नाड़ी शोधन होता है जान तंतु सजग होते हैं ऑक्सीजन की वृद्धि होती है। तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। हमारे आयुर्वेद में कहा गया है कि एक अच्छा चिकित्सक स्वर विज्ञान का भी ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि संगीत में स्वास्थ्य वर्धक शक्ति निहित है। योग दर्शन के अनुसार सात स्वर शरीर में स्थित चक्रों तथा बिंदु विसर्ग को झंकृत करते हैं जो इस प्रकार है-[7]

1 षड्ज - मूलाधार चक्र

2 ऋषभ - स्वाधिष्ठान चक्र

3 गंधार - मणिपुर चक्र

4 मध्यम - अनाहत चक्र

5 पंचम - विशुद्ध चक्र

6 धैवत - आज्ञा चक्र

7 निषाद - बिंदु विसर्ग

8 तार षडज - सहस्त्राधार चक्र

आयुर्वेदशरीर में वात, पित्त, कफ का असंतुलन मानता है। यूनानी में भावी प्रकृति की अस्त- व्यस्तता को रोगों का कारक माना है। एलोपैथी में जीवाणु-विषाणुओं के आक्रमण और रसायनिक पदार्थों की न्यूनाधिकता के निमित्त कारक माना गया है। होमियोपैथी में उत्पन्न लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में उपचार का विधान है। बायोकेमिक में रसायनों के घटने- बढ़ने को रोग का कारण माना है और उन्हीं को क्षतिपूर्ति के रूप में देकर रोग का निदान किया जाता है। आयुर्वेदाचार्यों के अनुसार कफ, पित्त और वात् के संतुलन से शरीर स्वस्थ रहता है। इन्हीं तीनों पर हमारा सम्पूर्ण जीवन अवलंबित है। हमारे मनीषियों ने सांगीतिक स्वरों के प्रकृति में प्रयुक्त तीनों लक्षण से सम्बन्ध स्थापित किया है जो संगीत चिकित्सा के प्रमुख कारक हैं।[8]

स्वर नाम	**प्रकृति**
षड्ज	पित्त
ऋषभ	वात, कफ
गंधार	पित्त
मध्यम	वात, पित्त, कफ
पंचम	कफ
धैवत	वात, कफ
निषाद	वात

षडज स्वर का ग्रह रवि, गुण सत्व और प्रकृति पित्त का है।

ऋषभ स्वर वात, कफ का प्रभाव रखता है। शुद्ध ऋण में बात की प्रकृति और कोमल ऋषभ में कफ की प्रकृति हैं। इसका ग्रह चन्द्र, गुण सत्त्व है।

गांधार केवल पित्त प्रकर्षते का स्वर है, चाहे वह कोमल अथवा शुद्ध स्वरूप में हो। इसका गुण तन और ग्रह मंगल।

मध्यम की बात, पित्त, कफ की प्रकृति है। शुद्ध मध्यम में कफ की और तीव्र मध्यम में वात, पित्त की प्रकृति है। इसका ग्रह बुध, गुण रज है।

पंचम स्वर कफ प्रकृति का है। इसका ग्रह गुरु और गुण सत्व है।

धैवत वात, कफ की प्रकृति का है। शुद्ध धैवत वात का प्रभाव रखता हैं और कोमल धैवत कफ का। इसका ग्रह शुक्र और गुण रज है।

निषाद केवल वात-प्रकृति का स्वर है, चाहे वह कोमल हो या शुद्ध। इसका ग्रह शनि और गुण तम है।

भारतीय संगीत का प्रधान वैशिष्ट्य राग है। प्रत्येक राग की प्रकृति अलग है। राग की प्रकृति उसमें प्रयुक्त वादी स्वर पर स्थित है। अगर किसी राग का वादी स्वर पंचम है तो वह राग कफ प्राकृत का है। इस राग को सुनने अथवा गाने-बजाने से कफ प्रकृति जन्य रोगों का नाश होता है। इसी प्रकार अगर कोई राग मे वात या पित्त प्रकृति के स्वर बादी है तो उसी प्रकृति से सम्बन्धित रोग दूर होंगे।

पित्त प्रकृतिवाली राग-रागिनियों का वादी स्वर पित्त प्रकृति का ही रहता है, जो पित्त का प्रभाव भी रखता है। इसमे वसुधा कफ प्रकृति के शीतांग स्वर वर्णित रहते हैं, पित्त-प्रकृति के राग-रागिनियों उत्साहवर्धक होते है। इसी प्रकार कफ प्रकृति के राग-रागिनियों का वादी स्वर कफ प्रकृति का प्रभाव रखने वाला होता है। दूसरी प्रकृति के स्वर मुख्यत वर्ज्य रहते हैं। अगर वह लगते भी है तो उसका महत्व उस राग में कम रहता है। कफ प्रकृति के राग-रागिनियों शांति कारक होते हैं। इसी प्रकार वात-प्रकृति के राग-रागिनियों का वादी स्वर वात प्रकृति का ही रहता है। जिस प्रकार दिन-रात और छः ऋतुओं की प्रकृति बदलती रहती है, उसी प्रकार शरीर के अन्दर की प्रकृति अर्थात् समयानुसार वात, पित्त और कफ की प्रकृति बदलती रहती है। दिन-रात में वात, पित्त और कफ की गति-[9]

समय	**प्रकृति**
सुबह (3 बजे रात्रि से 9 बजे दिन तक)	कफ
दोपहर (9 बजे दिन से 3 बजे तक)	पित्त
शाम (3 बजे दिन से 9 बजे रात्रि तक)	वात
रात्रि (9 बजे से 3 बजे रात्रि तक)	पित्त

छः ऋतुओं में वात, पित्त और कफ की गति –

बसन्त	कफ
ग्रीष्म	पित्त
वर्षा	वात
शरद	वात, पित्त
हेमंत	कफ
शिशिर	कफ

हमारे चिंतको ने रागों का समय सिद्धांत और ऋतु सिद्धांतों का प्रतिपादन उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर किया था प्राचीन विद्वान पंडित शारंगदेव ने राग ऋतु के संबंध इस प्रकार बताया है[10]

ऋतु का नाम	**राग का नाम**
बसंत	हिंडोल
ग्रीष्म	गौड़ पंचम
वर्षा	षड्ज पंचम
शरद	रजंती
हेमन्त	भिन्न षड्ज
शिशिर	भिन्न कौशिकी

इसके अतिरिक्त रागों का गायन समय का निर्देश भी संगीत-रत्नाकर में आया है। आधुनिक ग्रंथकार विमलकांत राय चौधरी ने भी राग की ओर ऋतु का सम्बन्ध स्थापित किया है।[11]

ऋतु का नाम	**राग का नाम**
ग्रीष्म	दीपक
वर्षा	मेघ
शरद	भैरव
शिशिर	मालकौंस
हेमंत	श्री
बसंत	हिंडोल

सभी चिंतकों ने रागों के समय- सिद्धांत को मान्यता दी है। यह समय- सिद्धांत हमारे मन से संबंधित है। जिस तरह हमारे मन का भाव सदैव एक सा नहीं रहता, वैसे ही रागों के भाव समयानुकूल बदलता रहता है। इन्हीं भावों को परख कर संगीत चिकित्सा में जागो का उपयोग किया गया तो उसका प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा।[12]

निष्कर्ष- दिन-रात अथवा ऋतु में बात, पित्त और कफ की गति को ध्यान में रखते हुए हमारे आचार्यों ने वात्, पित्त, कफ के स्वरों का शोधन करके नियत कर गए हैं। आपेक्षित समय पर राग-रागिनियों के गाने बजाने या सुनने से बात-पित्त, कफ के दोष शांत रहते हैं, क्योंकि रागों के स्वरों का वात् प्रभाव हृदय पर उत्तम पड़ता है तथा चित्त को शांति मिलती है। शांति मिलने से चित्त एकाग्र रहता है। यही कारण है कि चित्त की एकाग्रता और शांति स्वास्थ्य को उत्तम और प्रभावशाली बनाती है तथा इससे रोगों का निदान होता है। अंततः हम कह सकते हैं कि संगीत स्वयं में थेरेपी है इसे सामाजिक उपयोगिता के संदर्भ में देखते हुए चिकित्सा के

माध्यम से मानव को स्वस्थ निरोगी एवं दीर्घायु जीवन प्रदान करना ही इस पद्धति का उद्देश्य है।

संदर्भ ग्रंथ सूची –

1- ज्योति सिन्हा, राग रोग व रोगी संगीत चिकित्सा, ओमेगा पब्लिकेशन ट्रस्ट प्रस्तावना 4

2 - पंडित आहोबल, संगीत पारिजात, द्वितीय संस्करण 1956 पृष्ठ संख्या 09

3- संगीत पत्रिका 1993, लेख राग रागिनियों द्वारा राग चिकित्सा पृष्ठ संख्या 97 तथा संगीत अंक जनवरी 18 पृष्ठ संख्या 72,77

4- डॉ ज्योति सिन्हा, राग रोग व रोगी संगीत चिकित्सा, पृष्ठ 184

5- प्रोफेसर हेमलता जोशी, राग और रस, पृष्ठ संख्या 72

6- डॉ ज्योति सिन्हा राग, रोग व रोगी (संगीत चिकित्सा) पृष्ट 186

7- डॉ शशि शुक्ला, नेशनल सेमिनार ऑन द एलिमेंट्स ऑफ म्यूजिक थेरेपी इंडियन, भागलपुर लेख योग एवं संगीत, पृष्ठ, 17

8- घनश्याम जी संगीत आचार्य, राग रागिनीयों का प्रकृति से संबंध, संगीत सागर प्रभु लाल गर्ग पृष्ठ 144 , 145, 139 ,

9- वही 140,141,140

10- कुमार अरविंद, राग एक अध्ययन, पृष्ठ 78

11- चौधरी विमल कांत राय, राग व्याकरण, पृष्ठ 7

12- डॉ अरविंद कुमार जी से साक्षात्कार।

●

ऋग्वैदिक जीवन और आज का भारतीय समाज

*डॉ0 राकेश कुमार द्विवेदी**

आर्यजन जिस भूमि पर शासन करते थे उसे ही पुराणों में 'आर्यावर्त' कहा गया है। यह समूचा क्षेत्र छोटे-छोटे प्रदेशों में विभाजित था जिसके अन्तर्गत अनेक जनजातियाँ निवास करती थीं। यह पूरा-का-पूरा समाज एक तरह से कबीलाई समाज था, जिसमें लोग समूहों में बँटे हुए थे। इन्हीं में एक महत्वपूर्ण जनजाति थी 'भरत', इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है। वैदिक काल में दिवोदास और सुदास नाम से प्रसिद्ध राजा हुए। दिवोदास ने 'तुर्वस', 'पुरू' और 'यदुओं' के विरूद्ध युद्ध किया तो सुदास ने 'परूष्णी नदी' के किनारे 'दस राजाओं के गठबंधन की सम्मिलित सेना को परास्त किया जिसे 'दसराज्ञ युद्ध' के नाम से जाना जाता है। 'ऋग्वेद' में अनेक भौगोलिक क्षेत्रों और शासकों का वर्णन भी मिलता है।

बौद्ध-ग्रंथों में भारतवर्ष को 'जम्बूद्वीप' नाम से पुकारा है जिसके अंतर्गत एक विशालतर भौगोलिक क्षेत्र समाहित था, भारतवर्ष जिसका एक खण्ड मात्र था। जम्बूद्वीप के अंतर्गत मेरू (पामीर के पठार) को केन्द्र माना गया, जिसके उत्तर में उत्तरकुरु (साइबेरिया), पूर्व में भद्राश्व (चीन), पश्चिम में केतुमाल (बैक्ट्रिया) और दक्षिण में भारतवर्ष (अर्थात् भारत) इन चार द्वीपों की कल्पना की गयी थी। जामुन के वृक्षों की अधिकता के कारण इसे 'जम्बूद्वीप' कहा जाता था और आज के एशिया महाद्वीप का अधिकांश हिस्सा इसी के अन्तर्गत था।

'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है- ज्ञान। इस ज्ञान को ऋषियों ने सदियों-सदियों तक वाचिक परम्परा से पीढ़ियों तक पहुँचाया इसीलिए वेद का एक अन्य नाम 'श्रुति' (सुनकर जो ज्ञान प्राप्त हो) भी है। इस ज्ञानकोश की रचना अनेक द्रष्टा ऋषियों द्वारा हुई, इसीलिए वेदों को अपौरूषेय मानते हुए इसे 'दैवीय ज्ञान' भी कहा गया। ये वेद ही हिन्दू धर्म के मूल हैं जिनमें जीवन के सभी पक्षों (भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों) का अति विशद् वर्णन है। इसका एक नाम 'संहिता' भी है। ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के रूप में जिसे जाना जाता है। प्रथम तीन को 'वेद-त्रयी' भी कहा जाता है।

वेदों में 'ऋग्वेद' सबसे प्राचीन है। इसका रचना काल लगभग 1700 ईसा पूर्व बताया जाता है। इसे मनुष्य की भाषा में लिखित दुनिया का पहला ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेद में कुल 1028 (एक हजार, अट्ठाईस) सूक्त हैं जो दस मण्डलों में विभक्त है। इसकी रचना 'सप्तसैंधव प्रदेश' में की गयी, जिसमें कुल 10521 ऋचाएँ या मंत्र हैं। ऋग्वेद के रचनाकार ऋषियों में विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, गृप्समद और भारद्वाज हैं। इन छः ऋषियों के अतिरिक्त इनके वंश के अनेक अन्य ऋषियों ने क्रमशः दूसरे, तीसरे, चौथे और सातवें मण्डलों की रचना की। आठवें मण्डल के रचनाकार कण्व और आंगिरस तथा उनके वंश के ऋषियों ने की, प्रथम और शेष मंडलों के रचयिता अन्य विविध ऋषि थे। लोपामुद्रा (जो अगत्स्य की पत्नी थी) जैसी कुछ स्त्रियों ने भी अनेक ऋचाओं की रचना की।

ऋग्वेद में प्रायः अग्नि, इन्द्र, वायु, वरूण, विष्णु और रूद्र आदि देवताओं की स्तुति की गयी। सूक्तों को मण्डलों में और मण्डलों को अनुवाकों (अध्यायों) में विभाजित किया गया है। कहीं-कहीं इसका विभाजन 'अष्टकों' के रूप में भी मिलता है। ऋग्वेद में कुल आठ अष्टक हैं। ऋग्वैदिक देव-मंडल का विभाजन कुल तीन वर्गों में किया जाता है-

(1) पृथ्वी-स्थानीय

(2) आकाश-स्थानीय और

(3) द्यु-स्थानीय

पृथ्वी, अग्नि, सोम और नदियाँ (जिसमें सिंधु, शतुद्री, परूष्णी, विपासा, सरस्वती, गंगा, गोमती, यमुना और सरयू आदि मुख्य हैं) पृथ्वी स्थानीय हैं। इन्द्र, विष्णु, आदित्य, रूद्र, वायु परजन्य, मातरिश्वान आदि आकाश स्थानीय हैं तथा वरूण, मित्र, सविता, पूषन, सूर्य, उषा आदि द्युस्थानीय हैं। यह वर्गीकरण भी प्राकृतिक आधार पर किया गया है। कहीं-कहीं इस देव-विभाजन का अपवाद भी देखने को मिलता है।

ऋग्वैदिक मंत्रों में देव-स्तुतियों के अतिरिक्त आर्यों के धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन और जीवन-मूल्यों के बारे में भी विशद् जानकारी प्राप्त होती है। इन मंत्रों में जीवन-सत्यों का जो भी अनुभव है वह ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस सत्य और तप के युग में देवता मनुष्यों की तरह पृथ्वी पर यज्ञ-साधनाओं से प्रसन्न होकर उन्हें साक्षात् दर्शन देकर इच्छित वरदान देते थे। इन सूक्तों में सर्वाधिक 250 सूक्त 'इन्द्र देवता' को समर्पित हैं।

ऋग्वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक जीवन के योग-क्षेम के साथ ही साथ भौतिक जीवन के अतिशय सुखों की भी कामना की है। लम्बे-सुदीर्घ जीवन, भौतिक समृद्धि, वीर और शक्तिशाली संतान, शत्रुओं की पराजय, रोगों से मुक्ति, गायों, अश्वों, भोजन और पेय-पदार्थों की प्रचुरता की बार-बार कामना है। दुःखवाद और

* एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, डी0ए0वी0पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी।

निराशा के लिए कहीं कोई स्थान नहीं। मरणोपरांत पुनर्जन्म में विश्वास, देवों का साहचर्य और उनकी कृपा की प्रार्थना बार-बार की गयी है। देवताओं को संतुष्ट करने के लिए यज्ञ और हवि का विधान वैदिक उपासना का मुख्य हिस्सा है।

धर्म-साधना और कर्म की महत्ता पर बल, श्रेष्ठ मर्यादापूर्ण नैतिक आचरण, राजा के कर्त्तव्य, गुरू शिष्य, मैत्री, ज्ञान-प्राप्ति और अज्ञान-निवारण, स्वस्थ शरीर और औषधियाँ, नदियाँ और कृषि, पर्यावरण और जलवायु, संयमित जीवन, गोधन और पशुपालन, यज्ञ का महत्व आदि की विविध रूपों में चर्चा है। एक संगठित और विशद् राष्ट्र की प्रथम संकल्पना भी यहीं पर देखने को मिलती है। मंत्रों का विषय अर्थात् उसका देवता, द्रष्टा अर्थात् ऋषि और किस छंद में उसकी रचना की गयी है। इसका उल्लेख प्रत्येक सूक्त में किया गया है। यहाँ जीवन की कामना बहुत ही उन्नत है। यज्ञों का आयोजन भी किसी महोत्सव से कम नहीं लगता।

ऋग्वेद का पहला मंत्र 'अग्नि' देवता को समर्पित है। यह एक ऐसे देवता हैं जो मनुष्य और देवता (पृथ्वी और स्वर्ग के बीच) कड़ी का काम करते हैं और यज्ञ में अर्पित आहुतियों को देवताओं तक पहुँचाते हैं। इस लिहाज से ये बहुत ही महत्वपूर्ण देवता हैं और अग्रपूजा के अधिकारी भी। ऋषि कहता है-

''ओउम् अग्निमीले पुरोहितं यज्ञरूप देवमृत्विजम्।

होतारे रत्नधातमम्।।''[1]

यज्ञ का पुरोहित, देवता, ऋषि और देवों का आह्वान करने वाला 'होता' तथा याजकों को यज्ञ का लाभ प्रदान करने वाला जो अग्नि है हम उसकी उपासना करते हैं। ऋषि-मधुच्छंदा और विश्वामित्र हैं तथा छन्द-गायत्री है। ऋग्वेद में लगभग 200 सूक्त अग्नि-देवता को समर्पित है। इन्द्र के बाद सर्वाधिक सूक्त इन्हें ही अर्पित किये गये हैं। तेरहवें सूक्त में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि-

''मधुमन्तं तनूनपाद् यज्ञं देवेषु नः कवे। अद्या कृणुहि वीतये।।''[2]

अर्थात् अंतरिक्ष में गमन करने वाले हे मेधावी अग्ने तू हमारे शरीर की रक्षा के लिए जीवनदायक हवियों को देवताओं के निमित्त प्राप्त कर उन तक पहुँचाने वाला हो। स्पष्ट है कि अग्नि ही देवार्पित पुरोडाश को उन तक पहुँचाने का कार्य किया करते थे। अग्नि की प्रज्ज्वलित शिखाएँ ही मानों उसकी आह्लादक जीह्वा है। इतना ही नहीं देवताओं के साथ ही साथ देवियों को भी यज्ञ-मंडप तक लाने की जिम्मेदारी अग्नि की ही होती थी। यथा-

''आग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम्। वरूत्रीं त्रिषणां वह।।''[3]

हे अग्ने! देव-पत्नियों, होत्रा, भारती, वाग्देवी, धिषणा आदि को हमारी सुरक्षा के लिए तू यहाँ (यज्ञस्थान पर) लेकर आए।

ऋग्वैदिक ऋषि अपने चारों ओर फैले महान प्राकृतिक जीवन का उपासक है। 'जल' जिसके बिना जीवन का होना असंभव है के विषय में वह कहता है-

''अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः।।''[4]

जल में अमृत के समान औषधीय गुण है। हे देवताओं! ऐसे जल की प्रशंसा से तुम उत्साहित होओ। जल में सभी औषधियाँ सूक्ष्म रूप में घुली रहती हैं, जिनमें जीवन के रक्षण और पोषण की शक्ति छुपी होती है। यह जल हमें और हमारी संतानों को तेज प्रदान करे।

वैदिक देवताओं में 'इन्द्र' सर्वाधिक बलवान और पराक्रमी देवता है। उसकी शारीरिक शक्ति विलक्षण है। वह हरे रंग के अश्वों वाले रथ में विराजता है तथा सोमपा, अर्थात् सोमपान करने वाला है। उसने वृत्तासुर का संहार कर अवरूद्ध नदियों के जल को प्रवाहित किया है। उसने शत्रुओं के पुर (किलों को) नष्ट किया है, इसीलिए उसका एक नाम 'पुरंदर' भी है। वह तूफान और मेघों का भी देवता है, उसके हाथ में वज्र है। उसकी पत्नी इन्द्राणी है। वह सौ यज्ञों को करने वाला 'शतक्रतु' है। ऋषियों ने उसकी प्रशंसा में अनेक मंत्र अर्पित किये हैं-

''इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।

अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्।।''[5]

अर्थात् वीरतापूर्ण कार्य करने वाले वज्रधारी इन्द्र ने मेघों को विदीर्ण कर जलवृष्टि की और पर्वतीय नदियों के प्रवाहित होने के निमित्त उनके मार्गों को प्रशस्त किया। उसके वज्र की शक्ति से सभी प्रकम्पित हो जाते हैं। एक अन्य सूक्त में कहा गया है कि वृत्र द्वारा मेघों में स्थित जल को रोक लिए जाने से बहुत समय तक पृथ्वी पर जलवृष्टि नहीं हो सकी तब इन्द्र ने अपने वज्र से अंधकाररूपी मेघों को भेदकर गौ की भांति जल का दोहन किया। ऐसे सूक्तों से इन्द्र द्वारा वृत्रासुर-संहार का पता चलता है-

''याविध्यदिलीविशस्य दृह्वावि शृंगिणमभिनच्छुष्ण मिन्द्रः।

शाक्तरो मघवन यावदो जो वज्रेण शत्रुमवधीः पृतन्युम्।।''[6]

अर्थात् इन्द्र ने भूमि में स्थित कंदरा में सोये हुए वृत्र के दुर्ग को तहस-नहस कर दिया, उस सींगवाले वृत्र का शरीर क्षत-विक्षत हो गया। उसके बल-वेग ने शत्रु सेना का विनाश कर दिया। एक अन्य सूक्त में गौतम ऋषि इन्द्र की अभ्यर्थना में कहते हैं कि-

''आ प्रपौ पार्थिवं रजो बद्धधे रोजना दिवि।

न त्वावां इन्द्र कश्चन न जातो न जनिष्यतेऽति विश्वं ववक्षिथ।।''[7]

हे इन्द्र! उत्पन्न हुए अथवा उत्पन्न होने वालों में तेरे समान दूसरा कोई नहीं। तू ही सारे संसार का नियामक है। तूने अपने सामर्थ्य से पृथ्वी और अंतरिक्ष को पूर्ण किया तथा आकाश में

चमकने वाले नक्षत्रों को स्थापित कर दिया। अन्य अनेक ऋषियों और ऋषि-वंशजों ने भी इन्द्र की इसी प्रकार स्तुति की है।

इन्द्र का सर्वाधिक प्रिय पेय 'सोम' है। उन्हें प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञस्थल में यह सोम अर्पित किया जाता है और उनसे धन-धान्य और वैभव की याचना की जाती है। एक सूक्त में द्रष्टा ऋषि कहता है-

''इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद् विदच्छर्यणावति॥''[8]

अर्थात् शत्रु-विजेता इन्द्र ने दधीचि की हड्डियों द्वारा बने वज्र से आठ सौ दस असुरों का संहार किया। इस प्रकार इन्द्र देवता की छवि एक वीर नायक के रूप में दिखाई पड़ती है, शत्रु जिसकी हुँकारों से काँपता है। उसके समान पुरूषार्थ करने वाला दूसरा कोई नहीं। देवताओं ने उस एक इन्द्र में सभी प्रकार के बलों, ऐश्वर्यों और क्षमताओं को स्थापित किया है। यही कारण है कि वह वज्र धारक इन्द्र सर्वत्र अपने सामर्थ्य से प्रकाशित होता है। वह देवता और मनुष्यों का रक्षक और रणक्षेत्र में शत्रुओं को पीछे धकेलने वाला अप्रतिम नायक है। ऋषि कहता है, हे इन्द्र! तुम भली-भाँति सोम का पान करो। यह सोम तुम्हारे उदर में पहुँचकर तुम्हारे बल को बढ़ाये, जिससे तुम सदा हम मनुष्यों की रक्षा करते रहो।

''सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।

सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती॥''[9]

आकाश की पुत्री हे उषे! तू महान धन और ऐश्वर्यों सहित हमारे सामने प्रकट हो। हम सदा तेरे अनुग्रह को प्राप्त करते रहें। उषा के ही कारण अंधकार का नाश होता है और पक्षी अपने घोसलों से आकाश की ओर गमन करते हैं। एक अन्य सूक्त में कहा गया है कि, हमारे शत्रुओं को दूर करने वाली प्रकाशिका, आकाशपुत्री, ऐश्वर्यशाली और मार्गदर्शिका देवी उषा को सारा संसार झुककर शीष नवाता है। कहीं-कहीं इन्हें सौभाग्य की स्वामिनी बताया गया है। यथा-

''उषस्तमश्यां यशसं सुवीरं दास प्रवर्गं रयिमश्वबुध्यम्।

सुदंससा श्रवसा या विभाषि वाजप्रसूता सुभंग बृहन्तम्॥''[10]

सौभाग्य की स्वामिनी, उत्तम कार्यवाली, यशस्विनी, अन्न उत्पन्न करने वाली हे उषे! तू हमें सुंदर पुत्र, सेवक, अश्व धन एवं ऐश्वर्य प्राप्त कराए। उषा सभी जीवों को चैतन्य एवं गति प्रदान करती हैं। स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होने वाली उषा मरण-धर्म से मुक्त है। वह सूर्य-पताका के समान आकाश में गमन करती हुई, समस्त भुवनों में विचरण करती है।

वैदिक ऋषि जीवन के चिरायु की बार-बार प्रार्थना करता है। बीच-बीच में ऐसी छवियाँ उनकी पवित्र कामनाओं, राष्ट्र और मनुष्य ही नहीं, वरन् प्राणिमात्र की चिंताओं की ओर संकेत करती है। जैसे एक सूक्त में वह देवताओं से कहता है-

''शतमित्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नाश्चक्रा जरसं तनूनाम्।

पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥''[11]

हे देवताओं! सौ वर्ष की आयु को पहुँचकर ही हम वृद्धावस्था को देखें। उस समय हमारे पुत्र भी पिता बने। अतएव तुम हमें आयु के मध्य में ही मृत्यु को प्राप्त न कराना एक सूक्त में ऋषि कहता है- हमारी नाभि का विस्तार वहाँ तक फैला है जहाँ तक सप्तरंगी सूर्य की किरणें जाती हैं। ये नाभि का विस्तार वस्तुतः जीवन का ही विस्तार है, क्योंकि जीवन नाभि-चक्र से ही बंधा होता है। इन सूक्तों में सविता या सूर्य की स्तुति भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। ऋषियों ने सूर्य को न केवल पृथ्वी पर ऊर्जा का केन्द्र माना है, बल्कि वह अंधकार-विनाशक और हमारा आत्मकारक है-

''चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्नेः।

आप्राद्यावा पृथिवी अंतरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च॥''[12]

अर्थात् दैवी शक्तियों के दिव्य तेज-समूह के रूप में उदय होने वाला स्थावर-जंगम संसार का आत्मरूप, मित्रवरूणादि का नेत्ररूप सूर्य, पृथ्वी, आकाश और अंतरिक्ष तीनों को प्रकाशित करता है, जिस प्रकार मनुष्य (पुरूष) स्त्री का अनुगमन करते हैं उसी प्रकार देवी उषा सूर्य के पीछे अनुगमन करती है। एक अन्य मंत्र कहता है कि -

''तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो योनः प्रचोदयात्॥''[13]

दिव्यता प्रदान करने वाला, विकारनाशक तथा वरण करने योग्य सविता हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें। हम उसका ध्यान करते हुए उसके तेज को धारण करें। इसे गायत्री मंत्र भी कहा जाता है। सूर्य ही वृष्टि का कारण, पोषक और संरक्षण करते हैं। कहीं-कहीं उनका नाम 'पूषा' भी मिलता है। इनके रथ में सात अश्व जुते हैं।

ऋग्वेद में अश्वनीकुमारों की चर्चा भी प्रचुर मात्रा में है, कहीं-कहीं वे वैद्य (आधुनिक चिकित्सक) के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सत्यनिष्ठ, शत्रुओं के संहारक अश्वनीकुमारों ने च्यवन ऋषि की वृद्धावस्था को कवच की भाँति उतारकर उन्हें युवा बना दिया और दीर्घायु प्रदान कर सुंदर कन्याओं का पति बना दिया। एक मंत्र में कहा गया है-

''आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरत्यम्।

सवां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्टं यद् दस्त्रावयिकक्ष्यं वाम्॥''[14]

अर्थात् शरीर के भग्न अंगों को जोड़ने की कला में दक्ष, शत्रु-संहारक हे अश्विनीकुमारों! दधीचि के अश्व का शिर तुमने ही लगाया, तब दधीचिने यज्ञ-मार्ग का प्रसार करते हुए तुम्हें मनु-विद्या का उपदेश दिया। ऐसे अश्विनी कुमारों के कर्मों की प्रशंसा सर्वत्र की गयी है, उन्होंने कई बाँझ स्त्रियों को पुत्रदान देकर उनके हाथों को सुवर्ण-सम्पदा से भर दिया। जब विश्पला की टाँग भग्न हो गयी तब

अश्विनीकुमारों ने ही उसे 'लोहे की टाँग' लगायी थी। ध्यान रहे, कृत्रिम अंगों का पहले-पहल प्रयोग अश्विनीकुमारों द्वारा किया गया, जिसका प्रमाण ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 118 वें सूक्त में देखा जा सकता है।

ऋग्वेद के एक मंत्र से यह भी पता चलता है कि पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ इन तीनों लोकों में ग्यारह-ग्यारह की संख्या में कुल 33 देवता हैं। तैतीस देवताओं की मान्यता पहली बार हमें यहीं पर देखने को मिलती है। ऋषि कहता है-

''ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ।

अप्सुक्षितो महिनैकाशस्थ ते देवासो यज्ञमिमंजुषध्वय॥''[15]

हे देवताओं! तुम पृथ्वी, अंतरिक्ष और आकाश इन तीनों लोकों में ग्यारह-ग्यारह की संख्या में विद्यमान हो। आप सभी हमारी छवियों को ग्रहण करें। एक अन्य सूक्त में ऋषि मित्रावरूण (मित्र और वरूण) से प्रार्थना करता है कि - तुम हमारे दुधारू गौओं, अन्नों और जलों से हम सभी को परिपूर्ण करो। हम तुम्हारा स्तवन करते हैं। कुछ मंत्रों में गहन आध्यात्मिक अर्थ भी देखा जाता है। 164वाँ सूक्त जो देवता, विश्वदेवा को समर्पित है, ऋषि दीर्घतमा कहता है-

''द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्व जाते।

तयोरन्यः पिप्लं स्वाद्वत्यनश्नन्नयो अभि चाकशीति॥''[16]

मित्र की भांति रहने वाले दो पक्षी (आत्मा और साक्षी भाव ब्रह्म) एक ही वृक्ष (शरीर) पर स्थित है। उनमें एक मधुर, स्वादिष्ट पीपल के फल को खा रहा है, जबकि दूसरा (ब्रह्म) उसे केवल देख रहा है। इसी में आगे कहा गया है कि मरण धर्माजीवात्माएँ सुख-दुःख रूपी फलों को भोगती हुई परमात्मा की स्तुति करती है। वह परमात्मा जो प्रत्येक शरीर में विद्यमान है। अस्तित्व में रहने वाला यह जीव जब श्वास का त्यागकर शरीर से चला जाता है। तब यह शरीर तो निस्तेज हो जाता है पर अविनाशी आत्मा अपनी धारण-शक्तियों के कारण निर्बाध सर्वत्र विचरण करती है। इसी सूक्त के एक अन्य मंत्र में ऋषि कहता है-

''द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।

उत्तान योश्चम्वोर्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥''[17]

अर्थात् जगत् का नाभिरूप सूर्य हमारा पिता है। विशाल पृथ्वी हमारी माता समान है। आकाश और पृथ्वी के बीच अंतरिक्ष योनिरूप है, वहाँ पिता गर्भ की स्थापना करता है।

ऐसा नहीं है कि ऋषि की दृष्टि केवल आकाश और गगनचारी देवताओं की ही ओर ही लगी है और पृथ्वी तथा सामान्य मनुष्य से उसका कोई सरोकार नहीं, सूक्त के एक मंत्र में ऋषि वामदेव अग्नि-देवता से कहते हैं-

''यस्त इहमं जभरत् सिष्विदानों मूर्धानां वा ततपते त्वाया।

भुवस्तस्य स्वतवाः पायुरग्ने विश्वस्मात् सीमघायत उरूष्य॥''[18]

तुझे प्रज्ज्वलित करने के निमित्त लकड़ियों को चुनकर लाने वाला जो व्यक्ति पसीने से तर-बतर है और जिसका सिर लकड़ियों के भार से दुःख रहा है, हे अग्ने! तू उसका पोषण करे तथा उसे धनादि प्रदान करे एवं हर ओर से उसे संरक्षित करें। यहाँ एक श्रमिक के प्रति ऋषि के हृदय में गहरी मानवी संवेदना का पता चलता है, जो उसके दैनंदिनी-जीवन-कर्म से जुड़ा हुआ है। इससे उस जमाने में श्रम के महत्व का पता चलता है। एक अन्य मंत्र में भी ऋषि कहता है-

''शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः।

शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम॥''[19]

लौह-निर्मित हलकी फालें अच्छी प्रकार खेतों की भूमि को खोदें तथा कृषक बैलों के पीछे-पीछे चलें। जल-वृष्टि करने वाले मेघ भूमि को अभिसिंचित करें। हे वायु और सूर्यदेव इन औषधियों को उत्तम फलों से युक्त कर हमें सुख प्रदान करो। इस मंत्र से वैदिक युगीन हल-बैल से होने वाली खेतों की भली-भांति जानकारी प्राप्त होती है। कृषि उस युग में बिना वर्षा के नहीं हो सकती थी, पूरा का पूरा फसल चक्र वर्षा आधारित था। एक मंत्र में इसीलिए ऋषि भौम और अत्रि बादलों से कहते हैं-

''महान्त कोशमुदचानिषिंच स्यन्दन्तां कुल्या विषिताः पुरस्तात्।

घृतेन द्यावा पृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वध्न्याभ्यः॥''[20]

अर्थात् हे पर्जन्य! तू जलों को मुक्त कर नीचे की ओर बहाये, जिससे ये जल से परिपूर्ण नदियाँ अबाधित होकर सदैव प्रवाहित हों, तू आकाश और पृथ्वी को जलों से युक्त करें, ताकि हमारी गौएँ मीठे जल को प्राप्त करें। पृथ्वी, जो समस्त प्राणियों का पालन करती है, के विषय में वैदिक ऋषि कहता है, कि हे गुणवती पृथ्वी! अधिक विस्तृत समूह को धारण करने वाली तू भूमि पर रहने वाले समस्त प्राणियों को पुष्टि प्रदान करे। हे शुभ्रवर्णवाली गतिमयी पृथ्वी, हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। इसी प्रकार एक मंत्र में वह सोमपायी इन्द्र से अपने और अपनी पीढ़ियों के लिए सुख-समृद्धि की कामना करता हुआ कहता है कि, हे शतक्रतु! पूर्वजों से जो धन हमें मिला और हमने अपने से छोटों को जो दिया तथा जो धन दूर-देश (विदेश) में जाके प्राप्त किया, ऐसे तीनों प्रकार के धन से तू हमें परिपूर्ण करें। तेरे निमित्त इसीलिए हमने स्तोत्रों की रचना की है। यद्यपि कि पृथ्वी से सम्बन्धित मंत्र बहुत कम हैं।

वैदिक ऋषियों ने आकाश-स्थानीय देवताओं में सूर्य की भी अनेक प्रकार से स्तुतियाँ की हैं, उसे सवित्, पूषन, अर्यमा आदित्य आदि नामों से पुकारा गया है। सर्वाधिक प्रसिद्ध गायत्री मंत्र उन्हीं को समर्पित है। वह प्रकाश के देवता हैं, जिनके रथ में सात अश्व जुते हैं। यह यूनानी देवता 'हेलिओस' की तरह ज्वालामय रथ पर

चढ़कर आकाश-मंडल में विचरते हैं। एक मंत्र में ऋषि वशिष्ठ कहते हैं-

''यद्यत सूर्य ब्रवोडनागा उद्यन् मित्राय वरूणाय सत्यम्।

वयं देवत्रादिते स्याम तव प्रियासो अर्यमन् गृणन्तः॥''[21]

हे सूर्य! अनुष्ठान के समय उदित होकर तू हमें निष्पाप बनाये। हम मित्रावरूण के प्रीतियुक्त हो। हे अर्यमे! तेरी कृपा-प्राप्ति के निमित्त हम तेरी स्तुति करते हैं। सूर्य के कारण ही समुद्र का जल वाष्पित हो, ऊपर उठता है और बादलों में परिवर्तित होकर, वृष्टि के रूप में उस जल को पुनः पृथ्वी को लौटा देता है।

वेदों में श्रम की महत्ता सर्वत्र देखने को मिलती है, ऊपर हमने इसकी थोड़ी-सी चर्चा की है, जो कि ऋग्वेद के संदर्भ में है। ऋग्वेद में ही एक स्थल पर ऋषि शिशु और आंगिरस कहते हैं-

''कारूरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रव॥''[22]

हम बढ़ई का कार्य करने वाले के पिता और पुत्र वैद्य हैं। हमारी माता और पुत्री जौ पीसने का कार्य करती है। हम सभी विभिन्न कार्य करने वाले हैं। जिस प्रकार ग्वाला गौओं की सेवा करता है, हे सोम! हम उसी प्रकार से हम तेरी सेवा करते हैं क्योंकि तू इन्द्र के निमित्त प्रवाहित होता है। ये तो श्रमरत सहज और सरल पुरूष की बात हुई।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के 'पुरूष-सूक्त' में एक विराट पुरूष की कल्पना की गयी है, जिसके हजारों सिर, आँख, पाँव और जंघाये हैं। भूत, भविष्य, वर्तमान सब उसी में स्थित है वह समस्त पृथ्वी को व्याप्त करके भी दस उंगलियों से उसे आवृत्त किये हैं। इसी विराट पुरूष से चारों वर्णों की उत्पत्ति बतायी गयी है। आर्य-सभ्यता में वर्ण विभाजन का पहली बार उल्लेख यहीं देखने को मिलता है-

''ब्राह्मणोयस्य मुखमासीद बाहूराजन्यः कृतः।

उरूदतस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत॥''[23]

अर्थात् उस विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र वर्गों की उत्पत्ति हुई। कुछ विद्वान् इसे ऋग्वेद का प्रक्षिप्त अंश मानते हैं, जो बाद में जोड़ा हुआ-सा लगता है, जो भी हो, पर वर्ण व्यवस्था का इसे प्रस्थान-बिन्दु माना जाता है।

वैदिक ऋषि परलोकवादी है। वह परमात्मा की सत्ता और आत्मा की अमरता में भी अटल विश्वास करता है। वह कर्म और पुनर्जन्म के प्रति गहन आस्थावान है। परम शक्तिशाली ईश्वर ही इस संसार का स्रष्टा है। उसकी नाभि से अंतरिक्ष, सिर से स्वर्ग, पैरों से भूमि, कानों से दिशाएँ प्रकट हुई हैं। उनके मन से चन्द्रमा (चन्द्रमामनसोजात्) नेत्रों से सूर्य, कर्णों से वायु की उत्पत्ति हुई है। वह एक होकर भी अनेक हो गया है। जड़-चेतन सब उसी के रूप हैं। इसीलिए वैदिक ऋषि आत्मा और परमात्मा के मध्य, मध्यस्थता करने वाले देवता अग्नि से कहता है कि मरने के बाद जब दाह-क्रिया हो तो उस क्षण अग्नि-ज्वालाएँ उसके शरीर को भस्मीभूत कर दे और अग्नि स्वयं के माध्यम से उसे उसके पितरों से समागम करायें। ऋषि दमनों यामायन कहते हैं-

''अजो भागस्तपसा त तपस्वतं ते शोचिस्तपतु तंते अर्चिः।

यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्व है नं सुकृतामु लोकम्॥''[24]

अर्थात् हे जातवेदा!, हे अग्ने!! इस पुरुष के मृत शरीर में जो कभी न मिटने वाला ईश्वरीय अंश है, उसे तू अपने ताप से तपाये। तेरी ज्वालाएँ उसे सुदृढ़ता प्रदान करें। तू अपनी मंगलमय विभूतियों से पुण्यलोक में उसे गमन कराये। इसी आस्था और विश्वास के साथ वैदिक ऋषियों का परलोकवादी चिंतन विकसित हुआ जो आगे चलकर उपनिषद्काल में और सूक्ष्म तथा गंभीर होता गया।

ऋग्वेद के सारे विषयों को समेटना एक छोटे से लेख में यहाँ संभव नहीं है। वैदिक ऋषि सुखवादी और आशावादी है। दुःख, उपवेग, पलायन और निराशा यहाँ दूर-दूर तक नहीं है। असंख्य सूक्तों के हजारों मंत्रों में इन ऋषियों ने देव-स्तोत्रों में सुख-समृद्धि, धन, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, रोगमुक्ति, शत्रु-दमन, ''जीवेम शरदः शतम्'' सौ साल तक जीने और विजय पाने की कामना की है। नदियों, झरनों, पहाड़ों, जंगलों, पशु-पक्षियों, गौओं, अश्वों, वनस्पतियों, औषधियों के स्वस्थ और वीर्यवती होने की प्रार्थना की है। स्वस्थ और मीठा जल, स्वस्थ वायु और स्वस्थ पर्यावरण सदैव जीवन के लिए अनुकूल बना रहे, इसकी बार-बार अभ्यर्थना की गयी। वैदिक जीवन का वातावरण यज्ञ, धर्म, कर्म, उपासना और उल्लास से आपूरित है। विश्व-बंधुत्व और विश्व-मंगल की कामना इस जीवन का मूलाधार है।

लोपामुद्रा, घोषा और अपाला जैसी वैदिक ऋचाओं की रचना करने वाली नारियाँ भी यहाँ पर हैं जिनका जीवन स्त्री-स्वतंत्रता, शिक्षा और सम्मान का पर्याय है। यह ऐसा मुक्त और संवेदनशील समाज था जो निःसंतान विधवा को भी 'नियोग' द्वारा देवर के साथ संतान-प्राप्त करने का अधिकार देता था और एक हमारा उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ समाज है, जिसमें पढ़े-लिखे होने के बावजूद भी स्त्री पुरूष के समक्ष पशुता में ही गिरती चली जा रही है, स्त्रियों के साथ जितने निर्मम और अमानवीय दुष्कृत्य इस युग में हो रहे हैं उतना शायद ही पहले के युगों में कभी हुए हों। इसीलिए समस्त के बावजूद भी आज का भारतीय समाज निराशा, हिंसा, क्रूरता, कुंठा, अवसाद, पलायन, आत्महारापन पश्चाताप और पर-सुख-परिताप से घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। जल, वायु, मिट्टी, पर्यावरण सब कुछ रूग्ण है। बीमारियों की बाढ़ आ गयी है। अकाल मौतों का आँकड़ा

दिनोदिन बढ़ रहा है। इंसान के जीवन से धर्म और अध्यात्म तिरोहित हो गये हैं। उनकी जगह धन, भोग, वासना और झूठे ऐश्वर्य ने ले लिया है। इसीलिए आज के मनुष्य को न तो इस लोक में शांति है और न ही मरणोत्तर जीवन में। काश! कुछ हम अपने तपःपूत ऋषियों के ज्ञान से शिक्षा लेते तो वर्तमान समाज ऐसी दुर्गति और दुर्दशा को प्राप्त न होता। सत्य यहाँ भी है, पर वह खंडित है, उल्लास यहाँ भी है, पर वह कृत्रिम है, धर्म अब भी है, पर वह पाखण्ड मात्र है, परोपकार अब भी है, पर वह अवसरवादी है, अध्यात्म अब भी है, पर वह अनात्म है, सुख अब भी है, पर वह बाह्य है, प्रेम अब भी है, पर वह छलावा मात्र है, पुरोहित अब भी हैं, पर वे अज्ञानी हैं, यजमान अब भी है, पर वह स्वार्थी है, यज्ञ अब भी है, पर वह धुआँ मात्र है क्योंकि वहाँ जीवन की पुण्याग्नि कहीं भी प्रकट होती दिखाई नहीं पड़ती है।

आज का भारतीय समाज पाश्चात्य समाज का अंधानुयायी है। हर तरह की स्वतंत्रता, स्वच्छंदता, भोग और वासना यहाँ प्रधान है। धर्म-कर्म का स्थान अर्थ और काम ने ले लिया है। आदमी, आदमी नहीं रहा, वह धन पैदा करने की मशीन बनता जा रहा है। बुजुर्ग और उनकी पीढ़ियों में मानवीय संवेदनाओं ने आत्म-हत्या कर ली है। जीवन के आराधक मूल्यों का स्थान विघातक तत्वों ने ले लिया है। प्राकृत जीवन को तिलांजलि देकर सभी ने कृत्रिम जीवन और उसकी सुख-सुविधाओं को अंगीकार कर लिया है। जिस प्रकृति की ऋषि कभी उपासना करता था वह यहाँ खाँस रही है। अपने परिवेश, समाज और जीवन-मूल्यों से पूरी तरह मुख मोड़ने का जो भी दुष्परिणाम होता है, वह यहाँ अब साकार प्रकट हो रहा है। मनुष्य, मानवता और प्रकृति को बचाना है तो एक-न-एक दिन हमें 'वेदों के जीवन की ओर लौटना' होगा, सिवाय इसके और कोई मार्ग नहीं है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. 'ऋग्वेद' (भाग-1), प्रथम मंडलम्, प्रथमाष्टक, प्रथमोऽध्यायः, सम्पादन/प्रस्तुति आचार्य वेदांत तीर्थ, प्रकाशक-मनोज पब्लिकेशन्स, 761 मेन रोड, बुराड़ी, दिल्ली-110084, (नौवाँ संस्करण-2016), पृ0 21
2. वही, पृ0 41
3. वही, द्वितीयोऽध्यायः, पृ0 55
4. वही, तृतीयोऽध्यायः, पृ0 60
5. वही, पृ0 80
6. वही, पृ0 85
7. वही, चतुर्थोऽध्यायः, पृ0 116
8. वही, षष्ठोऽध्यायः, पृ0 179
9. वही, पृ0 194
10. वही, पृ0 195
11. वही, पृ0 188
12. वही, सप्तमोऽध्यायः, पृ0 245
13. 'ऋग्वेद' (भाग-2), तृतीय मंडलम्द्वितीयाऽष्टकः, चतुर्थोऽध्यायः, वही, आठवां संस्करण 2017, पृ0 139
14. 'ऋग्वेद' (भाग-1), प्रथम मंडलम्, प्रथमाष्टकः, अष्टमोऽध्यायः, वही, पृ0 255
15. वही, द्वितीयाऽष्टकः, द्वितीयोऽध्यायः, पृ0 301
16. वही, तृतीयोऽध्यायः, पृ0 342
17. वही, पृ0 345
18. 'ऋग्वेद', (भाग-2), तृतीय मंडलम्, द्वितीयाऽष्टकः, चतुर्थोऽध्यायः, वही, छठां संस्करण 2016 पृ0 146
19. वही, चतुर्थ मंडलम्, अष्टमोऽध्यायः, पृ0 256
20. वही, पंचम मंडलम्, चतुर्थोऽण्टकः, प्रथमोऽध्यायः, पृ0 402
21. वही, सप्तम मंडलम्, पंचमोऽष्टकः, पंचमोऽध्यायः, पृ0 113
22. 'ऋग्वेद' (भाग-4) नवम् मंडलम्, सप्तमोऽष्टकः, तृतीयोऽध्यायः, वही, पृ0 206
23. वही, दशम मंडलम्, अष्टमोऽण्टकः, तृतीयोऽध्यायः, पृ0 114
24. वही, द्वितीयोऽध्यायः, पृ0 238

●

सामाजिक हिंसा एवं जनसंचार माध्यम : एक विश्लेषण

डॉ0 दिनेश कुमार सिंह एवं* शुभम पाण्डेय**

सामाजिक विविधता के आधार पर देखे तो भारत दुनिया के उन गिने चुने देशों में आता है जहाँ अलग-अलग धर्म, विचारों, मतों व समूहों के लोग पाये जाते है परन्तु जैसे-जैसे हमारे समाज में विकास हो रहा है वैसे-वैसे समाज में मानवीय संवेदनशीलता का दायरा अल्प होता दिख रहा है जिसके कारण सामाजिक हिंसा की घटनाओं में तीव्र गति से वृद्धि हुई है। ऐसे में सबसे पहले यह जानना जरूरी है कि वास्तव में वर्तमान समय में संवेदनशीलता है क्या? और आज के समय में इसकी शिक्षा देना हमारी शिक्षा तंत्र की सबसे बड़ी चुनौती है क्योंकि सामाजिक संवेदनशीलता का मूल्यांकन किये बिना हम इन सामाजिक हिंसा की घटनाओं का वास्तविक कारण नहीं जान पायेंगे। **वास्तव में संवेदनशीलता हमारे मूल्यों की उस विचार का भाग है जिनके द्वारा हमें समाज के प्रति अपने जिम्मेदारी का बोध होता है और इस बात का ज्ञान होता है कि हमारे अलावा भी समाज में सभी का जीवन साथ ही साथ सभी का एक दूसरे के लिए कर्तव्य है। संवेदनशीलता क्या है इसका सबसे अच्छा विचार पं. दीन दयाल उपाध्याय द्वारा बताया एकात्म मानव[1] का सिद्धान्त है उसमें उन्होंने बताया है कि प्रत्येक व्यक्ति की एक आत्मा व मन होता है जिस पर बाह्य वातावरण प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। और जब व्यक्ति अपने व्यवहार में इन बातों का ध्यान देता है तो उसे संवेदनशील माना जाएगा** परन्तु आज जहां तकनीकी सुविधाओं ने विकास किया है वैसे ही समाज में जटिलता ने भी अपनी जगह बनायी है समाज में विभिन्न प्रकार की घटनाएं देखने को मिल रही है जो समाज में संवेदनशीलता पर प्रत्यक्ष प्रहार कर रही है। 21 वीं सदी में सूचनाओं की सुलभता जहाँ तकनीकों ने सुनिश्चित की है वहीं इसने अफवाहों की घटनाओं को आश्रय दिया है, हाल के दिनों में कुछ ऐसी घटनाएं सामने आयी है जो समाज के एकता के लिए न सिर्फ नुकसानदायक है अपितु सूचनाओं के गलत इस्तेमाल का उदाहरण भी है कर्नाटक के बीदर जिले में रहने वाले[2] हैदराबाद के इंजीनियर मोहम्मद आजम उस्मान अपने मित्र से मिलने बीदर गये थे, वहाँ रास्ते में बच्चों से बात करने तथा चाकलेंट बाटनें के दौरान अचानक किसी ने उनके बच्चा चोर होने की खबर सोशल मीडिया पर वायरल कर दी जिसके कारण गांव वालों ने उन पर हमला कर दिया तथा उनकी मृत्यु हो गयी बाद में जांच के उपरान्त ज्ञात हुआ कि इस घटना के पीछे गलत सूचना को लोगों तक सोशल मीडिया के द्वारा लोगों तक पहुँचाया गया था। वास्तव में यह घटना एक उदाहरण मात्र है लेकिन वास्तविकता तो यह है कि आज विकास के अन्धी दौड़ में समाज का विकास तो हुआ है परन्तु समाज के नैतिक स्तर के पतन में वृद्धि अत्यन्त तीव्र हुई है, समाज आजकल भीड़तंत्र की विचारधारा से प्रभावित हो रहा है गलत क्या है? सही क्या है? समाज इसकी चिन्ता से ज्यादा इस बात पर ध्यान दे रहा है कि ट्रेडिंग में क्या है और लाभदायक क्या है?

हमारा समाज वर्तमान समय में आधुनिकता के उच्च स्तर पर पहुँच गया है आधुनिकता ने आज देशों के सीमाओं को विलीन करने के दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही है परन्तु प्रसिद्ध **समाजशास्त्री उलरीच बैक का मानना है कि जहाँ आधुनिकता में बुद्धिसंगतता और पूँजीवाद खुशहाली होती है, वहाँ इस समाज में जोखिम भी होता है यह जोखिम बहुआयामी होता है, जहाँ कुछ लोग समृद्ध जीवन बिताते है वही कुछ लोग का जीवन अमानवीय व पशुवत् समझा जाता है।**[3]

समाज की संवेदनहीनता संबंधित कुछ घटनाएं :-

भीड़ की हिंसा के मामले जातीय और सांप्रदायिक उन्माद के कारण भी सामने आ रहे है लेकिन यह कहना बिल्कुल सही नहीं है कि सिर्फ समाज का कोई वर्ग विशेष ही ऐसी हिंसा के निशाने पर है इसका कोई तथ्यात्मक आधार भी नहीं है। देश भर से आ रही खबरों से यह साफ है कि लगभग हर समुदाय और वर्ग के लोग भीड़ की हिंसा के शिकार हो रहे हैं। इसका प्रमाण हाल की उन घटनाओं से मिलता है जो बीते दिनों में बिहार और झारखंड में घटीं है, बिहार में तीन मवेशी चोर भीड़ के हाथों मारे गए और झारखंड में डायन होने के शक में चार लोग मारे गये है, राजनीतिक और अन्य कारणों से शोर एकतरफा जरूर हो रहा है परन्तु वास्वत में इनके कारणों की समीक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्रीय जांच एजेंसी (एनआइए)[4] ऐसे मामलों में जब आरोप पत्र दाखिल करते है तो उनमें से 92 प्रतिशत मामलों में सजा दिलवा देती है सीबीआइ के मामलों में सजा दर 65 प्रतिशत है, लेकिन राज्य पुलिस का औसत 45 प्रतिशत ही है, स्वाभाविक है कि मानव संसाधन और अन्य मामलों में इन एजेंसियों को मिल रही सरकारी सुविधाओं में अंतर है, लेकिन क्या इतना अधिक अतंर है एक एजेंसी 92 प्रतिशत सजा दिलवाए और दूसरी एजेंसी सिर्फ 45 प्रतिशत? क्या इन एजेंसियों ने इस मुद्दे पर कभी विचारों का आदान-प्रदान किया

* असिस्टेंट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध छात्र, समाजशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

है? क्या कम प्रतिशत सजा दर वाले राज्य के सरकारी प्रतिनिधियों ने 77 प्रतिशत वाले राज्यों में जाकर उनके अनुभवों को जानने की कोशिश की है? लगता तो नहीं है, अन्यथा कुछ सुधार अवश्य हुआ होता। अब तो यह काम और भी जरूरी हो चुका है, क्योंकि भीड़ की हिंसा के नाम पर देश को बदनाम करने वाली शक्तियां सक्रिय हो चुकी है ये शक्तियां इससे अनजान नहीं हो सकती कि भीड़ की हिंसा का कारण सिर्फ सांप्रदायिक या जातीय ही नहीं है। वास्तव में आज मांब लीचिंग[5] ही नहीं अपितु कई ऐसे भी मामले देखने को मिले है जहां समाज के संवेदनशीलता पर सवालियां निशान उठता है वर्तमान समय में न्यायालय में उन मामलों की भरमार है जो कभी सामान्य बातचीत से हल कर लिए जा सकते थे परन्तु आज समय यह आ गया कि संतान को अपनी माता पिता की सेवा करने के लिए दिशा निर्देश न्यायलय द्वारा दिया जा रहा है, इसके पीछे मुख्य कारण अत्यधिक विलासिता भरा जीवन के प्रति आकर्षण है इससे परिवार में जुड़ाव व लोगों में लगाव की भावना में कमी आयी है तथा व्यक्ति की सोच लाभ तक ही सीमित हो गयी है।

सामाजिक संवेदनहीनता के कारण - सामाजिक संवेदनहीनता के कारणों का अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि इसके बहुत से कारण है –

- **आधुनिक शिक्षा का प्रभाव –** वर्तमान शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का स्वरूप काफी परिवर्तित हुआ है शिक्षा का जो स्वरूप सामने आया है उससे स्पष्ट हो जाता है वर्तमान शिक्षा में मूल्य शिक्षा का विशेष स्थान नहीं है जैसा कि सी. एस. लेविस ने कहा है "Education without values, as its is, seems rather to make man a more clever devil."[6] लेकिन प्रारम्भिक शिक्षा के वर्तमान स्वरूप को देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि बच्चों पर पढ़ाई का अधिक दबाव बनाया जा रहा है परन्तु उस पाठ्यचर्या में कहीं भी परिवार के प्रति किसी भी प्रकार के कार्यों को प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। वहीं जब बात उच्च शिक्षा की करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय उच्च शिक्षा जहाँ गुणवत्ता के लिए संघर्ष करती नजर आ रही है वहीं पाठ्यचर्या में कहीं भी उन चीजों को नहीं सम्मिलित किया जा रहा है जो संवेदनशील बनाने में कारगर होगीं। है

- **सामाजिक संबंधो का बदलता परिदृष्य व आधुनिक परिवार-** वर्तमान समाज में तीव्र गति से संचार के साधनों का विकास हुआ है जिसके कारण समाज के संरचना व संबंधों में तीव्र गति से परिवर्तन आया है परिवार का स्वरूप भी संयुक्त से एकल हुआ है परन्तु इन सभी में सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि परिवार के संबंधों में भी परिवर्तन आया है। हम आज के परिवार को उन परिभाषाओं से नहीं परिभाषित कर सकते है जिस प्रकार समाजशास्त्रियों ने किया है जैसा कि बर्गेस और लॉक[7] कहते है कि "परिवार व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोत्र के संबंधों पर आधारित होता है, यह समूह एक गृहस्थी का निर्माण करता है जिसके अन्तर्गत परिवार के सदस्यगण, पति-पत्नी, माता-पिता, भाई बहन की विभिन्न भूमिकाएं निभाते हुये एक दूसरे से अंतःक्रिया करते है, एक दूसरे से भावों और विचारों का आदान प्रदान करते हैं और इस प्रकार परिवार के लिए एक सामान्य संस्कृति का निर्माण करते है।" उपरोक्त परिभाषा का उद्देष्य परिवार को मात्र परिभाषा से स्पष्ट करना नहीं है अपितु इस परिभाषा की समीक्षा करना है कि क्या वर्तमान परिवार इस परिभाषा के स्वरूप को हु-ब-हु पालन कर रहे है, शायद नहीं! बाह्य तौर पर देखा जाए तो परिवार की संरचना तो समाजशास्त्री परिभाषा के अनुरूप नजर आयेगी परन्तु वास्तविकता है कि परिवारों में अंतःक्रिया का स्तर दिन प्रति दिन गिरता जा रहा है। लोग एक साथ तो रह रहे है परन्तु उनमें भावनात्मक लगाव का स्तर न्यून होता जा रहा है, साथ ही साथ मौज मस्ती वाले मूल्यों जो कि नकारात्तमक संस्कृति के पोषक है उनका विकास होता जा रहा है। एक तथ्य यह भी है कि वर्तमान समाज में आर्थिक प्रतियोगिता का स्तर काफी बढ़ गया है जिसके कारण परिवार में एक दूसरे के लिए वक्त नहीं रहा है इसके कारण जहाँ भावनात्मक विचलन की समस्या उत्पन्न हुई है वही एक नकारात्मक समाजीकरण भी परिवार के सदस्यों में उत्पन्न होता जा रहा है। इन सब में सोशल मीडिया ने आग में घी का काम किया है लोग अपने परिवार के सदस्यों से अपने मनोंभाव को नहीं बताते परन्तु दूर बैठे इन्सान से अपनी बाते करते है जिससे कहीं न कहीं भावनात्मक तौर पर असंतुलित होता जा रहा है। बहुत से लोग इस तथ्य को नहीं मानेंगे लेकिन इसके प्रमाण स्पष्ट है, आज के समय में भारत विश्व का सबसे अधिक डिप्रेशड व्यक्तियों का केन्द्र बन कर उभर रहा है सबसे अधिक युवा आत्महत्याएं भारत में देखने को मिल रही है। जबकि यदि भारत के संस्कृति का स्वरूप देखे तो स्पष्ट हो जाता है कि हमारी भारतीय संस्कृति ऐसी है जो यह बताती है कि जीवन कैसे जीना है परन्तु आज के समय में हो रही आत्महत्याएं इस ओर स्पष्ट इशारा कर रही है कि परिवार की भूमिका का महत्व सामाजीकरण में होना चाहिए वह कही न कहीं धूमिल होती जा रही है।

वैश्वीकरण तथा सामाजिक संवेदनशीलता :–

वर्तमान आधुनिक समाज में विभिन्न विचारकों ने अपने विचार आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में दिये और वास्तव में जैसे-जैसे विभिन्न संस्कृतियां व्यापारिक कारण से या अन्य कारणों से सम्पर्क में आयी है। वैसे-वैसे प्रत्येक समाज के मूल्यों में भी परिवर्तन आये है हालांकि यह कहना अनुचित होगा कि समाज में इन मूल्यों के विकास के कारण नहीं हुआ, इन मूल्यों ने मनुष्य के वैचारिक स्तर में बुद्धि की है परन्तु आधुनिकता का एक पक्ष यह भी है कि आज लोग काल्पनिक दुनिया को अपनी दुनिया मानने लगे है प्रत्येक भावना के लिए सोशल मीडिया पर ईमोजी उपलब्ध है, मनुष्य के

नैतिकता निर्माण का दायरा सोशल मीडिया या अन्य सूचनाओं के साधनों ने सीमित कर दिया है, किसी समाज की संवेदनशीलता समाज में निवास करने वाले लोगों के नैतिकता के मूल्यों पर निर्धारित होती है, नैतिकता के सन्दर्भ में **पैट्रिक जे. शीसन लिखित पुस्तक 'एथिक्स इन पब्लिक एडिमिनिस्ट्रेशन : ए फिलोसोफिकल एप्रोच**[8] में मनुष्य के नैतिकता को प्रभावित करने के लिए कार्य का उद्देश्य; वे परिस्थितियां जिनमें कार्य हुआ तथा कार्य का प्रयोजन की मूल भूमिका होती है। आज भारत में अधिकतर जनसंख्या युवा है तथा अगर वस्तुनिष्ठ तौर पर युवाओं का अवलोकन उपर्युक्त बिन्दुओं के आधार पर करें तो यह स्पष्ट है कि आज के युवा का आकर्षण एक लोकप्रिय इन्सान बनने की है तथा यही परिस्थितियां उसे स्व के प्रति ज्यादा संवेदनशल बनाती जा रही है तथा इन्हीं कारणों से उनकी गतिविधियां धीरे-धीरे संवेदनहीन बनती जा रही है।

आज परिस्थितियां ऐसी है कि किसी भी घटना के उपरान्त वहां उपस्थित लोगों में घटना के शिकार लोगों के सहायता से ज्यादा घटना के वीडियों की फुटेज की चिन्ता रहती है क्योंकि इन वीडियों के कारण लोग सोशल मीडिया व अन्य संचार के माध्यमों में काफी चर्चित हो सकते है लेकिन इस तरह की घटनाओं से यह विचार तो स्पष्ट हो जाता है कि सूचना, तकनीकी व अन्य प्रकार की सुख सुविधाओं के विकास तो हो रहे है लेकिन इससे संबंधित संवेदना पर किसी का ध्यान नहीं जाता है और यही संवेदनहीनता समाज के विघटन का कारण बनते जा रहे है रॉबर्ट के. मर्टन का संबंध सामाजिक संरचना में देखते है जो काफी हद तक सही है मर्टन ने विचलन को सामाजिक- सांस्कृतिक व्याख्या प्रस्तुत की तथा विचलन को साधन साध्य असंगतता का परिणाम माना है, वर्तमान समाज में वैश्वीकरण के प्रभाव से दो या दो से अधिक संस्कृतियां सम्पर्क में आ रही है तथा दोनों संस्कृतियों के मूल्य एक दूसरे को प्रभावित कर रहे है तथा जिसके कारण मर्टन के बताये गये एनोंमी के नवाचार वाले परिस्थिति का जन्म होता है तथा नये मूल्य समाज के संवेदना पर प्रत्यक्ष प्रहार करते है परन्तु यही कारण पर्याप्त नहीं है समाज में केवल परसंस्कृतिग्रहण की भावना प्रबल हुई है। अपितु समाज में सांस्कृतिक सापेक्षवाद भी समाज में सवेदनहीनता को जन्म देती है लोग अपने संस्कृति के मूल्यों के आधार पर दूसरों के संस्कृति को निम्न समझते है ऐसी बहुत सी घटनाएं है जो इस बात पर बल देती है जैसे दिल्ली में नाइजीरियन छात्रों पर हमला इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा भारत में आये दिन कुछ समुदायों के आन्दोलन देखने को मिलते है जो अपनी पहचान, संस्कृति व साधनों में लाभ के लिए हिंसक घटनाओं को अंजाम देते है जैसे जाट आरक्षण आन्दोलन व असम में बोडोलैण्ड की मांग हो।

गलत सूचनाओं ने वर्तमान समय में भारतीय ही नहीं अपितु विश्व के विभिन्न देशों जहां तक की अमेरिका के राष्ट्रपति चुनाव में कैम्ब्रिज एनालिटिका द्वारा सोशल मीडिया उपभोक्ता के डाटा शेयर करने के कारण राष्ट्रपति चुनाव को प्रभावित करने की भी बात सामने आयी है।

[9]Echelon Insights ने Hart Online Research Associates 1200 इन्टरनेट उपभोक्ताओं पर सूचनाओं के सत्यता के आधार पर सर्वे किया तथा निम्न आंकड़े प्राप्त किया है-

The Politics of Scocial media		
The information that comes from following		
	Trust	**Disturst**
Sent by respected friend	57%	4%
Directly from Candidate	41%	9%
Online News organisation	36%	18%

*Echlon Insights survey with Hart Online Research Associates

उपर्युक्त चार्ट से यह प्रतीत होता है जो भी सूचनाएं आज सोशल मीडिया में उपलब्ध है उनका विश्वसनीय होना जरूरी नहीं है।

किसी भी देश की प्रगति के लिए यह जरूरी है कि समाज में रह रहे विभिन्न समुदायों में परस्पर एकता, सहयोग व सौहार्द की भावना बनी रहे, भारत में वर्तमान में एक बड़ी जनसंख्या सूचनाओं व तकनीकों के साधनों से जुड़ी हुई है तथा आज इन सूचनाओं व तकनीकों के द्वारा कोई भी सूचना प्रसारित करना सुलभ हुआ है व आजकल इनके द्वारा बहुत सी गलत सूचनाएं तेजी से शेयर की जा रही है जिससे सामुदायिक एकता को आघात पहुँचता है साथ ही साथ इन पर शेयर ने युवा के मनोवृत्ति को काफी प्रभावित किया है तथा आजकल के युवा परिवार व मित्रों से ज्यादा समय सोशल मीडिया पर बिताते है तथा इसका नकारात्मक प्रभाव धीरे-धीरे सामने आ रहा है, ऑनलाइन होकर आत्महत्या करने की घटनाएं आये दिन सुनने को मिलती है वर्ष 2016 ब्लु व्हेल (गेम) की घटना ने यह सिद्ध कर दिया कि किस प्रकार किसी के आत्महत्या करने का कारण बन सकती है। आज समय आ चुका है कि विभिन्न शैक्षणिक संस्थाओं में तकनीक व सूचनाओं के महत्ता व इसके इस्तेमाल व संबंधित तथ्य प्राथमिक स्तर पर प्रारम्भ किये जाए जिस प्रकार पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में किये जाते है उसी प्रकार समाज व सूचना के परिप्रेक्ष्य में किया जाना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि सामाजिक पारिस्थितिकी भी इस विश्व के लिए व सतत् विकास के लिए अत्यन्त जरूरी है।

वास्तव में[10] भारत में वर्तमान समय में ऐसी अनेकों घटनाएं देखने को मिल रही है जो संस्थागत संवेदनहीनता का उदाहरण है,

पुलिस जिसकी भूमिका समाज में अपराध को नियंत्रित करना है उनके द्वारा भी कभी-कभी जघन्य अपराधों को अंजाम दिया जाता है।

जनसंख्या वाला देश है साथ ही साथ सबसे अधिक जनसांख्यिकी विभाजन (Demographic Dividend) वाला देश भी है और यदि समय पर हमारे देश में संवेदनशील बढ़ाने पर कार्य नही किया गया

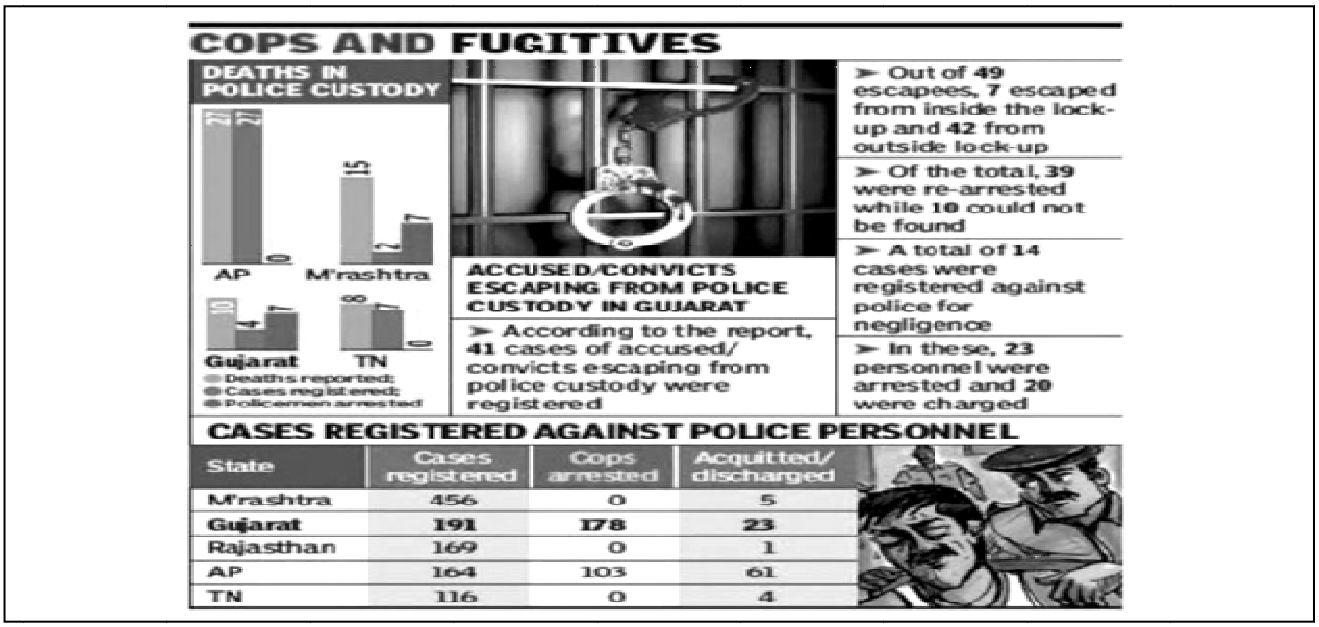

State	Cases registered	Cops arrested	Acquitted/ discharged
M'rashtra	456	0	5
Gujarat	191	178	23
Rajasthan	169	0	1
AP	164	103	61
TN	116	0	4

अक्टूबर 2019 की एक घटना है, प्रदीप तोमर जो एक सुरक्षा गार्ड थे उन्हें हापुऽ जिले के पिल्खुआ पुलिस स्टेशन में किसी हत्या के मामले में पुछताछ के लिए बुलाया गया उनके साथ उनका बेटा भी था पुलिस द्वारा पुछताछ के दौरान प्रदीप तोमर को बर्बरतापूर्वक प्रताड़ित किया गया और इसके बाद जब उनकी हालत खराब हो गयी तो उन्हें अस्पताल ले जाया गया जहाँ उनकी मृत्यु हो गयी लेकिन पुलिस पर कार्यवाही तब की गयी जब राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने इस मुद्दे को संज्ञान में लिया। हालांकि देश में ऐसे अनेक मामले आते है और उपर्युक्त सूचना चित्र से स्पष्ट है कि पुलिसवालों पर कुछ खास कार्यवाही नहीं होती है और यह हाल केवल पुलिस व्यवस्था का नहीं है बल्कि वर्तमान भारत की सभी सार्वजनिक सेवाओं से संबंधित मामलों में देखने को मिल रही है।

हाल के दिनों में लगभग सभी सूचकांक जिनका संबंध जीवन गुणवत्ता से है उनमें भारत का खराब प्रदर्शन यह स्पष्ट करता है कि वर्तमान समय में उत्पन्न हुए चुनौतियों को चिह्नित करते हुए उन पर ठोस कदम उठाये जाने की जरूरत है। बल्कि समाज में भी आधुनिकता के नये नैतिक आयाम को विकसित करने की जरूरत है शेयर और सब्सक्राइब के इस युग में इस बात को भी ध्यान रखने की जरूरत है कि क्या शेयर करना है और क्या नहीं करना है। आज की आधुनिकता एक प्रकार की दोधारी तलवार है और इसके साथ यदि हमनें नैतिक व मूल्यगत सन्तुलन नहीं बनाया तो यह विंध्वसकारी साबित हो सकती है। भारत जैसे देश में यह और भी जरूरी इस कारण हो जाता है क्योंकि भारत विश्व का सबसे अधिक तो यह जनसांख्यिकी विभाजन (Demographic Dividend) जनसांख्यिकी आपदा साबित हो सकती है और इसकी गंभीर परिणाम देखने को मिल सकते है।

निष्कर्ष एवं सुझाव-

वर्तमान समय में सूचनाओं के महत्व ने अपना विशेष स्थान बनाया है तथा यह सूचनाएं मनुष्य के जीवन को न सिर्फ सुविधाजनक बनाया है साथ ही साथ जीवन स्तर की गुणवत्ता में सुधार किया है। समाज के परिवर्तन में सूचना के महत्व का अध्ययन करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय मैनुअल कैस्टेल ने अपनी पुस्तक ''द इनफॉरमेशन इज इकोनॉमी''[11] में कहा है सूचना युग मन की शक्ति को प्रकट कर सकता है जो नाटकीय रूप से व्यक्तियों की उत्पादकता को बढ़ाएगा और अधिक से अधिक आध्यात्मिक गहराई और अधिक पर्यावरणीय चेतना प्राप्त कर सकेंगे। इस प्रकार का बदलाव सकारात्मक होगा। हालांकि 1990 में दिये गये अपने इस विचार में मैनुअल कैस्टेल काफी हद तक सही साबित हुए है परन्तु हाल के दिनों में घटनाओं ने इस तथ्य पर विमर्श करने की जरूरत है कि सूचनाओं को किस प्रकार प्रयोग किया जाये कि इन प्रकार की उपर्युक्त निन्दनीय घटनाओं पर अंकुश लगाया जा सके। इसके लिए निम्नलिखित कदमों को उठाने की जरूरत है-

सूचनाओं के सचेत प्रवाह :-

सूचना संसाधनों के दूरुपयोग रोकने के लिए अत्यन्त जरूरी है कि जो भी सूचनाएं इन्टरनेट के माध्यम से प्रसारित हो रही है

उसकी प्रमाणिक वस्तुनिष्ठता व सत्यता जरूरी है क्योंकि ज्यादातर सामाजिक हिंसा का कारण इस प्रकार के गलत सूचनाएं होती है इसके लिए उचित कदम उठाने की जरूरत है परन्तु ऐसे कदम प्रत्यक्ष तौर पर उठाने से सरकार को बहुत से मुश्किलों का सामना करना पड़ता है प्रायः समाचार ऐंजेंसियों के द्वारा सरकार पर यह आरोप लगाया जाता है कि सरकार द्वारा उन पर नियंत्रण स्थापित करने की कोशिश की जा रही है और इसी मतभेद वाले आरोप प्रत्यारोप के कारण सरकार कोई फैसला नहीं कर पाती है। वर्तमान समय की यह जरूरत है कि एक सूचना नियामक प्राधिकरण की स्थापना की जाए जो इन्टरनेट व अन्य संचार साधनों के द्वारा प्रेषित सभी सूचनाओं की जांच करे व गलत सूचना प्रसार होने से रोके साथ ही साथ उन पर उचित कार्यवाही करें।

शैक्षिक पाठ्यचर्या तथा सूचना :-

वर्तमान समय सूचना का समय है ऐसे में सूचनाओं की महत्ता पर ध्यान स्कूली स्तर की शिक्षा से ही दिये जाने की जरूरत है साथ ही साथ सूचना और इसके नैतिकता से संबंधित तथ्यों को पाठ्यक्रम में विशेष स्थान देने की जरूरत है क्योंकि जब व्यक्ति को बचपन से ही सूचना व इससे संबंधित सर्तकता की शिक्षा दी जाऐगी तो स्पष्ट है तो आगे चलकर उनमें सूचनाओं संसाधनों इस्तेमाल करने को लेकर पर्याप्त समझ विकसित हो चूकी होंगी।

त्वरित व उचित न्याय :-

प्राय भीड़ द्वारा की गयी हिंसा में इस बात का आत्मबल होता कि हिंसा जैसी जघन्य घटना को अंजाम देने के बाद भी उन पर कोई कार्यवाही नहीं होगी जो वर्तमान परिप्रेक्ष्य में काफी हद तक सही भी है लेकिन यही ऐसी अवसंरचना विकसित की जाए कि इस प्रकार की घटनाओं पर तुरन्त कार्यवाही व उचित न्याय का प्रावधान हो तो इस प्रकार की घटनाओं को रोका जा सकता है हालांकि राजस्थान, असम आदि सरकारों ने ऐसे कानून बनाने की पहल की है जो काफी हद तक एक प्रशंसनीय कदम है।

वस्तुतः किसी भी देश का विकास वहाँ के नागरिक के जीवन स्तर में सुधार से मापा जाता है। आधुनिक समाज में सूचना की महत्ता को ध्यान में रखकर इसको आधुनिक समय के स्वर्ण का दर्जा दिया गया है वहीं बहुत सी घटनाओं ने इसके नकारात्मक प्रभाव को भी इंगित किया है। सारांश तौर पर यह कहना उचित होगा कि सूचना संसाधन मनुष्य के जीवन में सुधार तो किये है परन्तु इसके अनैतिक इस्तेमाल ने नवीन चुनौतियों को भी जन्म दिया है जिस पर समय रहते प्रयास न किया गया तो यह सम्पूर्ण समाज के लिए अभिशाप साबित होंगी।

सन्दर्भ सूचीः-

1. RSTV Special – Deendayal Upadhyaya Centenary celebration, Sep. 25, 2017
2. The Week Magazine, Chillings details of what to let to lyching in Kamatala's Bidar
3. तिवारी, ए.के. (2016) समाजशास्त्र भाग-2, टॉरगेट पब्लिकेशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 183
4. जनसत्ता संपादकीय, भीड़तंत्र की चुनौती, अंक दिनांक 28 जून 2019, पृष्ठ सं. 9
5. जनसत्ता संपादकी, भीड़ व कानून, अंक दिनांक 22 जुलाई 2019, पृष्ठ सं. 11
6. https://www.civilserviceindia.com/esssy education without values
7. कुमार धर्मेन्द्र (2016) समाजशास्त्र, मैक्ग्रहिल्स पब्लिकेशन, दिल्ली पृष्ठ सं. 69
8. जी. सुब्बाराव, पी.एन. राय. चौधरी (2015) नीतिशास्त्र, सत्यनिष्ठा एवं अभिवृत्ति, दिल्ली, पृष्ठ सं. 164
9. Echlon Insights survey with Hart online Research Associates Report.
10. Times of India/timesofindia.com/ Gujarat ranks first in cops arrested, Parth Shastri/oct 25, 2019
11. कुमार संजीव (2019) समाजशास्त्र भाग-2, अरिहन्त पब्लिकेशन (इंडिया), लिमिटेड, मेरठ, पृष्ठ सं. 61

●

डॉ. सर्वपल्ली राधा–ष्णन और उनकी सार्वभौम शान्ति की संकल्पना

*डॉ. श्रुति मिश्रा**

आज आधुनिक विश्व में मनुष्य एक संदेह और दुविधा की स्थिति से गुजर रहा है। अध्यात्म और धार्मिक विश्वासों का स्पष्ट संदर्भ डॉ. राधाकृष्णन के इस वक्तव्य से प्राप्त होता है जब वे कहते है कि 'मेरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य धार्मिक मार्ग से अपदस्थ हुए कोटि-कोटि लोगों में आध्यात्मिक मूल्यों का संचार करना है।'[1]

डॉ0 राधाकृष्णन ने माना है कि धर्म का जिस तरीके से आजकल व्यवहार होता है वह एक गंभीर समस्या है। वे कहते हैं, 'धर्म जिस तरीके से आज व्यवहृत है उसका स्वरूप अवैज्ञानिक और असामाजिक है। हमारे मूल्य शिथिल हुए हैं। हमारे विचार उलझे रहे हैं। हमारा भविष्य अनिश्चित सा दीख रहा है।[2]

धर्म की इस रुग्ण होती परिकल्पना हेतु उन्होंने एक सुझाव दिया है जिसमें डॉ. राधाकृष्णन ने मनुष्य मात्र के लिए एक सार्वभौम धर्म की संकल्पना की है और उसके शीघ्रातिशीघ स्थापित होने की आवश्यकता पर बल दिया है। वे कहते हैं, ''हमारे ऐतिहासिक धर्मों को सार्वभौम आस्था के रूप में परिवर्तित होना होगा, अन्यथा वे शीघ्र ही अपना स्वरूप खोकर विलुप्त हो जाएंगे। यह दृश्य किन्हीं लोगों को विचित्र लग सकता है या यह कहें कि संभव है उन्हें यह विचार स्वागत योग्य न लगे लेकिन इसका अपना ही सौंदर्य और सत्य यह है कि यह विचार लोगों के मन मस्तिष्क में पनप रहे हैं और शीघ्र ही आकार लेंगे।''[3]

इस पत्र में राधाकृष्णन के इन्हीं दृष्टिकोणों पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही वर्तमान के अग्रगण्य धर्मों के अवमूल्यन का हेतु जानने का भी प्रयास किया गया है।

धर्म से इतर अन्य क्षेत्रों जैसे कला, विज्ञान-तकनीकी इत्यादि में मनुष्य ने उल्लेखनीय प्रगति की है और परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में विकास करने के बावजूद मनुष्य दुःखी, असंतुष्ट और भयग्रस्त है और यह पूरी तरह तनाव और दुःखी से भरा हुआ है। इसके पीछे कारण यह है कि इंसानी बाहरी दुनिया को खोजने-जानने के क्रम में वह स्वयं को समझना, जानना भूल गया है और इसी कारण वह स्वयं में ही असंतुष्ट है। जबकि यही अंतर्मुखिता उसकी आंतरिक शांति और उल्लास का कारण भी हो सकती थी। उनका यह उद्धरण बहुत महत्वपूर्ण है कि ''एक व्यक्ति के लिए एक इंसान के लिए क्या लाभप्रद है इससे क्या लाभ यदि वह पूरा संसार ही पा जाए और स्वयं को ही खो दे।''

डॉ. राधाकृष्णन अपनी पुस्तक 'द प्रेज़ेंट क्राइसिस ऑफ फेथ' में हमारा ध्यान इस असंतुलन की तरफ आकृष्ट करते हैं और इस तरफ भी कि हमारे आंतरिक और बाह्य अनुसंधान के कारक वस्तुतः क्या होने चाहिए?

डॉ. राधाकृष्णन यह स्वीकार करते हैं कि इस दुर्दशा के लिए उत्तरदायी हमारे द्वारा बनाया गया असंतुलन और अध्यात्म तथा विज्ञान एवं तकनीकी के बीच हमारा सामंजस्य न बिठा पाना है।

नैतिक एवं आध्यात्मिक क्रांति ही एक मानव को हर प्रकार के आर्थिक उत्पादन, तकनीकी संस्थानों, नस्लीय विविधताओं और राष्ट्रीय अहंवाद से दूर कर उसे एक मानव को गौरव देकर प्रतिष्ठित कर सकती है।[4]

उनके अनुसार आज हमें जिस चीज की सर्वाधिक आवश्यकता है वह-है-'आध्यात्मिक धर्म जो कि सार्वभौम रूप से वैध हो, सीधा सपाट हो, सरल हो तथा जिसमें सत्य को समझने की नवीन समझ तथा सामाजिक जागृति के प्रति एक जुनून हो।'[5]

किसी के मन में संभव है यह विचार आए कि हमारी वर्तमान स्थिति में आखिर क्या कमी है? या वे कैसे आज के संदर्भ में सही नहीं ठहरते? इसका उत्तर यही है कि वस्तुतः वे किसी भी प्रकार से गलत नहीं है यदि हम उनकी आध्यात्मिक दृष्टि की ओर देखें जो कि उनके संस्थापकों द्वारा डाली गई थी। सभी धर्म मौलिक रूप से एक ही उद्देश्य 'आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि' के लिए स्थापित हुए हैं। सभी धर्मों का मूलभूत उद्देश्य निस्संदेह एक ही है वे सभी जिज्ञासा करते हैं कि वह गुण तत्व क्या है जो हमारे चिंतन का विषय होना चाहिए। वे सभी सीधे उस तत्व की ओर ही संकेत करते हैं जो कि हमारे आभ्यंतर वृत्ति की जागृति का हेतु है। अपने वास्तविक स्वरूप को उजागर कर परमसत्य से तादात्म्य स्थापित कर जगत् की उसी परम तत्व की अभिव्यक्ति के रूप में व्याख्या करते हैं और इस तरह से धर्म हमें हमारी और विश्व की संकीर्ण, स्वार्थी पूर्वाग्रहरहित मानसिकता से ऊपर उठाकर हममें प्रेम और भाईचारे की सहयोग भावना स्थापित करने का कार्य करता है और इस तरह से इनका मूलभूत उद्देश्य हमें शांति और आनंद प्रदान करना ही है।

कठोपनिषद् में कहा गया है, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि उसकी इंद्रियाँ बाहर की तरफ उन्मुख होती हैं, कोई भी व्यक्ति बहिर्मुखी होता है न कि अंतर्मुखी कुछ बुद्धिमान लोग ही अंतर्मुखी हो पाते हैं।[6]

---

* सहायक आचार्या, दर्शन एवं धर्म विज्ञान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

बाइबल की शिक्षा भी यही कहती है कि ईश्वर का साम्राज्य जो हमारे अंदर है इसी सत्य को उद्घाटित करता है। अस्तित्ववादी दार्शनिक किर्केगार्ड का भी प्रकारांतर से यही कहना है कि सत्य वैयक्तिकता से अनन्य है। निश्चित रूप से उनका तात्पर्य यह नहीं कि सत्य विशिष्ट या व्यक्ति विशेष पर निर्भर करता है।

यही संदेश व्हाइटहेड द्वारा दिया गया जब वे यह कहते हैं कि धर्म वह है जो एक व्यक्ति अपने एकांत में प्राप्त करता है और हममें एक अपेक्षाकृत अधिक सार्थक अभिवृत्ति जीवन के प्रति उत्पन्न करता है। यदि आप कभी एकांतिक नहीं है तो आप कभी धार्मिक नहीं हैं।[7]

डॉ. राधाकृष्णन इसी विचार और भाव को अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं कि 'यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है किंतु आत्मा में अधिक सरलता से प्राप्य है। यह आंतरिक प्रकाश कभी भी अंधकार में नहीं होता है और यह उन लोगों की प्रज्ञा को प्रकाशित करता है जो उसकी तरफ उन्मुख होते हैं।[8]

वे इससे आगे कहते हैं कि धर्म का स्वरूप ऐसा है कि वह अंतर्मुखी बनाता है। हमारी जागृति को गहनता प्रदान करता है और हममें एक अपेक्षाकृत अधिक सार्थक अभिवृत्ति जीवन के प्रति उत्पन्न करता है। जो हमें बंधन से मुक्त करता है और आत्मा के अस्तित्व के प्रति हमारे विश्वास को और सुदृढ़ता प्रदान करता है। जब इसका स्वरूप बहिर्मुखी होने लगता है तभी यह अपना स्वरूप खोने लगता है। आज हम धर्म का जो विकृत होता रूप देख रहे हैं वह इसीलिए है क्योंकि इसका स्वरूप बाह्य कर्मकांडों के ऊपर आश्रित हो गया है और इसी कारण यह अपने मूल स्वरूप से भटक गया है।

डॉ. राधाकृष्णन यह बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि धार्मिक जीवन सदा ही आध्यात्मिक क्रांति के केंद्र पर निर्भर करता है जब भी उसका बाह्यीकरण किया जाता है यह अपना मूलस्वरूप खो देता है।[9]

हालांकि सभी महान् धर्मों में संस्थापकों ने बल देकर आंतरिक पिपासा को ही धर्म के अपरिहार्य तत्व के रूप में स्थापित किया था लेकिन बाद के कुछ धर्मगुरुओं ने जो स्वयं ज्ञानसंपन्न नहीं थे और न उनके पास इतनी क्षमता थी कि लोगों को अंतर्मुखी बना आत्मा के प्रति जागृत कर सकें धर्म का स्वरूप विकृत कर दिया। इसी कारण उनके द्वारा धर्म के स्वरूप को वितण्डाओं से परिपूर्ण कर दिया गया। ऐसा धर्म जिसका स्वरूप पूर्णतया आभ्यंतर था उसे बाहर कर दिया और रिवाज़ों, संस्कारों को अतिरिक्त रूप से महत्व देना आरंभ कर दिया। स्वाभाविक रूप से विभिन्न धर्म, भाषा, परंपरा, व्यवहार, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक विशेषताओं पर निर्भर करने लगे जिन-जिन देशों में इन धर्मों की उत्पत्ति और विकास हुआ। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से एकमात्र अध्यात्म जो कि धर्म केंद्र था उनके स्थान पर उसका स्वरूप बाह्य होता गया। इन सबका स्वाभाविक परिणाम इस रूप में सामने आया कि जनसामान्य द्वारा इन रीति-रिवाजों, धार्मिक पुस्तकों और व्यक्तियों तक सीमित कर एक दूसरे से वैमनस्य रखने लगे यहां तक कि शिक्षित और बुद्धिजीवी वर्ग भी कई बार निकृष्ट वितण्डा और शत्रुभाव से ग्रस्त होकर विवादों में लग गए। इस तरह धर्म संप्रदायों में विभक्त हो जाया करते हैं जो कि धर्म की दृष्टि से अत्यंत गर्हित सिद्ध होता है।

परिणामतः, आज धर्म के अनिवार्य तत्व सहिष्णुता, दया भाव जीवनमात्र के प्रति सेवा भाव के स्थान पर लोग असहिष्णु, स्वार्थी और कट्टरपंथी होते चले गए। इसके स्थान पर कि उनमें उनका ज्ञान के प्रति अनुराग हो, वे अपने पूर्वाग्रहों और गलत विश्वासों की अंधसंरक्षक बनकर उभरे।

पाक कुरान में भी यही कहा गया कि ईश्वर के प्रति सच्चा अनुराग रखने वाला सभी धर्म संस्थापकों के प्रति सम्मान रखता है। सिख धर्म में भी संप्रदाय, जाति, कुल आदि का कोई भी महत्व नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय बहुत ही सहज तरीके से दिया है जब वे कहते हैं, 'आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।'[10]

बावजूद इसके कि संस्थापकों की दृष्टि उदार थी। डॉ. राधाकृष्णन ने माना कि कालांतर में धर्मों के बीच विभिन्न प्रकार की टकराहट और विरोध होने लगे जिसे उन्होंने अविश्वसनीय, असाधारण भ्रष्टाचार और अपकर्ष की संज्ञा दी है।[11]

इस भ्रष्टाचार ने शोषण के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। डॉ. राधाकृष्णन यह भी कहते हैं कि कई बार जिस तीव्रता और क्रूर असंवेदनशीलता के साथ धर्म उपदेश किया गया वह मानव इतिहास का एक अगौरवशाली पक्ष है।[12]

डॉ. राधाकृष्णन पुनः कहते हैं कि आखिर धर्म की संकीर्णता को दूर करने का उपाय क्या है? इसके चार उपाय हो सकते हैं-

1. सभी धर्म समाप्त कर दिए जायें।
2. सभी धर्मों का समन्वय किया जाए।
3. सभी धर्मों का शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व तय किया जाए।
4. एक सार्वभौम धर्म की स्थापना की जाए।

डॉ. राधाकृष्णन पुनः कहते हैं किन्हीं धर्मों को समाप्त कर देना इस बात की ओर संकेत करता है कि जैसे किसी बीमारी को समाप्त करने के स्थान पर बीमार व्यक्ति को ही समाप्त कर दिया जाए।

धर्म वस्तुतः एक अत्यंत महनीय वस्तु है। यह धर्म ही है जो मनुष्य के मन के अत्यंत करीब है और मनुष्य की प्रकृति से समग्रता रखता है।

धार्मिक चेतना को वस्तुतः मानव जाति के सामान्य अधिकृत क्षेत्र के रूप में लिया जाता है।

धर्म का कार्य वस्तुतः मनुष्य की धर्म संबंधी मौलिक अभिकांक्षाओं की पथभ्रष्टता नहीं होनी चाहिए।

द्वितीय विकल्प जिसमें सभी धर्मों का समन्वय करने की बात कही गई है। वह इस प्रकार से असंभव है क्योंकि सभी धर्म न जाने कितने अलग-अलग प्रकार के रिवाज़ों और आग्रहों से युक्त हैं। संभवतः व्यावहारिकता को दृष्टिगत करते हुए ही डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि यह संसार बहुत सारे धर्मों का सम्मिश्रण नहीं है क्योंकि धर्म की निष्णातता और उसका ज्ञान मनुष्य के धर्म की आधारभूत लक्षणों के ज्ञान और उसकी धार्मिक अनुभूति पर निर्भर करता है।[13]

डॉ. राधाकृष्णन तीसरे विकल्प पर विचार करते हैं जब एक सामान्य समझ के आधार पर एक दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप करना बंद किया जाए जिसका उद्देश्य विभिन्न धर्मों का एक शांतिपूर्ण सहअस्तित्व है। किंतु, आत्म नियंत्रण और सहिष्णुता, तनाव और मतभेद दूर करने हेतु मात्र प्राथमिक आवश्यकताएं हैं। ये सभी विश्व में शांति स्थापित करने के अपरिहार्य कारण तो है लेकिन पर्याप्त कारण नहीं हैं।

इसीलिए डॉ. राधाकृष्णन ने कहा सहअस्तित्व प्रथम पग है।[14]

हमें अपने काल और समय के अनुरूप वैश्विक सत्य धारण करने का प्रयास करना चाहिए।[15]

आज विज्ञान और तकनीकी में अभूतपूर्व प्रगति होने की स्थिति में लोगों की बीच की दूरी सिमट कर रह गई है और हम स्वयं को एक छोटे से विश्व में पाते हैं। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि हम एक ऐसे विश्व में रहते हैं जो न तो पाश्चात्य है न ही पूर्वी। बल्कि सभी यहाँ विभिन्न सभ्यताओं की तह में रहा करते हैं। यह नया विश्व-समाज एक नई वैश्विक दृष्टि की अपेक्षा करता है जिसका आधार दूसरी सांस्कृतिक परंपराओं के प्रति हमारे सम्मान और समझ की दृष्टि का परिणाम होगा।[16]

इस नये समाज में हमें एक नए वैश्विक धर्म की आवश्यकता होगी। धर्मों के लिए आवश्यकता होगी कि वह अपनी अबौद्धिकता, प्रतिक्रियावादी सामाजिक चरित्र और अपनी प्रांतीय संकीर्णता से निजात पाये।[17]

वस्तुतः, विश्व की आध्यात्मिक एकता की अस्वीकृति के साथ, धर्मों के वैभिन्य को रेखांकित करना दार्शनिक दृष्टि से अतार्किक, नैतिक रूप से अग्राह्य तथा सामाजिक रूप से खतरनाक है। यदि मानवीय मुद्दों के संदर्भ में धर्म को और प्रभावशाली होना है और नई वैश्विक व्यवस्था के संदर्भ में इसे आधार स्वरूप कार्य करना है तो इसे अंतर्मुखी तथा और अधिक वैश्विक होना होगा।[18]

धर्म एक ऐसी लौ है जो हमारे अंतर को पवित्र करती हुई संपूर्ण विश्व को निर्मल करती है।

इस आर्थिक और राजनीतिक युग में गला काट प्रतिस्पर्धा और विध्वंसकारी दौड़ तथा ईर्ष्या को संज्ञान में लेते हुए यह धर्म ही एकमात्र मानव अस्तित्व का हेतु हो सकता है। यह विश्वास का वह मार्ग है जो व्यक्ति को संपूर्ण आशावाद के साथ आने वाली चीज़ों के लिए प्रोत्साहित करता है।[19]

डॉ. राधाकृष्णन चौथे विकल्प को चुनते हैं जिसके द्वारा आत्मा के सार्वभौमिक विकास के माध्यम से नैतिक और आध्यात्मिक क्रांति आ सकेगी। सार्वभौमिक धर्म के प्रकाश में ही यह भी उजागर होता है कि यह विश्व के सामान्य सामर्थ्य को प्रकाशित करने का एक प्रभावशाली तरीका है जबकि यह विश्व स्वयं को एक संभावित गर्त से बचा रहा होता है।

चूंकि मानव समाज मूलतः एक ही है इसलिए अलग-अलग मतों के वैभिन्य का समन्वय कर एक सामान्य रूप से धर्म के स्वीकृत संदर्भों को स्वीकार किया जाए। हम यह जानते हैं कि इंद्रिय संवेदन और वैज्ञानिक अनुसंधान की स्थितियों में उनके तरीकों में बहुत ही स्पष्ट भेद है और वह भेद है वास्तविक और भ्रामक के बीज के विभेदीकरण का।

आधुनिक युग में वैज्ञानिक अनुसंधान एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन इस रूप में कर सकता है कि उसके पास आश्चर्यजनक पद्धतियां हैं जिसके द्वारा धर्म के विभिन्न मतों के भेद दूर हो जाएं। संभव है इसी वैज्ञानिक पद्धति को धर्म के संदर्भ में लागू कर इस समस्या का निराकरण भी प्राप्त हो जाए।

हम आशा कर सकते हैं कि इस प्रकार हम विभिन्न धर्मों के संदर्भ में आने वाली कठिनाइयों से निजात पाकर एक सावैभौम निष्कर्ष के द्वारा अपनी आंतरिक आध्यात्मिक सत्य की पिपासा का शमन कर सकते हैं।

सभी स्थानों और काल के रहस्यवादी पक्ष ने पहले ही एक मार्ग प्रशस्त कर रखा है और एक उल्लेखनीय साम्यता उन सभी धर्मों की रहस्यात्मक अनुभूति के रूप में देखी जा सकती है। अतः वैज्ञानिक प्रविधि ही हमारी आध्यात्मिक पिपासा को शांत कर धार्मिक व्यवस्था की समस्या का समाधान करने का एकमात्र मार्ग दिखाई देता है।

व्यक्तिगत रूप से कोई व्यक्ति किसी भी धार्मिक मार्ग का अनुसरण करने में समर्थ है लेकिन साथ ही वह अध्यात्म के मार्ग पर बढ़ने हेतु भी स्वतंत्र है। अंतश्चेतना की जागृति को समझने के लिए साधक अपनी शरीररूपी प्रयोगशाला में उसी प्रकार शरण लेता है जिस प्रकार एक विज्ञान का विद्यार्थी अपने प्रयोगों हेतु प्रयोगशाला में प्रवेश करता है। किसी व्यक्ति को अपने शरीर तथा इंद्रियों को पवित्र रखने की आवश्यकता होती है। सभी प्रकार के त्याज्य विचारों और कर्मों से स्वयं को पृथक कर उसे अपना ध्यान एकाग्रवृत्ति के साथ स्वयं में केंद्रित करना पड़ता है। अतः निरंतर अभ्यास और योग्य गुरु के सान्निध्य में समर्पण के द्वारा ही चेतना की जागृति को

प्राप्त किया जा सकता है। इस आंतरिक अनुभव की वस्तुस्थिति को जानने और समझने के लिए यह सही है अथवा नहीं हमारे पास कोई मानदण्ड होना ही चाहिए जैसा कि इंद्रियानुभव और वैज्ञानिक अनुसंधान के संदर्भ में हमारे पास होता है। हम जानते हैं कि विभिन्न धार्मिक अनुभवों के विभिन्न प्रकार के रहस्यवाद संबंधी अनुभव चाहे वे विभिन्न स्थान, काल, परंपरा का अनुसरण करते हों, अपनी अवधारणाओं में उल्लेखनीय साम्य रखते हैं। रहस्यवाद की ऊंची नैतिकता और समग्रवादी बौद्धिकता बहुत कुछ वैज्ञानिक पद्धति की स्वस्थ मस्तिष्क पद्धति से संवाद करती है जैसा कि अन्वेषकों और वैज्ञानिकों की पाई जाती है।

विश्व के समस्त प्राणियों के लिए बंधुत्व का भाव जो कि हर प्रकार के रहस्यवाद में प्रदर्शित होता है और यही एकमात्र तत्व सही प्रकार के रहस्यवाद में सामान्यतः देखा जाता है जो कि एक सामान्य परिणति है इस तथ्य की कि हम एक सार्वभौम पितृत्व की उत्पति है और यही महत्वपूर्ण विशेषता इसे गलत तत्वों से अलग करती है।

प्रेम तथा सहानुभूति का अभाव एवं धर्म के नाम पर दूसरे मानवों से घृणा और शत्रुता धर्म की नहीं अधार्मिकता का परिचायक है।

सच्चे धर्म का बाहरी क्रियाकलाप और कर्म कारणों से कुछ भी सरोकार नहीं होता है। हालांकि विभिन्न ऐतिहासिक धर्मों के अनुयायी अपने धर्म के बारे स्वरूप को यथावत तब तक रख सकते हैं जब तक कि प्रेम और सहानुभूति के मूलभूत सिद्धांतों से उनका कोई टकराव या विरोध ना हो।

आंतरिक चेतना ही विकास की प्रक्रिया के दौरान उन्हें स्वयं बाह्याडंबर के खोखलेपन और अप्रासंगिकता का अनुभव हो जाएगा। डॉ. राधाकृष्णन इसी संदर्भ में रेखांकित करते है जब वह कहते हैं, 'पारंपरिक सूत्रों का वैभिन्य आध्यात्मिक उत्कृष्टता प्राप्त करने पर स्वयमेव समाप्त हो जाता है।'[20]

वे पुनः कहते हैं, 'वे सारे बंधन जो मनुष्य-मनुष्य को विभाजित करते हैं वे सभी टूट जाएंगे और सभी का पुनर्गठन और एकीकरण स्थापित होगा। उस दिन से हम पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर ईश्वर का स्वरूप निर्धारित करना और उसके बारे में झगड़ा करना छोड़ देंगे बल्कि हर व्यक्ति अपने हृदय में उसका अपने तरीके से निर्माण करेगा।'[21]

इसी तरीके से ही आत्मा के सार्वभौमिक धर्म का निर्माण मुक्तिपथ हेतु किया जा सकता है।

डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि 'मुक्ति का मार्ग चाहे वह आंतरिक चेतना की जागृति हो या संसार की सेवा उसमें अनवरत श्रम की अपरिहार्यता होती है। जैसा कि डॉ. राधाकृष्णन बताते हैं, वे जो कि मुक्तात्माएं हैं और दिव्यजीवन हेतु हमारे संवाहक हैं इनके दो पक्ष हैं-या कि ध्यानपरायणता या सक्रियता।

वास्तविक धर्म के अंतर्गत संसार में निमग्नता या उससे विरक्ति होती है।

उपर्युक्त विश्लेषण के प्रकाश में डॉ. राधाकृष्णन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि धर्म अवैज्ञानिक या अबौद्धिक नहीं है। न ही सामाजिक या पलायनवादी है। इसकी स्वीकृति बहुत सी गंभीर समस्याओं का समाधान कर शुभेच्छा संयुक्त मनुष्य को शांति प्रदान करती है।

डॉ. राधाकृष्णन उद्घोषणा करते हैं उनकी आत्मा का सार्वभौमिक धर्म प्रक्रिया में है और बहुत ही शीघ्र ही एक जाना पहचाना तथ्य होगा। लेकिन अपने इस परम आशावादी विचार के समर्थन में वे बहुत थोड़े ही साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

इस अतिरिक्त आशावादिता के बाद भी डॉ. राधाकृष्णन के पास बिना किसी संदेह की एक गहरी अंतर्दृष्टि है, और वह अंतर्दृष्टि है बेहद अनिवार्य तत्वों से युक्त धर्म और पारंपरिक धर्म में समाहित दोषों को अलग कर पाने की। इन दोषों को दूर करने के लिए एकमात्र आध्यात्मिक अनुभूति जो कि वैज्ञानिक प्रक्रिया के माध्यम से प्राप्त की जाती है, निश्चित रूप से मानव जाति को एकीकृत कर सकती है जो कि अलग-अलग धर्मों के कारण विभाजित हो गया है। वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान जब नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से संबंधित होते हैं तो वह अपने वर्तमान विध्वंसकारी स्वरूप से परिवर्तित हो जाते हैं इसलिए यह स्पष्ट है कि यदि डॉ. राधाकृष्णन के सुझावों पर गंभीरता से संपूर्ण अमल किया जाए तो अपेक्षाकृत बेहतर धार्मिक एकता पाने में हम सफल हो सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'' इन द फिलॉसफी ऑफ सर्वपल्ली राधाकृष्णन एडि. पॉल अर्थर स्लीप (न्यूयार्क : ट्यूडर पब्लिशिंग कंपनी 1952, 14)
2. वही, पृ0 25
3. वही, पृ0 81-82
4. एस. राधाकृष्णन ''द प्रेज़ेंट क्राइसिस ऑफ फेथ'' (डेल्ही हिंद पॉकेट बुक्स 1970), पृ0 81-82
5. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 25-26
6. कठोपनिषद्, 2.1.1
7. A.N. Whitehead "Religion in making" (New Yor: Macmillan Company 1930)] Page 16-17
8. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 69-70
9. वही, पृ0 77
10. ऋग्वेद, 1.89.1

11. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 24
12. वही, पृ0 7
13. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 75
14. एस. राधाकृष्णन ''द प्रेजेट क्राइसिस ऑफ फेथ'' (डेल्ही हिंद पॉकेट बुक्स 1970), पृ0 24
15. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 74
16. वही, पृ0 73
17. एस. राधाकृष्णन ''द प्रेजेट क्राइसिस ऑफ फेथ'' (डेल्ही हिंद पॉकेट बुक्स 1970), पृ0 24
18. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 75
19. एस. राधाकृष्णन ''द प्रेजेट क्राइसिस ऑफ फेथ'' (डेल्ही हिंद पॉकेट बुक्स 1970), पृ0 14
20. एस. राधाकृष्णन ''द रीलिजन ऑफ द स्पिरिट एण्ड द वर्ल्ड्स नीड : फ्रेगमेंट्स ऑफ कन्फेशन'', पृ0 77
21. वही, पृ0 81

●

''रामचरितमानस के 'सुन्दरकाण्ड' का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन''

*डॉ0 प्रेमनिवास सिन्हा**

वस्तुतः रामचरितमानस (संवत् 1631-1633) मध्यकालीन भक्तिकाल के सगुन भक्ति-धारा के श्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास की महत्त्वपूर्ण कृति है। यह वेद, शास्त्र, पुराण तथा अनेक भारतीय धर्म और संस्कृति के ग्रन्थों का सार लेकर लिखा गया है। इसके अन्तर्गत उदात्त मानव-जीवन की एक परिपूर्ण कल्पना है। राम के व्यक्तित्व में मर्यादा पुरुषोत्तम और ब्रह्मत्व का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है। यह ग्रन्थ निम्नलिखित सात काण्डों में विभक्त अवधी भाषा में दोहा-चौपाई छंदों में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त अनेक मात्रिक और वार्णिक छंदों का भी प्रयोग हुआ है।

1. बालकाण्ड, 2. अयोध्याकाण्ड, 3. अरण्यकाण्ड, 4. किष्किन्धाकाण्ड, 5. सुन्दरकाण्ड, 6. लंकाकाण्ड, 7. उत्तरकाण्ड। 'रामचरितमानस' में रामजन्म से लेकर (बालकाण्ड) राम राज्याभिषेक (उत्तरकाण्ड) तक की कथा का वर्णन है। 'रामचरितमानस' का पाँचवां सोपान 'सुन्दरकाण्ड' है। इस काण्ड का अपना एक अलग प्रबन्धात्मक अस्तित्व है। यह काण्ड पूर्णरूपेण श्री हनुमान की गतिविधियों से संयोजित है। इसके नायक हनुमान हैं। मुख्य कथा फल है—जनकनंदिनी सीता की खोज। सीता की खोज के बाद कवि नितान्त कुशलतापूर्वक मुख्य कथावस्तु से इस कथांश को सम्बद्ध कर देता है। जिस प्रकार 'महाभारत' का विराट पर्व सर्वश्रेष्ठ अंश है, उसी प्रकार 'रामचरितमानस' में 'सुन्दरकाण्ड' सर्वश्रेष्ठ अंश है। इसकी श्रेष्ठता के सम्बन्ध में कहा गया है—

'सुन्दरे सुन्दरो रामः सुन्दरे सुन्दरी कथा ।

सुन्दरे सुन्दरी सीता सुन्दरे किन्न सुन्दरम् ॥

-'सुन्दरकाण्ड' (संवत् 2076), गीताप्रेस, गोरखपुर

अर्थात् '' 'सुन्दरकाण्ड' में श्रीराम सुन्दर हैं, कथा सुन्दर है, सीता सुन्दर हैं, सुन्दर में क्या सुन्दर नहीं है।'' सुन्दरकाण्ड की कथा पात्रों के स्वभाव और आचरण आदि में आध्यात्मिकता तथा रहस्यात्मकता का मणिकांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है। इसमें दोहों की संख्या 60, छंदों की संख्या 6, सोरठा की संख्या 01 तथा चौपाइयों की संख्या 271 है।

दरअसल, साहित्य/काव्य की भाषा सामान्य भाषिक प्रयोगों से भिन्न एवं विशिष्ट होती है। साहित्य/काव्य के विशिष्ट स्वरूप या सौन्दर्य का मूल्यांकन करने हेतु अनेक आलोचना पद्धतियों—यथा शास्त्रीय, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मार्क्सवादी, संरचनावादी, व्यवहारिक तथा नई समीक्षा (आलोचना), अपनी-अपनी मान्यताओं के आधार पर विकसित हो प्रचलित होती रही। इन सभी आलोचना पद्धतियों के माध्यम से साहित्य/काव्य का अनुशीलन किया जाता है। नई समीक्षा के तहत शैलीवैज्ञानिक आलोचना प्रणाली विकसित हुई जो 'कृति को स्वायत्त मानते हुए भाषिक धरातल पर कृति में निहित सौन्दर्य को उद्घाटित करती है।' Turner, george. w. के अनुसार—

"Stylistics is that of linguistics which concentrates on variation in the use of language, often, but not exclusively with special attention to the most conscious and complex uses of language in literature."[1]

किसी भी लेखक/कवि की भाषा-शैली का संबंध उसकी अभिव्यंजना पद्धति से होता है। वह अपने विवेक के अनुसार संदर्भानुकूल एवं परिवेशानुकूल भाषा का प्रयोग स्वतंत्र रूप से करता है। अपनी कृति में भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु भाषिक इकाइयों—ध्वनि, रूप, शब्द, वाक्य एवं अर्थ के आधार पर शैलीवैज्ञानिक आयामों यथा—चयन (Choice), विचलन (Deviation), समानान्तरता (Parallelism), तथा अप्रस्तुत विधान (Non-contextuality), बिम्ब (Image), एवं प्रतीक (Symbol) के माध्यम से काव्य के मर्म को उजागर करता है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में 'सुन्दरकाण्ड का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन' करने हेतु उपर्युक्त शैलीवैज्ञानिक आयामों को आधार बनाया गया है।

(1) चयन (Choice) के स्तर पर —वस्तुतः 'चयन' से तात्पर्य है 'किसी भाषा में प्राप्त एकाधिक इकाइयों या व्यवस्थाओं में से अपनी अभिव्यक्ति के लिए 'किसी एक को चुन लेना'।[2]

"Choice is a very popular view of style. An author is seem to select features from the whole resources of the language as his or her disposal; a choice also purly governed presumbly by the demands of GENRE; FORM, THEME; etc. x x x we select for our utterances the relevant PHONEMES, SYNTAX, LEXICAL ITEMS, etc. appropriate for what we mean to say, and appropriate for the CONTEXT in which it will be uttered."[3]

(कवि/लेखक द्वारा चयन की प्रक्रिया निम्नलिखित भाषिक इकाइयों के आधार पर सम्पन्न होती है—

(1) ध्वनि-चयन, (2) रूप-चयन, (3) शब्द-चयन, (4) वाक्य-चयन तथा (5) अर्थ-चयन।

---

* अतिथि प्राध्यापकः आधुनिक भाषा एवं भाषाविज्ञान विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

उपर्युक्त भाषिक इकाइयों के आधार पर 'रामचरितमानस' के सुन्दरकाण्ड में चयन का अध्ययन/विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

(1) ध्वनि-चयन—शैलीविज्ञान के आधार पर जब किसी कृति या कृत्तिकार की भाषा का अनुशीलन किया जाता है, तब सर्वप्रथम ध्वनि का विश्लेषण एवं विवेचन किया जाता है। कवि अपने भावों एवं विचारों के उद्घाटन हेतु ऐसे ध्वनियुक्त शब्दों का चयन करता है जिससे बिम्बात्मक शब्द-चित्र हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। कवि कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए कोमल एवं सुकुमार ध्वनिवाले शब्दों का चयन करते हैं, कठोर एवं परूष भावों की अभिव्यंजना के लिए कठोर, परूष एवं द्वित्व वर्ण युक्त ध्वनियों का चयन करते हैं; भयंकरता एवं विकरालता के प्रदर्शन के लिए महाप्राण ध्वनिवाले शब्दों का चयन करते हैं। उसी तरह विशालता के लिए महाप्राण तथा 'ओ' एवं 'आ' ध्वनि वाले शब्दों का जैसे—आकाश, व्योम का प्रयोग करते हैं। 'सुन्दरकाण्ड' में स्वर एवं व्यंजन ध्वनि युक्त शब्द चयन से संबंधित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) 'इ' ध्वनि युक्त शब्द-चयन—

तिन्हहि निपाति ताहि सन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा।।[4]

(ii) 'ई' ध्वनि युक्त शब्द-चयन—

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।[5]

(iii) 'आ' ध्वनि युक्त शब्द-चयन—(विशालता हेतु)

जोजन भरि तेहि बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन विस्तारा।।[6]

(iv) निम्नलिखित पंक्तियों में 'मर्दि गर्द' एवं 'गर्जहिं तर्जहिं' में कठोर एवं परूष ध्वनि युक्त शब्दों का प्रयोग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है—

मर्दि गर्द मिलवहिं दस सीसा। × × × गर्जहिं तर्जहिं सहज असंका। मानहुँ ग्रसन चहत हहिं लंका।।[7]

(v) निम्नलिखित पंक्तियों में कोमल भावों की अभिव्यक्ति हेतु 'स' ध्वनियुक्त शब्दों का चयन द्रष्टव्य है—

बचन सुनत कपि मन मुसकाना। भइ सहाय सारद मैं जाना।।[8]

(2) शब्द-चयन—वस्तुतः प्रत्येक रचनाकार अपनी रचना को मार्मिक एवं प्रभावशाली बनाने हेतु ऐसे शब्दों का चयन करता है जो वस्तुस्थिति का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करने में सहायक होता है। काव्य में परिवेश एवं सन्दर्भानुकूल शब्दचयन और प्रयोग शैली वैशिष्ट्य को प्रकट करता है। शब्दचयन के सम्बन्ध में मार्जोरि बॉउलटन (Marjorie Boulton) का कहना है—"Poetry is made of words, and obviously the choice of words is important in poetry; indeed, in a sense it is the whole art of writing poetry."[9]

चयन प्रक्रिया में 'सुन्दरकाण्ड' में शब्द-चयन के निम्नलिखित आधार हो सकते हैं—

(1) प्रकरण उपयुक्तता, (2) ध्वनि प्रभाव के अनुसार, (3) छंद की आवश्यकता, (4) ध्वनि-साम्य द्वारा लयात्मकता, (5) ग्रहीत शब्द, (6) सामासिक शब्द, (7) पुनरुक्त शब्द, (8) मुहावरा एवं लोकोक्ति-प्रयोग, (9) युगीन प्रवृत्ति के अनुसार।

(1) प्रकरण उपयुक्तता—वास्तव में, पर्यायवाची शब्द समूहों में से किसी एक शब्द का चयन करते समय यह देखा जाता है कि शब्द विशेष का अर्थ प्रकरण विरुद्ध न हो, अतः प्रकरण के अनुरूप ही सटीक पर्याय शब्दों का सन्दर्भानुकूल चयन कर प्रयोग किया जाता है। 'सुन्दरकाण्ड' में इससे सम्बन्धित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) राम के लिए—

'बार बार रघुबीर संभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी।।3।।[10]

'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।

जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।। (दोहा-3)[11]

(ii) सीता के लिए पर्यायों का प्रयोग निम्नलिखित है—

'सयन किएँ देखा कपि तेही। मंदिर महुँ न दीखि बैदेही' ।[12]

'निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन।

परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन'।।[13]

इसके अतिरिक्त 'सुन्दरकाण्ड' में सीता, जनकसुता, सुमुखि, जननी, प्रिया, जनककुमारी इत्यादि पर्यायों का प्रयोग सन्दर्भानुकूल किया गया है।

(iii) हनुमान के लिए पर्यायों का प्रयोग निम्नलिखित है—

'सकल गुण निधानं वानराणामधीशं रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि ।।3।।[14]

'देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन बिनीता।।4।।[15]

इसके अतिरिक्त 'सुन्दरकाण्ड' में साखामृग, पवनतनय, रघुपतिदूत, मर्कट, बानर, मारुतसुत इत्यादि पर्यायों का प्रयोग सन्दर्भानुकूल किया गया है।

इसी प्रकार समुद्र के लिए—सिंधु, जलनिधि, सागर, उदधि, पयोधि, इत्यादि; ब्रह्मा के लिए—बिरंचि, अज इत्यादि; अग्नि के लिए—अनल, पावक, कृसानु इत्यादि; रावण के लिए—दसमुख,

लंकेस, दसकंठ, दसानन, दसकंधर इत्यादि; कमल के लिए—पंकज, जलजात, सरोज, राजीव इत्यादि, अन्य नाम-पर्यायों का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।

(2) ध्वनि-प्रभाव के अनुसार—गोस्वामी तुलसीदास ने 'सुन्दरकाण्ड' में ध्वन्यात्मक शब्दों के चयन द्वारा भावानुकूल ध्वनि के माध्यम से भाषा को मूर्त्त एवं प्रेषणीय बना दिया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'उ' ध्वनि युक्त शब्द प्रयोग—

'उठी उदधि उर अंतर ज्वाला'।[16]

'क' ध्वनि युक्त शब्द प्रयोग—

'कनक कोट कर परम प्रकासा।।[17]

(3) छंद की आवश्यकता—छंदों की वार्णिक तथा मात्रिक पूर्ति के लिए भी शब्दों का चयन किया जाता है। 'सुन्दरकाण्ड'में गोस्वामी जी ने सम्यक् अर्थ निष्पादन हेतु छंद की आवश्यकता के अनुरूप ही शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे भाषिक सौन्दर्य के साथ-साथ दोहों में सौष्ठवता, स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इस काण्ड में दोहा, चौपाई एवं सोरठा के अनुसार शब्दों का चयन किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) दोहा—इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

'हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास।

अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास।।[18] (दोहा-25)

(ii) चौपाई—इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है—

'जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमंत हृदय अति भाए।।

तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई। सहि दुख कंद मूल फल खाई।।[19 (i)]

(4) ध्वनि-साम्य द्वारा लयात्मकता—भाषिक सौन्दर्य हेतु काव्य पंक्तियों के अंत में समान ध्वनि युक्त शब्दों के प्रयोग से लयात्मकता आ जाती है। इस काण्ड में प्रयुक्त चौपाई एवं दोहों में ध्वनि-साम्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) 'सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर।
बार बार रघुबीर संभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी।।[19 (ii)]

(5) ग्रहीत शब्द—गोस्वामी जी ने 'सुन्दरकाण्ड' में तत्सम (संस्कृत), देशज आदि शब्दों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति हेतु कथ्य एवं सन्दर्भानुकूल किया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) तत्सम (संस्कृत)—इस काण्ड में तत्सम (संस्कृत) शब्दों का प्रयोग पर्याप्त हुआ है। इस काण्ड का मंगलाचरण का श्लोक ही संस्कृत में है। इसके अतिरिक्त अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं—जलनिधि, कनक, दुर्ग, मृग, नयन, भानु, चंद्रहास, पल्लव, निज, श्रवन, अनल, श्रवणामृत, नृप, नभ, भृकुटि, त्रय, प्रथम, आश्रम इत्यादि।

(ii) देशज—वस्तुतः रामचरितमानस की भाषा अवधी है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं जैसे भोजपुरी इत्यादि के भी शब्दों का प्रयोग पर्याप्त हुआ है। यथा—काजु, नाइ, कहि, हियँ, जेहिं, चलेउ, होहि, मोहि, सुनावौं, पैठिहऊँ, जोजन, सहिदानी, बीथीं, मिटहिं, कछु, मिताई, जस, झष, धाइ, गहई, पठावा इत्यादि।

(iii) भोजपुरी—माथा, माई, बत्तिस, मरम, परिछाहीं, छाँह, छल, प्रनाम, जीभ, कवन, लुकाई, लाज, मन, खिसिआन, ऊसर, हमार, देह, नेह, डोरी, मच्छर, बानर, दुलार, बिपत्ती इत्यादि।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने 'सुन्दरकाण्ड' में संस्कृत शब्दों के साथ अवधी एवं भोजपुरी के शब्दों का चयन एवं मिश्रित प्रयोग कर भाषिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि किया है।

(6) सामासिक शब्द—'सुन्दरकाण्ड' में सामासिक शब्दों का यथोचित चयन एवं सटीक प्रयोग पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। इस काण्ड में सामासिक शब्दों के प्रयोग से भाषा लावण्यमय हो उठी है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

भूधर, पवनतनय, जलनिधि, निसिचरि, गगनचर, दसानन, जनकसुता, पदकमल, अवधपति, त्रिविध, पंकज, रघुनायक, अमित, अजित, कोसलाधीस, भूधराकार इत्यादि ।

(7) पुनरुक्त शब्द—'सुन्दरकाण्ड' में पुनरुक्त शब्दों का प्रयोग विशिष्ट भावाभिव्यक्ति हेतु किया गया है। यथा—बार-बार, जस जस, मंदिर मंदिर, हरष विषाद, उलटि पलटि, सुर असुर, गहि गहि, त्राहि त्राहि, जोइ जोइ, दैव दैव, मर्दि गर्द, जद्यपि तदपि, आस भरोस, सुमति कुमति इत्यादि।

(8) मुहावरा एवं लोकोक्ति का प्रयोग—'सुन्दरकाण्ड' में मुहावरा एवं लोकोक्ति का भी प्रयोग सन्दर्भानुकूल किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

जुड़ावहु छाती - (छाती जुड़ाना, अर्थात् खुश होना), दच्छिन दिसि जाई - (दक्षिण दिशा को जाना अर्थात् मृत्यु का संकेत), तोहि देखि सीतलि भइ छाती - (छाती ठंडी होना अर्थात् सुकून मिलना);

(i) बसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी।।[20] (आभूषण से सजी हुई सुन्दर स्त्री कपड़ों के बिना शोभा नहीं पाती।)

(ii) जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।।[21] (अर्थात् जहाँ सुबुद्धि है वहाँ नाना प्रकार की सुख की स्थिति रहती है और जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति/दुःख रहता है।)

(iii) जो परनारि लिलार गोसाई। तजउ चउथि के चंद कि नाई।।[22] (अर्थात् परस्त्री के ललाट को चौथ के चन्द्रमा की तरह त्याग देना।)

(9) युगीन प्रवृत्ति के अनुसार—वस्तुतः प्रत्येक युग एवं काल की काव्यभाषा में मानक के आधार पर परिवर्तन होता रहता है। साहित्य सृजन में अक्सर स्वाभाविक रूप से नये शब्द आते रहते हैं और पुराने लुप्त होते रहते हैं। प्रत्येक युग की साहित्यिक धारा के कुछ अत्यन्त प्रिय शब्द होते हैं जो युगीन साहित्यिक परम्पराओं द्वारा बार-बार प्रयुक्त किए जाते हैं। तुलसीदास जी के युग में धर्म, दर्शन, समाज आदि के क्षेत्र में परस्पर वैमनस्य तथा विभेद का बोलबाला था। केवल हिन्दू-मुस्लिम विरोधी नहीं बल्कि शैव, शाक्त और वैष्णव मतानुयायियों में भी परस्पर वैमनस्य था। धार्मिक शान्ति के साथ-साथ सामाजिक शान्ति भी भंग हो रही थी। ऊँच-नीच के भेद से हिन्दू समाज विशृंखलित हो रहा था। गोस्वामी जी ने इन विरोधी प्रवृत्तियों से होने वाली भयंकर हानि का अनुभव किया तथा सबको परस्पर समन्वित करने की चेष्टा की। तुलसीदास जी ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव, सूक्ष्म अन्वेषण, गहन अनुशीलन के परिणामस्वरूप लोकमंगल हेतु समन्वय साधना कर कवित्व, धर्म तथा भक्ति की त्रिपथगा का निर्माण किया तथा उसके अनुरूप काव्यभाषा का निर्माण किया जिसका प्रत्यक्ष रूप 'रामचरितमानस' में दृष्टिगोचर होता है। वास्तव में उन्होंने युगीन प्रवृत्ति के अनुसार शब्द-चयन कर इसका सटीक प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है।

(10) क्षेत्रीयता के आधार पर—वास्तव में, कोई भी रचनाकार शब्दों का चयन भौगोलिक परिवेश को उजागर करने के लिए करता है। विशेष परिवेश को व्यक्त करने वाली उस परिवेश/क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा/बोली का प्रयोग अपनी कृति में करता है। चूँकि 'रामचरितमानस' की भाषा अवधी है, अतः अवध क्षेत्र से संबंधित लोकप्रचलित मान्यताओं एवं परम्पराओं से संबंधित शब्दों का चयन एवं प्रयोग किया है।

(3) रूपचयन—जब भाषा में प्रयुक्त रूपों का अध्ययन किया जाता है, तब यह देखने का प्रयास किया जाता है कि भाषिक रूपों के प्रयोग के अन्तर्गत कहाँ-कहाँ चयन अधिक मार्मिक है। कवि अपनी काव्यभाषा में उपयुक्त रूपों का चयन एवं प्रयोग कर भाषिक सौन्दर्य में निखार लाता है। कहीं उपसर्ग एवं प्रत्यय का प्रयोग, कहीं परसर्गों का लोप, तो कहीं शब्दों के संक्षिप्त रूपों का प्रयोग कर कवि अपनी काव्यभाषा को मुखर बना देता है।[23] गोस्वामी जी ने भी 'रामचरितमानस' में इस प्रकार का प्रयोग कर भाषा को ठोस एवं सारगर्भित बना दिया है। 'सुन्दरकाण्ड' में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) 'न्ह' प्रत्यय का प्रयोग 'ने' एवं 'को' के लिए किया गया है। यथा— 'यह कहि नाइ सबन्हि कहुँ माथा।[24] (सबको)

'जात पवनसुत देवन्ह देखा।[25] (देवताओं ने)

(ii) 'अ' उपसर्ग का प्रयोग इस प्रकार किया गया है— 'अस्तुति करहिं सुनाइ सुनाई।[26] (स्तुति)

(iii) परसर्गों का लोप से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है। यथा— 'जामवंत कह सुनु रघुराया ।[27 (i)] (ने)

(iv) 'काकभुशुण्डि' के लिए 'भुसुंडि' का प्रयोग—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ।।[27 (ii)]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी 'सुन्दरकाण्ड' में दृष्टिगोचर होते हैं।

(4) वाक्य-चयन— वस्तुतः कवि/लेखक अपनी रुचि एवं विषयवस्तु के प्रकृति के अनुसार वाक्य का चयन करता है। सम्यक् भावाभिव्यक्ति हेतु वह सरल, मिश्र एवं संयुक्त वाक्य में अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है। साथ ही वह लघु, बड़े, पूर्ण एवं अपूर्ण वाक्य द्वारा अपना मंतव्य प्रकट कर देता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी वृत्ति के अनुसार निषेधार्थक, नीति/उपदेश परक, प्रश्नवाचक, आज्ञार्थक, इच्छार्थक, संकेतार्थक इत्यादि वाक्यों का भी प्रयोग करता है।[28]

तुलसीदास जी ने 'सुन्दरकाण्ड' में अपनी काव्यभाषा में ठोसत्व, भाषिक सौन्दर्य एवं संगीतात्मकता हेतु वाक्य के अपूर्ण एवं संक्षिप्त रूप का ही चयन किया है। इस चयन में उन्होंने कहीं संज्ञा, कर्त्ता का लोप किया है, कहीं परसर्गों तथा संयोजक 'और' का लोप किया है, तो कहीं क्रिया का ही लोप कर दिया है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(i) कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरन कामा।।[29] (अपूर्ण वाक्य)

उपर्युक्त पंक्ति में 'आप' (सर्वनाम) तथा 'हैं' सहायक क्रिया का लोप है।

(ii) सुनि सुत बध लंकेस रिसाना। पठएसि मेघनाद बलवाना।।[30]

इस पंक्ति में 'और' संयोजक का लोप है। इसका तात्पर्य है—पुत्र का वध सुनकर रावण क्रोधित हो उठा और उसने बलवान मेघनाद को भेजा।

(iii) मारे निसिचर केहिं अपराधा। कहु सठ तोहि न प्रान कइ बाधा।।[31]

उपर्युक्त वाक्य प्रश्नवाचक है लेकिन प्रश्नवाचक चिह्न (?) का प्रयोग नहीं है बल्कि कथन के अनुसार प्रश्नवाचकता का बोध हो जाता है ।

सरल वाक्य का प्रयोग—

(iv) यह सपना मैं कहऊँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी ।।[32]

अर्थात् 'इस सपना को मैं निश्चय के साथ कहती हूँ'। सरल वाक्य प्रयोग स्पष्ट है।

(v) निषेधार्थक वाक्य का प्रयोग—

सठ सूनें हरि आनेहि मोही। अधम निलज्ज लाज नहिं तोही।।[33]

तुलसीदास जी ने 'सुन्दरकाण्ड' में संदर्भानुकूल सम्यक् भावाभिव्यक्ति हेतु अन्य प्रकार के वाक्यों का भी प्रयोग किया है।

(vi) नीति/उपदेश परक वाक्य का प्रयोग—

राम बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।।[34]

अर्थात् राम के विमुख/विरुद्ध पुरुष की संपत्ति और प्रभुता रही हुई भी चली जाती है (नष्ट हो जाती है), उसका पाना न पाने के समान है।

(5) अर्थ-चयन—'सुन्दरकाण्ड' में अर्थ चयन को अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना के आधार पर देखा जा सकता है। सम्यक् भावाभिव्यक्ति एवं संप्रेषण हेतु विशेषण-विपर्यय का प्रयोग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।

प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल।।[35]

उपर्युक्त पंक्ति में बन्दर के लिए साखामृग का प्रयोग में अर्थ चयन स्पष्ट है। मृगा की तरह तेज दौड़ने (उछलकूद) के सन्दर्भ से है ।

(iii) राम चरन पंकज उर धरहू। लंका अचल राजु तुम्ह करहू।।[36]

इस पंक्ति में चरन पंकज अर्थात् चरण कमल—कमल रूपी चरण का प्रयोग में अर्थ-चयन स्पष्ट है। 'पंकज' कमल का एक विशिष्ट रूप- पंक से जन्मा हुआ, अर्थात् प्रतिकूल परिस्थिति का द्योतक है।

(2) विचलन (Deviation) के स्तर पर—वस्तुतः 'हर भाषा के अपने नियम होते हैं; ध्वनि, रूप-रचना, शब्द-प्रयोग, वाक्य-रचना तथा अर्थाभिव्यक्ति आदि के विभिन्न स्तरों पर अपनी व्यवस्था होती है। भाषा का व्याकरण इन्हीं नियमों और व्यवस्थाओं की व्याख्या होती है। सामान्य भाषा इन नियमों और व्यवस्थाओं में बँधी होती है, किन्तु सामान्य भाषा की यह नियमबद्धता काव्यभाषा के स्वच्छन्द और लचीले व्यक्तित्व के बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सामान्य भाषा केवल सामान्य अनुभव की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होती है किन्तु काव्य विशिष्ट अनुभव पर आधृत होता है, अतः काव्य-भाषा को विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है और इसलिए उसे विशिष्ट भाषा बनना पड़ता है—सामान्य भाषा के नियमों और जड़ बन्धनों को तोड़कर। अतः सामान्य भाषा के नियम, बन्धन, चलन अथवा पथ को छोड़कर नए का अनुसरण करना नए पथ पर चलना ही विचलन (Deviation), विपथन है।''[37]

कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त के छः भेदों—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, पदपरार्धवक्रता, वाक्यवक्रता, प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता में विचलन देखा जा सकता है।[38]

Deviation refers to divergence in frequency from a NORM, or the statistical average. Such divergence may depend on (a) the breaking of normal rules of linguistic structure (whether phonological, grammatical, lexical or semantic) and so be statistically unusual in frequent or (b) upon the over-use of normal rules of usage, and so be statistically unusual in the sense of over-frequent.[39 (i)]

It has been defined by Leech, Geoffrey, N. - 'as FOREGROUNDED Irregulatiry'. [39 (ii)]

विचलन की प्रक्रिया भाषिक इकाइयों के आधार पर निम्नलिखित होती है—(1) ध्वनि-विचलन, (2) रूपविचलन, (3) शब्द-विचलन, (4) वाक्य-विचलन एवं (5) अर्थ-विचलन।

(1) ध्वनि विचलन—रामचरितमानस की भाषा अवधी है। हिन्दी की तरह अवधी में दस स्वर हैं। सभी के अनुनासिक रूप भी हैं। अवधी की व्यंजन ध्वनियों में 'ड', 'ञ' तथा 'ण' के स्थान पर 'न' ध्वनि का प्रयोग होता है । 'श' 'ष' के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है। व का उच्चारण 'ब' होता है। 'य' ध्वनि के स्थान पर 'ज' ज्ञ का 'ग्य' हो जाता है।

वस्तुतः कवि परम्परा से प्राप्त ध्वनि में कुछ परिवर्तन करके एक नये ढंग से ध्वनि का रूपान्तर करता है जिससे उसकी रचना में नवीनता के साथ-साथ अधिक चारुता तथा सरसता आ जाती है। 'सुन्दरकाण्ड' में ध्वनि-विचलन से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा।।[40] यहाँ 'हर्ष' के स्थान पर 'हरष' में ध्वनि-विचलन स्पष्ट है।

(ii) सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती।[41]

इस पंक्ति में प्रीति एवं नीति के स्थान पर प्रीती एवं नीती शब्दों में ध्वनि विचलन है।

(iii) इसके अतिरिक्त ध्वनि-विचलन से संबंधित अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं यथा हर्षित के स्थान पर हरषि, पृ0 62, वत्सल के स्थान पर बच्छल-पृ0 88, मग्न के स्थान पर मगन पृ0 39 आदि उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

(ii) शब्द-विचलन—इसके अन्तर्गत कवि अपने काव्य में शब्दों का विचलित प्रयोग करता है। इसमें कर्ता, कर्म, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं क्रिया आदि के विचलित प्रयोग आते हैं। 'सुन्दरकाण्ड' में शब्द-विचलन से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) कर्ता विचलन—

जेहिं गिरि चरन देइ हनुमंता।[42]

(ii) क्रिया विचलन—

एहि सन हठि करिहऊँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी।।[43]

(iii) सर्वनाम एवं क्रिया विचलन—

गिरि पर चढ़ि लंका तेहिं देखी। कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी।।[44]

इसके अतिरिक्त संज्ञा, कर्म, विशेषण, पुनरुक्त शब्द आदि अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

(iv) वाक्य-विचलन—वस्तुतः हर भाषा के वाक्य में पद/शब्द विशेष क्रम में रखे जाते हैं। किन्तु काव्य-भाषा में यह क्रम हमेशा वही नहीं होता जो सामान्य भाषा में होता है। वाक्य-विचलन के अन्तर्गत कवि अपनी भावाभिव्यक्ति में अनूठा सम्प्रेषण के लिए मानक क्रम को बदल देता है। गोस्वामी जी ने रामचरितमानस में ऐसा प्रयोग बहुत किया है। 'सुन्दरकाण्ड' में वाक्य विचलन से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) क्रम-विचलन—

'यह कहि नाइ बन्हि कहुँ माथा। चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा।।[45 (i)]

यहाँ उक्त पंक्ति के स्थान पर—

यह कहि सबन्हि कहँ माथा नाइ। रघुनाथा हिय धरि हरिषि चलेउ।। हो सकता था, किन्तु कर्ता, सर्वनाम एवं क्रिया का क्रम-विचलन होने से भाषिक-सौन्दर्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

'मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।।[45 (ii)]

यहाँ कर्त्ता कपि एवं 'नरहरी' तथा क्रिया 'चलेउ' के क्रम में विचलन है। यहाँ 'मसक समान रूप कपि धरी' के स्थान पर 'कपि मसक समान रूप धरी', तथा 'लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी' के स्थान पर 'नरहरी सुमिरि लंकहि चलेउ' ऐसा क्रम हो सकता था। पहली पंक्ति में कपि कर्ता तथा दूसरी पंक्ति में कर्ता-नरहरी एवं क्रिया चलेउ का विचलित प्रयोग स्पष्ट है। अर्थात् हनुमान जी ने मच्छड़ का रूप धारण किया तथा नररूपी हरि (भगवान्) का स्मरण करके लंका को चले।'

इस प्रकार सुन्दरकाण्ड में क्रम-विचलन से संबंधित अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं।

(iv) अर्थ-विचलन—इसके अन्तर्गत शब्दों का प्रयोग परम्परागत प्रयोग से एक नये अर्थ में किया जाता है। 'सुन्दरकाण्ड' में अर्थस्तरीय विचलन से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है—

(i) प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।।[46]

यहाँ उक्त पंक्ति में 'मन' का सनमुख/सामने न हो सकने में अर्थ विचलन है। क्योंकि मन अमूर्त है, 'मोरा मन' के स्थान पर मैं का प्रयोग हो सकता था। दरअसल हनुमान द्वारा किए गए उपकार पर अर्थात् असंभव कार्य सीता की खोज का समाचार सुनने पर भगवान् राम भावविभोर होकर यह सोचकर के तुम्हारे किए गए उपकार के बदले मैं कुछ भी नहीं कर सकता, जिसके कारण मैं आत्मग्लानि महसूस कर रहा हूँ'—इसी संदर्भ में 'मन' का सन्मुख न हो सकने का भाव दृष्टिगोचर हो रहा है। अतः सम्यक अर्थाभिव्यक्ति हेतु ही विचलित प्रयोग किया गया है।

(ii) कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता।।[47]

यहाँ श्रीराम के साँवले अंगों (शरीर) का कोमल होने तथा उन्हें देखकर नेत्र का शीतल होने में अर्थ विचलन स्पष्ट है।

(iii) तब कुल कमल बिपिन दुखदाई । सीता सीत निसा सम आई।।[48]

यहाँ सीता का कुल रूप कमलों के वन को दुःख देने तथा सीता का जाड़े की रात्रि के समान होने में अर्थ विचलन स्पष्ट है।

'सुन्दरकाण्ड' में विचलन से संबंधित उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। इनके प्रयोग से 'सुन्दरकाण्ड' में भाषिक सौन्दर्य में अभिवृद्धि हुई ही साथ ही इसकी भाषा में कसाव एवं गत्यात्मकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

(3) समानान्तरता (Parallelism) के स्तर पर—वस्तुतः ''समानान्तरता से आशय है, किसी रचना में समान या विरोधी भाषिक इकाइयों का समानान्तर प्रयोग। इसमें समान भाषिक इकाई की एक या अधिक बार आवृत्ति होती है, अथवा दो या अधिक विरोधी भाषिक इकाइयाँ साथ-साथ आती हैं। अर्थात् इसमें समान या विरोधी सन्तुलन होता है और यह संतुलन समानान्तरता के कारण ही सम्भव होता है।[49]

"Parallelism is a device common in RHETORIC which depends on the principle of EQVIVALENCE in Jakobson's (1960 f) terms,or in the REPETITION of the same structural pattern: commonly between phrases or clauses.[50]

"It has been defined by leech, geoffrey N. as FOREGROUNDED regularity.[51] इनके अनुसार— "Every parallelism sets up a relationship of equivalence between two or more elements. the elements which are singled out by the pattern as being parallel. Interpreting the parallelism involves appreciating some external connection between these elements."[52] appreciating some external connection between these elements."[52]

''भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार के अन्तर्गत अनुप्रास और यमक अलंकार में समानान्तरता का रूप दृष्टिगोचर होता है।''[53] यहाँ समान भाषिक इकाई की एक या अधिक बार आवृत्ति होती है, अर्थात् यहाँ भी समान या विरोधी संतुलन दृष्टिगोचर होता है और यह संतुलन समानान्तरता के कारण ही संभव होता है।

कवि/लेखक द्वारा समानान्तरता की प्रक्रिया भी निम्नलिखित भाषिक इकाईयों के आधार पर सम्पन्न होती है।

(1) ध्वनि-समानान्तरता, (2) शब्द-समानान्तरता, (3) रूप-समानान्तरता, (4) वाक्य-समानान्तरता, (5) अर्थसमानान्तरता।

उपर्युक्त भाषिक इकाईयों के आधार पर 'रामचरितमानस' के 'सुन्दरकाण्ड' में समानान्तरता का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) ध्वनि-समानान्तरता—''समान ध्वनियों की आवृत्ति को ध्वनि समानान्तरता कहा जाता है। इसके द्वारा एक ओर तो रचना को संगीत की मधुर लय एवं तान से सुसज्जित किया जाता है तो दूसरी ओर रचना में मधुर नाद-सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है। इसके प्रयोग से कवि/लेखक अपनी कृति को अधिक रोचक, मार्मिक एवं आकर्षक बना डालते हैं। अनुप्रास अलंकार के सभी प्रकार ध्वनि-समानान्तरता के अन्तर्गत ही आते हैं।।''[54] 'सुन्दरकाण्ड' में ध्वनि-समानान्तरता से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) र (व्यंजन) उ एवं ऊ (स्वर) ध्वनि की आवृत्ति—

सिंधु तीर एक भूधर सुंदर। कौतुक कूदि चढ़ेउ ता ऊपर।।[55]

(ii) न एवं स व्यंजन ध्वनि की आवृत्ति—

नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू। कालनिसा सम निसि ससि भानू।।[56]

(iii) प्र एवं मा ध्वनि की आवृत्ति—

कहेहु तात अस मोर प्रनामा।

सब प्रकार प्रभु पूरन कामा।।[57]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी ने ध्वनियों का समानान्तर प्रयोग चित्रात्मकता, माधुर्यपरता एवं लयात्मकता आदि भाषिक सौन्दर्य हेतु साभिप्राय किया है। इन ध्वनियों के आवृतिगत/समानान्तर प्रयोग पंक्तियों के कभी आदि, कभी मध्य तो कभी अंत में दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही ध्वनियों का क्रम कभी लम्बवत् तो कभी समानान्तर भी दृष्टिगोचर होता है।

(2) शब्द-समानान्तरता—वस्तुतः कवि/लेखक अपनी रचना में शब्दों का समानान्तर प्रयोग कर उसे अधिक प्रभावोत्पादक एवं आकर्षक बनाते हैं। 'सुन्दरकाण्ड' में शब्द-समानान्तरता से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) मंदिर मंदिर प्रति करि सोधा। देखे जहँ तहँ अगनित जोधा।।[58]

(ii) साखामृग कै बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई।।[59]

(iii) सुनि प्रभु बचन कहहिं कपि बृंदा। जय जय जय कृपाल सुखकंदा।।[60]

(iv) अमित नाम भट कठिन कराला।

अमित नाग बल बिपुल बिसाला।।[61]

(v) पूँछी कुसल नाथ अब कुसल देखि पद कंज।।[62 (r)]

इस प्रकार इस काण्ड में शब्दीय समानान्तरता से संबंधित अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। जिसका प्रयोग सूक्ष्म अभिव्यक्ति तथा भाषिक सौन्दर्य को प्रभावोत्पादक हेतु कभी समानान्तर तो कभी लम्बवत् रूप में किया गया है।

(3) रूप-समानान्तरता—कवि/लेखक अपनी रचना में भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु रूपों—यथा संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रियाविशेष आदि रूपों का प्रयोग करते हैं। 'सुन्दरकाण्ड' में इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना।।[62 (ii)]

यहाँ जहाँ-जहाँ एवं तहँ-वहाँ स्थानवाचक क्रियाविशेषण रूप का समानान्तर प्रयोग हुआ है।

(ii) कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलएसि धरि धूरि।

कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि।।[63]

यहाँ 'कछु' कुछ परिमाणवाचक क्रियाविशेषण रूप का लम्बवत एवं समानान्तर प्रयोग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

(iii) जोइ जोई सगुन जानकिहि होई। असगुन भयउ रावनहि सोई।।[64]

उक्त चौपाई में 'जोई' - जो संबंधवाचक सर्वनाम रूप का समानान्तर प्रयोग स्पष्ट है।

(iv) राम बान अहिगन सरिस निकर निसाचर भेक।

जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक।।[65]

उक्त दोहा में 'जब लगि' - जब तक एवं तब लगि -तब तक- विरोधीमूलक कालवाचक क्रियाविशेषण रूप का समानान्तर प्रयोग हुआ है।

इस काण्ड में रूप-समानान्तरता से संबंधित अनेक उदाहरण दृष्टिगोचर होते हैं। पंक्तियों में भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु इनका प्रयोग कभी लम्बवत् तो कभी समानान्तर किया गया है।

(4) वाक्य-समानान्तरता—'सुन्दरकाण्ड' में वाक्य का समानान्तर प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता है।

(5) अर्थ-समानान्तरता—वस्तुतः अर्थगत समानता लाने के लिए कवि/लेखक कभी समानार्थी शब्दों का प्रयोग करता है, कभी अर्थ की दृष्टि से समवर्गीय शब्दों को अपनाता है। 'सुन्दरकाण्ड' में अर्थ-समानान्तरता से संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है—

(i) जीव जंतु जे गगन उड़ाहीं। जल बिलोकि तिन्हके परिछाहीं।।[66]

यहाँ जीव एवं जंतु समवर्गीय श्ब्द है, अतः अर्थ समानान्तरता है।

(ii) जब राबनहि ब्रह्म बर दीन्हा। चलत बिरंचि कहा मोहि चीन्हा।।[67]

यहाँ 'ब्रह्म' एवं बिरंचि—ब्रह्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः अर्थ समानान्तरता है।

(iii) नर बानरहि संग कहु कैसें। कही कथा भइ संगति जैसें।।[68]

उक्त पंक्ति में 'संग' और 'संगति' का अर्थ समान है, अतः अर्थ समानान्तरता स्पष्ट है।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस काण्ड में सम्यक् भावाभिव्यक्ति एवं भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु ध्वनि, शब्द, रूप एवं अर्थ-स्तर पर विविध समानान्तर प्रयोग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

(4) अप्रस्तुत-विधान (Non-Contextuality) के स्तर पर—अप्रस्तुत-विधान काव्य-भाषा को भाषा के अन्य रूपों से अलग करता है और उसे वैशिष्ट्य प्रदान करता है। वस्तुतः जिसका वर्णन किया जाय, या जो प्रस्तुत हो उसे वर्ण्य-विषय अथवा 'प्रस्तुत' कहते हैं। जैसे 'मुख सुन्दर है' वाक्य में 'मुख' वर्ण्य-विषय या प्रस्तुत है । इसके विपरीत जो वर्ण्य विषय या प्रस्तुत न हो, अपितु जो मूलतः अप्रस्तुत (प्रस्तुत नहीं) हो उसे अप्रस्तुत कहते हैं। 'मुख चाँद सा सुन्दर है' वाक्य में 'मुख' प्रस्तुत है तो चाँद 'अप्रस्तुत' है। साहित्य में अप्रस्तुत का प्रयोग प्रस्तुत का वर्णन करने के लिए एक शैलीय उपकरण के रूप में करते हैं।[69]

'अप्रस्तुत-विधान का मूलाधार साम्य है। साम्य-विधान के बिना अप्रस्तुत विधान संभव नहीं। साम्य-सिद्धान्त काव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है और अप्रस्तुत-विधान का तो यह प्राणभूत ही है। अप्रस्तुत-विधान के इस आधारभूत सिद्धान्त 'साम्य' का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने किया है।'[70] मिडल्टन, मूरी का यह मत सर्वथा उपयुक्त है कि 'कवि जड़-चेतन जगत् के सभी क्षेत्रों के साथ साम्य-संबंध स्थापित किए बिना रह नहीं सकता, क्योंकि कवि प्रस्तुत के अर्थ और भाव के अन्तर्वर्ती सौन्दर्यात्मक गुण को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और इस प्रयास में कवि, अनिवार्यतः एक उपमा के विधान के लिए जड़ एवं चेतन जगत् को छान मारते हैं।'[71]

'प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत के बीच साम्य या सादृश्य कई प्रकार का हो सकता हैः (क) रूप-साम्य (मुँह चाँद-सा है); (ख) आकार-साम्य (वह तो लकड़बग्घा है); (ग) प्रभाव-साम्य (उनका साथ चाँदनी जैसा होता है); (घ) धर्म-साम्य (तुम साँप हो); (ङ) क्रिया-साम्य (आँखें मीन हैं); आदि ।[72]

अप्रस्तुत-विधान के सूक्ष्मतर रूपों और प्रकारों का निवेश प्रभाव-साम्य द्वारा ही किया जाता है। प्रभाव-साम्य पर आद्धत अप्रस्तुत-विधान में कवि की गहरी काल्पनिक अन्तर्दृष्टि रहती है। प्रभाव-साम्य ही सर्वाधिक सौंदर्यात्मक और चित्ताकर्षक साम्य है जो अधिक संवेदनीय एवं संप्रेषणीय होता है। अप्रस्तुत-विधान को क्विनतिलियन (Quintilian) ने 'metaphorical transference' कहा है। उन्होंने सर्वप्रथम इसका वर्गीकरण किया । उनके अनुसार अप्रस्तुत-विधान चार प्रकार के होते हैं—

1. Inaminate to animate, 2. Animate to inanimate, 3. Inanimate to inanimate, 4. Animate to animate.[73]

इसे हिन्दी में अनूदित कर अप्रस्तुत-विधान का विभाजन प्रभाव-साम्य के आधार पर निम्नप्रकार से किया जा सकता है—

1. अमूर्त के लिए मूर्त, 2. मूर्त के लिए अमूर्त, 3. अमूर्त के लिए अमूर्त एवं 4. मूर्त के लिए मूर्त। इसके अतिरिक्त 5. मानवीकरण को भी लिया जा सकता है।[74]

प्रभाव-साम्य के आधार पर 'सुन्दरकाण्ड' में प्रयुक्त अप्रस्तुत-विधान को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1. अमूर्त के लिए मूर्त—इससे संबंधित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) रिषि पुलस्ति जसु बिमल मयंका।

तेहि ससि महुँ जनि होहु कलंका।।[75]

अर्थात् ऋषि पुलस्त्य जी का यश (अमूर्त) निर्मल चंद्रमा (मूर्त) के समान होना में अमूर्त के लिए मूर्त स्पष्ट है।

(ii) ममता तरुन तमी अँधियारी । राग द्वेष उलूक सुखकारी।।[76]

यहाँ ममता (अमूर्त) का पूर्ण अँधेरी रात (मूर्त्त) के समान होना में अमूर्त के लिए मूर्त्त स्पष्ट है।

2. मूर्त के लिए अमूर्त—इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) ते नर प्रान समान मम जिन्हकें द्विज पद प्रेम।।[77]

यहाँ मनुष्य (मूर्त) का प्राण (अमूर्त) के समान होना में मूर्त के लिए अमूर्त स्पष्ट है।

3. अमूर्त के लिए अमूर्त—इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है—

(i) जे हित रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा।।[78]

इस पंक्ति में त्रिविध समीरा अर्थात् तीन प्रकार के वायु शीतल, मंद एवं सुगन्धित वायु (अमूर्त) का उरग स्वास अर्थात् साँप के श्वांस के समान होना में अमूर्त के लिए अमूर्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

4. मूर्त के लिए मूर्त—इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित है—

(i) मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी।।[79]

यहाँ हनुमान जी (मूर्त) का मच्छर के समान (मूर्त्त) रूप धारण करने में मूर्त के लिए मूर्त स्पष्ट है।

(ii) नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनि करहि निदाना ।।[80]

इस पंक्ति में अशोक के नये-नये पत्तों (मूर्त) का अग्नि के समान (मूर्त) होना में मूर्त के लिए मूर्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

5. मानवीकरण (Personification)— निर्जीव वस्तुओं एवं प्राकृतिक उपादानों में मानवीय गुणों का आरोपण होना मानवीकरण कहलाता है। मानवीकरण के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्यशास्त्र में पर्याप्त चर्चा की गई है। आनन्दवर्धन का कहना है—'भावान चेतानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत्। व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया। - 'ध्वन्यालोक'। अर्थात् सुकवि अपने काव्य में स्वतन्त्र होकर इच्छानुसार अचेतन विषयों को चेतन के समान और चेतन विषयों को अचेतन के समान व्यवहार में लाते हैं।[81]

आई0ए0 रिचर्ड्स के अनुसार—'Animism as he calls it, the projection of human activity into inanimate objects of thought, has been expressly pointed to by innumerable critics as one of the most frequent resources of poetry.'[82]

'सुन्दरकाण्ड' में मानवीकरण-संबंधी निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(i) जलनिधि रघुपति दूत बिचारी।

तैं मैनाक होहि श्रम हारी।।83

उक्त पंक्ति में समुद्र (जलनिधि) एवं मैनाक पर्वत दोनों ही अचेतन हैं। थकावट दूर करने के लिए हनुमान जी को अपने ऊपर विश्राम करने हेतु समुद्र का मैनाक पर्वत से कहना में मानवीकरण है।

(ii) पावक मय ससि स्त्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी।।

सुनहि विनय मम बिटप अशोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका।।84

यहाँ चंद्रमा से अग्नि बरसाने तथा अशोक वृक्ष से शोक हरने के लिए सीता का विनती करने में चंद्रमा और अशोक वृक्ष में मानवीकरण स्पष्ट है।

इस प्रकार अप्रस्तुत विधान एवं मानवीकरण से संबंधित उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सुन्दरकाण्ड' में संदर्भानुकूल एवं परिवेश के अनुसार भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु अप्रस्तुतों एवं मानवीकरण का सटीक प्रयोग कितना मार्मिक एवं आकर्षक बन पड़ा है, स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

5. बिम्ब (Image) के स्तर पर-वस्तुतः काव्य में बिम्ब का महत्वपूर्ण स्थान है। वह कवि के संवेगों का सम्प्रेषण करता है। इसका सम्बन्ध जीवन के सभी उपकरणों से होता है और प्रत्येक प्रकार का बिम्ब अपने आप में एक परिवेश लिए होता है। वह किसी सन्दर्भ से अवश्य जुड़ा होता है। भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बिम्ब का सम्यक् विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

(i) डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार-'काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है। काव्य का प्रेरक तत्व है भाव। भाव के संस्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का अस्तित्व संभव नहीं है।85

(i) सी0डे0 लेविस (C. Day Lewis) के अनुसार- "The images in a poem are like a series of mirrors... But they are magic mirrors. They donot merely reflect the theme, they give it life and form. It is in their power to make a spirit visible."86 उन्होंने बिम्ब को दर्पण की संज्ञा प्रदान की है। ऐसा जादुई दर्पण जिनमें काव्य वस्तु ही नहीं, कवि के व्यक्तित्व के नए-नए रूप प्रतिबिम्बित होते हैं। ये काव्यात्मकता को भी गोचर बनाने की क्षमता रखते हैं।

बिम्ब-विधान की विशेषताओं को उद्घाटित करने हेतु बिम्बों का वर्गीकरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

बिम्ब[87]- विषयात्मक बिम्ब-वस्तु बिम्ब, भावात्मक बिम्ब, प्राकृतिक बिम्ब, सांस्कृतिक बिम्ब इत्यादि।

गुणात्मक बिम्ब- चाक्षुष/दृश्य बिम्ब, स्पृश्य बिम्ब, श्रावणिक बिम्ब, घ्राण बिम्ब, आस्वाद्य बिम्ब, वर्ण बिम्ब इत्यादि।

बिम्ब से संबंधित 'सुन्दरकाण्ड' में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है-

(1) चाक्षुष/दृश्य बिम्ब—यह बिम्ब सर्वाधिक प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण होता है। तुलसीदास ने 'सुन्दरकाण्ड' में आकर्षक चाक्षुष बिम्बों की सर्जना करके अद्भुत श्रृंगार किया है। इससे संबंधित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है।

(i) अतुलित बलधामं हेमशैलाभदेहं, रघुपति प्रियभक्तं वातजातं नमामि।।[88]

यहाँ हनुमान (वातजातं) जी का शरीर सोने के पर्वत (सुमेरु) के समान कान्तियुक्त में चाक्षुष बिम्ब स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

(ii) कहुँ माल देह बिसाल सैल समान अतिबल गर्जहीं।[89]

यहाँ पर्वत के समान विशाल शरीर वाले बड़े ही बलवान मल्ल (पहलवान) में चाक्षुष बिम्ब स्पष्ट है।

(2) स्पर्श बिम्ब— काव्य में स्पर्श बिम्ब की स्थिति वहाँ होती है जहाँ कवि किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करता है जिसके स्पर्श की कल्पना मात्र से वर्ण्य-विषय का बिम्ब मानस को उद्वेलित कर दे। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

'बिरह अगिनि तनु तूल समीरा।[90]

इस पंक्ति में बिरह अग्नि, शरीर रुई है और श्वास पवन है में स्पर्श बिम्ब स्पष्ट है।

(3) श्रावणिक बिम्ब—बिम्बों की संयोजना सुनने की प्रक्रिया द्वारा होती है। इससे संबंधित निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

सत्य करहि मम प्रीति सयानी। सुनै को श्रवन सूल सम बानी।।[91]

यहाँ रावण की शूल के समान दुःख देने वाली वाणी कौन सुने में श्रावणिक बिम्ब स्पष्ट है।

इस प्रकार उपुर्यक्त उदाहरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सुन्दरकाण्ड' में संदर्भानुकूल बिम्बों का सटीक प्रयोग भाषिक सौन्दर्य उद्घाटित करने हेतु किया गया है।

(6) प्रतीक (Symbol) के स्तर पर—वस्तुतः प्रतीक शब्द का सामान्य अर्थ संकेत या चिह्न है। प्रतीक ऐसे संकेत हैं जिनके माध्यम से अभिव्यक्ति को प्रेषणीय, सार्थक और अर्थगर्भित बनाया जा सकता है। कवि अपनी अभिव्यंजना के लिए प्रतीकों का सहारा लेता है। प्रतीक भाषा में सघनता, संश्लिष्टता और अर्थवत्ता लाते हैं तथा चिन्तन को प्रेषणीय बनाते हैं। पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक के संबंध में सम्यक् विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

पाश्चात्य एवं भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतीक के संबंध में सम्यक् विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

(i) Cuddon, J. A. के अनुसार—"Symbol is an object, animate or inanimate which represents or stands for something else."[92]

(ii) डॉ0 भगीरथ मिश्र के अनुसार—''अपने रूप, गुण, कार्य या विशेषताओं के सादृश्य एवं प्रत्यक्षता के कारण जब कोई वस्तु या कार्य किसी अप्रस्तुत वस्तु, भाव, विचार, क्रियाकलाप, देश, जाति, संस्कृति आदि का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रकट किया जाता है, तब वह प्रतीक कहलाता है।''[93]

काव्य में प्रतीकों का सम्यक् विवेचन हेतु प्रतीकों का वर्गीकरण निम्नप्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

प्रतीक— प्राकृतिक, सांस्कृतिक, पौराणिक, आध्यात्मिक, ऐतिहासिक, जीवन-व्यापार सम्बन्धी इत्यादि।

'प्रतीक' से संबंधित 'सुन्दरकाण्ड' में निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. प्राकृतिक प्रतीक—वस्तुतः विभिन्न प्राकृतिक उपादानों ने काव्य में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होकर सौन्दर्य-सृजन में काफी योगदान किया है। इनकी विशेषता यह है कि वे सार्वजनीन, सार्वभौम और गोचर होते हैं। निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है—

(i) चरन कमल सिर नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह।।[94]

यहाँ 'कमल' से पवित्रता एवं कोमलता आदि अन्य अर्थ एवं भाव प्रतीक द्वारा उद्वेलित हो उठा है। 'कमल' के अन्य पर्यायों का भी प्रयोग प्रतीकवत किया गया है। यथा रामचरन पंकज - पृ0 52, कर पंकज - पृ0 69 आदि।

(ii) सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।[95]

यहाँ 'साखामृग' का प्रयोग बन्दर के लिए प्रतीकवत हुआ है, जो मृग की तरह चंचल, उछलता-कूदता है।

2. पौराणिक प्रतीक—वस्तुतः सुन्दरकाण्ड का परिपार्श्व पौराणिक है। इससे संबंधित उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(i) जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भव बंधन काटहिं नर ग्यानी।।[96]

यहाँ भवबंधन का प्रयोग संसार के जन्म एवं मृत्यु के लिए प्रतीकवत हुआ है।

(ii) तुम्ह कृपाल जा पर अनुकूला। ताहि न ब्याप त्रिबिध भवसूला।।[97]

इस पंक्ति में तीन प्रकार के भवशूल अर्थात् सांसारिक तापों—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक का प्रतीकवत प्रयोग स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त प्रतीक से संबंधित अन्य उदाहरण यथा—राम के लिए भानुकुल नाथा - पृ0 24, कृपानिधि - पृ0 65, कृपासिंधु- पृ0 81 इत्यादि; अहिल्या के लिए रिषिनारि - पृ0 86; शिव के लिए 'हर'; लंका के लिए हाटकपुर- पृ0 60; रावण के लिए दसानन, दसकंठ, दसकंधर इत्यादि तथा संसार के लिए 'भवसिंधु' का प्रयोग प्रतीकवत किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि 'सुन्दरकाण्ड' में प्रयुक्त प्रतीकों के माध्यम से प्रकृति के वैभव को चित्रांकित किया गया है। प्रतीकों के सटीक प्रयोग से सुन्दरकाण्ड में अनुपम कलात्मकता के साथ भाषिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'सुन्दरकाण्ड' शैलीवैज्ञानिक आयामों—चयन, विचलन, समानान्तरता, अप्रस्तुत, बिम्ब एवं प्रतीक से युक्त है। वास्तव में इस काण्ड में परिवेश, पात्र एवं सन्दर्भानूकूल सम्यक् भावाभिव्यक्ति हेतु इन आयामों के सटीक प्रयोग से कलात्मक एवं लालित्यपूर्ण भाषिक सौन्दर्य दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. Turner, George. w. : Stylistics, First Published 1973, reprinted 1975, 1977, 1979 Pengwin books ltd. England, page 07
2. तिवारी, भोलानाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण 1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली-06, पृ0 68
3. Wales, Katie : A Dictionary of Stylistics, First Published 1989, Longman Group UK ltd. England, page 62
4. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 46
5. वही, पृ0 70
6. वही, पृ0 15
7. वही, पृ0 108
8. वही, पृ0 56
9. Boulton, Marjoric: The Anatomy of Poetry. First Published 1953, Routledge & Kegan Paul ltd. London, First Indian Reprint, 1979, Kalyani Publishers, Daryaganj, New Delhi, page 152
10. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरित मानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 13
11. वही, पृ0 36
12. वही, पृ0 22
13. वही, पृ0 26
14. वही, पृ0 12
15. वही, पृ0 37
16. वही, पृ0 114
17. वही, पृ0 18
18. वही, पृ0 57
19.(i) वही, पृ0 12
19.(ii)वही, पृ0 13
20. वही, पृ0 53
21. वही, पृ0 83
22. वही, पृ0 79
23. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (1995) - अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
24. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 12
25. वही, पृ0 14
26. वही, पृ0 79
27.(i) वही, पृ0 64
27. (ii) वही, पृ0 95
28. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (1995) - अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
29. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 59
30. वही, पृ0 45
31. वही, पृ0 49
32. वही, पृ0 31
33. वही, पृ0 28
34. वही, पृ0 53
35. वही, पृ0 42
36. वही, पृ0 52
37. तिवारी, भोलानाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण 1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली-06, पृ0 39-40
38. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, 1/19, उद्धृत मिश्र, डॉ0 भगीरथ : काव्यशास्त्र; 28वाँ संस्करण-2018, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0, पृ0 205
39.(i) Wales, Katie : A Dictionary of Stylistics, First Published 1989, Longman Group UK ltd. England, page 117
39.(ii) Leech, Geoffrey. N. : A Linguistic Guide to English Poetry; First Published 1969] 7th impression, 1979, Longman Group ltd. London, Page 57
40. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 23
41. वही, पृ0 113

42. वही, पृ0 13
43. वही, पृ0 23
44. वही, पृ0 17
45.(i) वही, पृ0 12
45.(ii) वही, पृ0 19
46. वही, पृ0 68
47. वही, पृ0 37
48. वही, पृ0 76
49. तिवारी, भोलानाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण 1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली-06, पृ0 88
50. Wales, Katie : A Dictionary of Stylistics, First Published 1989, Longman Group UK ltd. England, page 335
51. Leech, Geoffrey. N. : A Linguistic Guide to English Poetry; First Published 1969, 7th impression, 1979, Longman Group ltd. London, Page 57
52. वही, 67
53. मिश्र, डॉ0 भगीरथ : काव्यशास्त्र; 28वाँ संस्करण-2018, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0, पृ0 157-159
54. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (1995) - अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
55. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 13
56. वही, पृ0 38
57. वही, पृ0 59
58. वही, पृ0 21
59. वही, पृ0 70
60. वही, पृ0 71
61. वही, पृ0 106
62.(i) वही, पृ0 63
62. (ii) वही, पृ0 83
63. वही, पृ0 45
64. वही, पृ0 63
65. वही, पृ0 76
66. वही, पृ0 16
67. वही, पृ0 20
68. वही, पृ0 36
69. तिवारी, भोलानाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण 1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली-06, पृ0 100
70. मोहन, डॉ0 नरेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता में अप्रस्तुत विधान, प्रथम संस्करण 1972, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 37
71. Murry, J. Middleton : The problem of Style, First edition 1922, 7th Impression, 1976, Oxford University Press, London, Page 75-76
72. तिवारी, भोलानाथ : शैलीविज्ञान, प्रथम संस्करण 1977, शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली-06, पृ0 100
73. Quintilian : De Institution oratoria, Translated by H. E. Butler, London, loeb classical library 1920-1922
74. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (1995) - अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
75. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 52
76. वही, पृ0 94
77. वही, पृ0 97
78. वही, पृ0 39
79. वही, पृ0 19
80. वही, पृ0 34
81. मिश्र, पंडित रामदहिन : काव्यदर्पण, प्रथम संस्करण 1947, पुनर्मुद्रण 1983, ग्रन्थमाला कार्यालय, भिखना पहाड़ी, पटना, बिहार, पृ0 22
82. Richards, I. A. : Practical Criticism, First Published 1929, Reprinted 1982, Routledge of Kegan Paul ltd. London, page 199
83. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 13
84. वही, पृ0 33
85. डॉ0 नगेन्द्र : काव्य बिम्ब, प्रथम संस्करण 1967, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0 5-6
86. Lewis, C. Day : The Poetic Image, First edition 1951, 2nd edition 2008, Bloomsbury, London, page 22
87. सिन्हा, डॉ0 प्रेम निवास : नरेश मेहता के काव्य का शैलीवैज्ञानिक अध्ययन, (1995) - अप्रकाशित शोध प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, ल0398
88. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 12
89. वही, पृ0 18
90. वही, पृ0 66
91. वही, पृ0 32
92. Cuddon, J. A. : A Dictionary of Literary terms and Literary theory, First edition 1961, Reprinted 1993] Basil Blackwell ltd. London, Page 939
93. मिश्र, डॉ0 भगीरथ : काव्यशास्त्र; 28वाँ संस्करण-2018, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, उ0प्र0, पृ0 271
94. तुलसीदास, गोस्वामी : रामचरितमानस - 'सुन्दरकाण्ड', संवत् 2076, गीताप्रेस, गोरखपुर, उ0प्र0, पृ0 60
95. वही, पृ0 42
96. वही, पृ0 47
97. वही, पृ0 94

●

पश्चिमी उत्तर प्रदेश से प्राप्त कुषाणकालीन मृण्मूर्तिकला का सांस्कृतिक अध्ययन

ज्योति सिंह एवं डॉ0 विनय कुमार***

उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त से भारत में ई0पूर्व तीसरी शती से प्रथम शती ई0 तक कई विदेशी जातियों ने प्रवेश किया, जिनमें शक्, पल्लव तथा कुषाण जातियाँ प्रमुख थी। इनमें सबसे अधिक शक्तिशाली कुषाण वंश के राजा थे, जिन्होंने गंगा घाटी तक अपने राज्य का विस्तार किया।[1] कुषाण साम्राज्य का विस्तार पूर्व में चीन तथा पश्चिम में पार्थिया तक एवं उत्तर-पश्चिम में खुरासान से लेकर दक्षिण-पूर्व में विहार तक विस्तृत था। कुषाणकाल कई दृष्टिकोण से विगत युगों से भिन्न था, इसका मुख्य कारण था- इसकी कला, संस्कृति, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में बदलाव।[2]

जैसा की सर्वविदित है कि मृण्कला अभिव्यक्ति का सबसे आम और सरल माध्यम थी। इस काल में मृण्कला के निर्माण में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस काल से सम्बन्धित असंख्य मृण्मूर्तियों और वस्तुओं को कला परम्परा और शैली की बढ़ती लोकप्रियता के कारण उत्तर भारत के विभिन्न प्रारम्भिक स्थलों से खोजा गया है। कुषाणकाल में मृण्मूर्ति बनाने में दो अलग-अलग प्रवृत्तियाँ प्रचलन में थीं। पूर्ववर्ती शताब्दियों से प्रचलित लोक कला परम्परा के जारी रहने के अलावा जहाँ समीक्षाधीन काल में देश में नई दौड़ के प्रवाह से सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव के कारण नए रूपों-रूपांकनों और तकनीकों के उद्भव को देखा गया वहीं मृण्कला में विदेशी प्रकारों के प्रतिनिधित्व के साथ-साथ भेष-भूषा एवं नस्लीय प्रवाह को दर्शाता है, जो इस काल की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी। कुषाण शासकों के अन्तर्गत मृण्मूर्ति कला को शैली, विषय और सामान्य विशेषता के आधार पर तीन क्षेत्रों में वर्गीकृत किया जा सकता है-[3]

1. इण्डो- गांगेय क्षेत्र।
2. गांधार और इसके आस-पास का क्षेत्र।
3. सोग्डियाना (ऑक्सस या अमुदर्य और सुरदर्य या जैक्सारटेश नदियों के बीच स्थित) एवं बैक्ट्रिया (ऑक्सस के दक्षिण में स्थित, हेरात के पूर्व और हिन्दुकुश पर्वतों के उत्तर-पश्चिम में)।

इन तीनों क्षेत्रों में से गंगा-यमुना दोआब, प्रारम्भिक ऐतिहासिक काल में महत्वपूर्ण क्षेत्र था, जो इस लेख का मुख्य विषय है।

कुषाण शिल्पकारों द्वारा मूर्तियों के माध्यम से तत्कालीन धार्मिक आस्थाओं एवं भाषाओं को ही स्थूलतः मूर्त रूप में अभिव्यक्त किया गया। अतः सिन्धु सभ्यता से प्रारम्भ हुई मूर्ति निर्माण परम्परा को कुषाणकाल में एक नवीन रूप प्राप्त हुआ। इस काल में अधिकांश मृण्मूर्तियों का निर्माण दोहरे साँचे में ढालकर किया जाने लगा एवं साथ ही हाथ से डौलिया कर बनाने की परम्परा भी चलती रही।[4] कभी-कभी दोनों तकनीकों को एक वस्तु के निर्माण के लिए नियोजित किया गया था। हाथ से तैयार किये गये प्रतिरूप चेहरे की अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने में महारथ का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरण के लिए, हाथ से तैयार किए गए प्रतिरूपों में आँखों और भौंहों के अभिव्यंजक रूप-रेखाओं को एक तेज उपकरण या गीली मिट्टी पर बाँस की एक तेज छड़ी के साथ उकेरा जाता है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि अपने हाथों से काम करने वाले कलाकारों ने बेहतर शिल्प-कौशल का प्रदर्शन किया और साँचों का उपयोग करने वालों की तुलना में अधिक स्वतंत्रता और सहजता का आनन्द लिया। इस काल में मृण्मूर्तियों के निर्माण में एक विशिष्ट विशेषता दोहरे साँचों की शुरूआत है जो प्रथम शताब्दी ई0 की प्रारम्भ से रोमन देशों के साथ भारत के सम्पर्क के कारण थी।[5]

इस काल की मानव मृण्मूर्तियों पर यूनानी, रोमन, शक्, पार्थियन के साथ-साथ मध्य एशिया की मानव आकृतियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस काल में मुख्यतः तीन प्रकार की मूर्तियाँ बना करती थीं। प्रथम प्रकार की मूर्तियों में हेलेनेस्टिक तथा भारतीय तत्वों का मिश्रण था। दूसरे में केवल भारतीय तत्व थे, जबकि तीसरे में सिथियन तत्व विद्यमान थे। उस समय दो स्थानों की कला पूर्णतः विकसित अवस्था में देखी गयी- गांधार कला तथा मथुरा कला।[6]

मथुरा कला में भारतीय तत्व थे तथा वह पूर्णतः भारतीय परम्पराओं पर आधारित थी, यहाँ जिन मूर्तियों का निर्माण हुआ उनमें कला पक्ष प्रधान रहा। वहीं गांधार क्षेत्र में जैसी कला का विकास देखा गया वह पूर्णतः भारतीय नहीं हो पायी, भले ही धीरे-धीरे उसका भारतीयकरण कर लिया गया। इस कला में हेलेनेस्टिक और भारतीय दोनों तत्वों का मिला-जुला रूप देखने को मिला।[7]

कुषाणकाल के कलाकारों ने सामान्य रूप से सफल गुप्तकाल के कलाकारों की तुलना में मिट्टी के चयन, प्रसंस्करण या भेष-भूषा पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। इस काल के दौरान मृण्मूर्ति निर्माण के अवयवों में छिद्र, कंकरी/गिट्टी एवं चावल की भूसी का मिश्रण आम है। इस काल में अच्छी संख्या में मृण्मूर्तियाँ कई प्रकार के वर्णकों

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के साथ चित्रित किए गए हैं जिनमें से लाल-गेरू मिट्टी (हेमेटाइट, लौह युक्त ऑक्साइड) एवं प्रचलित अन्य सामान्य रंग में काले और सफेद रंग के हैं। सफेद वर्णक प्राप्त करने के लिए कैल्शियम कार्बोनेट जिसे खादी या खरिया (Khariya) के रूप में जाना जाता है, का उपयोग किया गया था। उसके अलावा एक प्रकार का पाइरोलुसाइट (मैंगनीज डाइऑक्साइड) काला वर्णक पैदा करता था या कभी-कभी काला दीपक या कालिख (काजल) का उपयोग किया जाता था।[8]

कुषाणकाल की मृण्मूर्तियाँ प्रकृति में विविध और विशिष्ट हैं तथा कला परम्परा एवं समकालीन धार्मिक मान्यताओं और धर्मनिरपेक्ष दोनों विषयों को दर्शाती हैं जो सामाजिक सामग्री से समृद्ध प्रतीत होती है। इस काल की मृण्मूर्तियाँ पश्चिमी उत्तर प्रदेश के मथुरा, अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, सोंख, अतरंजिखेड़ा, काम्पिल्य, संकिसा, मोरध्वज एवं कन्नौज आदि स्थलों से प्राप्त होती हैं। ये सभी स्थल मृण्मूर्तियों के निर्माण केन्द्र के रूप में ज्ञात हैं जहाँ से अत्यन्त सुन्दर देवी-देवताओं के साथ ही महापुरूषों, मनुष्यों, पशुओं आदि की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ कुषाण कलाकार विभिन्न मूर्तियों के निर्माण द्वारा लौकिक सौन्दर्य तथा दैवीय लावण्य के रस प्रदर्शन में सिद्धस्त हो चुका था वहीं कुषाण कलाकारों द्वारा मृण्मूर्तियों के निर्माण में विविधता प्रदर्शित होती है।

इस काल की मृण्मूर्तियों को वर्ण्य विषय के आधार पर तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है- (1) मानव मृण्मूर्तियाँ (2) धार्मिक मृण्मूर्तियाँ (3) सामाजिक जीवन से सम्बन्धित मृण्मूर्तियाँ।

मानव मृण्मूर्तियाँ :

मानव मृण्मूर्तियों में स्त्री एवं पुरूष दोनों की ही मूर्तियाँ शामिल हैं जिसके अन्तर्गत् उनकी शारीरिक बनावट, वस्त्र-विन्यास, विविध प्रकार की शिरोभूषाएँ एवं अलंकरण, आभूषण तथा केश-शैली आदि का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। मथुरा से साँचा निर्मित दो स्त्री मूर्तियाँ मिली हैं। प्रथम मूर्तिफलक में स्त्री का चेहरा झुकी हुई एवं ऊभरी नक्काशी से युक्त है। उसका दाहिना पैर-पैर के अंगूठे पर टीका हुआ है। उसका बायाँ हाथ गोल आकार के शिरोभूषा को छूने के लिए ऊपर उठा हुआ है एवं दायाँ हाथ नीचे की ओर है। दाहिने कान में गोल बाली, पाँव में पायल और साड़ी जिसमें सजावटी पट्टा लटका हुआ है। वहीं दूसरे फलक में जालीदार ढ़ाचे के अन्दर एक स्त्री को बांस की कुर्सी पर बैठाया गया है। जिसका चेहरा सामने है और शरीर की रूप-रेखा आधी है। वह अपने बायें हाथ से बालों को पीछे से व्यवस्थित कर रही है इसके अतिरिक्त वह चक्र के समान बाली, कंगन और एक कमरबंद द्वारा अच्छी तरह से बढ़ी हुई साड़ी पहने है। साड़ी के दोनों छोर सामने लटके हैं जो सम्भवतः लापरवाही से ढालने के कारण ऐसा है। इस प्रकार का एक अन्य बेहतर नमूना राज्य संग्रहालय मथुरा में संग्रहित है।[9]

हस्तिनापुर से एक खड़ी स्त्री मूर्ति का ऊपरी हिस्सा प्राप्त हुआ है जिसमें विस्तृत शिरोभूषा के बीच में एक गुलाबवत् है। शरीर के आभूषणों में माथे पर एक त्रिपक्षीय मोतियों के झालर शामिल हैं एवं साथ ही कानों में गोल कुण्डल, गले में हार एवं कण्ठा मौजूद हैं। हस्तिनापुर से ही प्राप्त एक अन्य स्त्री को उन्नत स्तनों एवं फैले हुए बाहों के साथ चित्रित किया गया है। मूर्ति बाजूबन्द पहने हुए है तथा आँखें और मुँह अपरिष्कृत रूप से ऊभरी हुई रेखाओं से निर्मित है, साथ ही इसकी शिखा में सिखैंडा भी लगाया गया है।[10] संकिसा से प्राप्त मृण्मूर्ति में स्त्री का भारी एवं मुस्कुराता हुआ चेहरा है एवं विस्तृत सिर के पहनावे के साथ में एक लच्छेदार पत्ते की किस्में दायें तरफ में है। कान में गोल आभूषण है। उसके झुके हुए बायें हाथ में एक दुपट्टा है तथा नीचे का भाग गायब है।[11] संकिसा से ही एक दूसरा पुरूष का मृण सिर प्राप्त हुआ है। इस मूर्ति में पुरूष की आँखें बड़ी, छिद्रित नेत्रगोलक एवं लम्बी नाक, मोटे होंठ और रेखांकित मूँछ जो ऊपर की ओर खिंचे हुए है। बाल बीच से अलग है और दोनों तरफ गुच्छों में फैला है तथा दायाँ कान और ठोड़ी के नीचे का भाग गायब है।[12] अतरंजीखेड़ा से प्राप्त स्त्री को भी उन्नत स्तनों के साथ चित्रित किया गया है। इस मूर्ति के धड़ को छोड़कर शेष भाग खण्डित है। मथुरा से कुछ अभिजात पुरूषों की भी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियों में से एक अच्छी तरह से वस्त्र पहने हुए अलंकृत पुरूष की अर्ध-मूर्ति को दर्शाता है। वी0एस0 अग्रवाल का मानना है कि यह एक कुलीन व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है।[13] मूर्ति अच्छी तरह से अलंकृत शंक्वाकार मुकुट, कान के आभूषण एवं भारी हार पहने है। हस्तिनापुर से बेलनाकार सांचे में ढाली हुई पुरूष की एक खड़ी मृण्मूर्ति मिली है जिसकी दोनों भुजाएँ कमर पर स्थित हैं। यह मूर्ति कीमती पत्थरों के साथ जड़ा हुआ एक गोल हार पहने है और एक लटकन रखे है। यह आकृति अपने वस्त्र विन्यास के बहुमूल्य व्यवहार या उपचार के लिए उत्कृष्ट है जिसमें ऊर्ध्वाधर तहों के साथ एक धोती कमर के चारों ओर बंधा हुआ शामिल है। कंधे पर एक दुपट्टा है, जो तिरछे सिलवटों से दोनों भुजाओं को ढकता है। शरीर का ऊपरी भाग एवं कमर और बायें कंधे के बीच तिरछा उस्तरा-यजनो-पविता के स्थान को छोड़कर लगभग बायाँ भाग अनावृत्त है। पाँव के दोनों तरफ पृष्ठभूमि पर एक सर्प के तुला का पता चलता है।[14] इसके अतिरिक्त मथुरा से एक बौने पुरूष की भी मृण्मूर्ति प्राप्त है जिसमें पुरूष के पास एक गोल चेहरा, ऊभरी हुई पलकें और एक असामान्य रूप से लम्बा मुँह है। वह दोनों हाथ के हथेलियों को छाती के किनारों पर रखे हुए है। पैरों को पृथक किया गया है एवं पाँव नीचे से जुड़े हैं। वह एक कण्ठा और कमरबन्द द्वारा एक धोती पहने हुए है। धोती की मोटी सिलवटें और सिकुड़न को विशिष्टता से इंगित किया गया है। बौनी मूर्तियाँ या आकृतियाँ भारतीय मृण्मूर्ति कला में आम हैं।[15] इसके अलावा हस्तिनापुर से प्राप्त अन्य पुरूष मृण्मूर्ति में अपरिष्कृत रूप से हाथ से बनी हुई मूर्ति है जिसमें चीरा या उत्कीर्णन द्वारा नाक और मुँह के दोनों पक्षों पर छिद्रों द्वारा उभरी हुई, तीक्ष्ण आँखें इंगित

हैं एवं हाथ और पैर खण्डित हैं तथा सिर पर एक गुलाबवत है।[16] अहिच्छत्र से दो अन्य मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हैं। एक में राजा या राजकुमार एक बेलनाकार चौकी पर बैठे, लटकते हुए पैरों और एक पादपीठ पर पाँव रखे हुए है। वह एक छोटी धारीदार अंगरखा, मोतियों की हार, चूड़ियाँ और काशीदाकारी (बूटेदार) बाजूबन्द बाँह पर रखे हुए है। उसकी छाती पर दायीं ओर घुमाने के बाद बायें कंधे से एक दुपट्टा ऊभरते हुए तिरछा जाता है। वह अपने दाहिने हाथ में कुछ वस्तु रखे है। मूर्ति की मुद्रा वही है जो कुषाण राजा विम तक्ष्म की मूर्ति में दिखाई देती है, जिसे राज्य संग्रहालय मथुरा में रखा गया है।[17] दूसरी मूर्ति में पुरूष का लम्बा एवं मुस्कुराता चेहरा, छिद्रित नेत्रगोलक और मोटे होंठ हैं। सिर पर एक टोपी है, जिसके सिलवटों को छिन्न रेखाओं द्वारा इंगित किया गया है। टोपी के अग्र भाग में एक आभूषण प्रदर्शित है। दायें कान में गोल बाली है एवं बायें कान और गर्दन के नीचे का भाग खण्डित है।[18] अन्य उदाहरणों में से मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन व्यक्ति का मुख है, जिसमें चित्रित व्यक्ति कोई सम्पन्न घराने का है, जो मुकुट पहने हुए है तथा मुस्कुरा रहा है। इसकी भारी मूँछे उसके गोल चेहरों पर अच्छी रोबदार लग रही हैं। यह व्यक्ति बड़े बालों का शौकीन मालूम पड़ता है क्योंकि दोनों कानों के पीछे घुँघराले केशों की लटें दिखाई पड़ रही हैं। मथुरा की ही एक अन्य मुखाकृति जो किसी कुषाण वंशीय नागरिक की प्रतिछवि प्रतीत हो रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि इस काल के चेहरों में भावों का समावेश किया गया है जो इस मूर्ति के होंठों तथा दाँतों के प्रदर्शन से स्पष्ट हो जाता है। इस व्यक्ति का रूप तथा उसका केश विन्यास, उसके यौवन का परिचय देता है।[19] इसके अतिरिक्त कन्नौज से प्राप्त मूर्ति में पुरूष की आकृति अपनी कोहनी के साथ मिली है जिसमें गोल मुख के रूप में एक अच्छी तरह से बना हुआ सिर है। इसके शीर्ष पर एक चपटे गाँठ के साथ गोल आँखें हैं एवं बाल फैले हैं।[20]

धार्मिक मृण्मूर्तियाँ :

कुषाणकाल में निर्मित धार्मिक मृण्मूर्तियों में ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवी-देवताओं की मृण्मूर्तियाँ (शिव, विष्णु कामदेव, लक्ष्मी, महिषासुरमर्दिनी, मातृका, चामुण्डा, वसुधारा) तथा कुबेर-हरीती, बुद्ध, यक्ष-यक्षी एवं नाग-नागि इत्यादि प्राप्त होती हैं। सप्तमातृकाओं की प्रतिमाओं का निर्माण ई0 शती के आरम्भ में ही होने लगा था।[21] कला में सप्तमातृका प्रतिमाओं का प्रदर्शन दो रूपों में किया गया है- शिलापट्ट पर सप्तमातृकाओं का संयुक्त रूप से प्रदर्शन और पृथक- पृथक मातृकाओं का प्रदर्शन। मथुरा संग्रहालय में कुषाणकालीन सप्तमातृका प्रतिमाएँ (जिनमें सात नारी आकृतियाँ स्थानक-मुद्रा में प्रदर्शित की गई हैं) संरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं के दाहिने हाथ अभय मुद्रा में उठे हुए हैं और बायें हाथ में कमण्डल है, उनके दोनों तरफ आयुध-पुरूष हैं। कुषाणकाल में इसके अतिरिक्त दो या तीन मातृकाओं की साथ-साथ आकृतियाँ बनायी गयीं हैं। *रूपमण्डन*[22] में तो बतलाया गया है कि मातृकाओं के एक ओर वीरभद्र और दूसरी ओर गणेश को प्रदर्शित करना चाहिए। इस प्रकार हर युग में मातृकाओं का रूप बदलता गया और उन्हें भिन्न-भिन्न नाम भी दिया गया। मृत्तिका कला में मातृका की मूर्तियाँ शुंग काल से मिलना प्रारम्भ हो जाती हैं। शुंगकाल की ही तरह कुषाणकाल से भी दो मातृका की मूर्तियाँ सोंख से मिली हैं। प्रथम में मूर्ति अपने बायें हाथ में एक बच्चे को लिए हुए है। दायें कान में कर्णफूल है तथा गले में एक माला है जो स्तनों तक आई है। दायाँ हाथ टूट गया है। यह मातृका मूर्ति बैठी हुई अवस्था में है लेकिन दोनों पैर खण्डित हैं। दूसरी मृण्मूर्ति में एक गोल आकृति में एक तरफ से चार मातृका मूर्तियाँ मिली हैं तथा बीच-बीच में कुछ स्थान खाली है। सम्भवतः इन स्थानों पर तीन और मातृका मूर्तियाँ रही होंगी।[23] प्राचीन काल से ही लक्ष्मी की आराधना भारत में होती आ रही है। उनका ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन धर्मों में समान रूप से आदर किया जाता है। वह धन-धान्य और समृद्धि की देवी हैं। *ऋग्वेद*[24] में 'श्री' और 'लक्ष्मी' का प्रयोग अमूर्त संज्ञा और विशेषण के रूप में किया गया है। *शतपथ ब्राह्मण* में[25] श्री' का वर्णन परम सुन्दरी देवी के रूप में किया गया है, जिसे प्रजापति ने अपने तप से प्रकट किया और यह भी कहा गया है कि इनका सम्बन्ध ऐश्वर्य एवं तेज से है। *तैत्तिरीय उपनिषद्*[26] में भी 'श्री' के द्वारा अन्न, गौ आदि प्राप्त करने का वर्णन है। प्राचीन भारतीय कला में लक्ष्मी का गज-लक्ष्मी रूप सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है। श्री सूक्त में इस देवी को हस्तिनाद-प्रमोदनी अर्थात हाथियों के चिघ्घाड़ से प्रसन्न होने वाली कहा गया है। बाद में पुराणों में भी लक्ष्मी के इस रूप को अधिक विस्तार दिया गया। हालांकि प्रारम्भिक काल की मूर्तियों में देवी कमल पकड़े हुए हैं। लम्बे नाल वाला कमल या तो भरे पूरे फूल्ले के रूप में दर्शक को देखते हुए बनाया जाता है या देवी के मुख की ओर इस प्रकार घुमा रहता है मानो वह अपने को हवा कर रही हैं। शुंगकाल तक आते-आते कला में गज-लक्ष्मी का चित्रण प्रारम्भ हो गया था। लक्ष्मी का यह रूप इस समय की मृण्मूर्तियों में प्राप्त होता है। इस समय तक पद्म-लक्ष्मी प्रदर्शन का प्रतीक बन चुका था। गज-लक्ष्मी के रूप में लक्ष्मी को स्थानक और आसन दोनों ही मुद्राओं में चित्रित किया गया है। दूसरी शती ई0पू0 से भारत के विभिन्न भागों में लक्ष्मी के विविध रूपों का अंकन होने लगा। मृण्मूर्ति कला में इसके उदाहरण कुछ कम हैं। इस प्रकार की मूर्तियाँ ज्यादातर मथुरा एवं संकिसा से प्राप्त की गयी हैं। संकिसा से प्राप्त एक फलक में देवी को गज-लक्ष्मी के रूप में दिखाया गया है। दुर्भाग्य से यह फलक टूटा हुआ है और केवल देवी का ऊपरी भाग ही शेष है। इसमें देवी को खड़ा दिखाया गया है। उनके दोनों हाथों में दो कमल के फूल पकड़े हुए और दो हाथियों के जोड़े के साथ देवी के सिर पर दो उल्टे घड़ों को सूंड़ में पकड़े हुए जल छिड़कते हुए दिखाया गया है।[27] एक अन्य मूर्ति गज-लक्ष्मी की मथुरा से मिली है, जिसमें दो हाथी कमल पर खड़े होकर अभिसिंचन कर रहे हैं। देवी का बायाँ हाथ कमर पर है तथा दायाँ हाथ, जो कंधे तक है उसमें पद्म है।[28]

मृण्मयी मूर्तियों में यक्ष-यक्षी मूर्तियों का बनना किसी आश्चर्य का कारण नहीं क्योंकि एक तो यक्ष-यक्षी की धारणा स्पष्ट रूप से इस युग में थी, दूसरी प्रस्तर में भी इनकी मूर्तियाँ बन चुकी थीं। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त यक्ष की मृण्मूर्ति जो एक संगीतकार को अपने कंधों पर ले जाता है। संगीतकार ने पगड़ी, भारी कान के आभूषण, हार और चूड़ियाँ पहन रखी हैं। वह अपने दायें हाथ में खरताल एवं बायें में वीणा पकड़े है। यह आकृति घड़े के समान पेट वाली है और उसके पैर टूट गए हैं।[29] इस स्थल से प्राप्त एक अन्य यक्ष आकृति भारत कला भवन, वाराणसी में संरक्षित है। यह एक विकृत आकृति है जो शरीर के साथ बैठा हुआ है, जिसकी आँखें धँसी हुई और चेहरा मुस्कुराता हुआ है। वह एक मखमल की टोपी, हार एवं एक भारी मुड़ा हुआ अंगरखा पहने हुए है।[30] अहिच्छत्र से भी कुषाणकालीन यक्ष की मूर्ति प्राप्त है जिसका सिर्फ सिर ही शेष है।[31] एक अन्य यक्षी की मृण्मूर्ति मोरध्वज से प्राप्त हुयी है। इसका चेहरा गोल है एवं आँखें खुली हुई तथा बाहर की ओर निकली हुई हैं, जिनमें पुतलियों को एक छिद्र द्वारा दर्शाया गया है। मुख खुला हुआ एवं होंठ मोटे हैं जिसमें दाँत एवं जीह्वा बाहर निकला हुआ है। मस्तक चौड़ी है एवं बालों को कंघीदार बनाया गया है।

प्रायः यह निर्विवाद है कि लिङ्ग पूजा का विकास 'शिष्नु' पूजा से हुआ है। आदिम युग में मनुष्य शिष्नु की पूजा प्रजनन-शक्ति के प्रतीक के रूप में करता था। भारतीय सभ्यता में इसका प्रमाण सिन्ध के अवशेषों में मिलता है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि ऐतिहासिक रूप से लिङ्ग-पूजा का आरम्भ कब से हुआ? आर0जी0 भण्डारकर के अनुसार कुषाणों के पूर्व लिङ्ग-पूजा का प्रचलन नहीं था। इसका प्रमाण 'विमकैडफाइसेज' की मुद्रा पर शिव के मानव रूप का अंकन है।[32] इसके विपरीत जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने ई0 सम्वत् के पूर्व की मुद्राओं और मूर्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शिव की पूजा मानव एवं लिङ्ग दोनों रूपों में प्रचलित थी।[33] इस संदर्भ में प्रथम शती ई0पू0 के आन्ध्र गुडीमल्लम से प्राप्त शिवलिङ्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें लिङ्ग पर बने जटाधारी शिव के हाथों में कमण्डल तथा परशु है। शिव के प्रतीक के रूप में लिङ्ग निर्माण का यह स्पष्ट प्रमाण है।[34] प्रतिमाशास्त्रीय ग्रन्थों में लिङ्ग के स्वरूप तथा संरचना के सम्बन्ध में अनेक विवरण प्राप्त होते हैं। *विष्णुधर्मोत्तर पुराण* के अनुसार लिङ्ग के तीन प्रमुख भाग होते हैं-1. भोग पीठ 2. भद्र पीठ 3. ब्रह्म पीठ। लिङ्ग का वृत्ताकार ऊपरी भाग भोग पीठ, बीच का भाग भद्रपीठ और नीचे का भाग ब्रह्म पीठ होता है।[35] शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर गोपीनाथ राव ने निष्कल, सकल तथा निर्मित प्रकार में लिङ्ग के रूप को विभाजित किया है।[36] लिङ्ग के अर्न्तगत शिव के एक मुख से लेकर पाँच मुखों तक का चित्रण किया जाता है और लिङ्ग के इस रूप को मुख-लिङ्ग की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। शिव की पंचमुखी तथा एकमुखी लिङ्ग प्रतिमा का उल्लेख जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने किया है।[37] इस क्षेत्र में शिव की एक मुखी शिवलिङ्ग मूर्तियाँ भी बनायी गयीं, इसमें मथुरा से प्राप्त शिव सिर इस प्रकार का सबसे अच्छा उदाहरण है। शिव के शीर्ष पर शिवलिङ्ग है एवं उलझे हुए पास और मूँछों के साथ दिखाया गया है। तृतीय नेत्र को क्षैतिज रूप में दर्शाया गया है तथा चेहरे का विवरण ज्यादातर छिन्न रेखाओं के माध्यम से विस्तृत होता है।[38]

हिन्दू धर्म में त्रिमूर्ति के अन्तर्गत विष्णु का द्वितीय स्थान माना गया है तथा वे सृष्टि के पालनकर्ता माने गये हैं। ऋग्वैदिक काल में जो स्थान वरूण का था वही स्थान उत्तरवैदिक काल में विष्णु का हो गया। महाकाव्यों के काल से ही त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का पूजन प्रारम्भ हो गया था। अवतारों का पूजन-अर्चन ईसा पूर्व में प्रारम्भ हुआ जिसका गुप्तकाल में पूर्ण विकास हुआ। इनमें वराह, कृष्ण, वामन, मत्स्य, कूर्म तथा राम अवतार प्रमुख थे। *विष्णुपुराण*[39] में *द्विभुजी*, चतुर्भुजी तथा अष्टभुजी विष्णु के ध्यान करने का वर्णन है। इनके हाथों में चक्र, गदा, शंख, पद्म, आदि आयुध लिए होने चाहिए। कहीं पर उनका बायाँ हाथ गरुण के स्कंध पर रखा रहता है तथा दायें हाथ में वे लीला कमल घुमाया करते हैं।[40] *विष्णुधर्मोत्तर पुराण*[41] में विष्णु का आवाह्न करते समय उनकी चतुर्भुजी प्रतिमा का उल्लेख आया है जिसमें उनके तीनों हाथों में शंख, चक्र तथा गदा रहता है। *वृहत्संहिता*[42] में विष्णु का अष्टभुजी रूप वर्णित है। मृण्मूर्ति कला में विष्णु के विभिन्न रूपों की मूर्तियाँ पायी गई हैं। यद्यपि कुषाणकाल में विष्णु मूर्तियों की संख्या बहुत सीमित है। अहिच्छत्र से प्राप्त विष्णु की एक मृण्मूर्ति को वनमाला, लघुहार तथा ऊपरी भुजाओं में बाजूबन्द द्वारा संदर्भित एक मयूर पंख सिर पर मढ़ा हुआ कुषाण शैली में दर्शाया गया है।[43] बायें कंधे से तिरछा होकर तिरछी रेखा पवित्र धागे को खींचती है। कोहनी की अतिरिक्त बाहें द्विभाजित हैं और कोई विशेषता संरक्षित नहीं है।[44]

देवी दुर्गा अपने उग्र रूप में चामुण्डा कहलाती हैं। *मार्कण्डेय पुराण*[45] के देवीमहात्म्य में इसका वर्णन दुर्गा के रूप में किया गया है कि द्वापर के अन्त में विप्रचिति के यहाँ जन्म लेने वाले शुंभ-निशुंभ नामक दैत्यों को मारकर मैं खालूँगी। इस रक्त से मेरे सारे अंग लाल हो जायेंगे। तब सब मुझे रक्त चामुण्डा के नाम से पुकारेगें। चामुण्डा के स्वरूप का उल्लेख *मार्कण्डेय पुराण* में करते हुए उसे दाढ़ों के कारण विकराल मुख वाली मुण्डमाला से विभूषित किया गया है।[46] *मत्स्यपुराण*[47] में भी उसे **दंष्ट्राकरालवदना कपालमालिनी मुण्डमालाविभूषितम्** के रूप में वर्णन किया गया है। *विष्णुधर्मोत्तर*[48] *पुराण* में चामुण्डा को विकृत मुख वाली, कृश देहवाली, रक्त वर्ण वाली भी कहा गया है। वह प्रेतों के साथ निवास करती है तथा सर्पों का आभूषण धारण करती हैं। अहिच्छत्र से एक ऐसी चामुण्डा की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके शरीर पर एक बिच्छु को रेंगते हुए दिखाया गया है।[49] अहिच्छत्र की यह मूर्ति बाद के तिथि की है। इस बात की बहुत अधिक सम्भावना है कि यहाँ स्त्री आकृति एक बच्चे और बिच्छू के साथ चित्रित है, इसलिए हो सकता है वह देवी चामुण्डा का प्रतिनिधित्व करती हो। इस प्रकार यह स्पष्ट हो

जाता है कि मिट्टी में निर्मित चामुण्डा का सबसे पहला उदाहरण हमें कुषाणकाल में प्राप्त होता है।

महायान देवकुल में वसुधारा का स्थान धनराज कुबेर की पत्नी के रूप में मिलता है। इस देवी को ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य और रत्नसम्भव दोनों से ही उद्भूत किया गया है। अक्षोभ्य से उद्भूत इस देवी को एक गर्वीली नवयौवना के रूप में अपने बायें हाथ में ध्यानमञ्जरी लिए हुए प्रदर्शित किया जाता है। इनका दायाँ हाथ वरद मुद्रा में स्थित होता है। *साधनमाला* में देवी के स्वरूप का सुन्दर वर्णन मिलता है- **वसुधारं भगवती ध्यायात् कनकवर्णा सकलालंकाखतीं द्विरष्टवर्षाकृतीं दक्षिण करेण वरद्ां वामकरेण धान्यमंजरीधरामक्षोभ्य धारिणीम्।**[50] वसुधारा की मूर्तियों का एक अन्य प्रकार जो मृत्तिका कला में ही केवल उपलब्ध है में देवी के बायें अथवा दायें किसी एक हाथ में डोरी से लटकती मछलियाँ दिखाई गई हैं तथा उनका दूसरा हाथ पेट अथवा मेखला पर है। कुषाणकाल में वसुधारा की मूर्तियाँ मथुरा एवं अहिच्छत्र से प्रतिवेदित हैं। मथुरा से प्राप्त देवी वसुधारा की मूर्ति के धड़ से उसके गुण, पोशाक और आभूषण के बारे में पर्याप्त जानकारी मिलती है। उसका दाहिना हाथ सम्भवतः पूर्णकुम्भ पकड़े हुए है एवं उसका बायाँ हाथ दुपट्टा और मछली को धागे से बाँधने में व्यस्त है। देवी के स्तन उन्नत हैं और चुचकों को दिखाने के लिए कलाकार ने विशेष ध्यान रखा है। उसकी कमर पतली और कुल्हे चौड़े हैं जो स्त्री सौन्दर्य की विशेषता है। यह मूर्ति अपरिष्कृत परिवर्तन के प्रकारों को दर्शाती है।[51] देवी वसुधारा का एक अन्य उदाहरण अहिच्छत्र से प्राप्त हुआ है जो एक स्त्री आकृति को पैरों के साथ ऊँचे आसन पर बैठी हुयी प्रदर्शित करता है। उसके हाथ एक दूसरे को स्पर्श कर रहें हैं और एक ऊभरे हुए फूलदान के ढ़क्कन पर अवलंबित है जिसे पैरों के बीच रखा गया है जो नीचे से निलंबित है। उभरे फूलदान के आधार पर मूर्ति की पहचान वसुधारा के रूप में की गयी है जो कि समृद्धि या श्री की देवी हैं।[52]

भारतीय साहित्य में कुबेर का उल्लेख धनद एवं यक्षेश्वर के रूप में हुआ है। कुबेर का प्राचीनतम वर्णन *अथर्ववेद*[53] में मिलता है जिसमें उन्हें विश्रवा का पुत्र कहा गया है। *रामायण*[54] के अनुसार वे बह्मा के मानस पुत्र पुलस्त्य के पुत्र हैं। *भागवतपुराण* के[55] अनुसार मुनि विश्रवा ने अपने पिता पुलस्त्य से उत्तम विद्या प्राप्त कर इडविडा के गर्भ से लोकपाल कुबेर को जन्म दिया। *महाभारत*[56] में कुबेर के लिए नरवाहक तथा राक्षेश्वर जैसे शब्द प्रस्तुत किये गये हैं। मृत्तिका कला में कुबेर एवं हरीती का अंकन बहुत कम है। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन फलक में कुबेर और हरीती का अंकन एक साथ किया गया है। हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित षष्ठी देवी हरीती का ही परिवर्तित रूप है। डॉ0 वासुदेवशरण इसे भद्रा से अभिन्न बताते हैं। आरम्भ में वह घोर नाम की राक्षसी और कुरूक्षेत्र में उलूखल मेखला नाम की यक्षी के रूप में थी। यह मांस शोणित से तृप्त होती थी। किन्तु बौद्ध धर्म के साँचे में ढ़लकर वह शिवात्मक बन गई और मगध से लेकर गांधार तक बच्चों की रक्षक देवी के रूप में सर्वत्र फैल गई। *ऋग्वेद* में बहुप्रजा परम्परा लोक में बहुपुत्रा हरीती या भद्रा के रूप में विकसित हुई।[57] मथुरा से कुबेर एवं हरीती का एक मृण्फलक प्राप्त हुआ है, जिसमें वह अपने दाहिने हाथ में कमल धारण किये हुए है और उनका बायाँ हाथ घुटने पर रखा हुआ है। मूर्ति में सिर का भाग खण्डित है तथा उन्हें नीचे के भाग में धोती पहने दिखाया गया है। बायें हाथ के बगल में यजोपवीत धारण किए हुए हरीती बैठी हुई हैं जिनका बायाँ हाथ विष्ठा पर रखा हुआ है, सिर का भाग पंख के जैसे साफा से अलंकृत किया गया है। आँखें चौड़ी तथा खुली हैं एवं उनके बायें हाथ में कटोरा और दायें हाथ में सम्भवतः थाली है।[58]

प्रतिमाशास्त्रीय आधार पर दुर्गा को अनेक रूपों में प्रदर्शित करने का विधान निश्चित किया गया है। महिषासुरमर्दिनी भी दुर्गा का ही एक रूप है। जब देवी ने महिषासुर नामक राक्षस का वध किया तो उनके इस रूप को महिषासुरमर्दिनी कहा गया। *विष्णुधर्मोत्तर पुराण*[59] में देवी के इस रूप को चण्डी कहा गया है। इसके अनुसार देवी का वर्ण स्वर्ण के समान है, उनके तीन नेत्र होते हैं, वह एक युवती के रूप में प्रदर्शित की जाती है तथा वे क्रोधित मुद्रा में सिंह पर आरूढ़ रहती हैं। उनका मध्यदेश पतला, नेत्र विशाल तथा सुन्दर सुपुष्ट स्तन होते हैं। उनकी गर्दन सुन्दर तथा बीस भुजाएँ हैं। *अग्निपुराण*[60] में विविध आयुधों से युक्त दस भुजी सिंघवाहिनी चण्डिका द्वारा त्रिशूल से महिषासुर के वध करने का उल्लेख किया गया है। *मत्स्यपुराण*[61] में जटा-जूट और अर्द्धचन्द्र से युक्त दशभुजी और त्रिनेत्री कात्यायनी को सभी आभूषणों से सुशोभित एक नवयौवना के रूप में त्रिभंग मुद्रा में, सिंह पर आरूढ़ वर्णित किया गया है। मृत्तिका कला में देवी की प्रतिमाएँ मुख्यतः मथुरा, अहिच्छत्र, सोंख तथा मोरध्वज से मिली हैं। मथुरा से एक सुन्दर फलक मिला है जिसमें चतुर्भुजी देवी को भैंस रूपी दानव को वश में करते हुए दिखाया गया है।[62] मथुरा से एक अन्य षष्ठभुजी महिषासुरमर्दिनी की मूर्ति प्राप्त है जो दूसरी शताब्दी ई0 की है। इस मूर्ति के दो बड़े हाथ उठे हुए हैं, जो सम्भवतः सिर के ऊपर एक ढाल रखे है। मध्य के बायें एवं दायें हाथ को एक त्रिशूल धारण किए हुए उठाया गया है। निचले बायें हाथ में पशु की गर्दन को ऊपर की ओर दृढ़तापूर्वक पकड़े हैं जबकि दायें हाथ से वह सबसे नीचे पशु की पीठ को दबाती हैं जो उसके पैरों पर रखा गया है। चेहरा तथा सिर एवं शिरोभूषा स्पष्ट नहीं हैं, लेकिन वह एक मोटी हार के साथ सुशोभित हैं एवं हाथों में मोटी चूड़ियाँ पहनी हैं, जबकि बाहों के ऊपर बाजूबन्द है। उसकी आँखें खुली हैं और चेहरा पूर्णतया कुरूप है।[63] सोंख से भी (1978-74) कुषाण स्तर की एक महिषासुरमर्दिनी की पट्टिका प्राप्त हुई है। इस मूर्ति में तीसरी और चौथी भुजा त्रिशूल को सिर के ऊपर एक असामान्य स्थिति में पकड़े है जैसे की वह महिष के शरीर में प्रहार करने के लिए तैयार है।[64] कुषाणकाल का दो अन्य मृण्फलक अहिच्छत्र से प्रतिवेदित

किया गया है। प्रथम में देवी को दो भुजाओं के साथ खड़े मुद्रा में दर्शाया गया है। वह बायें हाथ में पशु के अग्रभाग में निकली हुई घुथनी को ऊपर उठाये हुए हैं। वह भयानक लग रही हैं, उनकी आँखों में मस्तक पर तीसरी आँख भी है। वह अपने दायें हाथ से भैंस की पीठ दबा रही हैं, जबकि देवी के प्रहार के भय के कारण पशु का मुख खुला रखा गया है।[65] वहीं दूसरा फलक जो पहली-दूसरी शताब्दी ई0 का है। इसमें देवी को दोनों हाथों में भैंस को पकड़े हुए खड़े पैरों के साथ ऊपर की ओर उठाए हुए दिखाया गया है और सिर का भाग नीचे गिर रहा है। उनकी बाँह में से एक गायब है।[66] मोरध्वज से भी महिषासुरमर्दिनी का मृण्फलक प्राप्त हुआ है। फलक में देवी का चेहरा गोल एवं मोटे होंठ, चिपटी नाक तथा अधखुली आँखें हैं। वह कानों में गोल आकार के कुण्डल एवं गले में ग्रैवेयक पहने हुए हैं। इस मूर्तिफलक में देवी को द्विभुज दिखाया गया है। वह अपने दायें एवं बायें हाथों से त्रिशूल को महिषा पर प्रहार करते हुए तिरछा पकड़े हैं। उनके दोनों बाहों पर बाजूबन्द एवं हाथों में चूड़ियाँ हैं। कमर से नीचे वह साड़ी पहने हुए हैं जिसकी तीनों परतें दिखाई दे रही हैं। देवी सम्भवतः अपने बायें हाथ से महिषा के सिर को ऊपर उठाए पकड़े हुए हैं। नीचे का भाग खण्डित है।[67]

भक्ति एवं पूजा के बाद मानव रूप में बुद्ध प्रतिमा निर्माण के लिए मात्र एक चरण शेष रह गया था, जिसकी पूर्ति लगभग प्रथम शती ई0 में हुई। कुषाणवंशीय शासक कनिष्क, वाशिष्क तथा हुविष्क के शासन काल में बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित की गईं। इस समय के प्राप्त अभिलेखों से भी प्रतिमा निर्माण की पुष्टि होती है। कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष (3+78) 81 ई0 में वाराणसी के महाक्षत्रप खरपल्लान ने बोधिसत्त्व प्रतिमा के साथ छत्र-यष्टि स्थापित की थी।[68] कुषाण शासक कनिष्क के शासन काल में प्रथम शती ई0 में चतुर्थ बौद्ध संगीति हुयी और बौद्ध धर्म दो सम्प्रदायों हीनयान एवं महायान में विभक्त हो गया। महायान सम्प्रदाय की स्थापना के साथ ही बौद्ध धर्म में मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप बुद्ध के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की गई। महायान बौद्ध धर्म में बुद्ध को लोकोत्तर व्यक्ति के रूप में दैवीकृत किया गया। परिणामस्वरूप मथुरा एवं गांधार में प्रथम शती ई0 में बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनी। कुषाणकालीन मृण्मूर्ति कला में बुद्ध से सम्बन्धित मृण्मूर्तियाँ हस्तिनापुर[69] एवं मोरध्वज से प्राप्त हुई हैं। इनमें हस्तिनापुर से प्राप्त बोधिसत्व मैत्रेय की मूर्ति, जिसका धड़ शेष है वह अपने बायें हाथ में पारम्परिक कुण्डिका को पकड़े हुए हैं जबकि दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ है एवं हथेली अभय मुदा में है। वस्त्र का व्यवहार इस प्रकार है कि दुपट्टा (उत्तरीय) बायें कंधे के ऊपर ढ़का हुआ या आवृत्त किये है एवं दायें पैर के पास घुटने के चारों ओर से निकला है और अंत में बायें बाँह की कलाई पर टिकी हुयी है। निचले परिधान में एक धोती पैरों के बीच में लटका हुआ पर्याप्त सिलवटों के साथ एक लपेटा हुआ दुपट्टा के माध्यम से लंगोट से बांधा हुआ है जो दायें जांघ के ऊपर गठित होता है। यह मूर्ति गुलाबवत् के पट्टे का बना एक हार पहने हुये है और दायें बाँह पर एक कंगन है। मोरध्वज से भी दोहरे साँचे में निर्मित दो बुद्ध मूर्तिफलक प्राप्त हुए हैं। प्रथम फलक में बुद्ध का चित्रण जन्नमुद्रा में बैठे हुए किया गया है तथा दूसरे फलक में कृष्ण द्वारा मारे जाने वाले केशी नामक दानव को दर्शाया गया है। कटीसूत्र और कमल जैसे बाजूबन्द (केयूर) के साथ टूटी हुई बोधिसत्व की यह मृण्आकृति पूर्ण उत्कृष्टता को प्रदर्शित करती है।[70]

कुछ मूर्तियाँ जिन्हे सही रूपों में एम0एम0 नागर द्वारा कामदेव के रूप में पहचाना गया है शुंगकाल के दौरान भी बनायी गयी थी। यद्यपि ऐसी वस्तुओं की संख्या छोटी है और वे विशेष रूप से मथुरा से प्राप्त हैं। कामदेव की मूर्तियाँ कुषाणकाल में भी बनती रहीं जिसका एक उदाहरण मथुरा से प्रकाशित किया गया है। इस फलक में एक सिर रहित कामदेव एक युवक पर त्रिभंग मुद्रा में खड़े हैं व फूलों की माला के साथ जो आम के पत्तों और फूलों से अलंकृत हैं। उसकी भुजाएँ और कलाई भी फूल के आभूषणों से अलंकृत हैं, जबकि वह अपने बायें हाथ में गन्ने का धनुष और दायें में पांच बाण रखे हैं। धोती जिसे दुपट्टे के सहारे कमर पर रखा जाता है घुटनों तक लटकती है। फलक के किनारों को पुष्प अलंकरणों से सजाया गया है।[71] यह फलक इस काल की मृण्कला का असाधारण सुन्दर उदाहरण है।

नाग पूजा भारतीय लोक धर्म का प्रमुख अंग रहा है। नागों का उत्सव 'नागमह' कहलाता था, उनके लिए दी जाने वाली पूजा सामग्री और बलि नाग बलि कहलाती है। भारत में नाग पूजा अभी तक प्रचलित है। ब्राह्मण, बौद्ध, जैन प्रत्येक धर्म के साथ नाग पूजा का समन्वय हुआ। नाग पूजा की परम्परा यक्ष पूजा से भी प्राचीन ज्ञात होती है। विष्णु के सदृश शिव के साथ भी नाग परम्परा का समन्वय प्राप्त होता है। मथुरा से कुषाणकालीन नागि की मृण्मूर्ति प्राप्त हुई है। इस मूर्ति में नागि सभंग मुद्रा में खड़ी है और उसका दाहिना हाथ ऊपर उठा हुआ है। अभय मुद्रा को प्रदर्शित करते हुए, वह बायीं ओर कमल का छत्र पकड़े है। उसके सिर के ठीक ऊपर पाँच सर्प-फन उसे छाया करते हुए दिखाई देते हैं। नागि के स्तन उन्नत हैं और वह कान के आभूषण पहने है। शरीर और चेहरे की विशेषताओं का विवरण धुंधला हो गया है।[72] अहिच्छत्र से भी नागि की मूर्ति प्राप्त है। नागि का एक चौड़ा चेहरा, बड़ी आँखें, छिद्रित पलकें एवं मोटे होंठ हैं। कान में चक्र के आकार की त्रिस्तरीय बाली है। बाल सिर के बीच से अलग हैं और दोनों तरफ से कंघी है। इसमें से एक बँधा बाल दायीं ओर लटका है। सिर के पीछे शीर्ष पर घायल सात सर्पों की छतरी है तथा गर्दन के नीचे का भाग नहीं है।[73] इस तरह की मिलती जुलती नाग मृण्मूर्ति का सर्पदंश सोंख से भी प्राप्त है। यह मृण्मूर्ति मूल रूप से सात कोबरा सिरों के साथ 25 से॰मी॰ चौड़ी है। यह मूर्ति सम्भवतः एक मानव चेहरा है जो

एक नाग का प्रतिनिधित्व करता था तथा जो मूल रूप से फन के नीचे था।[74]

सामाजिकजीवन से सम्बन्धित मृण्मूर्तियाँ :

कुषाणकाल की मृण्मूर्तियों में धार्मिक पक्षों के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक जीवन के कतिपय पक्षों का अंकन मिलता है, जिसमें आमोद-प्रमोद एवं उद्यान-क्रीड़ा तथा प्रेम-क्रीडा में संलग्न मिथुन (दम्पत्ति), पर्यक पर आसीन दम्पत्ति, आसवपान का आनन्द लेते मिथुन, नृत्य, संगीत, खाते-पीते, हँसते-गाते युवक-युवतियों आदि का अंकन इस काल की मृण्मूर्तिकला में रूपायन हुआ है। अहिच्छत्र से दो कुषाणकालीन युगल मृण्फलक प्राप्त हुआ है। प्रथम आयताकार फलक में दायीं तरफ एक स्त्री और बायीं तरफ पुरूष खड़ा है। उनकी दायीं और बायीं बाहें गर्दन के पीछे कंधे पर रखी हुई हैं। स्त्री का सिर मोतियों की माला से अलंकृत है। वह कान में झुमका, गले में हार, कमर में मेखला एवं साड़ी पहने है। उसका बायाँ हाथ कुल्हे पर टिका हुआ है। पुरूष के सिर पर बायीं तरफ एक भारी टोपी है जो आगे की ओर झुकी है। वह गले में ग्रैवेयक एवं एक दुपट्टा और एक धोती कमरबन्द के साथ पहने है। उसके पैरों के बीच एक वस्त्र का टुकड़ा (शायद कमरबन्द का एक हिस्सा) सामने की ओर लटका है। बायें हाथ को छाती पर रखे दिखाया गया है। फलक के शीर्ष पर एक छोटा सा छेद है एवं पुरूष का चेहरा कटकर क्षतिग्रस्त हो गया है। वहीं दूसरे फलक में स्त्री और पुरूष दोनों को आलिंगनबद्ध दिखाया गया है। इसमें स्त्री के सिर पर पगड़ी जैसी शिरोभूषा, कान में बाली, पाँव में पायल, कण्ठा, कमर में मेखला और एक घाघरा सदृश साड़ी को कमरबन्द द्वारा बांधे दिखाया गया है। साड़ी की तहें स्पष्ट हैं। पुरूष भी धोती पहने है जो घुटनों तक कमरबन्द से आयोजित है। वह अपने झुके हुए बायें हाथ में कोई वस्तु पकड़े है एवं एक दुपट्टा उसके छाती पर अंकित है।[75] उक्त फलक राज्य संग्रहालय लखनऊ एवं मथुरा में संरक्षित है।

कुषाणकाल में दम्पत्ति फलकें भी शुंगकाल की तरह पुरूष के वाम भाग में विस्तृत शिरोभूषाओं के साथ खड़ी चित्रित मिलती हैं। इस तरह की फलकें अहिच्छत्र और हस्तिनापुर से प्रकाश में आई हैं। अहिच्छत्र से प्राप्त फलक में स्त्री और पुरूष को अपनी बायीं और दायीं भुजाओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर पीछे की ओर खड़े और एक दूसरे के कंधों पर हाथ रखे दर्शाया गया है। स्त्री का दायाँ हाथ त्रिस्तरीय मनकों की मेखला पर टिका है एवं उसके गूंथे बाल एक अलंकृत टोप के साथ पंखुड़ियों की पंक्तियों के द्वारा ढ़का हुआ है। स्त्री कानों में आभूषण, तीन तारों की एक चपटी त्रिकोणीय ग्रैवेयक और दायें बाँह पर एक त्रिपक्षीय बाजूबन्द भी पहने है। पुरूष मूर्ति की गठीली पगड़ी को सजावटी पंखुड़ी के साथ ढ़के हुए दिखाया गया है तथा एक कण्ठा और ग्रैवेयक, शरीर पर बायीं ओर से गुजरते हुए एक दुपट्टे के साथ सामने पैरों के बीच व्यवस्थित वस्त्र की सिलवटें और सुन्दर मेखला जैसे भरहुत की मूर्तियों के वस्त्रों पर मेखला पहना जाता था के सदृश्य दिखलाया गया है।[76] इसी प्रकार की मिलती-जुलती मृण्मूर्ति हस्तिनापुर से भी प्राप्त है जिसमें युगल को विस्तृत शिरोभूषाओं के साथ दर्शाया गया है।[77] इस काल में मिथुन फलकों की संख्या बहुत उत्साहजनक नहीं है। इसका सबसे उत्तम प्रतिरूप मथुरा से मिला है। यहाँ फलक में कंघी किए हुए बाल और कानों में कुण्डल के साथ सभंग मुद्रा में खड़ी एक पुरूष मूर्ति को दर्शाया गया है। इसके शरीर का ऊपरी भाग अन्य कुषाण मूर्तियों के समान अनावृत्त है, लेकिन निश्चित रूप से बायें कंधे पर एक दुपट्टा था जिसका शेष भाग कमर पर मौजूद था। कमर के नीचे का भाग एक धोती से आवृत्त है जिसे दो पैरों के बीच में तहों द्वारा चिन्हित् किया गया है। छाती उभरी हुई और दायाँ हाथ कमर पर टिका हुआ है। पुरूष मूर्ति के बायीं ओर एक खड़ी स्त्री का चित्रण है। जैसा की मूर्ति घिसी हुई है इसलिए उसके केश विन्यास के बारे में अनुमान लगाना कठिन है। लेकिन उसके कुण्डल, ग्रैवेयक और पाँव में आभूषण स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहें हैं। शरीर का ऊपरी भाग खुला है, एवं भारी उभरे हुए स्तन एवं गहरी नाभि स्पष्ट है। हालांकि कमर के नीचे का भाग किसी कपड़े से आवृत्त है, एवं यौन-क्रिया अंग स्पष्ट प्रत्यक्ष है। चेहरे की विशेषताएँ, शरीर का भारीपन, आभूषण, पारदर्शी वस्त्र-विन्यास, पतली कमर और कामुक स्त्री स्तन कुषाणकाल की मूर्तियों के समान हैं।[78] मथुरा से कुषाणकालीन कुछ ऐसे भी मृण्फलक प्राप्त हुए हैं जिसमें स्त्री के साथ-साथ एक परिचारक का अंकन किया गया है। वह परिचारक या तो कोई स्त्री है या कोई पुरूष। वह अपने हाथ में कोई वस्तु जैसे दर्पण या कटोरा लिए हुए है। फलक में परिचारक को सामान्यतः इस रूप में दिखाया गया है जो उस शाही स्त्री की तुलना में छोटे कद की है।

स्त्रियों का एक प्रमुख मनोरंजन 'शुक-क्रीड़ा' अथवा पक्षियों के साथ खेलना माना जाता है। यद्यपि मृण्मूर्ति कला में शुक-क्रीड़ा का प्रतिनिधित्व मौर्यकाल से प्रारम्भ होता है। दुर्भाग्यवश मौर्यकाल से सम्बन्धित मृण्मूर्तियों में शुक-क्रीड़ा प्रकार की संख्या बेहद सीमित है। इस विषय के चित्रण में वास्तविक विकास सम्भवतः कुषाण और गुप्त कालों में हुआ था। कुषाणकाल के शिल्पकारों ने पक्षियों के साथ खेल में रहने वाले पुरूषों और स्त्रियों को भी सफलता पूर्वक चित्रित किया है। इस प्रकार की कलात्मक मृण्मूर्ति हस्तिनापुर से मिली है। इस मूर्ति में स्त्री सामने की ओर रखे हुए हथेलियों के साथ मुड़ी हुई बाहें आधी ऊपर उठाई हुई है। बालों को बीच से अलग किया गया है और बगल में घुमाकर मोड़ा गया है। इस आकृति की विचित्र विशेषता इसके शानदार विषयासक्त अलंकरण में शामिल फूलों, मोतियों और फीतों से मिलकर एक विस्तृत बाल बनाने के अतिरिक्त, आकृति गुलाबवत् रचना के साथ भारी कुण्डल पहने हुए है। शरीर के अन्य आभूषणों में ग्रैवेयक, मोटा कण्ठा, कंगन और चूड़ियाँ शामिल हैं। इस मृण्मूर्ति में एक पक्षी शायद एक हंस दायें बाँह पर बैठा हुआ है और एक वर्णावली (पत्ते) पर चोंच मारकर खा रहा है।[79] मथुरा से भी एक मूर्ति मिली है जिसमें स्त्रियाँ पक्षियों के साथ खेल रहीं हैं। दुर्भाग्य से उनका सिर खण्डित है

लेकिन वे इस खेल के बारे में स्पष्ट भाव दे रहे हैं।[80] अहिच्छत्र से प्राप्त सिर रहित मूर्ति में भी इसी विषय को दर्शाया गया है। परन्तु यहाँ स्त्री मूर्ति को अंगरखा पहने दिखाया गया है।[81]

मृण्मूर्ति कला में शुक-क्रीड़ा के साथ-साथ उद्यान-क्रीड़ा का भी दृश्य देखने को मिलता है। हालांकि शुंगकाल के दौरान इस विषय को पहली बार मृण्कला में जगह मिली, परन्तु कुषाणकाल के कलाकारों के लिए भी यह विषय प्रिय रहा है। इस काल के उद्यान-क्रीड़ा में शालभंजिका को एक हिस्सा बनाया जिसमें स्त्रियों की भूमिका प्रमुख हुआ करती थी। मथुरा से शालभंजिका दृश्यों को दर्शाने वाले कई पाषाण मूर्तियाँ मिली हैं। मथुरा के समकालीन शिल्पकलाकार इस विषय से समानरूप से प्रभावित थे। मथुरा से कुछ मृण्मूर्तियों के उदाहरण प्राप्त हैं जो एक लता (बेल) जैसे वृक्ष को गले लगाती हुई स्त्री आकृति को प्रदर्शित करती हैं। इन्हें मिट्टी में ऐसी कोमलता के साथ निष्पादित किया गया है कि वे लघु प्रतिकृतियाँ प्रतीत होती हैं।[82]

मृत्तिका कला में आसवपान का अंकन नागरिक जीवन के विविध मनोरंजन के अन्तर्गत किया जा सकता है। यह मुख्य रूप से धनाढ्य वर्ग का प्रिय व्यसन था। कालीदास ने आसव के विभिन्न नाम प्रस्तुत किये हैं। यथा- मधु, मदिरा, मद्य। स्त्रियाँ भी आसवपान में भाग लिया करती थीं ऐसा वर्णित है। **पुष्पासवधूर्णितनेत्रशोभि:**[83] मृत्तिका कला के अतिरिक्त साँची, नागार्जुनकोण्डा, गांधार व मथुरा के शिल्प में इसका सुन्दर अंकन मिलता है। मथुरा से एक मूर्ति प्राप्त हुई है जो स्पष्ट रूप से इस दृश्य को दर्शाती है जिसमें आसवपान के दृश्यों को उपर्युक्त रूप से चित्रित किया गया था।[84] अहिच्छत्र से प्राप्त फलक में एक अच्छी तरह से निर्मित पुरूष को एक नशे में धुत्त स्त्री को अपने हाथ से उठाते हुए दिखाया गया है और उसे फिर से एक कालीन पर बसाने की कोशिश कर रहा है। पुरूष के कंधे चौड़े, मजबूत एवं कमर संकीर्ण है, वह कानों में कुछ आभूषण पहना है और उसकी कमर में एक धोती है। नशे में धुत्त स्त्री ऊपरी भाग में नग्न लगती है लेकिन निचले भाग में कुछ पोशाक पहने है जो शायद हाथापाई में उसके घुटने के ऊपर संचित है। उसके आभूषण और अन्य विशेषताओं के बारे में कोई अन्य विवरण दिखाई नहीं दे रहा है क्योंकि फलक थोड़ी धुँधली हो गई है। उसके हाथ पतले और नाजुक हैं। बायीं ओर एक स्त्री परिचारिका एक चौकी जैसी वस्तु पर खड़ी एक मदिरा-कलश पकड़े हुए है, जबकि दायें ओर चित्रित स्त्री शायद एक प्रशंसक है। हालांकि इस मूर्ति के शरीर का चेहरा और बायाँ हिस्सा बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हो गया है लेकिन वह एक सुन्दर दृष्टिकोण रखती है।[85] फलक के पीछे की तरफ पुष्प बनावट का एक सुन्दर सजावटी स्वरूप मथुरा के अयागपट्टों जैसा दिखता है।

इस काल से कुछ ऐसी भी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस काल के स्त्री एवं पुरूष दोनों नृत्य एवं संगीत कला में भाग लिया करते थे। बड़ौदा संग्रहालय में संगृहीत मथुरा फलक में एक स्त्री आकृति को त्रिभंग मुद्रा में खड़ा दिखाया गया है। वह पारदर्शी वस्त्र पहने हुए है। नर्तकी का दायाँ हाथ ऊपर की ओर उठा हुआ है एवं सिर सुन्दरता से बायीं ओर थोड़ा सा झुका हुआ एवं बायाँ हाथ कमर पर टिका हुआ है। वह ग्रैवेयक, कान के आभूषण, चूड़ियाँ और मेखला से सुशोभित है। उसके स्तन विकसित और कामुक तथा पतली और पुष्ट जाघें हैं और वह तिरछे पैर खड़ी है। उसके चेहरे पर आकर्षक मुस्कान, सिर की आकर्षक मुद्रा एवं इसकी बाहें और पैर इसके भेष को बहुत आकर्षक बनाते हैं।[86]

कुषाणकाल में बड़ी संख्या मे मानव मृण्मूर्तियाँ पाई गई हैं, जो वैगपाईप पर वादन में व्यस्त हैं। इस काल के दौरान वैगपाईप शायद भारत में शिथियन और पार्थियन संगीतकारों द्वारा लाया गया था और इस वाद्ययन्त्र ने स्पष्ट रूप से मृण्कला में व्यापक रूप से चित्रित होने के लिए पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। अहिच्छत्र से प्राप्त फलक में एक पुरूष आकृति को बैठे दिखाया गया है। नाक चुटकी से उभारकर, आँखें छोटे छर्रों द्वारा अन्दर गड्ढों मे स्थापित हैं और कान छोटे एवं क्षैतिज नुकीले हैं। इसका सिर मस्तक पर एक टोपी से ढ़का हुआ है। मूर्ति के बायें बाँह के नीचे एक मशक बाजा सूचित है। अन्य फलक में एक पुरूष आकृति एक ढ़ोल सदृश एक तबला बायें कांख के नीचे पकड़े है। वह मस्तक पर ऊँची टोपी पहने है एवं उसकी आँखें छिन्न और धँसी हैं। उसकी ठोड़ी लम्बी, सांकेतिक दाढ़ी, नाक और माथे पर एक रेखा है और वह गर्दन के चारों ओर एक पट्टा पहना है। कमर के नीचे का भाग खण्डित है। वी0एस0 अग्रवाल के अनुसार ऐसी मूर्तियों का प्रतिनिधित्व विदेशी प्रकार ईरान की ओर संकेत करता है।[87] मथुरा से प्राप्त एक खण्डित फलक में एक खड़ी पुरूष आकृति को बायाँ पैर थोड़ा झुका हुआ और सप्ततंत्री वीणा पर रखे हुए बायें हाथ से खेल रहा है एवं दायाँ मिजराब के साथ में।[88] वहीं अहिच्छत्र से प्राप्त पुरूष आकृति को वीणा पर बजाते हुए दिखाया गया है। यह मूर्ति सिर रहित है एवं कमर के नीचे का भाग खण्डित है।[89]

मृत्तिका कला में माता के साथ शिशु का अंकन विविध प्रकार से किया गया है। माता और शिशु प्रकार की फलकें ज्यादातर अहिच्छत्र और मथुरा से प्रतिवेदित की गई हैं। लेकिन उनकी संख्या अल्प है। माता और शिशु दोनों की अवस्था में मथुरा की मृण्मूर्ति सिर रहित है। इस आकृति में माता को खड़ी अवस्था में शिशु को अपने बायें बाँह में पकड़े हुए दिखाया गया है, जबकि दायाँ हाथ कूल्हे पर टिका हुआ है। उसके शरीर का ऊपरी भाग नग्न है लेकिन निचला भाग एक धोती के साथ उभरे हुए तहों द्वारा चिन्हित् किया गया है एवं शिशु की जांघ के नीचे स्थित एक मोतियों की मेखला अवलंबित है। माता के स्तन बड़े कामुक एवं बिना चूचक के अग्रभाग के हैं। सिवाय एक मोतियों की मेखला के अतिरिक्त शिशु भी पूरी तरह से नग्न है।[90] अहिच्छत्र से भी इस काल की कुछ माता और शिशु प्रकार की मूर्तियाँ प्रकाश में आई हैं जो कुषाणकाल

के पहले चरण की हैं। ये मूर्तियाँ एक नग्न शिशु को ले जाने वाली एक खड़ी स्त्री मूर्ति का प्रतिनिधित्व करती हैं।[91] मथुरा से प्राप्त एक अन्य मूर्तिफलक जो एक पिता को अपनी बेटी के साथ अपने कंधे पर दर्शाता है। फलक में पिता बूढ़ा हो चुका है, उसके पास एक मटके जैसा पेट एवं लम्बी दाढ़ी तथा एक मूँछ है। वह धोती पहने है एवं लड़की को अपने हाथों से पकड़े हुए ऊपर उठाये दर्शाया गया है। लड़की की गर्दन के चारों ओर पट्टा है और उसके सिर के ऊपर एक आवरण है। उनकी शारीरिक पहचान से वे विदेशी मूल के प्रतीत होते हैं।[92]

निष्कर्ष-

इस प्रकार उपर्युक्त अध्ययन से जिस प्रकार का चित्रण हम कुषाणकाल की मृण्मूर्तियों में पाते हैं उसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि कुषाणकालीन समाज काफी सम्पन्न था। उसमें विभिन्न कलाओं के प्रति सम्मान था। लोग रूचि सम्पन्न होने के साथ-साथ व्यक्तिगत साज-सज्जा के प्रति सजग थे। समाज में विदेशी लोगों का समादर था। कलाकृतियों में अनेक नागरिकों की प्रतिकृतियाँ गढ़ी गयीं। उन्हीं के अनुकरण पर भारतीय नागरिकों की मूर्तियों में भी अनेक प्रभाव देखने को मिलते हैं। जैसे कि, इस काल के सिरों पर जूड़ों के ऊपर प्रायः सादी फेंटेदार पगड़ी दीख पड़ती है। कुछ उदाहरणों में पगड़ी के फेंटों को सम्भालने के लिए शीर्ष पर पट्टी भी लगी है। कुछ सिरों पर नुकीली ईरानी टोपी है। इस टोपी के पेंदे पर कामदार फीते भी प्रायः दिखाई पड़ते हैं। कुछ चेहरों पर गुलमुच्छें तथा खसखसी ढाढ़ी है। इनके पहनावे में धोती, साड़ी, चादर, दुपट्टा, कोट, पैजामा एवं सिर के ऊपर टोप इत्यादि थे। इसके अतिरिक्त इस काल की कला द्वारा कलाकारों की बौद्धिक क्षमता के साथ-साथ सृजनात्मकता का मिला-जुला स्वरूप दिखाई देता है। यद्यपि कला और समाज अन्योन्याश्रित होते हैं इसलिए कलाकार अपने निर्माण अथवा सृजन के लिए समाज से दूर नहीं जा सकता पर समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने-अपने क्षेत्रों में समाज एवं कला दोनों स्वतन्त्र होते हैं। कलाकार ठीक इस स्थल पर अपनी कुशलता से बौद्धिक क्षमता के बल पर ऐसा समन्वय स्थापित करता है कि अपनी स्वकीयता बनाये रखते हुए समाज को भी सन्तुष्ट करता है। ठीक यही बात कुषाणकाल के शिल्पकारों में भी देखी गई जिन्होंने ऐसे प्रतिरूपों का निर्माण किया जो कलात्मक होते हुए भी उपयोगिता के धरातल पर भी सफल रहे। अतः हम कह सकते हैं कि कुषाण परम्परा एक बलिष्ठ और प्रभावशाली परम्परा छोड़ गयी जिसको गुप्तकाल में पूर्ण सम्मान मिला तथा यहाँ की परम्परा ने गुप्तकाल में जाकर एक नया जामा पहना।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *भारतीय मृत्तिका कला*, प्रतीक प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ0- 30.
2. पाण्डेय, सुशील कुमार, 1997, *प्राचीन मृण्मयी मूर्तिकला*, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी, पृ0- 62.
3. पाल, प्रतापादित्य, 2002, *इण्डियन टेराकोटा स्कल्पचर : द अर्ली पीरियड*, मार्ग पब्लिकेशन, मुम्बई, पृ0- 75.
4. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1966, *भारतीय कला*, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, पृ0- 322.
5. पाल, प्रतापादित्य, 2002, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 75.
6. उपाध्याय, वासुदेव, 1970, *प्राचीन भारतीय मूर्ति-विज्ञान, (ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा वृहत्तर भारत की प्रतिमाओं का साङ्गोपांग वर्णन)*, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, पृ0- 51-52.
7. पाण्डेय, सुशील कुमार, 1997, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 73.
8. पाल, प्रतापादित्य, 2002, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 75.
9. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *टेराकोटा ऑफ नार्थ इण्डिया*, अगम कला प्रकाशन, दिल्ली, पृ0- 39.
10. लाल, बी0बी0, 1952, एक्सकेवेशन्स एट हस्तिनापुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स इन द अपर गंगा एण्ड सतजल बेसिन (न्यू लाइट ऑन द डार्क एज विटविन द इन्ड ऑफ द हड़प्पा कल्चर एण्ड द अर्ली हिस्टोरिक पीरियड), *एन्शियण्ट इण्डिया* न0 10 एवं 11, बुलेटीन ऑफ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, सागर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ0- 85,
11. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 40.
12. *वही*, पृ0- 78.
13. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, 'मथुरा टेराकोटाज', *जर्नल ऑफ द यूनाइटेड प्रोविन्सेश हिस्टोरिकल सोसाइटी*, भाग-9, चित्र-42, पृ0- 33.
14. लाल, बी0बी0, 1952, *एन्शियण्ट इण्डिया* न0 10 एवं 11, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 84.
15. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 85.
16. लाल, बी0बी0, 1952, *एन्शियण्ट इण्डिया* न0 10 एवं 11, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 85.
17. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 86.
18. *वही*, पृ0- 94.
19. पाण्डेय, सुशील कुमार, 1997, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 80-81.
20. *इण्डियन अर्कियोलॉजी* 1955-56, *ए : रिव्यू*, अर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, पृ0- 19.
21. बनर्जी, जे0एन0, 1956, द *डेवलपमेंट ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी*, (द्वि0सं0), यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, कलकत्ता, पृ0- 503.
22. उपाध्याय, वासुदेव, 1970, *पूर्वोद्धत*, पृ0- 110.
23. पाण्डेय, सुशील कुमार, 1997, *पूर्वोद्धृत*, पृ0- 65.
24. *ऋग्वेद*- 2/12/15.
25. *शतपथब्राह्मण*- 11/4/1.
26. *तैत्तिरीयउपनिषद्*- 1/14.
27. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *पूर्वोद्धृत*, प्लेट- 22.

28. पाण्डेय, सुशील कुमार, 1997, *पूर्वोद्धृत,* पृ0- 68.

29. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *पूर्वोद्धत,* प्लेट 56.

30. चन्द्र, मोती, 971, 'टेराकोटाज इन भारत कला भवन' *छावीः गोल्डेन जुब्ली वाल्यूम,* बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, चित्र 67, पृ0- 14.

31. काला, सतीश चन्द्र, 1980 *टेराकोटा इन द इलाहाबाद म्यूजियम,* अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, चित्र-132.

32. भण्डारकर, आर0जी0, 1965, *वैष्नविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स रिलिजियस सिस्टम,* इण्डोलॉजिकल बुक्स हाउस, वाराणसी, पृ0- 132.

33. बनर्जी, जे0एन0, 1956, *पूर्वोद्धत* पृ0- 455-56.

34. राव, गोपीनाथ टी0एन0, 1914, *एलिमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी,* भाग-2, लॉ प्रिटिंग हाउस, मद्रास, प्लेट-1,पृ0 63-64.

35. शाह प्रियबाला (सं0), *विष्णुधर्मोत्तर पुराण,* खण्ड-3, 1958, ओरियण्टल इन्सटिट्यूट, बड़ौदा, पृ0- 74/2-4.

36. राव, गोपीनाथ टी0एन0, 1914, *इलमेन्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी,* भाग-1, प्लेट-2, पृ0 -279.

37. बनर्जी, जे0एन0, 1956, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 479.

38. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 80.

39. *विष्णुपुराण-* 3/11/13.

40. *श्रीमद्भागवत-* 3/15/40.

41. *विष्णुधर्मोत्तर पुराण-* 104/34.

42. *वृहत्संहिता-* 58/33.

43. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, टेराकोटा फिगरिन्स ऑफ अहिच्छत्र, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0- 4, द डाइरेक्टर जर्नल अर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, दिल्ली, चित्र-170, पृ0-127.

44. गुप्त, पी0एल0, 1972, *गंगेटिक वैली टेराकोटा आर्ट,* पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, पृ0-84.

45. *मार्कण्डेयपुराण,* देवी महात्म्य- 5/38-45.

46. *मार्कण्डेयपुराण,* अध्याय- 11/21.

47. *मत्स्यपुराण-* 261/34-37.

48. *विष्णुधर्मोत्तर पुराण-* 123/8-10.

49. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0-4, *पूर्वोद्धत* चित्र- 118, पृ0-132.

50. श्री भट्टाचार्य, विनोयतोष, (सम्पादक), *साधनमाला,* द्वितीय भाग,1968, ओरियण्टल इन्सटिट्यूट, बड़ौदा, पृ0 421, 213.

51. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, *पूर्वोद्धत,* चित्र- 48, पृ0- 33.

52. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0-4, पूर्वोद्धत, पृ0- 123.

53. *अथर्ववेद-* 10/14.

54. राव, गोपीनाथ, टी0एन0, 1914, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 533-35.

55. *भगवतपुराण,* स्कन्ध- 9/2.

56. *महाभारत,* वनपर्व- 161/42, 168/13, 272/17, 275/13.

57. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1966, *पूर्वोद्धत, पृ0- 345.*

58. नागर, शांति लाल, 2008, *डिटिज इन टेराकोटा आर्ट (फ्रॉम अर्लिएस्ट टाइम टू लेट मिडिवल पीरियड),* बी0आर0 पब्लिसिंग, नई दिल्ली, पृ0 99.

59. *विष्णुधर्मोत्तरपुराण-* 117/18-20.

60. *अग्निपुराण-* 52/16.

61. *मत्स्यपुराण-* 259/55-65.

62. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, *पूर्वोद्धत,* प्लेट-9, चित्र- 53.

63. नागर, शांति लाल, 2008, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 121.

64. हर्टल, हरबर्ट, 1977, *'सम रिजल्टस ऑफ द एक्सकेवेशन्स एट सोंख'* ए प्रीलिमिनरी रिपोर्ट, भाग-2, मैक्समूलर भवन और राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, चित्र-36, पृ0- 92.

65. नागर, एस0एल0, 1988, *महिषासुरमर्दिनी इन इण्डियन आर्ट,* आदित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्लेट-1, पृ0- 77.

66. नागर, शांति लाल, 2008, *पूर्वोद्धत,* पृ0 118.

67. *इण्डियन आर्कियोलॉजी,* 1979-80, *एः रिव्यू,* आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया,नई दिल्ली, पृ0-75.

68. सारनाथ बुद्ध प्रतिमा लेख, *एपिग्राफिया इण्डिका,* भाग-8, पृ0- 171.

69. लाल, बी0बी0, 1952, एन्शियण्ट इण्डिया, न0-10 एवं 11, *पूर्वोद्धत* पृ0-84.

70. *इण्डियन आर्कियोलॉजी,* 1978-79, *एःरिव्यू,* आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, पृ0-74.

71. गुप्त, पी0एल0, 1972, *पूर्वोद्धत,* चित्र-209, पृ0 91.

72. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, 'मथुरा टेराकोटाज', *पूर्वोद्धत,* चित्र-46, पृ0-33.

73. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *पूर्वोद्धत,* पृ0-80.

74. हर्टल, हरबर्ट, 1977, *पूर्वोद्धत,* चित्र- 41, पृ0-96.

75. काला, सतीश चन्द्र, 1993, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 41-42.

76. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0-4, *पूर्वोद्धत,* पृ0- 113.

77. लाल, बी0बी0, 1952, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0- 10 एवं 11, *पूर्वोद्धत,* पृ0-85.

78. श्रीवास्तव, सुरेन्द्र कुमार, 1996, *टेराकोटा आर्ट इन नॉर्दन इण्डिया,* परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, पृ0-174.

79. लाल, बी0बी0, 1952, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0- 10 एवं 11, *पूर्वोद्धत,* पृ0-84.

80. गुप्त, पी0एल0, 1972, *पूर्वोद्धत,* चित्र-90, पृ0-43.

81. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0-4, *पूर्वोद्धत,* चित्र-44, पृ0- 117.

82. गुप्त, पी0एल0, 1972, *पूर्वोद्धत,* पृ0-40.

83. *कुमारसम्भव*- 3/28.
84. रावलैण्ड बी0, 1953, द *आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इण्डियाः बुद्धिस्ट, हिन्दू, जैन* पेंग्वीन बुक्स, लन्दन, पृ0-90.
85. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *पूर्वोद्धृत,* प्लेट- 44.
86. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1955-56, 'सम टेराकोटाज इन द बड़ौदा म्यूजियम, *बुलेटिन ऑफद म्यूजियम एण्ड पिक्चर गैलरी बड़ौदा*, भाग-12, प्लेट-3, पृ0-4.
87. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया,* न0- 4, *पूर्वोद्धत* पृ0 124.
88. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, *पूर्वोद्धृत,* पृ0-33.
89. काला, सतीश चन्द्र, 1972, *पूर्वोद्धृत,* प्लेट- 89.
90. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1936, *पूर्वोद्धृत, प्लेट-45.*
91. अग्रवाल, वासुदेवशरण, 1984, *एन्शियण्ट इण्डिया* न0-4, *पूर्वोद्धृत,* पृ0- 116.
92. धवलीकर, एम0के0, 1977,*मास्टरपीसेज ऑफ इण्डियन टेराकोटाज,* तारापुरवाला, बम्बई, पृ0-59.

●

प्राचीन भारत में काशी की खाद्यान्न परम्परा का सांस्कृतिक अध्ययन

पवन कुमार एवं डॉ0 सर्वेश कुमार***

खान-पान मानव जीवन पर काफी असर डालते हैं। यह एक सामान्य विषय है कि भोजन एवं प्रकृति एक-दूसरे के समानान्तर होती है और काफी हदों तक ये अन्योन्याश्रित होती है। प्राचीन काशी में निवास करने वाले लोगों के खान-पान के विषय में ब्राह्मण साहित्य, बौद्ध साहित्य, जैन-साहित्यों एवं पुरातात्त्विक खुदाई से प्राप्त साक्ष्यों से पर्याप्त जानकारी मिलती है। काशीवासियों के खान-पान के बारे में राजघाट के उत्खनन से प्राप्त वस्तुओं एवं अन्य चीजों के साक्ष्य अधिक या कम अप्रत्यक्ष है। काशी के लोग शाकाहारी एवं मांसाहारी दोनों प्रकार के खाद्यान्न का उपयोग करते थे। यहाँ विभिन्न प्रकार के अनाजों के नमुने, जानवरों की हड्डियाँ एवं करछूल, मूसल, भोजन को पकाने के लिए विभिन्न प्रकार के उपयोगी बर्तन। ये सभी वस्तुएँ यहाँ के लोगों के भोजन की आदतें एवं रसोई उपकरण से अवगत होते हैं। इन उपरोक्त बातों का उल्लेख साहित्यिक व उत्खनन से प्राप्त अवशेषों से मिलता है। पानीय[1] जातक से पता चलता है कि काशी के लोग पौष्टिक एवं स्वादिष्ट आहार को भोजन के रूप उपयोग कर रहे थे। काशी गंगा दोआब के क्षेत्र में था जहाँ उपजाऊ मिट्टी होती थी। इसी कारण यहाँ पर चावल, दाल, गेहूँ, जौ की प्रमुखता थी, जो काशी के लोगों का मुख्य भोज्य पदार्थ था। गहपतिजातक[2] में धान की खेती की कटाई का विवरण मिलता है, जिसमें उल्लेख है कि वर्षाकाल में बीजों के बह जाने के कारण अकाल पड़ गया था, इसलिए ग्रामवासियों ने यह निश्चय किया की वह दो महीने पूर्व खेतों से धान की कटाई कर देंगे। वण्णुपग[3] जातक से चावल की खेती का प्रमाण मिलता है। काक जातक[4] में आये विवरण ''एक दासी के घर धान को धूप में सुखवाने पर बकरे द्वारा धान को खा जाना'' ऐसे में कहा जा सकता है कि चावल यहाँ के लोगों का अतिप्रिय भोज्य पदार्थ था। कपिजातक[5] एवं बिल्लारिकोसिय[6] जातक में धान का उल्लेख किया गया है। सालक[7] जातक तथा सीहचम्म[8] जातक के विवरण में एक व्यापारी द्वारा धान खेत में गधे को सिंह का खोल पहनाकर छोड़ना। उत्खनन से प्राप्त लाल मृद्भाण्डों पर भूसी के कण दिखलायी पड़ते हैं।[9] जिससे यह प्रतीत होता है कि चावल के भूसी होंगे। अवदान कल्पलता[10] में आये विवरणों से पता चलता है कि काशी के लोग भोजन के रूप में शुद्ध चावल को खाते थे। साहित्यिक साक्ष्यों से पता चलता है कि ओडाना एवं भट्ठा चावल काशी के लोगों का पसंदीदा आहार था।[11] इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन काशी के लोगों में चावल को एक प्रमुख भोज्य पदार्थ के रूप में उपयोग करते थे।

प्राचीन काशी के लोगों का पेय पदार्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। महाकपि[12] जातक से उल्लेख मिलता है कि बोधिसत्व ने खाड़ की सरबत पीये। इससे यह पता चलता है कि काशी के लोग गुड़ खाने तथा शरबत को एक पेय पदार्थ के रूप में उपयोग किया करते थे। अस्सातरुप[13] जातक में गुड़-दधि का उल्लेख किया गया है। काशी में खाड़ के शरबत के अतिरिक्त यहाँ के लोगों में मद्यपान करने का विवरण प्राप्त होता है। वारुणिजातक[14] में व्यापारियों द्वारा मदिरा व्यापार करने का उल्लेख आता है। पानीय जातक से पता चलता है कि काशी राष्ट्र में ग्राम भोजक ने मदिरा-पान के विक्रय पर प्रतिबन्ध लगाने का उल्लेख किया गया है। सिगाल[15] जातक से पता चलता है कि यहाँ के निवासी खप्परों (मिट्टी का पात्र) में शराब रखते थे। इससे यह कहा जा सकता है कि शराब पीने के लिए इन्हीं बर्तनों का उपयोग करते थे। इन उपर्युक्त बातों से कहा जा सकता है कि यह पेय पदार्थ अर्थात् मद्यपान की परम्परा अतिप्राचीन काल से काशी के लोगों में विद्यमान थी।

प्राचीन काशी में गेहूँ की उत्पादकता को लेकर संशय है। परन्तु विभिन्न पुरावशेषों के आधार गेहूँ की उपज पर विचारणीय है। इस सम्बन्ध में डॉ0 बी0पी0 सिंह[16] का विचार है कि विभिन्न पुरावशेषों में मुसल का उल्लेख करते हैं, जिसका उपयोग संभवतः मक्का या किसी अन्य प्रकार के अनाजों को कूटने व पीसने के लिए किया जाता था। क्योंकि चावल को पीसने के बाद खाया नहीं जाता होगा। इसलिए यह स्वाभाविक है कि गेहूँ या जौ जैसे अन्य प्रकार के अनाजों की पिसाई की जाती थी। यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना है कि यह क्षेत्र गेहूँ व चावल के लिए महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रहलादपुर[17] के उत्खनन से प्राप्त गेहूँ तथा जौ जैसे अनाजों के प्रमाण मिलते हैं। ऐसे में कहा जाता है कि काशी के लोगों में गेहूँ के आटे का उपयोग भोजन में करते थे। क्योंकि प्रहलादपुर काशी का पड़ोसी क्षेत्र है, जिसका प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। इससे स्पष्ट होता है कि काशी के लोगों में चावल, गेहूँ व जौ जैसे खाद्यान्न सामाग्री आहार का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बना।

काशी क्षेत्र की मिट्टी उपजाऊ होने के कारण यहाँ पर हरी-साँग सब्जियों का एवं फलो का बहुतायत मात्रा में उत्पादन किया जाता था।[18] कुद्दाल जातक से पता चलता है कि काशी के लोग अपने पौष्टिक आहार के रूप में साँग, लौकी व कद्दू जैसे हरी सब्जियों को भोजन के लिए उपयोग किया करते थे। सुरापान[19] जातक, परोसहस्स[20] जातक, गोध[21] जातक, एकपण्ण[22] जातक,

* शोध छात्र, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** सहायक प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अदिच्चुपट्ठान[23] जातक, वच्छनख[24] जातक इत्यादि बौद्ध जातकों में नमक-खटाई का सेवन भोज्य पदार्थ के रूप में किया जाता था। गोध[25] जातक से पता चलता है कि सब्जियों में मसालों का प्रयोग किया जाता था। रोमक[26] जातक में जीरा एवं मिर्च का उल्लेख किया गया है। उदञ्चानि[27] जातक में नमक एवं स्वादिष्ट तेल का उपयोग भोजन में करते थे। सुवण्णहिस[28] जातक से पता चलता है कि भिक्षुणियों भोजन के दौरान लहसुन खाती थी। इस प्रकार कहा जा सकता है इन आहार पोषक तत्त्व का उपयोग बहुत पूर्वकाल से चली आ रही है, जिनसे यह पता चलता है यहाँ के लोगों में खान-पान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

जातकों में दूध, घी, दही का उल्लेख किया गया है। काक[29] जातक से पता चलता है कि मनुष्य जब नदी या समुद्रतट पर नागों को दूध-खीर चढ़ाकर चले जाते थे, तब कौआ द्वारा उसे खाया जाता था। कोसिय जातक[30] एवं उदञ्चानि[31] जातक में दूध एवं घी का उल्लेख मिलता है। नंगलीस[32] जातक में विवरण मिलता है कि विद्यार्थियों को दही के साथ गुड़ खाने के लिये दिया जाता था। बी0पी0 सिंह[33] ने अपनी पुस्तक लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी में कुछ पालतु जानवरों जैसे- गाय, भैंस, बकरी इत्यादि का उल्लेख करते हैं। जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि इन पशुओं के माध्यम से दूध की प्राप्ति होती है, जिनके उपयोग से तरल पदार्थ जैसे घी, दही व मक्खन को बनाया जाता था। वे ऐसी धारणा प्रकट करते हैं कि कुछ ऐसे मृदभाण्ड है, जिनमें यह तरल पदार्थ अर्थात घी या तेल को भंडारण के लिए उपयोग किया जाता है। बौद्ध साहित्य में भी इसकी पुष्टि की जाती है। सुश्रुत संहिता[34] में घृत या घी का उपयोग कई औषधियों के बनाने में भी उपयोग किया जाता था। तित्थ[35] जातक में घृत तथा मधु शक्कर में मिला दूध का उल्लेख आया है। इसमें घी से छौकी (तड़का) हुई भोजन करने का विवरण मिलता है। ऐसे कहा जा सकता है कि दूध का उपयोग विभिन्न प्रकार के खाद्य सामग्रीयों को बनाने में प्रयोग किया जाता था, जो कि भोजन के महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ।

प्राचीन काल में काशी घने वनों से आच्छादित था। यहाँ पर विभिन्न प्रकार के पुष्पों एवं फलों का उत्पादन किया जाता था। तिन्दुक[36] एवं कुरुङ्गमिग[37] जातक से पता चलता है कि यहाँ पर फलदार एवं मीठे एवं स्वादिष्ट फलों का उत्पादन किया जाता था। फल[38] जातक से विवरण मिलता है कि काशी घने वनों से घिरे थे, विष पुष्प, विष फल तथा कच्चे आम के फलों का उल्लेख है। छव जातक[39] में उल्लेख आया है कि वाराणसी नरेश ब्रह्मदत्त के उद्यान में आम्र-वृक्ष लगे थे, जिससे सदैव आम्र-फल फलता था। अहिगुण्डिक[40] जातक में बंदरों द्वारा आम वृक्षें पर चढ़कर आम खाने का वर्णन मिलता है। इसमें गाथा उल्लेख है ''मित्र सुमुख! मैं जुअे में हारा हुआ जुआरी हूँ। पके आम को गिराओ तुम्हारे द्वारा शौर्य से प्राप्त फल खाऊँगा।'' कुम्भकार[41] एवं अम्ब[42] जातक में आम के वृक्षों का खेती किया जाता था। महाकपि[43] जातक एवं किछन्द[44] जातक से पता चलता है कि प्राचीन वाराणसी में आम को एक आम्बी या टिकोरा के रूप में उल्लेख किया गया है। इन आमों के फलों से आमरस बनाया जाता था। मत्स्यपुराण[45] में काशी का विभिन्न प्रकार के वृक्षों से युक्त बताया गया है। इन पेड़ों में आम, कटहल, अंगूर इत्यादि फलों के वृक्ष थे। चुल्लपदुम[46] जातक एवं किछन्द[47] जातक में गूलर के वृक्षों तथा उसके फलों को खाने का उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के फलों जामुन, कटहल, निप, ताड़, आँवला इत्यादि फलों का उत्पादन किया जाता था।

काशी में शाकाहारी के साथ-साथ मांसाहारी भोज्य पदार्थ का उपयोग खाने के लिए किया जाता था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि समाज का बृहद वर्ग बड़े पैमाने पर जानवरों का भोजन कर रहा था। वाराणसी के आस-पास लगभग 10-15 की संख्या में प्रजातियों की सूची मिलती है, जिनमें जंगली एवं घरेलू जानवरों तथा जलीय जीवों को शामिल किया गया है।[48] इन जानवरों की हड्डियों से पता चलता है कि लोगों के जीवन में शिकार का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। दूसरी बात यह है कि प्राप्त लोहे एवं हड्डियों के तीर तथा छिद्र करने यंत्र भी इस घटना पर प्रकाश डालते हैं। कुछ अवशेषों से पता चलता है कि मछली एवं कछुएँ को आहार के रूप में खाये जाते थे। इस बात की पुष्टि समकालीन काल के बौद्ध साहित्यों से भी यह सिद्ध होता काशी के लोगों में मांस खाने की परम्परा विद्यमान थी। कपोत[49] जातक, केशव[50] जातक, इल्लिस[51] जातक, उदञ्चानिजातक,[52] सिगाल जातक,[53] समुग्ग[54] जातक एवं अट्ठसत्त[55] जातकों में मछलियों के मांस खाने का उल्लेख किया गया है। इन मछलियों के मांस को भात (चावल) के साथ बहुत आनन्दपूर्वक खाया जाता था। उभतोभट्ट[56] जातक में उल्लेख मिलता है कि तालाबों में मछलियों को पालने एवं पकड़ने का कार्य किया जाता था। पुण्य नदी[57] जातक एवं रोमक[58] जातक में कौवे तथा कबूतर के मांस खाने के विषय उल्लेख मिलता है। सिरि[59] जातक में मुर्गे के मांस का उल्लेख है। सालुक[60] जातक से ज्ञात होता है कि सूकर का मांस खाने में उपयोग किया जाता था। इन मांसों में खाने के साथ-साथ यज्ञों, देवी-देवताओं को चढ़ावा दिया जाता था। सिगाल[61] जातक से पता चलता है कि उस समय काशी में नक्षत्रों के अवसर पर मनुष्यों द्वारा यज्ञों में बलि देने की इच्छा से चौराहों एवं मार्गों पर मत्स्य मांस रखने का प्रचलन था। बौद्ध ग्रंथ महावग्ग[62] में सुप्रिया उपासिका द्वारा मांस देने का उल्लेख।

इस प्रकार कहा जा सकता है मांसाहारी की परम्परा अतिप्राचीन काल से देखने को मिलता है। वैदिक काल में मांस को एक पूज्य पदार्थ (प्रसाद) समझकर खाया जाता था। कालान्तर यह परम्परा आगे विकसित होती रही जिसका काशी में देखने को मिलता था, जहाँ पर मांसाहारी की प्रवृत्ति अधिक दिखायी पड़ती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची -

1. पानीय जातक, भाग 4, संख्या-459
2. गहपति जातक, भाग 2, संख्या-199
3. वण्णुपग्ग जातक, भाग 1, संख्या 2
4. काक जातक, भाग 2, संख्या-140
5. कपि जातक, भाग 4, संख्या-404
6. विल्लारिकोसिय जातक, भाग 4, संख्या-450
7. सालक जातक, भाग 2, संख्या-249
8. सीहचम्म जातक, भाग 2, संख्या-189
9. सिंह, बी0पी0, लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 184-185
10. अवदानकल्पलता, 41/79 श्लोक
11. सिंह, बी0पी0, लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 185
12. महाकपि जातक, भाग 4, संख्या-407
13. अस्सातरूप जातक, भाग 1, संख्या-100
14. वारुणी जातक, भाग-1, संख्या-47
15. सिगाल जातक, भाग 1, संख्या-113
16. सिंह, बी0पी0, लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 186
17. नरायन, ए0के0 एवं रॉय, टी0एन0, प्रहलादपुर उत्खनन, पृ0 65
18. कुदाल जातक, भाग-1, संख्या-70
19. सुरापान जातक, भाग 1, संख्या-81
20. परोसहस्स जातक, भाग 1, संख्या-99
21. गोध जातक, भाग 2, संख्या-138
22. एकपण्ण जातक, भाग 2, संख्या-149
23. अदिच्चुपट्ठान जातक, भाग 2, संख्या-175
24. वच्छनख जातक, भाग 2, संख्या-235
25. गोध जातक, भाग 2, संख्या-138
26. रोमक जातक, भाग 3, संख्या-277
27. उदच्चनि जातक, भाग-1, संख्या-106
28. सुवण्णहिस जातक, भाग 2, संख्या-138
29. काक जातक, भाग 2, संख्या-146
30. कोसिय जातक, भाग 2, संख्या-130
31. उदञ्चानि जातक, भाग 2, संख्या-106
32. नंगलीस जातक, भाग 2, संख्या-123
33. सिंह, बी0पी0, लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 187-196
34. सुश्रुत संहिता (उत्तर तन्त्रम), श्लोक सं0-5, पृ0 146
35. तित्थ जातक, भाग 1, संख्या-25
36. तिन्दुक जातक, भाग 2, संख्या-177
37. कुरुङ्गमिग जातक, भाग 1, संख्या-21
38. फल जातक, भाग 1, संख्या-54
39. छव जातक, भाग 3, संख्या-309
40. अहिगुण्डिक जातक, भाग 3, संख्या-365
41. कुम्भकार जातक, भाग 4, संख्या-408
42. अम्ब जातक, भाग 4, संख्या-474
43. महाकपि जातक, भाग 4, संख्या-407
44. किछन्द जातक, भाग 5, संख्या-511
45. मत्स्यपुराण, अध्याय 180-185
46. चुल्लपदुम जातक, भाग 2, संख्या-139
47. किछन्द जातक, भाग 5, संख्या-511
48. सिंह, बी0पी0, लाइफ इन एन्शियन्ट वाराणसी, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, पृ0 196
49. कपोत जातक, भाग 1, संख्या-42
50. केशव जातक, भाग 3, संख्या-346
51. इल्लिस जातक, भाग 1, संख्या-78
52. उदञ्चानि जातक, भाग 2, संख्या-106
53. सिगाल जातक, भाग 2, संख्या-113
54. समुग्ग जातक, भाग 4, संख्या-436
55. अट्ठसद्द जातक, भाग 4, संख्या-418
56. उभतोभट्ठ जातक, भाग 2, संख्या-139
57. पुण्णनदी जातक, भाग 2, संख्या-214
58. रोमक जातक, भाग 3, संख्या-277
59. सिरि जातक, भाग 3, संख्या-284
60. सालुक जातक, भाग 3, संख्या-286
61. सिगाल जातक, भाग 2, संख्या-113
62. विनयपिटक, महावग्ग, पृ0 231-23

●

'संज्ञा-प्रकरण' का तुलनात्मक अध्ययनः कच्चायन व्याकरण और लघुसिद्धान्तकौमुदी के विशेष सन्दर्भ में

हिमांशु कुमार सिंह[*] *एवं डॉ0* ठाकुर शिलोचन शाण्डिल्य[**]

संज्ञा-प्रकरण का महत्त्व केवल इससे प्रतीत नहीं होता कि इससे व्याकरण में प्रयुक्त सभी प्रकार के संज्ञाओं की जानकारी होती है, अपितु दोनों भाषाओं के व्याकरण-ग्रन्थों का प्रारम्भ संज्ञा-प्रकरण से ही होना यह भी बताता है कि बिना संज्ञा-प्रकरण को अच्छी तरह से समझे, व्याकरण की समझ व उसमें गति असंभव है। ईष्ट को प्रणाम, ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य, अक्षर-संख्या, स्वरों का विभेद दिखाना, आभ्यन्तर प्रयत्न आदि की समीक्षा तुलनात्मक दृष्टि से करना इस शोधप्रपत्र का प्रमुख विषय-वस्तु है। इस प्रपत्र के तीन शोध-प्रश्न हैं- 1. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण (सञ्ञाप्पकरण) में वर्णित विषय-वस्तु क्या हैं? 2. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण में क्या समानता है? 3. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण के विषयवस्तु में विभिन्नता क्या है? संज्ञा-प्रकरण के अंतर्गत विषय-वस्तु को जानना, तत्त्वज्ञान के समानता को उद्धृत करना तथा विभिन्नता को जानना इस प्रपत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

इसमें तथ्यों की तुलना करने के लिए गुणात्मक विधि का प्रयोग किया गया है तथा निष्कर्ष निकालने के लिए निगमनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है।

मुख्य शब्द

सञ्ञा (संज्ञा), अक्खर-संख्या, माहेश्वर-सूत्र, प्रत्याहार, सर (स्वर), उच्चारण-स्थान, उच्चारण-काल, अचामष्टादशभेद, आभ्यन्तर प्रयत्न

शोध सीमांकन

संस्कृत-व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थों- 'अष्टाध्यायी', 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' और 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में से केवल 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' तथा पालि व्याकरण के प्रमुख ग्रन्थों- 'कच्चायनव्याकरण', 'मोग्गलानव्याकरण' और 'सद्दनीति' में से केवल 'कच्चायनव्याकरण' को आधार शोध ग्रन्थ के रूप में लिया गया है क्योंकि दोनों ही ग्रन्थ अपनी-अपनी भाषाओं में 'प्रारंभिक', 'अत्यंत लोकप्रिय' और 'अवश्य-पठनीय' कोटि के हैं। अनेकानेक व्याकरण विषयवस्तु में से सिर्फ 'संज्ञाप्रकरण' का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है तथा मूल सूत्र (सुत्त) और वार्तिक (वुत्ति) को ही लिया गया है। यहाँ केवल संज्ञा सम्बन्धित सुत्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, सन्धि से सम्बन्धित सुत्तों का नहीं। प्रयत्नों में से केवल आभ्यन्तर प्रयत्न को ही अध्ययन हेतु लिया गया है।

शोध प्रश्न

1. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण (सञ्ञाप्पकरण) में वर्णित विषय-वस्तु क्या हैं?
2. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण में क्या समानता है?
3. दोनों व्याकरण ग्रन्थों के संज्ञा-प्रकरण के विषयवस्तु में विभिन्नता क्या है?

शोध प्रविधि

आँकड़ों को एकत्रित करने के लिए ऐतिहासिक शोध विधि तथा तुलना करने के लिए गुणात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। समीक्षा एवं निष्कर्ष के निर्धारण के लिए निगमनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है। संदर्भ ग्रन्थ-सूची और पाद टिप्पणी के लिए ए.पी.ए. पद्धति का प्रयोग किया गया है।

उद्देश्य

1. दोनों व्याकरण ग्रन्थों में संज्ञा-प्रकरण के अंतर्गत वर्णित विषय-वस्तु को जानना।
2. दोनों व्याकरण ग्रन्थों में संज्ञा-प्रकरण शीर्षक में वर्णित ज्ञान तत्त्वों के समानता को उद्धृत करना।
3. दोनों व्याकरण ग्रन्थों में संज्ञा-प्रकरण के अंतर्गत विषय-वस्तु में विभिन्नता को जानना।

विषय प्रवेश

इस तुलनात्मक शोध प्रपत्र का प्रेरणापुंज 'कच्चायनव्याकरण' का नवम् (09) 'परसमञ्ञापयोगे' है जिसके वुत्ति में पालि-व्याकरण-अन्तर्गत संज्ञाओं के नामकरण का मूल आधार संस्कृत व्याकरण बताया गया है।

भारतीय वाङ्मय-परम्परा में रचनाकार सर्वप्रथम अपने ईष्ट के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुवे ग्रन्थ रचना के उद्देश्य को बताता है। कच्चायन वैयाकरण ने मङ्गलगाथा में-

सत्थुस्स तस्स वचनत्थवरं सुबोद्धं।

वक्खामि सुत्तहितमेत्थ सुसन्धिकप्पं[1] **॥0 1॥**

अर्थात्, बुद्धवचन के अर्थ के महत्त्व को भली-भाँति समझने के लिए सुत्तों के अध्ययन में हितकारी, सुन्दर रूप से वर्णित 'सुसन्धिकप्प' कहता हूँ।

---

* शोध छात्र, पालि एवं बौद्ध अध्ययन विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

** सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अत्थञ्च अक्खरपदेसु अमोहभवा,

सेय्यत्थिको पदमतो विविधं सुणेय्य[2]॥2॥

अर्थात्, श्रेयस् (परमार्थ) के अर्थी को अक्षर पदों में गुंथित अर्थ जानने के लिए मोहरहित होकर विविध पदों को सुनना (अध्ययन करना) चाहिए।

वैयाकरण वरदराज ने लघुसिद्धान्तकौमुदी में :

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।

पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्[3]॥

अर्थात्, मैं (वरदराजाचार्य) शुद्ध स्वरूपवाली, प्रशस्त गुणों से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार करके पाणिनि के व्याकरण शास्त्र में प्रवेश के लिए 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' की रचना करता हूँ।

भारोपीय समुदाय के प्रमुख भाषाओं - पालि और संस्कृत- दोनों में ही लिखित सभी व्याकरण ग्रन्थों में संज्ञा-प्रकरण के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया है। संज्ञा-प्रकरण के अध्ययन से न सिर्फ किसी एक 'नाम' विशेष (प्रत्याहार) के कहने से वैज्ञानिक रूप से कतारबद्ध अक्षर-समूह का सम्बोधन हो जाता है बल्कि इनका प्रयोग करके सूत्रों को कम-से-कम अक्षरों में बाँधा जाता है। दोनों भाषाओं- पालि और संस्कृत-में व्याकरण को सूत्रों के माध्यम से सिखाया जाता है। चूँकि सूत्रों में विविध संज्ञाओं, प्रत्याहारों, अक्षरों तथा शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अतः व्याकरण के सम्यक् ज्ञान के लिए सूत्रों की सम्यक् समझ नितांत आवश्यक है। इस प्रकार, संज्ञा-प्रकरण ही वह प्रारम्भिक द्वार की कुंजी है जिससे पालि और संस्कृत भाषा के ज्ञान सागर में प्रवेश किया जाता है।

कच्चायनव्याकरण तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी के संज्ञा-प्रकरण के अन्तर्गत क्रमशः ग्यारह (11) और चौदह (14) सूत्र है जिनमें सन्धि से सम्बन्धित क्रमशः दो-दो सूत्र भी हैं।

विषय व्याख्या

कच्चायन वैयाकरण ने जिसको केन्द्र में रखकर इस ग्रन्थ की रचना की उसे 'सेय्यं'[4] (लोकोत्तर धर्म, विमुत्ति अथवा निर्वाण) कहा जाता है। 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' का उद्देश्य 'पाणिनीयप्रवेशाय' (पाणिनि व्याकरण में प्रवेश कराना) है।

कच्चायन वैयाकरण के प्रथम सुत्त 'अत्थो अक्खरसञ्ञातो'[5] (1.1.1) के वुत्ति (वार्तिक) में अक्षरों की उपादेयता बतलाते हुए कहा गया है कि ''सभी बुद्धवचनों का अर्थ अक्षरों की ही सहायता से प्रकाशित होता है। अक्षरों के हेरफेर से अर्थ का समझना कठिन हो जाता है। अतः (सुत्तपिटक में) अनेक प्रकार का अक्षर-कौशल विद्यमान है (और उसके ज्ञान के लिए व्यक्ति को अक्षर-कौशल में दक्ष होना चाहिए)।''[6]

अक्षरों की संख्या

कच्चायन वैयाकरण ने पालि भाषा में कुल इकतालीस (41) अक्षर ही माना है।

अक्खरापादयो एकचत्तालीसं[7] (1.1.2)

अकारादि अक्षर भी सुत्तन्तों में आये भाषा (पालि भाषा) के अनुसार इकतालीस हैं। वे सभी अक्षर इस प्रकार हैं-

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

क्, ख्, ग्, घ्, ङ्। च्, छ्, ज्, झ्, ञ्। ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्। त्, थ्, द्, ध्, न्। प्, फ्, ब्, भ्, म्। य्, र्, ल्, व्, स्, ह्, ळ्, अं। इन्हें 'अक्षर' कहा जाता है।

'लघुसिद्धान्तकौमुदी' में अक्षरों की संख्या को 'अथ संज्ञाप्रकरणम्' शीर्षक के द्वारा चौदह माहेश्वर सूत्र[8] के माध्यम से बताया गया है।

अथ संज्ञाप्रकरणम्[9]

1. अइउण्। 2. ऋऌक्। 3. एओङ्। 4. ऐऔच्। 5. हयवरट्। 6. लण्। 7. ञमङणनम्। 8. झभञ्। 9. घढधष्। 10. जबगडदश्। 11. खफछठथचटतव्। 12. कपय्। 13. शषसर्। 14. हल्।

स्वर – अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।

व्यञ्जन – ह्, य्, व्, र्। ल्। ञ्, म्, ङ्, ण्, न्। झ्, भ्। घ्, ढ्, ध्। ज्, ब्, ग्, ड्, द्। ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्। क्, प्। श्, ष्, स्। ह्।

स्वरों की संख्या की समीक्षा

पालि भाषा में, 'कच्चायनव्याकरण' के अनुसार, स्वरों की संख्या को बतलाने वाला सुत्त है-

'तत्थोदन्ता सरा अट्ठ'[10] (1.1.3)

पालिभाषा के आठ (08) स्वर (सर) – अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

संस्कृत भाषा के नव (09) स्वर (अच्) – अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।

उभयनिष्ठ स्वरों की संख्या पाँच है-अ, इ, उ, ए, ओ

संस्कृत भाषा में प्रयुक्त चार स्वर पालि भाषा में नहीं पाये जाते हैं। जो इस प्रकार हैं-ऋ, ऌ, ऐ, औ

पालि भाषा में स्वरों को उच्चारण काल की गणना से ह्रस्व (रस्स) और दीर्घ (दीघ) नामक मात्र दो भागों में बाँटा गया है।

ह्रस्व स्वर (रस्स सर)

'लहुमत्ता तयो रस्सा'[11] (1.1.4) सुत्त के अनुसार –

अ, इ, उ तीन ह्रस्व स्वर (रस्स सर) हैं।

दीर्घ स्वर (दीघ सर)

'अज्झे दीघा'[12] सुत्त के अनुसार –

आ, ई, ऊ, ए, और 'ओ' ये पाँच दीर्घ स्वर (दीघ सर) हैं।

परन्तु संस्कृत भाषा में स्वरों को न सिर्फ उच्चारण काल के अनुसार बल्कि उच्चारण स्थान के प्रदेश (भाग) विशेष और नासिका के साथ या रहित के आधार पर विभाजित करके कुल अठारह (18) भेद बतलाए गये हैं।

अचामष्टादशभेदविवरणम्[13]

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेदाः	दीर्घभेदाः	प्लुतभेदाः
1. उदात्तानुनासिकः	7. उदात्तानुनासिकः	13. उदात्तानुनासिकः
2. उदात्ताननुनासिकः	8. उदात्ताननुनासिकः	14. उदात्ताननुनासिकः
3. अनुदात्तानुनासिकः	9. अनुदात्तानुनासिकः	15. अनुदात्तानुनासिकः
4. अनुदात्ताननुनासिकः	10. अनुदात्ताननुनासिकः	16. अनुदात्ताननुनासिकः
5. स्वरितानुनासिकः	11. स्वरितानुनासिकः	17. स्वरितानुनासिकः
6. स्वरिताननुनासिकः	12. स्वरिताननुनासिकः	18. स्वरिताननुनासिकः

उच्चारण काल के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण –

'ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः[14] (1/2/27)

"एकमात्रिक उकार, द्विमात्रिक ऊकार और त्रिमात्रिक "उ३कार" के उच्चारण काल के समान उच्चारण काल वाले अचों की क्रमशः ह्रस्व संज्ञा, दीर्घ संज्ञा और प्लुत संज्ञा होती है।"[15] संस्कृत भाषा में अ, इ, उ, ऋ, ऌ को 'ह्रस्व संज्ञा' और आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ और 'औ' को 'दीर्घ संज्ञा' कहा जाता है। ह्रस्व संज्ञा, दीर्घ संज्ञा और प्लुत संज्ञा में क्रमशः एक, दो और तीन मात्रा होती है। सामान्य व्यवहार के लिए ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों का प्रयोग किया जाता है परन्तु प्लुत स्वरों का प्रयोग सम्बोधन के लिए संस्कृत भाषा में होता है।

संस्कृत व्याकरण में अ, इ, उ, ऋ स्वरों के अठारह (18) भेद किये गये हैं। 'ऌ' वर्ण के दीर्घ भेद नहीं होने के कारण बारह (12) तथा ए, ओ, ऐ और 'औ' के ह्रस्व भेद नहीं होने के कारण बारह (12) भेद होते हैं।[16]

"एक मात्रा, दो मात्राएँ और तीन मात्राएँ के उच्चारण के समय का अनुपात क्या होना चाहिए? इतना तो स्पष्ट है कि एकमात्रिक के उच्चारण काल में जितना समय लगता है, उसका दुगुना समय द्विमात्रिक के उच्चारण में लगेगा और तिगुना समय तीन मात्रा वाले अच् में लगेगा"[17]। एक मात्रा वाले अच् का समयान्तराल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर पर सहमति नहीं है। कुछ विद्वानों ने पलकें झपकना, बिजली चमकना, नीलकण्ठ पक्षी की बोली आदि को एकमात्रा उच्चारण काल माना है। किन्तु गोविन्दाचार्य जी का मत है कि वर्णों का उच्चारण तीन प्रकार से होता है- द्रुत, मध्यम और विलम्बित। द्रुत अर्थात् अत्यन्त शीघ्रता के साथ उच्चारण, मध्यम उच्चारण एवं विलम्बित उच्चारण।

उच्चारण स्थान (कण्ठ, तालु आदि) के प्रदेश (भाग) के आधार पर स्वरों का वर्गीकरण

उच्चैरुदात्तः[18] (1/2/29) – कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थान के ऊर्ध्व (उपरी) भाग से उच्चरित अच् की 'उदात्त' संज्ञा होती है।

नीचैरनुदात्तः[19] (1/2/30) – कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों के निम्न (अधो) भाग से उच्चरित अच् की 'अनुदात्त' संज्ञा होती है।

समाहारः स्वरितः[20] (1/2/31) – कण्ठ, तालु आदि उच्चारण स्थानों के मिश्र भाग से (जहाँ उदात्त और अनुदात्त दोनों बराबर हों) उच्चरित अच् की स्वरित संज्ञा होती है।

स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।[21]

अर्थात्- वह नौ प्रकार का अच् अनुनासिक और अननुनासिक के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं।[22]

संस्कृत सूत्र के प्रथम गुण 'अल्पाक्षरम्' को चरितार्थ करने के लिए पाणिनीय व्याकरण में कम-से-कम शब्दों द्वारा सूत्रों को व्यक्त करने के लिए 'प्रत्याहार' का प्रयोग किया जाता है। प्रत्याहार में किन-किन वर्णों को लिया जाता है उसे सूत्र में इस प्रकार बताया गया है-

आदिरन्त्येन सहेता[23] (1/1/71)

अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के साथ उच्चरित आदि वर्ण, मध्य वर्णों का और अपना भी संज्ञाबोधक होता है।[24] जैसे अण् प्रत्याहार से अ, इ, उ वर्णों का बोध होता है। पालि व्याकरण में प्रत्याहार का प्रयोग नहीं किया जाता है क्योंकि पालि के सुत्त 'अल्पाक्षरम्' के सिद्धान्त का पालन नहीं करते हैं। पालि व्याकरण में स्वर वर्णों को बताने वाला एक सुत्त है-

तत्थोदन्ता सरा अट्ठ[25] (1.1.3)

परन्तु संस्कृत व्याकरण में स्वर-समुच्चय को बताने वाला एक प्रत्याहार है- अचः स्वराः[26]।

अच् प्रत्याहार घटक वर्ण - अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ- स्वर वर्ण हैं।

उच्चारण स्थान

कच्चायनव्याकरण में वर्गों के उच्चारण स्थान के बारे में कोई सूत्र या वृत्ति नहीं है जबकि संस्कृत व्याकरण में –

(i) अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।[27]

अकार (18), कवर्ग, हकार और विसर्जनीय विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ है। पालि भाषा में विसर्जनीय विसर्ग नहीं पाया जाता है।

(ii) इचुयशानां तालु।[28]

इकार (18), चवर्ग, यकार और शकार का उच्चारण स्थान तालु है। तालव्य वर्गों की संख्या पालि में सिर्फ सात (07) है तथा 'श्' वर्ण नहीं पाया जाता है।

(iii) ऋटुरषाणां मूर्धा।[29]

ऋकार (18), टवर्ग, रकार और षकार का उच्चारण स्थान मूर्धा है। मूर्धन्य वर्णों की संख्या पालि भाषा में सिर्फ छः (06) है तथा 'ऋ' और 'ष्' वर्ण नहीं पाये जाते हैं।

(iv) ऌतुलसानां दन्ताः।[30]

ऌकार (12), तवर्ग, लकार और सकार का उच्चारण स्थान दन्त है। पालि भाषा में दन्त वर्णों की संख्या सिर्फ सात (07) है तथा 'ऌ' वर्ण नहीं पाया जाता है।

(v) उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।[31]

उकार (18), पवर्ग, उपध्मानीय-विसर्ग का उच्चारण स्थान ओष्ठ है। पालि में उपध्मानीय-विसर्ग नहीं पाया जाता है।

(vi) ञमङणनानां नासिका च।[32]

ञ्, म्, ङ्, ण्, न्, का उच्चारण स्थान नासिक और पूर्व वर्णित स्थान भी है।

(vii) एदैतोः कण्ठतालु।[33]

ए और ऐ का उच्चारण स्थान कण्ठ और तालु दोनों होता है। पालि में कण्ठ-तालु से उच्चरित वर्ण सिर्फ एक है- ए।

(viii) ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।[34]

ओकार और औकार का उच्चारण स्थान कण्ठ और ओष्ठ दोनों है। पालि भाषा में सिर्फ एक कण्ठोष्ठ है- ओ।

(ix) वकारस्य दन्तोष्ठम्।[35]

वकार का उच्चारण स्थान दाँत और ओठ दोनों होता है।

(x) जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।[36]

जिह्वामूलीय-विसर्ग का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है। यह पालि भाषा में नहीं पाया जाता है।

(xi) नासिकाऽनुस्वारस्य।[37]

अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है।

यत्न का प्रकार

कण्ठ-तालु आदि उच्चारण स्थान द्वारा वर्णों के उच्चारण में किये गये व्यापार को 'यत्न' कहते हैं।

यत्नो द्विधा-आभ्यन्तरो बाह्यश्च[38]

यत्न दो प्रकार के होते हैं- (i) आभ्यन्तर और (ii) बाह्य

(i) आभ्यन्तर प्रयत्नः- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।[39]

अर्थात् – आभ्यन्तर प्रयत्न पाँच प्रकार के होते हैं- स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, ईषद्विवृत, विवृत और संवृत। उनमें स्पृष्ट प्रयत्न 'स्पर्श' संज्ञक वर्णों का है। ईषत्स्पृष्ट प्रत्यत्न 'अन्तःस्थ' संज्ञक वर्णों का है। ईषद्विवृत प्रयत्न ऊष्म संज्ञक वर्णों का है। विवृत प्रयत्न स्वर संज्ञक वर्णों का है। ह्रस्व अवर्ण का प्रयोग अवस्था (उच्चारण अवस्था) में संवृत प्रयत्न और प्रक्रिया अवस्था में विवृत प्रयत्न रहता है।

(क) कादयो मावसानाः स्पर्शाः।[40]

ककार से मकार तक के वर्गीय वर्ण स्पर्श संज्ञक है। स्पर्श वर्णों की संख्या पालि एवं संस्कृत दोनों भाषाओं में पच्चीस (25) है।

(ख) यणोऽन्तःस्थाः।[41]

यण् प्रत्याहार घटक वर्ण - 'य्', 'व्', 'र्', 'ल्' – 'अन्तःस्थ' संज्ञक हैं। अन्तःस्थ की संख्या चार (04) है जो पालि और संस्कृत दोनों भाषाओं में समान ही पायी जाती है।

(ग) शल् ऊष्माणः।[42]

शल् प्रत्याहार घटक वर्ण - 'श्', 'ष्', 'स्', 'ह्' – 'ऊष्म संज्ञक' हैं। ऊष्म-संज्ञक वर्णों की संख्या संस्कृत में चार (04) है जबकि पालि में सिर्फ दो (स्, ह्) हैं।

(घ) अचः स्वराः।[43]

अच् प्रत्याहार घटक वर्ण - अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ 'स्वर संज्ञक' है। स्वरों की संख्या संस्कृत में नौ (09) तथा पालि में आठ (08) है जिसमें 'ऋ', 'ऌ', 'ऐ' और 'औ' शामिल नहीं है।

निष्कर्ष

पालि भाषा में स्वरों की संख्या आठ (08) है तथा संस्कृत में स्वरों की संख्या नौ (09) है। पालि में 'ऋ', 'ऌ', 'ऐ' और 'औ' को स्वरों की सूची में नहीं रखा गया है जबकि संस्कृत में इन्हें स्वर माना गया है। पालि में श्, ष् और स् के स्थान पर सिर्फ एक ही दन्त 'स्' का प्रयोग होता है। पालि भाषा में मूर्धन्य 'ळ्' का प्रयोग होता हैं जबकि संस्कृत में नहीं। पालि में 'ए' और 'ओ' को दीर्घ स्वर माना जाता है जबकि संस्कृत में इन्हें ह्रस्व स्वर माना जाता है। पालि भाषा में स्वरों के सिर्फ दो विभेद हैं- ह्रस्व और दीर्घ जबकि संस्कृत में इन दोनों के साथ 'प्लुत' नामक एक तीसरा विभेद भी है। पालि भाषा के सुत्तों में 'अल्पाक्षरम्' की बाध्यता न रहने के कारण प्रत्याहार का प्रयोग नहीं होता है। कच्चायन व्याकरण में वर्णों के उच्चारण स्थान, उच्चारण काल और प्रयत्न का कोई वर्णन नहीं है, इसे संस्कृत व्याकरण के अनुसार ही माना गया है।

सन्दर्भ-सूची

1. तिवारी और शर्मा, कच्चायनव्याकरणं (सुत्त-वुत्ति भासानुवादसहितं) पृ. 03
2. वही,
3. पाण्डेय, श्रीमद्विद्वद्वर – वरदराजाचार्यप्रणीता लघुसिद्धान्तकौमुदी, पृ. 13
4. पसत्थो विसेसेना ति सेय्यो, पसत्थानं विसेसेन पसत्थो ति वा सेय्यो, लोकुत्तर धम्मो, तं सेय्यं। तिवारी और शर्मा, कच्चायनव्याकरणं (सुत्त-वुत्ति भासानुवादसहितं), पृ. 05
5. वही, सब्बवचनानमत्थो अक्खरेहेव सञ्ञायते। अक्खरविपत्तियं हि सति अत्थस्स दुन्नयता होति, तस्मा अक्खरकोसल्लं बहूपकारं सुत्तन्तेसु, पृ. 07
6. वही, पृ. 07-08
7. वही, ते च खो अक्खरा पि अकारादयो एकचत्तालीसं सुत्तन्तेसु सोपकारा होन्ति, तं यथा – अ आ इ ई उ ऊ ए ओ। क ख ग घ ङ। च छ ज झ ञ। ट ठ ड ढण। त थ द ध न। प फ ब भ म। य र ल व स ह ळ अं इति अक्खरा नाम होन्ति। पृ. 08
8. इसे 'चतुर्दशसूत्र', 'प्रत्याहारसूत्र' और 'शिवसूत्र' भी कहा जाता है।
9. लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 13
10. तत्थ अक्खरेसु अकारादिसु ओदन्ता अट्ठ अक्खरा सरा नाम होन्ति, तं यथा- अ आ इ ई उ ऊ ए ओ इति सरा नाम। तिवारी और शर्मा, कच्चायनव्याकरणं (सुत्त-वुत्ति भासानुवादसहितं), पृ. 08
11. वही, तथ्य अट्ठसु सरेसु अकारादिसु लहुमत्ता तथो सरा रस्सा नाम होन्ति, तं तथा – अ इ उ इति तयो रस्सा नाम। पृ. 08
12. वही, तत्थ अट्ठसु सरेसु रस्सेहि अञ्ञे पञ्च सरा दीघा नाम होन्ति, तं तथा – आ ई ऊ ए ओ इति दीघा नाम। पृ. 05
13. लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 16
14. उश्च उश्च ऊ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽचक्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।। लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेसः गोरखपुर, पृ. 15
15. लघुसिद्धान्तकौमुदी, 'श्रीधरमुखोल्लासिनी' हिन्दीव्याख्यासमन्विता, शर्मा और शास्त्री, पृ. 11
16. अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। ऌ वर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश तेषां ह्रस्वाभावात्। लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेसः गोरखपुर, पृ. 16
17. लघुसिद्धान्तकौमुदी, 'श्रीधरमुखोल्लासिनी' हिन्दीव्याख्यासमन्विता, शर्मा और शास्त्री, पृ. 12
18. लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेसः गोरखपुर, पृ. 15
19. वही, पृ. 15
20. वही, पृ. 15
21. वही, पृ. 15
22. लघुसिद्धान्तकौमुदी, 'श्रीधरमुखोल्लासिनी' हिन्दीव्याख्यासमन्विता, शर्मा और शास्त्री, पृ. 14
23. अन्त्येनेता सहित आर्दिमध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् यथाऽणिति अइउवर्णानां संज्ञा। लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेसः गोरखपुर, पृ. 14-15
24. लघुसिद्धान्तकौमुदी, 'श्रीधरमुखोल्लासिनी' हिन्दीव्याख्यासमन्विता, शर्मा और शास्त्री, पृ. 08
25. तिवारी और शर्मा, कच्चायनव्याकरणं (सुत्त-वुत्ति भासानुवादसहितं) पृ. 08
26. लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेसः गोरखपुर, पृ. 16
27. वही
28. वही
29. वही
30. वही
31. वही
32. लघुसिद्धान्तकौमुदी, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. 16
33. वही
34. वही
35. वही

36. वही, पृ. 17
37. वही
38. वही
39. वही
40. वही
41. वही
42. वही
43. वही

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

क. प्राथमिक

1. तिवारी, लक्ष्मीनारायण., और शर्मा, बीरबल. (1962). *कच्चायन-व्याकरण (पालि-व्याकरण).* वाराणसीः तारा बुक एजेन्सी.
2. पाण्डेय, रामनारायणदत्त., *श्रीमद्विद्वद्वर-वरदराजाचार्यप्रणीता लघुसिद्धान्तकौमुदी.* गोरखपुरः गीताप्रेस.
3. शर्मा, गोविन्द. प्रसाद., और शास्त्री, आचार्य. रघुनाथ., (2017). *लघुसिद्धान्तकौमुदी 'श्रीधरमुखोल्लासिनी' हिन्दी व्याख्या समन्विता.* वाराणसीः चौखम्बा सुभारती प्रकाशन.
4. धर्मरक्षित, भिक्षु., (2013). *पालि व्याकरण.* वाराणसीः ज्ञानमण्डल लिमिटेड.
5. काश्यप, भिक्षु, जगदीश., (2008). *पालि-महाव्याकरण.* दिल्लीः मोतीलाल बनारसीदास.
6. काश्यप, भिक्षु. जगदीश., (2010). *पालि निस्सेनी.* नई दिल्लीः सम्यक् प्रकाशन.
7. द्वारिकादासशास्त्री, स्वामी., (2007). *पालिव्याकरणः महासामिधम्मकित्तिप्रणीत बालावतार (हिन्दी अनुवादसहित).* वाराणसीः बौद्ध भारती.

●

प्रारंम्भ से बौद्ध काल तक के समाज में स्त्रियों की स्थिति

रेखा विजयता एवं डॉ0 सर्वेश कुमार***

किसी भी सभ्य समाज का मापदण्ड स्त्रियाँ ही होती है। उस समाज की प्रगति इस बात पर निर्भर करती है, कि उस समाज में स्त्रियों की दशा कैसी है? इस दृष्टि से प्राचीन कालीन समाज में स्त्रियों कों उच्चस्थान, सम्मान व आदर प्राप्त था और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। स्त्री को विवाह, शिक्षा, सम्पति आदि में पुरुषो के समान ही अधिकार प्राप्त थे। इस सन्दर्भ में अल्तेकर[1] का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि विश्व की लगभग सभी प्राचीन सभ्यताओं का अध्ययन करते समय हम जितना प्राचीनतम् काल की ओर जाते है, स्त्री का स्थान समाज में उतना ही असन्तोषजनक पाते है, जबकि भारतीय स्त्रियों का स्थान समाज में उतना ही महत्वपूर्ण पाते है। परिवार में उसके द्वारा कन्या, पत्नी, वधू और माँ के रुप में किये जाने वाला योगदान एवं गृह का अस्तित्व स्त्री में ही निहित माना जाता था।[2] समाज में स्त्री का महत्व इतना अधिक कि अकेला पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया।[3] पुरुष शब्द की निर्मिति स्त्री, सन्तान और व्यक्ति की समष्टि से मानी गयी है, जिनसे मिलकर ही वह पूर्ण होता है।[4] शतपथ ब्राह्मण[5] के अनुसार पुरुष जब विवाह करके सन्तान उत्पन्न करता है तभी पूर्ण होता है। महाभारत[6] के अनुसार स्त्री के बिना पुत्र, पौत्र तथा नौकर चाकर से सम्पन्न परिवार भी जंगल के समान है। स्त्री ही गृह की शोभा है तथा धर्म, अर्थ, काम का मूल है। मनु के अनुसार[7]- 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते तत्र देवता' अर्थात् जहाँ स्त्री की पूजा होती है वहाँ देवता निवास करतें है।

इस प्रकार स्त्री पुरुष की 'शरीरार्द्ध' और अर्द्धांगिनी मानी गयी तथा 'श्री' और 'लक्ष्मी' के रुप में वह मनुष्य के जीवन को सुख और समृद्धि से दीप्ति पुंजित करने वाली कही गयी।[8] वैदिक काल में पुरुषों के समान स्त्रियों को भी समान अधिकार प्राप्त था और सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में उनका हाथ बटाती थीं। कालान्तर में स्त्रियों की स्थिति हीन हो गयी, वे परदे में रहने लगी और सार्वजनिक जीवन से उनका सम्बन्ध प्रायः नष्ट हो गया।[9] उनकी स्थिति में वैदिक युग से लेकर पूर्वमध्य काल तक अनेक उतार-चढ़ाव आते रहे तथा उनके अधिकारों में तद्नुरुप परिवर्तन भी होते रहे।[10] पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को समाज में श्रेष्ठकर स्थान नही मिला, जिसके प्रमुख कारण राजनीतिक अस्थिरता और सामाजिक संकीर्णता ही थे। साथ ही साथ स्त्रियों की जैविकीय और मानसिक दोष की भी चर्चा की गयी है, जो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक है। विद्वानों ने स्त्रियों में ऐसे जन्मजात दोष माने जिनके कारण वे पुरुषों की तुलना में हीन रही। उनके व्यक्तित्व में अस्थिरता का दोष प्रधान रुप से स्वीकार किया गया।[11] यह भी मत व्यक्त किया गया है कि उनमें न्याय की भावना अत्यल्प होती हैं, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में ईष्या की मात्रा अधिकाधिक है।[12]

वैदिक काल में स्त्रियाँ ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर उच्चतम, आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान प्राप्त करती थी और याज्ञिक अनुष्ठान करती थी।[13] वैदिक काल में नारी एक रत्न और गृह की एकमात्र अधिष्ठात्री देवी नारी थी।[14] वेदो में अनेक ऐसे सूत्र है जिनमें विवाह के प्रकार, नियोग, सम्पत्ति का विभाजन, उत्तराधिकार, स्त्रीधन आदि पर प्रकाश डाला गया है।[15] शिक्षित कन्या की प्राप्ति के लिए विशेष अनुष्ठान की आयोजना की जाती थी।[16] अनके ऐसी विदुषी स्त्रियों का वर्णन है, जिन्होंने ऋचाओं का प्रणयन किया था। इनमें लोपामुद्रा, विश्ववारा, अपाला, काक्षीवती, घोषा, सिकता, निवावरी, रोमाशा, उर्वशी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।[17] ऋग्वेद में विदुषी पुत्री का विवाह विद्वान पति के साथ करने की अनुमति दी गयी है।[18] पति के साथ समान रुप से यज्ञ में सहयोग करती थी।[19] समाज में वे पुरुषों की तरह ही आदृत थी। सामाजिक और धार्मिक उत्सवो समारोहों में वे अलंकृत होकर बिना किसी प्रतिबन्ध के उन्मुक्त होकर हिस्सा लेती थी।[20] वृहदारण्यक उपनिषद में विदेहराज जनक की राजसभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान महापुरुष को भी अपने गूढ़ प्रश्नों से मूक कर दिया था।[21] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी भी अत्यन्त विदुषी और ब्रह्मवादिनी महिला थी।[22] स्त्रियों को अपना वर चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। विवाह पूर्ण वयस्क होने पर किया जाता था।[23] ऋग्वेद में एक मंत्र में विवाह के अवसर पर कन्या को सास, ससुर, ननद और देवर आदि पर साम्राज्ञी के रुप में शासन करने का निर्देश दिया गया है।[24] लेकिन यहाँ साम्राज्ञी से तात्पर्य कठोरता और आदेश से नही था। अपितु वह स्नेह, सेवा, न्याय और उदार चित्त से परिवार पर शासन करती थी। अथर्ववेद में विधवा को धन प्रदान का विधान है।[25] सती प्रथा, बाल विवाह तथा परदा प्रथा जैसी कुरुतियों का समाज में प्रचलन नहीं था स्त्रियों का जितना अधिक मान, सम्मान और उच्च स्थान इस काल में था उतना अन्य किसी काल में नहीं था। प्राचीन काल में अन्तर्वर्णीय या अन्तर्जातीय विवाह होते रहे है। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का प्रचलन इसी के अन्तर्गत था। अनुलोम विवाह के अन्तर्गत उच्च वर्ण या जाति का पुरुष अपने से निम्न वर्ण या जाति की स्त्री से विवाह करता था। वैदिक काल में वर्ण और जाति का कठोर बन्धन नही था इसलिए

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

इस तरह के विवाह बहुधा हुआ करते थे ऋग्वेद के अनुसार ब्रह्मऋषि श्यावाश्व का विवाह क्षत्रिय राजकुमारी रथवीति दार्म्य की कन्या से हुआ था।[26] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने राजा शर्योत की पुत्री सुकन्या से विवाह किया था।[27] ब्राह्मण विमद ने राजा पुरुमित्र की कन्या कमद्यु से विवाह किया था।[28] वृष्णिवंशीय शौरि की पत्नियों में से एक वैश्य की पुत्री थी।[29] चाक्षुष और कक्षीवान् जैसे तपस्वियों का जन्म ब्रह्मार्षि और शुद्रा की संयुक्तता से हुआ था।[30] वसिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ था।[31] ब्राह्मण ऋषि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा क्षत्रिय थी।[32] इन उद्धरणों से यह प्रकट होता है कि वैदिक काल में अनुलोम विवाह-प्रथा प्रचलित था। प्रतिलोम विवाह के अन्तर्गत ऊँचे वर्ण की कन्या और निम्न वर्ण का वर होता था। इससे उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर, निकृष्ट और अस्पृश्य कहा जाता था।[33] ब्राह्मण कन्या अंगिरसी का विवाह क्षत्रिय भावयव्य से हुआ था।[34] राजा असंग ने अंगिरस ऋषि की कन्या शश्वती से विवाह किया था।[35] इस प्रकार प्रतिलोम विवाह को समाज में अत्यन्त हीन माना जाता था।

दास-प्रथा का प्रारम्भ सम्भवतः प्रागौतिहासिक काल में ही हो गया था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के समाज में भी दासों का अस्तित्व था। सर्वप्रथम हमें ऋग्वेद से दासो के दो वर्गों का उल्लेख मिलता है, एक अनार्य और दूसरा दास अथवा दस्यु। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर इन्द्र द्वारा दासों के उन्मूलन का उल्लेख मिलता है।[36] दस्यु का प्रयोग उन आर्येत्तर जातियों के लिए किया गया जिन पर आर्यों ने युद्ध के परिणामस्वरुप विजय प्राप्त की। अनार्यों को 'दास' 'दस्यु' या 'असुर' कहा गया है। ऋग्वैदिक कालीन अनार्यों को 'दास' 'भृध्रवाक्' (जिनकी भाषा अस्पष्ट थी), 'अकर्मन्' (वैदिक कर्मकाण्ड से शून्य), 'अदेवयु' (वैदिक देवताओं को न पूजने वाले), 'अब्रह्मन्' (देवों के प्रति भक्ति से रहित), 'अयज्वन्' (यज्ञ न करने वाले) 'अव्रत' (वैदिक व्रतों को न मानने वाले) 'अन्यव्रत' (अवैदिक धर्म और व्रत को मानने वाले), 'देवपीयु' (वैदिक देवताओं के निन्दक), 'शिश्नदेव' (लिंग की पूजा करने वाले), 'अनासा' (बिना नाक वाले), 'कृष्णयोनि' (श्याम रंग), 'अमन्तु' अमानुष आदि कहा गया है।[37] ऋग्वेद में वर्णन है कि इन्द्र ने 'दासवर्ण' को नीचे गुहा में स्थापित किया।[38]

दास को 'कृष्ण वर्ण' का भी कहा गया है। सोम देव ने कृष्ण वर्ण का हनन किया था।[39] आर्य लोग अनार्य 'दास' को 'असुर वर्ण' का मानते थे।[40] आर्यों ने अनार्यों की सेनाओं का नाश किया था।[41] ऐसा भी सन्दर्भ मिलता है कि तीस सहस्र दास माया से मूर्छित कर दिये गये थे।[42] ऋषियों को राजाओं द्वारा बड़ी संख्या में दास एवं दासियों को दान का उल्लेख मिलता है।[43] इन दास-दासियों पर उनके स्वामियों का पूर्ण स्वामित्व होता था, वे उन्हे बेच सकते थे, दान में दे सकते थे अथवा मुक्त कर सकते थे।[44] पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु ने एक ऋषि को पचास युवतियाँ प्रदान की थी[45] कवश ऐलूष ऋषि भी दासी पुत्र थे, जिन्होंने अनेक ऋचाएँ प्रणीत की थी।[46]

उत्तर वैदिक काल में स्त्री के सामाजिक और धार्मिक अधिकार तो अवश्य बने रहे किन्तु उसके वैयक्तिक गुणों के प्रति सन्देह व्यक्त किया गया तथा निन्दनीय शब्दों का प्रयोग होने लगा। स्त्री को 'असत्यभाषी' और 'अमृत' कहा गया।[47] अथर्ववेद[48] में पुत्री के जन्म पर खिन्नता का उल्लेख है। ऐतरेय ब्राह्मण पुत्री को 'कृपण' कहता है।[49] उसके लिए भविष्यवाणी की गई की अगर वह पति द्वारा धन देकर क्रय की जाती है तो वह पर पुरुष के साथ घूमती है,[50] जो इस समाज में निन्दनीय माना गया। स्त्री को पुरुषों के साथ यज्ञ में सोम का भाग लेने से वंचित कर उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया।[51] अथर्ववेद[52] में अनेक ऐसे मन्त्र दिये गये है जिसमें गर्भस्थ कन्या को पुत्र में परिवर्तित करने का प्रयास किया जाता था। अल्तेकर[53] ने विचार करते हुए मत व्यक्त किया है कि 'घर' में कन्या का जन्म पुत्र-जन्म की अपेक्षा घृणा की दृष्टि से देखा जाता था तथा वह पुत्र जैसा स्नेह नही पाती थी। उत्तरवैदिक कालीन व्यावहारिक शिक्षा में वे नृत्य, गान, चित्रकला आदि की भी शिक्षा ग्रहण करती थी।[54] वृहदारण्यक उपनिषद में[55] घी में तिल व चावल पका कर खाने से विदुषी तथा आयुष्मति कन्या की प्राप्ति का विधान बताया गया है। हारीत के अनुसार इस काल में दो प्रकार की स्त्रियाँ होती थी। एक सद्योवधू और दूसरी ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू जो विवाह से पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए विद्याध्ययन करती थी। प्रार्थना और यज्ञों के लिए आवश्यक महत्वपूर्ण मंत्र पढ़ाये जाते थे तथा संगीत और नृत्यकला की भी शिक्षा दी जाती थी, तत्पश्चात् वे विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करती थी। जबकि ब्रह्मवादिनी जो विवाह एवं गृहस्थ जीवन का त्याग कर आजीवन विद्याध्ययन करती हुई अनवरत तपस्या और अनुशासन का जीवन व्यतीत करती थी।[56] तैत्तिरीय संहिता में पत्नी को पारिणाह्य अर्थात् घर की वस्तुओं की स्वामिनी स्वीकार किया गया।[57] शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है कि पत्नी पति के दाय का उत्तराधिकारिणी होती हैं।[58] इस काल में सती प्रथा तथा परदा प्रथा का प्रचलन नहीं था।

वैदिक युग के बाद अनुलोम विवाह निन्द्य कहे गये। सवर्णा स्त्री की उपस्थिति में असवर्णा स्त्री को धार्मिक कार्य सम्पन्न करने से वंचित कर दिया गया।[59] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार जब शुद्रा, आर्य की पत्नी होती है तब वह वैभव के लिए धन नहीं चाहती है।[60] छान्दोग्योपनिषद में वर्णन है, कि शूद्र राजा जानश्रुति ने रैक्व ऋषि से दीक्षा लेने के लिए उसे अपनी कन्या प्रदान की थी।[61] वाजसनेयी संहिता में वर्णन है कि राजा वैश्य स्त्री से उत्पन्न पुत्र का राज्याभिषेक नहीं करता था।[62] अथर्ववेद के अनुसार ब्राह्मण को सभी वर्ण की कन्याओं से विवाह का अधिकार है।[63] यजुर्वेद संहिता में प्रयुक्त 'अयोगु' शब्द के आधार पर राजबली पाण्डेय का मत है कि यदि इसका समीकरण परवर्ती काल के 'आयोगव' से स्थापित कर दिया जाये तो इसका तात्पर्य वैश्य स्त्री तथा शूद्र पुरुष के संयोग से

उत्पन्न के लिए होगा।[64] उत्तरवैदिक काल में दासों की संख्या में वृद्धि हुई। तैत्तिरीय संहिता के एक उद्धरण से पता चलता है कि दासियाँ प्रायः मार्जालीय के चतुर्दिक अपने सिर पर पानी के घड़े रखकर पृथ्वी पर अपने पैरों से आघात करते हुए (पैरों को पटक-पटकर) नृत्य तथा मधुर गायन करती थी।[65] जानवरों के साथ अथवा स्वतन्त्र रुप से दास या दासिया लोगो को उपहार में दी जाती थी।[66] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार अंग के राजा ने अपने राज्याभिषेक के अवसर पर अपने पुरोहित आत्रेय को दस हजार दासियों का दान दिया था।[67] बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के पश्चात् अपने आपको सम्पूर्ण प्रजा सहित उनके समक्ष दास के रुप में अर्पित कर दिया था।[68] छान्दोग्य उपनिषद में भी दासों का उल्लेख सुवर्ण, पशु तथा भूमि आदि सम्पदा के साथ किया गया है तथा इन्हें 'महिमा' बताया गया है।[69] कठोपनिषद् में एक स्थान पर यमराज ने नचिकेता के मृत्यु सम्बन्धी प्रश्नों के पूछे जाने पर यह कहा था कि, ''मनुष्य लोक में जो-जो दुर्लभ है, उन सब भोगो को तु स्वच्छन्दता पूर्वक माँग ले, यहाँ रथ और बाजों के सहित ये रमणियाँ भी हैं। ऐसी स्त्रियाँ मनुष्यों को प्राप्त होने योग्य नहीं होतीं। मेरे द्वारा दी हुई इन कामिनियों से तू सेवा करा। परन्तु हे नचिकेता, तू मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ।''[70] आरुणि और उसका पुत्र श्वेतकेतु, दोनो जब ज्ञान प्राप्ति के लिए पांचाल-नरेश प्रवाहण जाबालि के निकट गए तो यह कहा था कि उनके पास गौ, अश्व, परिवार और परिधान के साथ 'दासी' भी है।[71] राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से कहा, खच्चरों से जुता हुआ रथ और 'दासियों' के साथ हार प्रवृत्त है।''[72]

महाकाव्यों के अनुसार रामायण में सीता का विचरण तथा महाभारत में द्रौपदी का भ्रमण उनकी उन्मुक्ता और स्वच्छन्ता व्यक्त करता है। जिसके माध्यम से महिलाओं की स्थिति व अधिकारों का बोध होता है।[73] सीता के न होने पर राम को अश्वमेध यज्ञ करते समय अपनी पत्नी सीता की स्वर्ण-प्रतिमा बनानी पड़ी थी।[74] माता के रुप में वह गुरु से भी बढ़कर मानी जाती थी।[75] पति के साथ पत्नी का भी राज्याभिषेक किया जाता था।[76] स्त्री की अनुपस्थिति में सभी पूर्ण कार्य अपवित्र हो जाते है।[77] रामायण में राम के युवराज पद पर अभिषेक के समय कौशल्या के यज्ञ करने का[78] और बालि के युद्ध में प्रस्थान करने से पूर्व उसकी पत्नी तारा के द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है।[79] सीता प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा सन्ध्या-पूजन करती थी।[80] महाभारत के अनुसार कुन्ती अथर्ववेद में[81] गान्धारी अर्थशास्त्र में[82] द्रौपदी नीतिशास्त्र में[83] तथा सुभद्रा, दमयन्ती, विदुला और सत्यवती राजनीतिशास्त्र[84] में प्रवीण थी। महाभारत में द्रौपदी और अरुन्धती को पण्डिता और ब्रह्मवादिनी कहा गया है।[85] स्त्रियों के दो प्रकार है, साध्वी और असाध्वी। साध्वी स्त्रियाँ पृथ्वी की माता और उनकी संरक्षिता हैं तथा असाध्वी स्त्रियाँ अपनी पापी गतिविधियों से विख्यात है।[86] विराट ने अपनी पुत्री उत्तरा को अर्जुन से संगीत की शिक्षा दिलायी थी।[87] शुक्र ने भी अपनी पुत्री देवयानी को अपने आश्रम में संगीत, नृत्य एवं वाद्य की शिक्षा दी थी।[88] महाभारत के अनुसार मानसिक एवं शारीरिक शुद्धता रखना, ईश्वर भक्ति में लीन रहना, अतिथियों और गुरुजनों की सेवा करना, विधवाओं का प्रमुख धर्म है।[89] महाभारत में वर्णित है कि जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़े मांस के टुकड़े पर पक्षी टूट पड़ते हैं उसी प्रकार पतिहीन स्त्री पर पुरुष टूट पड़ते है।[90] अनेक पुत्रों के रहते हुए भी विधवाओं को दुःखी जीवन व्यतीत करना पड़ता है।[91] विधवा नारियाँ या तो सती हो जाती थी या तपोनिष्ठ जीवन व्यतीत करती थी।[92] महाभारत में वेश्यावृत्ति एक स्थिर संस्था के रुप में प्रचलित पायी जाती है। मुख्य वेश्याओं को वारमुख्या कहा जाता था। वेश्याएँ अपने क्रिया कलापों से लोगों को आकृष्ट करने की कला में अत्यन्त प्रवीण होती थी।[93] गान्धारी के गर्भवती होने पर उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए वेश्या की नियुक्ति की गई थी।[94] श्रीकृष्ण जब शान्तिवार्ता के लिए कौरवो के यहाँ आये तो उनका स्वागत् वेश्याओं ने किया था।[95] युद्ध के लिए प्रस्थानोन्मुख पाण्डव सेनाओं के साथ वेश्याएँ भी थी।[96] उद्योग पर्व के अनुसार युधिष्ठिर ने कौरवों की वेश्याओं को शुभ सन्देश भेजे थे।[97] इन सबसे स्पष्ट होता है कि बहुसंख्यक वेश्याओं का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा था। कौरवो की सभा में द्रौपदी का कथन है कि हमने सुना है कि प्राचीन काल में लोग विवाहिता स्त्रियों को सार्वजनिक सभाओं में नहीं ले जाते थे किन्तु चिरकाल से चली आ रही इस परम्परा को आज तोड़ दिया गया है।[98] महायुद्ध के पश्चात् धृतराष्ट्र के वनागमन पर जिन स्त्रियों को सूर्य और चन्द्रमा ने कभी नही देखा था वे राजमार्ग पर चली रही है।[99] रामायण में भी वर्णित है कि राम के वन जाने के अवसर पर सीता को आकाश में विचरण करने वाले पक्षी भी नहीं देख सकते थे, उन्हे भी राजमार्ग पर चलते सभी लोग देख रहे है।[100] महाकाव्यों में कही पर भी सामान्य युवतियों, राजकुमारियों, एवं रानियों तथा कुन्ती, माद्री, गान्धारी, द्रौपदी, उत्तरा, कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, तथा सीता आदि स्त्रियों का अपने मुख पर अवगुठंन का उल्लेख नही मिलता है।[101] रामायण में वर्णन है कि विवाह, स्वयंवर, यज्ञ आदि के अवसर पर स्त्री निर्विरोध सम्मिलित हो।[102] रामायण में ब्राह्मणी वेदमती की माता का शरीर दहन करने का उल्लेख मिलता है।[103] महाभारत में पाण्डु की रानी माद्री का अपने पति के शव के साथ सती हो जाने का उल्लेख मिलता है।[104] विराट पर्व में कीचक के साथ सैरन्ध्री के जल जाने,[105] मौसलपर्व में वासुदेव की चार पत्नियाँ देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा तथा कृष्ण की पत्नियाँ रुक्मिणी शैब्या, हैमवती और जाम्बवती आपने पति के साथ सती हो गयी थी।[106] फिर भी सती प्रथा लोकमान्य नहीं हुई थी। महाकाव्यों के अनुसार राजवंशों के स्त्रियों की स्थिति का पता चलता है किन्तु सामान्य स्त्रियों की स्थिति कैसी थी? इसका वर्णन नहीं मिलता है।

महाकाव्यों में भी अनुलोम व प्रतिलोम विवाह के अनेक उदाहरण मिलते है। महाभारत के अनुसार महर्षि भृगु के पुत्र ऋचीक ने राजा गथि की पुत्री सत्यवती से विवाह किया था।[107] ऋचीक के पुत्र जमदग्नि ने राजा प्रसेनजित की कन्या रेणुका से विवाह किया

था।[108] राजा शान्तनु का विवाह निषाद कन्या सत्यवती के साथ हुआ था।[109] धृतराष्ट्र ने एक वैश्यकन्या से विवाह किया था जिससे युयुत्सु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था।[110] भीम ने राक्षसी हिडिम्बा से विवाह किया था।[111] राजा दशरथ की कन्या शान्ता का विवाह महर्षि श्रव्यश्रृंग के साथ हुआ था।[112] राजा ययाति ने ब्राह्मण ऋषि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी से विवाह किया था।[113] राजा नीप ने कृष्ण द्वैपायन के पुत्र शुक्र की कन्या कृत्वी से विवाह किया था।[114] महाभारत, में दास-दासियों को भेट-स्वरुप प्रदान करने के अनेक उदाहरण मिलते है।[115] युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ के अवसर पर 88,000 ब्राह्मण स्नातकों को तीस-तीस दासियाँ दान में दी थी।[116] वैन्य ने अत्रि को एक सहस्त्र रुपवती दासियाँ भेट में दी थी।[117] विराट पर्व में विवृत है कि 30 दासियाँ दान में दी गयी थी।[118] शान्ति पर्व में वर्णन है कि अनेक मनुष्य दूसरे मनुष्यों को अपना दास बना लेते है और उन्हें कैद में डालने या बेड़ियों में बांधने या जान से मारने की धमकियाँ देकर अपने कार्य करवाते है।[119] सम्पत्ति पर तीन व्यक्तियों यथा पुत्र, पत्नी और दास का कोई अधिकार नहीं होता, जो कुछ उनके पास होता है वह सब उनके मालिक का अर्थात पिता, पति और स्वामी का होता है।[120] दास की पत्नी व बच्चे को भी दास के मालिक की सम्पत्ति माना जाता था।[121] महाभारत में हमें पाँच प्रकार के दासो का वर्णन मिलता है।[122] ये है- जन्मजात, क्रीतदास, युद्धदास जुए में दाँव हारने पर भेट स्वरुप दास। रामायण के कई स्थलों पर दास शब्द का उल्लेख मिलता है।[123]

सूत्र काल में स्त्रियों की स्थिति और भी निम्न और दयनीय हो गयी। उनकी राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और वैयक्तिक, सभी स्थितियों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। कन्या, पत्नी और माता जैसी स्थितियों में वे क्रमशः पिता, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित और संरक्षित मानी गयी।[124] आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार स्त्रियों का भी समावर्तन संस्कार होता था, उन्हे वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त था।[125] आपस्तम्ब में पण्डिता स्त्रियों के ज्ञान और विद्वता की चर्चा की गयी है[126] गोभिल तथा काठक गृह्यसूत्र में वर्णन है कि दुल्हन पढ़ी-लिखी होती थी क्योकि विवाह संस्कार के समय उन्हें मंत्रो का उच्चारण करना पड़ता था।[127] काठक गृह्यसूत्र[128] व मानव गृह्यसूत्र[129] के अनुसार स्त्रियों को संगीत की भी शिक्षा दी जाती थी। धर्मसूत्रों में नारी को गृहस्थ धर्म में पति के अधीन बताया गया हैं।[130] स्त्रियाँ यज्ञ सम्पादित किया करती थी।[131] बौधायन ने स्त्री को दायाधिकार से वंचित किया और पत्नी का पति की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता क्योकि वह अबला है और सम्पत्ति की रक्षा नहीं कर पायेगी।[132] आपस्तम्ब के अनुसार पति और पत्नी दोनों बराबर है इसीलिए पति की अनुपस्थिति में उसे परिवार के आवश्यक कार्य के लिए धन खर्च करने का अधिकार है।[133] स्त्री के विधवा होने पर उसे नियोग द्वारा एक पुत्र की उत्पत्ति का अधिकार था।[134] स्त्री को पुरुष की चल सम्पत्ति कहा गया है, उसे खरीदा, बेचा या गिरवी रखा जा सकता है।[135] आपस्तम्ब ने विधवा के सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार को नहीं स्वीकार किया है।[136] बौधायन ने भी विधवा का सम्पत्ति अधिकार में वर्णन नही किया है।[137] गौतम ने सपिण्डो, गोत्रियों और सम्बन्धियों के साथ विधवा के समान भाग को माना है।[138] बौधायन[139] तथा वसिष्ठ[140] ने भी विवाह के अवसर पर कन्या को प्राप्त होने वाले वहतु (दहेज) का उल्लेख किया है। आपस्तम्ब ने वर्णन किया है कि वस्त्राभूषण, पिता, भाई आदि सम्बन्धियों से प्राप्त सम्पत्ति स्त्री की होती है।[141] गौतम ने सर्वप्रथम स्त्रीधन का उल्लेख किया है।[142] गौतम ने प्रोषितपतिका के लिए परदेश गए पति की छः वर्ष तक प्रतीक्षा करने के लिए निर्देश दिया है और यह भी कहा है कि अगर पत्नी को उसका पता मिल जाए तो वह उसके पास चली जाय।[143] परदा प्रथा और सती प्रथा का प्रचलन नहीं था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित है कि जब वर वधू को लेकर अपने गाँव लौटता था तो प्रत्येक ठहरने के स्थान पर वह लोगो को दिखायी जाती थी।[144] निरुक्त के अनुसार स्त्रियाँ अपने सम्पत्ति सम्बन्धित अधिकारों के लिए न्यायालयों के समक्ष भी जाती थी।[145] आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृत पति का शिष्य या उसका कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था[146] एक मात्र विष्णु धर्मसूत्र में वर्णन है कि अपने पति की मृत्यु पर विधवा या तो ब्रह्मचर्य का पालन करती थी या उसकी चिंता पर चढ़ जाती थी।[147] समाज में अन्तर्जातीय विवाह होते थे। बौधायन के अनुसार ब्राह्मण चारो वर्णों की स्त्रियों के साथ, क्षत्रिय स्वजाति वैश्य तथा शूद्र के साथ, वैश्य अपनी तथा शूद्र स्त्री के साथ और शूद्र केवल शूद्र स्त्री के साथ विवाह कर सकता था।[148] वसिष्ठ तथा पारस्कर के अनुसार प्रत्येक वर्ण अपने से निम्न वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह कर सकता है, किन्तु शूद्र कन्या के साथ विवाह बिना मन्त्रोच्चारण के करना चाहिए[149] आश्वलायन गृह्यसूत्र में वर्णित है कि परिवार का दास भी विधवा के देवर के समान ही अपने स्वामी की विधवा से विवाह कर सकता है।[150] गौतम के अनुसार समस्त प्रतिलोम सन्ताने धर्महीन होती है।[151] सूत्र साहित्य[152] में भी दासों का उल्लेख हुआ है तथा समाज में उच्च वर्गों की सेवा में सन्नद्ध रहना ही उनका प्रमुख कर्म माना गया।

स्त्रियों की दशा में युग के अनुरुप परिवर्तन होता रहा है। बौद्ध ग्रन्थों के माध्यम से हमें महिलाओं की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। धर्मकीर्ति[153] के अनुसार गीता में स्त्री वर्ग को पापयोनि कहा गया। ऐसी स्थिति में बौद्ध धर्म का उदय स्त्रियों की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण कारक बना। महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ-प्रवेश की आज्ञा नहीं दी थी, परन्तु आनन्द के कहने पर उन्होनें आज्ञा दे दी थी और भिक्षुणियों के लिए पृथक संघ बनाने की व्यवस्था की।[154] बौद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना भिक्षु संघ के साथ नहीं हुई थी अपितु बुद्ध के ज्ञान प्राप्ति और भिक्षु संघ की स्थापना के कुछ समय पश्चात हुई थी।[155] बुद्ध ने जब स्त्रियों को संघ में प्रवेश देना प्रारम्भ किया तो उन पर भिक्षुओं का कड़ा नियन्त्रण था। उन्हें उपदेश सुनने के

उद्देश्य से भिक्षुओं के निकट जाना होता था।[156] बुद्ध ने आनन्द[157] से कहा अब धर्म चिरस्थायी नही रह सकेगा। परन्तु यह कटु आलोचना स्त्री के कामिनी रुप की है। बुद्ध[158] ने अपने अनुयायियों और गृहस्थियों को यह उपदेश दिया था कि ''अपनी स्त्रियों को स्वयं का मित्र समझो व उन पर विश्वास रखो व उनका सम्मान करो और वस्त्राभूषण प्रदान करों।'' बुद्ध ने कहा कि निर्वाण की प्राप्ति न केवल ब्राह्मण को अपितु सभी मनुष्यों और स्त्रियों को भी प्राप्त हो सकती है।[159] बौद्ध ग्रन्थों में खेमा[160] भद्रकुण्डलकेशा,[161] सुभा, सुमेधा, अनोपमा, सुभद्रा, उपरा तथा उदुम्बरा[162] आदि अनेक विदुषी महिलाओं के उल्लेख है।[163] तथागत ने भिक्षुणी संघ की स्थापना कर सर्वप्रथम अपनी मौसी प्रजापती गौतमी को संघ में प्रव्रजित किया जिसका उल्लेख विनय पिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है।[164] भिक्षुणी संघ में किसी भी प्रकार के भेदभाव की भावना उत्पन्न न हो, इसीलिए बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी व यशोधरा जैसी महारानियों और प्रकृति जैसी मेहतरानियों (चाण्डालकन्या) को संघ में प्रवज्या देने के उपरान्त एक ही पक्ति में बैठा दिया था। बौद्ध साहित्य का थेरीगाथा ग्रन्थ, नारी स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।[165] संयुक्त निकाय के अनुसार गुणवती पुत्री को पुत्र से भी अच्छा समझना चाहिए।[166] अनेक स्त्रियाँ बौद्ध संघ में प्रविष्ठ हुई, और उनकी शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। जातकों में भी कुछ बौद्ध कन्याओं का उल्लेख मिलता है जो दार्शनिक वाद्-विवाद में भाग लेती थी।[167] गौतम बुद्ध के समय में भी परिवार में पत्नी की पर्याप्त प्रतिष्ठा थी।[168] 'असातमत्त जातक[169] से ज्ञात होता है कि एक सुशिक्षित आचार्य अपनी एक सौ बीस वर्षीय बूढ़ी माता को अपने हाथ से नहलाता, खिलाता और उसकी सेवा करता था। ज्येष्ठ भ्राता अपनी बहनों का भरण-पोषण तथा संरक्षण प्रायः पिता तुल्य ही करते थे, पिता के न रहने पर कन्या को बड़े भाई के संरक्षण में रहना चाहिए।[170] अनेक स्त्रियाँ शिक्षिका बनकर अध्यापिकाओं का जीवन व्यतीत करती थी, वे अपना शिक्षण कार्य उत्साह व लगन के साथ निष्ठापूर्वक सम्पन्न करती थी।[171] थेरीगाथा में लगभग 50 ऐसी थेरियों (स्थविर-स्त्रियों) का उल्लेख है जो कवित्रियाँ थी। इनमें से 32 ऐसी थी जो आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थी और 18 ने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भिक्षुव्रत ग्रहण किया।[172] उनमें सुमेधा, सुभा, अनोपमा के नाम विशेष उल्लेखनीय है।[173] महानारद कश्यप जातक[174] में अंग नामक राजा के पास केवल एक कन्या थी जिसके प्रति राजा का पुत्र से भी अधिक असीम प्रेम था। महाबेस्सन्तर जातक[175] में कष्नारजिनी नाम की कन्या अपने भाई जालि के समान ही अनुराग पाती थी। सूची जातक[176] में वर्णन है कि तरुण कुमारी अपने पिता को ताड़ के पंखे से हवा कर रही है, जबकि वह भोजन करके शय्या पर आराम की मुद्रा में लेटे थे। राजगृह के सम्पत्तिशाली सेठ की पुत्री भद्राकुण्डकेशा अपनी विद्या और ज्ञान से सबको आकृष्ठ करती थी।[177] खेमा की विद्वता की प्रशंसा सुनकर कोशल नरेश प्रसेनजित स्वंय उसकी सेवा में गये और अनेक दार्शनिक विषयों पर विचार-विमर्श किया।[178] संयुक्त निकाय के अनुसार भिक्षुणी सुक्का[179] वाग्मिता में अत्यन्त प्रवीण थी। महाउम्मग जातक[180] में उदुम्बरा और अमरा भली-भाँति लिखना-पढ़ना जानती थी। राजा रुद्रायन की पत्नी चन्द्रप्रभा प्रसिद्ध नृत्यांगना थी।[181] शिक्षमाणा[182] और उपाध्याया[183] शब्दों के अनुसार कहा जा सकता है कि स्त्री शिक्षा से ब्राह्मण आडम्बरों से मुक्ति प्राप्त कर चुकी थी और वे शिक्षक और उपाध्याय (धार्मिक गुरु) बन सकती थी। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार स्त्री उपाध्यायिकाएँ होती थी।[184] अवदानशतक में पद्मावती नामक एक उपाध्यायिका का उल्लेख मिलता है।[185] पाणिनी ने महिला-शिक्षणशाला (छात्रीशाला) का भी उल्लेख किया है।[186] पाणिनी के अनुसार जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थी वे 'आचार्या' और 'उपाध्याया' कहलाती थी।[187]

रतिलाल का मत है कि[188] नृत्य, गायन में दक्षता प्राप्त करना प्राचीन नारी का सद्गुण माना जाता था। बनमाला भावलकर[189] के अनुसार वैदिक काल से नृत्य संगीत आदि कलाओं के प्रति स्त्रियों की विशेष रुचि रही है। बुद्ध कहते हैं कि सभी जगह पुरुष पण्डित नही होता, अनेक स्थितियों में स्त्रियाँ भी पण्डित होती है।[190] भिक्षुणी सुमंगलमाता[191] कहती है कि पति मुझे उन छात्रों से भी तुच्छ समझाता है जिन्हे वह जीविका के लिए बनाता है और अन्त में प्रव्रजति होकर वह सभी सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो गयी और सुख पूर्वक ध्यान लगाते हुए जीवन यापन करने लगी। मनमोहन सिंह[192] की मान्यता है कि तक्षशिला जैसा विश्वविद्यालय केवल छात्रों के लिए ही निश्चित था। बाल-विवाह की परम्परा से यह तथ्य मिलता है कि नारियाँ उच्च शिक्षा से वंचित ही रहती थी।[193] बौद्ध समाज में भिक्षुणियाँ स्वयं को बुद्ध के साथ अपना सम्बन्ध प्रकट करती थी।[194] स्वयं बुद्ध ने स्त्री की निर्वाण-प्राप्ति की योग्यता को स्वीकार किया और पुरुषों से अधिक योग्य मानते थें।[195] उनका संद्य प्रवेश भी माता-पिता अथवा पति, की आज्ञा के अनन्तर ही सम्भव था।[196] पति और पतिकुल सेवा उनका पुनीत कर्तव्य था।[197] पत्नी के रुप में दासी भार्या ही प्रशंसित थी।[198] जातक कथाओं में वर्णित है कि श्रावस्ती के भूमिपति पर डाकूओं ने आक्रमण किया डाकू सरदार उसकी पत्नी पर मोहित हो गया परन्तु स्त्री ने कहा कि यदि तुम मेरे पति को मारोगे तो मैं विष पी लूगी।[199] जातक कथा में एक यक्ष साध्वी से कहता है कि या तो मेरी इच्छा पूरी कर या मृत्यु स्वीकार कर, तो वह साध्वी मृत्यु स्वीकार करती है।[200] धन का लालच देने पर स्त्री पतिव्रता से विचलित नहीं होती है।[201] राजपत्नी मृदुलक्षण[202] के सतीत्व रक्षा का वर्णन मिलता हैं। पति के संकट में केवल पत्नी ही उसके साथ रहती है, क्योंकि उसे पति के समान पृथ्वी के चारों कोनों पर कोई प्रिय नहीं मिल सकता है।[203]

बौद्ध काल में कुछ स्त्रियाँ दो विवाह[204] भी कर लेती थी। इसी से जातक कथाओं में नारी को हेय भी माना गया है। बोधिसत्व ने निष्कर्ष निकाला कि उस जनपद को धिक्कार है जिसका संचालन स्त्रियाँ करती है।[205] अनभिरत जातक[206] में गुरु ने भार्या के दोष से

दुखी शिष्य को उपदेश दिया है कि स्त्रियाँ लोक में नदी, मार्ग, बाजार, सभा और मदिरालय की भाँति सबके लिए होती है। ब्रह्मदत्त की पत्नी एक आमात्य से अनुचित सम्बन्ध रखती थी, तब बोधिसत्व ने राजा को समझते हुए भी यही बात कहीं कि स्त्री सर्वगामी होती है, अतः वे क्षम्य है।[207] उच्छग जातक में भी इसी की पुष्टि होती है कि एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई बन्दी हुए, राजा ने कहा कि इनमें से एक छोड़ देगे, तब पत्नी ने कहा कि भाई कही प्राप्त नही हो सकता अतः इसें ही छोड़िये।[208]

उपर्युक्त विवरण से परिणाम निकलता है कि स्त्रियाँ सामान्य उपभोग्य होती थी। जातकों में उल्लेख है कि स्त्रियाँ सतीत्व की रक्षा की।[209] थेरीगाथा में धन लेकर विवाह करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[210] पालि त्रिपिटक के आधार पर नारी के लिए विवाह की अनिवार्यता पर बल देते हुए मनमोहन सिंह ने वर्णन किया है कि तत्कालीन समाज में अविवाहित स्त्रियों के प्रति श्रद्धा की भावना थी।[211] चुल्लवग्ग[212] में एक वृद्ध माँ अपनी कन्या के विवाह के लिए आतुर रहती थी। मनमोहन सिंह[213] ने बुद्ध कालीन समाज पर टिप्पणी करते है कि कन्या के लिए विवाह योग्य आयु सोलह वर्ष थी। स्वयंवर प्रथा भी प्रचलित थी।[214] विमलचन्द्र पाण्डेय के अनुसार बौद्ध मठो में स्त्रियों के प्रवेश होने के कारण अल्पायु में ही कन्या के विवाह की प्रथा को जन्म दिया होगा।[215] परन्तु बौद्ध साहित्य में वर्णित है कि युवती होने पर ही विवाह उत्तम माना जाता था और बीस वर्ष से अधिक आयु होने पर अविवाहित रहने पर कन्या स्वयं को भाग्यहीन पापिन मानती थी।[216] पी.वी. काणे ने धर्मशास्त्र में वर्णन किया है कि लगभग ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी तक युवती होने के कुछ मॉस इधर या उधर विवाह कर देना किसी समस्या का सूचक नहीं था।[217] बौद्ध जातकों में वर्णन है कि नारियाँ अपने से कम उम्र के व्यक्ति से विवाह कर लेती थी।[218] या अपने से अधिक उम्र या वृद्ध पुरुष के साथ विवाह कर लेती थी।[219] कन्याओं के अनेक गुण भी बताए गए है जैसे- सुन्दरी, हंस या गज की चाल वाली, कोमलांगी, बुद्धिमती आदि।[220] धानज्जानी ब्राह्मणी की बुद्ध धर्म एंव संघ के प्रति असीम श्रद्ध देखकर संगारव (तरुण ब्राह्मण विद्धान) ने उसे दुत्कार दिया था, किन्तु वह भी अपने धार्मिक विश्वास से हटी नही।[221] राजा प्रसेनजित् ने मल्लिका की बुद्ध धर्म एवं संघ के प्रति भक्ति देखकर उसकों बहुत ताना मारा करता था परन्तु मल्लिका पर कोई प्रभाव नही पड़ा और वह अपनी भक्ति में लीन रही।[222] अशोक की पुत्री संघमित्रा बौद्ध धर्म को प्रसारित करने के लिए श्रीलंका गयी।[223] जहाँ अनेक स्त्रियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। भिक्षुणी पटाचारा अपनी शिष्याओं को अक्सर यह सिखाया करती थी कि बौद्ध धर्म को धारण करके पछताना नही पड़ेगा।[224] इससे स्पष्ट है कि बौद्ध काल में अनेक स्त्रियाँ एकाग्रचित होकर तभी नियमों का पालन की और स्वयं के प्रयास से उच्चज्ञान प्राप्त किया जिसके कारण वे 'थेरी' पद प्राप्त करने से समर्थ हुई।[225] विनय पिटक[226] (भिक्खुनी पातिमोक्ख) में भिक्षुणी द्वारा सूत कातने की बात लिखी है जिससे स्पष्ट है कि शिक्षा के विषय धार्मिक और जीविका में सहायक होते थे। भिक्षुणियों को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गयी थी।[227] बौद्ध काल में स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकार किया जाता था इसके अनेक निर्देश बौद्ध साहित्य में विद्यमान है।[228] थेरीगाथा की एक कथा के अनुसार विशाखा भद्दीया श्रेष्ठी मेण्डक की पौत्री तथा धनंजय की पुत्री का विवाह श्रावस्ती के श्रेष्ठी से करने पर आपार धन खर्च किया।[229] विशाखा बौद्ध धर्म को मानने वाली थी उसने श्रावस्ती के बौद्ध संघ के लिए 'पूर्वाराम' नामक विहार का निर्माण कराया था जिसके लिए उसने अपनी सम्पत्ति से उन्नतीस करोड़ मुद्राएँ खर्च की थी।[230] कौटिल्य के अनुसार जिस सम्पत्ति का कोई उत्तराधिकारी न हो उसे राजा ले, किन्तु स्त्री के जीवन निर्वाह और श्राद्ध कार्यों के लिए उसे अवश्य धन दे।[231] इससे स्पष्ट होता है कि पुत्रहीन विधवा अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी नही होती थी। कौटिल्य ने भी पुत्री के प्रति सदाशयता प्रदर्शित करते हुए अभ्रातृ कन्या को उत्तराधिकारी माना है, चाहे उसे कम ही हिस्सा क्यों न मिलें।[232] कौटिल्य ने भी पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार को स्वीकार किया है।[233] श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने विवेचन किया है कि जब स्त्रियाँ भिक्षु व्रत ग्रहण कर भिक्षुणी संद्य में प्रवेश पा सकती है भिक्षुओं के समान ही समाज के हित, कल्याण में लिए अपनी शक्ति को लगा सकती थी तो उन्हें सम्पत्ति के अधिकार से वंचित रखना किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नही था।[234]

थेरीगाथा से विदित होता है कि धर्मदिन्ना को उसके पति ने यह निर्देश दिया था कि अपने माता-पिता के यहाँ जाते समय जो भी धन वह ले जाना चाहे, ले जाए।[235] कौटिल्य के अनुसार यदि स्त्री राजविरोधी बाते कहती हो, शराब एवं जुए आदि का व्यसन करती हो तथा व्यभिचारिणी हो तो उसका स्त्रीधन पर स्वत्व समाप्त हो जाता है।[236] सर्वप्रथम कौटिल्य ने स्त्रीधन के स्वरुप का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार का होता है एक वृत्ति और दूसरा आबध्य। वृत्ति अधिक से अधिक दो सहस्त्रपण हो सकती है जो स्त्री के जीवन निर्वाह के लिए उसे दी जाती है जबकि विवाह के समय प्रदान किये जाने वाले आभूषण एवं ज्वाहारात आदि अन्य कीमती वस्तुएँ आबध्य के अन्तर्गत आती है जिसकी कोई निर्धारित सीमा नहीं होती है।[237] कौटिल्य ने पुत्रियों के साथ-साथ स्त्रीधन पर पुत्रों के अधिकार को स्वीकार किया यदि पति के जीवित रहते हुए कोई स्त्री मर जाये तो उस धन को पुत्र और पुत्रियों को आपस में बाट देना चाहिए।[238] बौद्ध कालीन समाज में वेश्यावृत्ति अपनाने वाली गणिकाओं का स्थान अन्य साधारण लोगो से श्रेष्ठ था ऐसी स्त्रियों को समाज, में सम्मानास्पद स्थान भी प्राप्त था।[239] गणिकाएँ[240] वेश्यायें नहीं थी। गणिकायें विशिष्ट गुण सम्पन्न होती थी तथा गणिका का विधिपूर्वक अभिषेक किया जाता था।[241]

महावग्ग[242] के अनुसार वैशाली[243] की यात्रा से लौटकर आए हुए एक श्रेष्ठि ने मगधराज बिम्बिसार को यह बताया था कि समृद्ध तथा ऐश्वर्यसम्पन्न वैशाली नगरी में अम्बपाली नाम की एक गणिका निवास करती है, जो परमसुन्दरी, रमणीया, सुन्दरवर्णा, बहुदर्शनीया तथा गायन-वादन और नृत्य में परम प्रवीण है। किन्तु वास्तव में अम्बपाली वासिट्ठी[244] की सौतेली बहिन थी। उसकी माँ वैशाली के जनजातीय परिवार की थी, यह भी संकेत मिलता है राजगृह में गणिकाओं को स्थापित करने में उसका बड़ा हाथ था।[245] गौतम बुद्ध के प्रति अम्बपाली की अतिश्रद्धा थी पालि साहित्य में इस सम्बन्ध में विशद वर्णन है।[246] महावग्ग में वर्णन मिलता है कि जब अम्बपाली ने सुना कि गौतम बुद्ध कोट्टिगाम आने वाले है तो उनका दर्शन करने चली गयी बुद्ध प्रवचन से बहुत प्रभावित हुई और गौतम बुद्ध को अपने यहाँ भोजन करने का निवेदन किया। समाज में इनकी उच्चस्थिति का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि महात्मा बुद्ध ने अम्बपाली के निमन्त्रण को स्वीकार कर उसका आतिथ्य ग्रहण किया था।[247] अम्बपाली ने बुद्ध तथा उनके संघ को अपने यहाँ भोजन करवाया और आम्रकुंज बौद्ध-बिहार के रुप में उपयोग करने के लिए देने का प्रस्ताव किया।[248] वृद्धावस्था में अम्बपाली अपने भिक्षु-पुत्र विमल कौण्डिन्य के प्रभाव में आकर बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गयी, जीवन के अन्त में वह अर्हत पद को प्राप्त हुई।[249] महावग्ग में वर्णित है कि, बिम्बिसार के समय में राजगृह में भी एक गणिका थी जिसका नाम सालवती था जिसका गणिकाभिषेक हुआ था।[250] गणिकाओं से उत्पन्न पुत्र समाज द्वारा सम्मानित और आदर का पात्र था। राजगृह की राजनर्तकी सालवती से उत्पन्न जीवक उस काल का विख्यात राजवैध बना।[251] विमला राजगृह की गणिका थी।[252] थेरीगाथा के अनुसार वह वैशाली की एक वेश्या (रुप जीविनी) की कन्या थी। वह अपने जीवन को स्थिर करना चाहती थी, इसलिए उसने एक दिन स्थविर महामोग्गल्लान को लुभाने की दुश्चेष्टा की स्थविर के धम्मोपदेश को सुनने से वेश्या के अन्दर लज्जा और ग्लानि की भावना उदय हुई और वह उपासिका (गृहस्थ शिष्या) के रुप में दीक्षित हो गयी।[253]

सालवती की पुत्री राजगृह की गणिका सिरिमा अपने प्रेमियों के मित्रों के मनोंरजन के लिए पाँच सौ गणिकाएँ रखी थी।[254] उसके सौन्दर्य के प्रति आकर्षित होकर एक बौद्ध भिक्षु उसके यहाँ भोजन करने गया वह बीमार थी, फिर भी उस भिक्षु को सम्मान देने हेतु भोजन कक्ष में गयी उसी दिन वह मर गयी।[255] सिरिमा को एक बार भिक्खुनी पटाचारा की शिष्या उत्तरा (नन्दमाता) के निवास पर बुद्ध का प्रवचन सुनने का अवसर मिला और वह प्रवचन सुनकर 'स्त्रोतापन्न हो गयी उस दिन से वह नित्य आठ भिक्षुओं को भिक्षा देने लगी। ऐसा कहा जाता है कि सिरिमा और सुलसा के प्रवचनों से प्रभावित होकर चैरासी हजार लोग बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए।[256] बिन्दुमती नामक गणिका बुद्ध के प्रभाव में बौद्ध धर्म को ग्रहण किया था।[257] और वर्णन मिलता है कि अशोक के समय उसने अपने सत्य संकल्प के बल पर गंगा की धारा ही बदल दी थी। कणवेरु जातक में सामा[258] गणिका और डाकू की प्रेम कथा का वर्णन मिलता है। सुलसा जातक में सुलसा[259] गणिका तथा तक्कारिय जातक[260] में काली गणिका[261] का उल्लेख मिलता है। मथुरा की एक गणिका वासवदत्ता का उल्लेख मिलता है।[262] बौद्ध ग्रन्थ महावस्तु[263] में गणिकाओं की कामोन्मत्ता की एक आश्चर्यजनक कथा है।

गामणीचंड जातक[264] में गणिकाओं का उल्लेख मिलता है एक गणिका वण्णदासी का उल्लेख मिलता है।[265] ब्रह्मजालसुत्त[266] में ऐसे कार्यक्रमों की सूची दी गयी है जिसमें सम्मिलित होना या देखना भिक्षुओं के लिए वर्जित है। धम्मपद के अनुसार चम्पा की गणिका देवदत्ता चौसठ कलाओं में प्रवीण थी और अपनी वाक्शक्ति और प्रवीणता एवं धनाढ्यता के कारण सहस्त्रों गणिकाओं की अध्यक्षा नियुक्त की गयी थी।[267] इस प्रकार बौद्ध साहित्य में जहाँ एक ओर सद्गुणसम्पन्न गणिकाओं के उल्लेख मिलते है वही दूसरी और अविश्वासी तथा क्षुद्र विचारशील गणिकाओं के भी अनेक उल्लेख मिलते है।[268] वेश्यावृत्ति को बौद्ध साहित्य में अधम एवं निम्न स्तरीय कहा गया है।[269] सहृदय, क्रूर, छली आदि अनेक प्रकार की गणिकाओं का वर्णन जातको में किया गया है। एक श्रेष्ठि पुत्र अपनी प्रेमिका गणिका को एक सहस्त्र कार्षापण प्रति रात्रि प्रदान करता था एक दिन ऐसा हुआ कि उसके पास एक भी मुद्रा नही थी और जब वह गणिका के पास गया तो उसने मुद्राएँ न पाने पर उसी प्रेमी को निकाल कर बाहर कर दिया। परिणाम स्वरुप वह सन्यासी बन गया।[270] कौटिल्य ने वेश्यावृत्ति से प्राप्त आय को 'दुर्ग' कहा है।[271] कुछ गणिकाओं ने भिक्षुणियों को उनके पवित्र पथ से भ्रष्ट भी किया कुछ ने भिक्षुणियों को रति-व्यापार के लिए प्रलोभित किया।[272] इस प्रकार समाज के मध्य वेश्याएँ प्रतिद्वन्दिता और कलह का कारण थी।[273] जातक में वर्णित है कि वे सार्वजनिक स्थलों पर स्वतन्त्रता पूर्वक से विचरण करती थी।[274] बौद्ध युग में कई रानियाँ आवरण युक्त रथों में जाती थी परन्तु ये रानियाँ अवगुंठनहीन ही रहती थी और बिना परदे के स्वच्छन्दता पूर्वक मन्त्रियों और अधिकारियों से वार्ता करती थी।[275] ललित विस्तार में वर्णन है कि बुद्ध की पत्नी गोपा जब पति के साथ जा रही थी तो उससे कहा गया कि वह अवगुठंन डाल ले, इस पर उसने कहा कि जब उसका शरीर संयत है, इन्द्रियाँ सुरक्षित है, आचार रागरहित है और मन प्रसन्न है तब कृत्रिम आवरण से क्या लाभ।[276] जनसाधारण में भी परदा प्रथा के प्रचलन का कोई प्रमाण नही मिलता। जातको में अनेक स्थलों पर स्त्रियों के सार्वजनिक स्थानों एवं समारोहों में स्वतंत्रतापूर्वक सम्मिलित होने का उल्लेख मिलता है।[277] स्त्रियाँ भिक्षुणीसंघ में प्रवेश लेने के उपरान्त सांसारिक दुखों से मुक्ति पाने की इच्छा करती थी।[278] वे बुद्ध की कल्याणकारी नीतियों एवं विचारों से प्रभावित थी।[279] अतः अधिक से अधिक स्त्रियों ने इस धर्म की दीक्षा प्राप्त की। सम्राट आशोक के इलाहाबाद स्तम्भ पर उत्कीर्ण रानी अभिलेख से पता चलता है कि कुमार तीवर

की माता कारुवाकी ने कौशाम्बी में एक आम्रवाटिका भिक्षु संघ को दान दिया था और दान देने के लिए दानशाला स्थापित की थी जहाँ, दानोत्सव होता था।[280]

एक जातक में वर्णन है कि सेनापति अहिपारक ने वणिक कन्या उम्मदन्ती के साथ विवाह किया था।[281] कट्टहारि जातक के अनुसार एक राजा ने एक शाक-विक्रयी की कन्या के साथ विवाह किया था।[282] राजवंशीय भम्मदत्त ने वणिक कन्याओं के साथ और राजा जियसत्तु ने एक चित्रकार की कन्या के साथ विवाह किया था।[283] बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिलोम विवाह के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते है।[284] कौटिल्य के अनुसार चाण्डाल के अतिरिक्त समस्त प्रतिलोम शूद्र के समान हाते है।[285] राजाओं के अतिरिक्त कुलीनवर्ग, सम्पन्न ब्राह्मण, भूमिपति तथा सामान्य नागरिक भी अपने घरो में दास रखते थे।[286] दासो की स्थिति सर्वथा गुलाम जैसी होती थी, यह उनके विभेदक चिन्ह से स्पष्ट होता है।[287] इस वर्ग में स्त्री-पुरुष दोनो सम्मिलित होते थे। दास अपने मालिक की सम्पत्ति समझे जाते थे और जीवन पर्यन्त उनकी सेवा करते थे।[288] दीर्घ निकाय[289] और माज्झिम निकाय[290] में दास दासियों का उल्लेख समुचित रुप में मिलता है। एक जातक से विदित होता है कि एक राजा ने एक ब्राह्मण को अन्य सामग्री के साथ एक सौ दासियों का दान दिया था।[291] अन्य जातक के अनुसार एक ब्राह्मण ने भिक्षा मांगकर सात सौ कार्षापण एकत्रित किया जिससे वह दास-दासियाँ क्रय करना चाहता था।[292] त्रिपिटको[293] चार प्रकार के दासो का उल्लेख मिलता है- अन्तोजातकोः धनक्कीतोः करमर-आनीतोः समम् दासवयं उपगतोः।

वस्तुतः वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक स्त्रियों की स्थिति में अवनति होती रही है। उत्तर वैदिक काल के बाद से स्त्रियों को उपनयन संस्कार से वंचित कर विवाह को ही स्त्रियों का उपनयन संस्कार निर्धारण हुआ। अतः सम्पूर्ण स्त्रियाँ को यज्ञ एवं शिक्षा से पूर्णरूपेण वंचित हो गयीं। स्त्रियों पर पुरुष का सम्पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हुआ। जिसके कारण समाज में स्त्रियों की स्थिति शूद्र से भी ज्यादा दयनीय हो गयी।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति का मूल्यांकन करने से प्रतीत होता है, कि जितना अधिकार और सम्मान मिलना चाहिए उन्हें नहीं प्राप्त हुआ। सभ्यता के आरम्भिक काल से वैदिक काल तक सामाजिक दृष्टिकोण से स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निर्धारित करती प्रतीत होती हैं। परन्तु उत्तरवैदिक काल के उपरान्त क्रमशः उनके पूर्ववर्ती अधिकारों पर प्रतिबद्ध एवं उनके सामाजिक सम्मान में हास् दृष्टिगत होता है। नित्य नए नियम एवं अधिकारहीनता की प्रताड़ना के उपरान्त बौद्ध काल में उन्हें पुनः अपनी स्थिति को अपने द्वारा निर्धारित करने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु सामाजिक व्यवस्था की जटिलता ने उन्हें मानसिक रूप से जकड़ रखा था। स्त्रियों के अधिकांशतः विवरण राजकीय व्यवस्था से सम्बद्ध एवं राजकीय कुल के प्राप्त होते हैं। अगर इनकी सामाजिक स्थिति में इतने प्रतिबन्ध थे तो सामानय महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय रही होगी, जो दासी और वेश्या जैसे प्रचलित शब्दों एवं उनके कार्यों से दृष्टिगत होता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः-

1. अल्तेकर, ए.एस. : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, मनोहर प्रकाशन, वाराणसी, 1979-80, पृ0-155
2. ऋग्वेद, 3/53/4 'गृहणी गृहमुच्यते।'
3. श.ब्रा., 5/2/10; मनु, 9/45,
   एतावानेव पुरुषों यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह।
   विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना।।
4. महाभारत, आदि पर्व, 74/40; बृहस्पति, 25/11; अपरार्क, 7/40
5. श.ब्रा.5/2/1/10
6. महाभारत, 1/74/41-42, 13/78/23, 5/38/11, 12/44/5-6
7. मनुस्मृति, 3/55-59
8. बृहत् संहिता, 74/5/11/15/16, मनु0, 9/26,
   प्रजनार्थ महाभागाः पूजाहां गृहदीप्तयः।
   स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्तिकश्चन।।
   वेदव्यास स्मृति, 2/14, 'यावन्न विन्दते जायां तावदर्द्धे भवेत् पुनाम्।'
   नार्द्ध प्रजायतें सर्व पुजायेतेत्यपि श्रुतिः।।
9. विद्यालंकार, सत्यकेतु : प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2007, पृ0-207
10. मिश्र, जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1986, पृ0-404
11. राबर्ट : द साइकालाजी ऑफ कैरेक्टर, 1960, पृ0- 600-11
12. फ्रायड : इण्ट्रोडक्टरी लेक्चर्स आन साइको-ऐनैलिसिस, 1917 पृ0-134
13. अथर्ववेद, 2/11/5/18/27, शुक्ल यजुर्वेद, 8/1 'योषितो यज्ञियाः इमाः।'
14. शर्मा, डॉ. गजानन्द : प्रचीन भारतीय साहित्य में नारी, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1971, पृ0-47
15. जैन, डॉ. कैलाशचन्द्र : प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थायें, मध्य प्रदेश, 2012, पृ0-2
16. वृ.उप., 6/4/17, 'अथ च इच्छेद दुहिता मै पण्डिता जायेत। सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयतामीश्वरौ जनयितवै।।'
17. ऋग्वेद, 1/126/7, 1/179, 5/28, 8/91, 9/86, 10/39-40, 86,95
18. ऋग्वेद, 3/5/65
19. ऋग्वेद, 8/31, या दम्पति सुमनसा आ च धावतः।
    देवा सो नित्यया शिरा।।
20. बृह.उप. 3/6, अनतिपृश्न्यॉ वै देवतामपिपृच्छसि।

21. बृह.उप. 3/6/8
22. वही, 3/4/3, 4/5/1
23. गुप्ता, देवेन्द्र कुमारः प्राचीन भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था, दिल्ली, 2004, पृ0-316
24. ऋग्वेद, 5/10/85 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृष।।'
25. अथर्ववेद, 18/3/1; सिंहल, लता : भारतीय संस्कृति में नारी, श्री अरविन्द मन्दिर, दिल्ली, 1991, पृ0-9 ऐतरेय ब्राह्मण 1/2/5, तस्मात्पुरुषों जायां क्त्वा कृत्स्नरमिवात्मनं मन्यते।
26. ऋग्वेद, 5/61/17-19
27. शतपथ ब्राह्मण, 4/1/15
28. ऋग्वेद, 1/112/19
29. मत्स्य पु.-46/20, वैश्यायामदधाच्छौरिः पुत्रं कौशिकमग्रजम्।
30. वही, 48/62; वायु पु0, 99/70; ब्राह्मण पु0 3/74/71
31. महाभारत, 13/53/17
32. वही, 3/94-97
33. गौ.ध.सू. 4/15, प्रतिलोमास्तुसूतमागधायोगवकृत वैदेहक चण्डालः। मनुः 10/11-12, क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः। वैश्यान्मागध वैदेहो राजविप्रांगनासुतौ।।
34. ऋग्वेद, 1/126
35. वही, 8/1/32-34
36. ऋग्वेद, 2/2/4, 2/13/8, 5/34/6, 6/25/2, 10/184/4
37. ऋग्वेद, 5/21/10, 9/41/1-2, 8/70/11, 4/16/9, 1/51/8, 6/14/3, 9/41/2, 10/22/8, 7/6/3, 1/129/8, 7/21/5, 5/99/4
38. वही, 2/12/4, 'यो दासं वर्ण मधरं गुहाकः।
39. वही, 4/16/13
40. वही, 9/71/2
41. वही, 3/34/9, 20/6/7, 4/16/13
42. वही, 4/30/21
43. वही, 6/56/3, 8/5/38, 8/19/36
44. वही, 10/62/10
45. वही, 8/19/36
46. वही, 10/34
47. मैत्रा. सं., 3/6/3, शतपथ ब्रा. 14/1/1/31
48. अथर्ववेद, 2/3/6
49. ऐतरेय ब्राम्हण, 1/33
50. मैत्रे.सं., 1/10/11
51. तै.सं., 6/5/8/2
52. अथर्ववेद, 6/11/2-3
53. अल्तेकर, ए.एस. : द पोजीशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, कबनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1938, पृ0-31
54. तै.स., 6/1/6/5, श.ब्रा. 14/3/1/35
55. द्रष्टव्य, चन्द्रबलि त्रिपाठी : भारतीय समाज में नारी आदर्शों का विकास, दुर्गावती प्रकाशन, गोरखपुर, 1981, पृ0-301
56. हारीत धर्मसूत्र, 21/20-24 'द्विविधा स्त्रियों ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च।'
57. तैत्तिरीय संहिता, 6/2/1/1
58. शतपथ ब्राह्मण, 14/7/3/1-2, 14/5/4/1
59. याज्ञ, 1/88/; मुन. 9/85-86
60. तैत्तिरीय संहिता, 7/4, 19/3, 'शुद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायति'
61. छान्दोग्योपनिषद, 4/1-3
62. वाजसनेयी संहिता, 26/30, शतपथ ब्रा0 13/2/9/8 'वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति।'
63. अथर्ववेद, 4/17/8-9
64. यजुर्वेद, 30/5
65. तैत्तिरीय संहिता, 7/5/10/1, उददकुम्भानधिनिधायदास्यौ' मार्जालीयं परिनृत्यन्ति पदों। निध्नतीरिदं मधु गायन्त्यो मधु वै देवानां परममत्राद्यम्।
66. वही, 2/2/6/3
67. ऐतरेय ब्राह्मण, 13/22 'देशाद्-देशात् समोहलानां सर्वासाम् आद्यदुहितृणाम् दशाददात् सहस्त्राणि आत्रेयो निष्कण्ठयः।'
68. बृहदारण्यक उपनिषद्, 4/4/23, 'सोऽहं भगवते विदेहान्। ददामि मां चापि सह दास्येति।।'
69. छान्दोग्य उपनिषद, 7/24/2
70. कठोपनिषद् 1/1/25, 'ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व। इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशाः लम्भनीयां मनुष्यैः आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।
71. बृहदारण्यक् उपनिषद् 6/2/7 'स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्पापान्तं गो अश्वानां दासीना.....।
72. छान्दोग्य उपनिषद, 5/13/2, 'प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यत्रं पश्यसि....।
73. ओझा, श्री कृष्ण : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1996, पृ0-06
74. रामायण
75. महाभारत, 1/159/11
76. सिंहल, लता : पूर्वोक्त, पृ0-33
77. महाभारत, अनु.पु. 46/5
78. रामायण, 2/20/15, साक्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रत परायण अग्निं जुहोतिस्म तदा मंत्रविद् कृत मंगला।।

79. वही, 4/16/12, 'ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्रविद्धिजथैषिणी।
80. वही, 5/15/48, 'सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानका नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थ वरवर्णिनी।।'
81. महाभारत, 3/305/20
82. महाभारत, 1/57/94
83. वही, 3/33/57-58
84. वही, 3/57/11, 1/96/1, 5/130/5, 5/88/74, 5/139/12/17/1/7
85. वही, 4/1/3, 12/2/83, 12/14/6-39
86. वही, 43/19-21
87. वही, 4/11/8
88. वही, 1/71/28, 4/20/12
89. महाभारत, 5/81/37-38
90. वही, 1/160/12, 'उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्राथ्यन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे।।
91. वही, 12/148/12, 'सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्राणि शोचते।' पतिहीनां तथा स्त्रियम्।।
92. सिंहल, लता : पूर्वोक्त, पृ0- 45-47
93. महाभारत, 3/110/52-53
94. वही, 1/115/39 'गान्धार्याक्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता। घृतराष्टं महाराजं वेश्या पर्यचरत्किला।।'
95. वही, 5/86/15
96. वही, 5/151/58
97. वही, 5/30/38
98. महाभारत, 2/69/9
99. वही, 15/16/13
100. रामायण, 2/33/8
101. काणे, पी.वी. : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-I, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, पृ0 336
102. रामायण, 6/116/28, व्यननेषु च कच्छेषु नो युधे नो स्वयंवरेः। न क्रयौ न विवाहे च दर्शनं दुष्यति स्त्रियः।।
103. रामायण, 7/17/33
104. महाभारत, 1/95/65
105. वही, 4/23/8
106. वही, 16/7/18/73-74
107. महाभारत, 3/115/17, 13/4/19
108. वही, 3/116/2
109. वही, 1/100
110. वही, 1/57/19, 1/107/13, 5/23/12
111. वही, 1/155/16-18
112. रामायण, 1/10/33, 1/11/3
113. महाभारत, 1/81/18-30; विष्णु पु. 4/10/1 उशनश्च दुहितरं देवयानी', वायु पु. 93/15
114. भागवतपुराण 19/21/24
115. महाभारत सभापर्व, 52/45; वन पर्व, 223/43, विराट पर्व, 18/21
116. वही, सभापर्व, 2/52/45-46
117. वही, वनपर्व, 185/34
118. वही, विराटपर्व, 18/21
119. वही, 12/254/39
120. वही, 1/72/22
121. वही, 2/63/3-4, 28-30
122. चानना, देवराज : प्राचीन भारत में दास प्रथा, दिल्ली, 1989, पृ0 43-44
123. रामायण, 2/10/8
124. मनु, 9/3 पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।।
125. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 3/8/11
126. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 2/2/29/12/15
127. गोभिल गृह्यसूत्र, 2/1/11-20; काठक गृह्यसूत्र, 25/23
128. काठक गृह्यसूत्र, 17/2
129. मानव गृह्यसूत्र, 1/9/29
130. गौतम धर्मसूत्र 2/9/1, अस्वतन्त्रता धर्मस्त्री वशिष्ठ 5/1 अस्वतन्त्रता स्त्री-पुरुष प्रधाना।
131. पा.गृ.सं.,2/20, स्त्रियश्चोयपजेरम्ना चरित्वात्।
132. बौधायन धर्मसूत्र, 2/2/53, 'नं दायं' निरिन्द्रियाः ह्यदायाश्र स्त्रियों मता इति श्रुतिः।।
133. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/6-20
134. गौतम धर्मसूत्र, 2/9/4, अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात; सिंहल, डॉ. लता, 'पूर्वोक्त', पृ0-26
135. सिंहल, डॉ. लता : पूर्वोक्त, पृ0-25
136. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/14/2/4 पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डःतद्भावे आचार्यः आचार्यीभावेऽन्तेवासी ह्रत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्।।
137. बौधायन धर्मसूत्र, 1/5/113-114
138. अर्थशास्त्र, गौतम धर्मसूत्र पिण्डगोत्रर्षिसम्बन्धा रिक्थं भजेन्स्त्री चानपत्यस्प।
139. बौधायन, 2/2/49, 'मातुरलंकार दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।'
140. वशिष्ट, 17/46, 'मातुः परिणेयंस्त्रियों विभजेरन।'
141. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 2/6/19/9, 'अलङ्कारो भार्यायाः ज्ञातिधनं चेत्येके।'

142. गौतम धर्मसूत्र, 28/25
143. गौतम धर्मसूत्र, 9/14 श्रूयमाणेभिगमनम्। यदा तु भर्त्ता श्रूयते तस्मिन्देशे स्थिर इति तदा तमभिगच्छेत्।
144. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 1/8/7
145. निरुक्त, 3/5
146. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, 4/2/18
147. विष्णु धर्मसूत्र, 25/14
148. बौधायन धर्मसूत्र, 1/8, 'तेषां वर्णानुपूर्व्येण चतस्रो भार्यो ब्राह्मणस्य। त्रियो राजन्यस्य दे वैश्यस्य। एकाशूद्रस्य'।।'
149. पारस्कर गृह्यसूत्र, 1/4; वसिष्ठ धर्मसूत्र; जीवानन्द, 2पृ0 471; विष्णु धर्मसूत्र, 24/1-4
150. आश्वलायन गृह्यसूत्र, 4/2/18
151. गौतम धर्मसूत्र, 4/20
152. गौ.ध.सू., 10/69, पुरुष दासायः। वशावंध्या गौः.....।' बौ.ध.सू., 2/1/59
153. विमलकीर्ति : थेरीगाथा, अनु. एवं सम्पा. द्वितीय संस्करण, सम्यक् प्रकाशन, 2006, पृ0सं0-12-13
154. विद्यालंकार, सत्यकेतु : पूर्वोक्त, पृ0-208
155. जैन, प्रतिभा एवं संगीता शर्मा : भारतीय स्त्रीः सांस्कृतिक सन्दर्भ, विवेक प्रकाशन, मेरठ, पृ0सं0-77
156. चतुरसेन, आचार्य : बुद्ध और बौद्धधर्म, भारतीय प्रकाशन, लखनऊ, 1964, पृ0-98
157. सांस्कृत्यायन, राहुल : दीर्घनिकाय (हिन्दी अनुवाद), सारनाथ, वाराणसी, 1936, पृ0-141
158. चतुरसेन, आचार्य : पूर्वोक्त, पृ0-96
159. वही, पृ0-97
160. सं.नि., 44/1 (खेमासुत्त)।
161. थेरी, पद्य 107 और आगे, श्रीमति रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 46, मलालशेखर, डिक्शनरी, भाग 2, पृ0सं0-255-257
162. जातक, 6/25
163. जे.आई.एच., भाग 32, पृ0सं0-03
164. कश्यप, जगदीश : चुल्लवग्ग, नवनालन्दा महविहार, 1956, पृ0-373
165. थेरीगाथा, प्रकाशकीय पृ0-4
166. तेसकुण जातक, 5/521 पृ0-1981 (संयुक्त निकाय)
167. जातक, 301
168. संयुक्त निकाय, 1/4/6
169. असातमत्त जातक, 1/61, पृ0-3791
170. दीर्घ निकाय, 2/2461
171. रुद्रायणावदान, पृ0-4961
172. हार्नर : विमेन अण्डर प्रिमिटिव बुद्धिज्म, दिल्ली दूसरा अध्याय।
173. जे.आई. एच., भाग-32, पृ0-31
174. जातक प्रथम, पृ0-195
175. जातक पष्ठ, गा 2250-60, पृ0- 561-631
176. जातक तृतीय, पृ0-2831
177. थेरी, पद्य 107 और आगे, श्रीमती रीस डेविड्स, सिस्टर्स, गाथा 46, मलालशेखर, डिक्शनरी, भाग 2, पृ0सं0-255-257
178. संयुक्त निकाय, 12/20
179. विद्यालंकार, सत्यकेतु; पूर्वोक्त, 2002 पृ0-209
180. जातक षष्ठम, पृ0सं0-368-3691
181. रुद्रायणावदान, पृ0सं0-470
182. विनयपिटके, महावग्गपलि, प्रधान संशोधक, भिक्षु जगदीसकस्सपो नव-नालन्दा-महाविहारेन, 1980, 5/59, महावग्ग, भिक्खु जगदीश काश्यप (अनु0), नालन्दा-देवनागरी पालिग्रन्थ माला, बिहार, 1956, 4/4/5
183. सांस्कृत्यायन, राहुल : विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद), सारनाथ, वाराणसी, 1935, 4/69; अवदानशतक, 2/86/2, 7/2/162/4
184. महावस्तु, 2/225/2, सौन्दरानन्द, 18/20
185. अवदानशतक, 2/51/7, लाल, अंगने : संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति, लखनऊ, 2006, पृ0-245
186. अष्टाध्यायी, 6/2/86 'छान्यादयः शालायाम्।'
187. वही, 4/1/59, 3/3/21
188. मेहता, रतिलाल, एन. : श्री बुद्धिष्ट इण्डिया, 1939, पृ0-277
189. भावलकर, बनमाला : महाभारत में नारी, पृ0-451
190. जातक तृतीय, गा 22-32, पृ0सं0-4381
191. थेरीगाथा, पृ0सं0-631
192. सिंह, मनमोहन : बुद्धकालीन समाज और धर्म, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1972, पृ0- 92-93
193. अल्तेकर, ए.एस. : द पोजीशन ऑफ द वीमेन इन इण्डियन सिविलाइजेशन, मोतीलाली बनारसीदास, दिल्ली, पृ0सं0-16
194. थेरीगाथा, पृ0सं0-238
195. संयुक्त निकाय, 3/16 (मल्लिका सुत्त)
196. वि.चु., 10/17
197. दी.नि., अग्गञ्ञ सुत्त।'
198. अ.नि0 7/6/10 (भरिया सुत्त)
199. जातक 267 की निदान कथा
200. जातक 5/682 फासबोल जातक
201. जातक 546
202. जातक 55
203. जातक 267

204. थेरी गाथा टीका, पृ0-260 'इद्धि दासी के दो विवाह हुए थे।'
205. कण्डिन जातक सं0 13 'धिक्त्थुनं' जनपद यत्थिथीपरिनायिका ते चापि धिक्किता सत्ता ये इत्थनिं वसं गता।'
206. अनभिरत जातक संख्या-65
207. जातक संख्या-168
208. उच्छग जातक संख्या-67
209. अवदान कल्पलता
210. थेरी गाथा 120/153
211. सिंह, मनमोहन, पूर्वोक्त, पृ0-40
212. चुल्लवग्ग, 5/3/32
213. सिंह, मनमोहनः पूर्वोक्त, पृ0-48
214. पाण्डेय, विमलचन्द्र : भारत वर्ष का सामाजिक इतिहास, हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद, 1960, पृ0-399
215. वही
216. जातक चतुर्थ, गा 134, पृ0-76
217. काणे, पी.वी. : पूर्वोक्त, पृ0-275
218. जातक तृतीय, पृ0-393
219. जातक तृतीय, पृ0-342-43, प्रथम पृ0-225
220. काणे, पी.वी., पूर्वोक्त, पृ0-273
221. मज्झिमनिकाय, 2/482-483
222. मज्झिमनिकाय, 2/354
223. सिंह, उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल 1987, पृ0सं0-3
224. उपाध्याय, भरत सिंह : बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (भाग-2), कलकत्ता, संवत् 2011, पृ0सं0-368
225. सिंह उर्मिला प्रकाश : पूर्वोक्त, पृ0-3
226. विनय पिटक, 4/22
227. सिंह मदन मोहन : पूर्वोक्त, पृ0-91
228. विद्यालंकार, सत्यकेतु : पूर्वोक्त, पृ0-216/217/218
229. थेरीगाथा
230. थेरीगाथा
231. अर्थशास्त्र, 3/5
232. अर्थशास्त्र, 3/5 द्रव्यम् पुत्रस्य सौदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः कन्याश्च।'
233. वही, पृ0-3/5
234. विद्यालंकार, सत्यकेतु : पूर्वोक्त, पृ0-218
235. थेरीगाथा, 12
236. अर्थशास्त्र, 3/2 'राज द्विष्टातिचाराभ्यामात्मा पक्रमणेन च। स्वधनानीत शुल्कानामस्वाम्य जायते स्त्रियाः।।
237. अर्थशास्त्र, 3/2 'वृत्तिराबाध्यं वा स्त्रीधनम्/परिद्विसाहस्त्रा स्थाप्याः वृत्तिः आधाध्यानियमः।
238. अर्थशास्त्र, 3/2 'जीवति भर्तरि मृतायाः पुत्रा दुहितश्चय स्त्रीधनं विभजेरन् अपुत्राया दुहितरः।।
239. विद्यालंकार, सत्यकेतु : पूर्वोक्त, पृ0-225
240. महावस्तु, जि. : 3/166/11-12, लाल, अगने : संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, पृ0-231
241. महावंश, 8/1/3
242. महावंश, 8/1/2/3; विद्यालंकार, सत्यकेतु : पूर्वोक्त, पृ0-225
243. थेरी गाथा, पृ0-207
244. रीजडेविड्स, सी.ए.एफ., गौतम द मैन, लन्दन, 1928, पृ0सं.-149
245. विनयपिटके, महावग्गपालि, प्रधान संशोधक, भिक्षु जगदीसकस्स्पो नव-नालन्दा-महाविहारेन, 1980 ई0 8 चीवरक्खन्धकं, 1 जीवकत्थु, पृ0-286 अम्बपाली च गणिका अभिरुपा होति दस्सनीया पासादिता परमाय वण्णपोक्खरताय समन्नागता, पदक्खा नच्चे च गीते च वादिते च, अभिसटा अत्थिकानं अत्थिकानं मनुस्सानं पञ्ञासाय च रत्ति गच्छतिः, ताय च वेसाली भिय्योसोमत्ताय उपसोभति।
246. वही, पूर्वोद्धृत, पृ0-286ः राजगहको नेगमों वेसालिं अगमासि केनचिदेव करणीयेनअद्दसा च, सत्त च पासादसहस्सानि सत्त च पासादसतानि सत्त च पासादे, तीरेत्वा पुनदेव राजगंह पंच्चागच्छि। ये राजा मागधो सेनियो बिम्बिसार' एतद्वोच-साधु, देव, मयं पि गणिंक वुट्ठापेय्यामा....।'
247. विनयपिटके, महावग्गपालि, पूर्वोद्धृत, 17 अम्बापालीवत्थु, पृ0-246
248. प्रसाद, रघुनाथ, फाह्यान् की यात्रा, पूर्वोद्धृत, पृ0-66
249. थेरीगाथा, अनुवादक और सम्पादक, विमलकीर्ति प्रकाशक, सम्यक प्रकाशन द्वितीय संस्करण, 2006 वीसतिनिपातो, 66-अम्बपाली थेरीगाथा, पृ0-208
250. विनयपिटके, महावग्गपालि, पूर्वोद्धृत, 8 चीवरक्खन्धकं, 1 जीवक वत्थु, पृ0-286-287ः राजगृहे सालवती नाम कुमारी अभिरुपा होति दस्सनीया पासादिका परमाय वण्णपोक्खरताय समन्नागता।
251. महावग्ग, 8/1/4
252. मेहता, रतिलाल एन0 : पूर्वोद्धृत, पृ0-355
253. थेरीगाथा, पूर्वोद्धृत 39- विमलथेरीगाथा, पृ0-101
254. धम्मपद टीका, पूर्वोद्धृत जिल्द III, पृ0-309
255. मिलिन्दपञ्हो अनुवादक, रीजडेविड्स, डी.डब्ल्यू., सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, (आक्सफोर्ड, 1890-1894), जिल्द 6, पृ0-4
256. धम्मपद टीका पूर्वोद्धृत, जिल्द III, पृ0-104
257. थेरीगाथा टीका, पूर्वोद्धृत, पृ0-76-77
258. जातक, सम्पादक वी. फॉसबाल, (लन्दन, 1890-1896), अनुवादक, ई.वी. कॉवेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी 1895-1907, कणेतर जातक, संख्या-317
259. वही, पूर्वोद्धृत, सुलसा जातक संख्या 419

260. कॉवेल, ई.वी. पूर्वोद्धृत जिल्द-4, पृ0 157, जातक, सम्पा0 वी0 फासबाल, 7-जिल्द, लन्दन, 1877-1897, पृ0-481
261. जातक, सम्पादक, बी. फॉसबाल, (लन्दन, 1890-1896), अनुवादक, ई.वी. कॉवेल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी 1895-1907, तक्कारिय जातक, पृ0-481
262. मलालशेखर, जी0वी0, पूर्वोद्धृत, जिल्द-2, पृ0-1143
263. महावस्तु सम्पादक, ई0 सेनार्ट पेरिस, 1882-1897, पृ0-35
264. कॉवेल, ई0वी0, 'द जातक, जिल्द-2 पृ0-211'
265. मेहता, रतिलाल एन. : पूर्वोद्धृत, पृ0-294
266. मेहता, रतिलाल एन. : पूर्वोद्धृत, पृ0- 355-356
267. धम्मपद, अट्ठकथा, 4 पृ0-197
268. जातक 3/59-60, 475-476
269. जातक, 3/60-61, 4/249, 6/228
270. जातक, 3, पृ0-475-476
271. अर्थशास्त्र, पृ0-2/27
272. थेरीगाथा टीका, पूर्वोद्धृत, पृ0-58, धम्मपद्टीका, श्लोक-217, पृ0-99
273. थेरीगाथा टीका, पूर्वोद्धृत, पृ0-66 धम्मपद्टीका, पूर्वोद्धृत, श्लोक 214, पृ0-96
274. जातक पृ0-1/296, 4/390
275. जातक, 5/439, 31-33, 61/293, 300
276. ललितविस्तर, गोपा शाक्यकन्या न कंचन दृष्ट्वा वदनं दादयतिस्म। ये कामा संवृत्ता गुप्तेन्द्रिया सुनिवृताश्च मनः प्रसन्ना किं तादृशानां वदनं प्रतिच्छादयित्वा।
277. जातक, 2/296, 4/490, 6/328
278. थेरीगाथा, 3/5/53
279. वही, पृ0-89
280. सरकार, डी0सी0 : सेलेक्ट इनक्रिप्सन वा-1, पूर्वोद्धृत, पृ0-69
281. जातक, 5/211
282. वही, 3/21
283. उत्तराध्ययनटीका, 9/181, 188
284. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ0-43
285. अर्थशास्त्र, 3/7 शूद्रसधर्माणां वान्यत्र चण्डालेभ्य।'
286. जातक, 2/428, 3/101, 5/104, 6/117
287. वही, 6/135
288. सुत्तनिपात, 769, सूर्यगऽम्, 2/7/1
289. दीर्धनिकाय, 1/64, 'दासदासी पटिग्गहणो पटिविरतो हीति'।
290. मज्झिमनिकाय, 1/452, 'चयोनेकानं दासगणानां चयोनेंकानं दासीगणानं चयों।'
291. जातक 4/99, 'गामवरानि पच्च दासीसतं सन्त गवं सतानि, परोसहस्सञ्च सुवण्ण निक्खे भरिया च ते सादिसी द्वे ददामि।
292. सुत्तभस्त जातक, सं0 402
293. विनयपिटक 4/224, सामन्तपासादिका, पृ0 361; दीधनिकाय, 2/35

●

पूर्वी भारत की —ष्ण-लोहित मृदभाण्ड परम्परा : समावेशन के तत्व एवं निरन्तरता

सुधा कुमारी[*] *एवं डॉ0* **विनय कुमार**[**]

पुरातत्त्व के अन्तर्गत अतीत के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण पुरावशेषों में मृद्भाण्ड भी एक सशक्त पुरावशेष है, जिसके अध्ययन के आधार पर तत्कालीन संस्कृति की पहचान, जीवन शैली, सामाजिक, आर्थिक एवं व्यापारिक स्थिति, स्थानान्तरण व तिथिक्रम के साथ-साथ लोकजीवन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। मानव ने जब से पृथ्वी पर स्थायी रूप से निवास करना व कृषि करना आरम्भ किया तब से उन्हें पेय पदार्थों एवं अन्न संग्रह हेतु उपयोगी वस्तुओं की आवश्यकता महसूस हुई। फलस्वरूप मानव ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप अनेक प्रकार मृद्भाण्डों का निर्माण किया, जिसके साक्ष्य हमें नवपाषाणकाल से ही प्राप्त होने लगते हैं। इसके साथ ही जब ये मानव अन्य संस्कृति के लोगों के सम्पर्क में आए तब उन्होंने एक दूसरे की सांस्कृतिक विशेषताओं को आत्मसात् किया और इस प्रकार किसी भी परम्परा अथवा सांस्कृतिक विशेषता की निरन्तरता आमूल-चूल परिवर्तन के साथ एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में बनी रही एवं इसी क्रम में विविध संस्कृति के लोगों द्वारा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्डों के निर्माण की प्रक्रिया भी अछूता न रहा।

जैसा कि हमें ज्ञात है कि भारतीय पुरातत्त्व में विविध प्रकार की मृद्भाण्ड परम्पराएँ अनेक संस्कृतियों के साथ सम्बद्ध पायी गयी हैं। इसमें कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा के प्रमाण विभिन्न सांस्कृतिक सन्दर्भों के साथ भारत के विविध भू-क्षेत्रों सें प्रतिवेदित हुई है। यह पात्र परम्परा नवपाषाणकाल, प्राक् हड़प्पा व उत्तर हड़प्पा काल, ताम्रपाषाण काल, चित्रित धूसर मृद्भाण्डीय संस्कृति, बृहत्पाषाणिक संस्कृति एवं उत्तरी कृष्ण मर्जित मद्भाण्डीय संस्कृति आदि के साथ जुड़ी हुई थी, जो इस पात्र परम्परा के निरन्तरता के द्योतक हैं।

पूर्वी भारत जिसके अन्तर्गत बिहार, प0 बंगाल, उड़ीसा व झारखण्ड प्रान्त सम्मिलित किए गए हैं, में भी कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा विविध सांस्कृतिक सन्दर्भों के साथ प्रतिवेदित हुई है। इस क्षेत्र में यह पात्र परम्परा नवपाषाणकाल से ही मिलने लगती है तथा ताम्रपाषाणकाल में प्रमुख पात्र परम्परा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इसके अतिरिक्त लौह काल, उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डीय संस्कृति एवं इसके पश्चात् भी किन्हीं-किन्हीं पुरास्थलों से इस पात्र परम्परा के प्रमाण मिले हैं। इस क्षेत्र की सभी संस्कृतियों में पात्रों के आकार-प्रकार व चित्रण में भी समानता देखने को मिलती है, जिससे यह प्रतीत होता है कि विभिन्न संस्कृतियों के लोगों ने कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड सहित अन्य पात्र परम्पराओं की प्रमुख विशेषताओं का अनुकरण किया साथ ही कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा को लम्बे समय तक जीवंत बनाए रखा।

अत : प्रस्तुत शोधपत्र में पूर्वी भारत की कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने तथा समकालीन अन्य मृद्भाण्ड परम्पराओं की प्रमुख विशेषताओं के आधार पर कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा में समावेशन के तत्त्व व निरन्तरता को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा : समावेशन के तत्त्व-

भारत में कृष्ण-लोहित पात्र-खण्ड सर्वप्रथम ह्वीलर के द्वारा अरिकामेडु (1945) व ब्रह्मगिरी (1947) के उत्खनन से प्रतिवेदित किए गए तथा इन्होंने इसका नामकरण भी किया।[1] भारत में इस पात्र परम्परा का काल तथा विस्तार क्षेत्र सबसे अधिक है अर्थात् यह पात्र परम्परा 5वीं सहस्राब्दी ई0पू0 के मध्य से लेकर ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी तक मिलती है। भारतीय पुरातत्त्व में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्डों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह परम्परा समकालीन जिस पात्र परम्परा के साथ प्रचलन में रही अथवा विकसित हुई, उस पात्र परम्परा के कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं को ग्रहण भी किया। एस0 आर0 राव[2] का मत है कि किसी पुरास्थल से प्राप्त इस मृद्भाण्ड परम्परा के पात्रों का आकार उस पुरास्थल से प्राप्त अन्य पात्र परम्पराओं के पात्रों के समान है। उदाहरणस्वरूप- लोथल से प्राप्त कृष्ण-लोहित पात्रों का आकार यहाँ से प्राप्त माइकेशियस लाल पात्रों के आकार से अत्यधिक समानता रखता है। इन दोनों पात्र परम्पराओं में उत्तल पार्श्वयुक्त कटोरे, हत्थायुक्त कटोरे तथा उभरा हुआ पार्श्वयुक्त छोटा जार आदि प्रमुख है। एस0 आर0 राव[3] का यह भी मत है कि छोटी ग्रीवायुक्त जार जो हड़प्पा सभ्यता की एक विशिष्ट पात्र प्रकार है, कृष्ण-लोहित व माइकेशियस लाल मृद्भाण्ड परम्परा में भी देखने को मिलता है। अत : इस प्रकार ज्ञात होता है कि माइकेशियस लाल मृद्भाण्ड परम्परा में जो परिवर्तन व विकास परिलक्षित होता है उसी के अनुरूप कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा में भी परिवर्तन व विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। रंगपुर से प्राप्त कृष्ण-लोहित व चमकीला लाल मृद्भाण्ड के पात्रों की सतह व बनावट एक दूसरे के समान है। लोथल, रंगपुर, अहाड़ एवं सुरकोटदा आदि पुरास्थलों से प्राप्त कृष्ण-लोहित पात्रों के निर्माण की प्रक्रिया भी एक समान है।[4] इसके अतिरिक्त अहाड़ संस्कृति के उत्तर-पूर्वी भाग से जो कृष्ण-लोहित पात्र प्रतिवेदित हैं वे चित्रित धूसर पात्र प्रकारों से अत्यधिक साम्यता रखते हैं[5]। इसी प्रकार

* शोध छात्रा, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** असिस्टेंट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

गिलुण्ड से प्रतिवेदित कृष्ण-लोहित एवं कृष्ण पात्र परम्परा तथा अतरंजीखेड़ा के तृतीय काल से प्राप्त चित्रित एवं अचित्रित धूसर पात्र परम्परा तथा कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा के पात्रों में भी समानता परिलक्षित होती है[6]।

यदि पूर्वी भारत की कृष्ण-लोहित मृद्भाण्डों में समावेशन के तत्त्वों की बात करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में कृष्ण-लोहित पात्र नवपाषाणकाल से ही मिलने लगते हैं तथा ऐतिहासिक काल तक इसकी निरन्तरता बनी रहती है। संभवतः कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा के लोग प्रव्रजन कर इस क्षेत्र में आए अथवा समकालीन अन्य संस्कृतियों के सम्पर्क में आए व इन संस्कृतियों के कुछ मूलभूत विशेषताओं को ग्रहण किया जिसके साक्ष्य हमें मृद्भाण्ड निर्माण की तकनीक में भी देखने को मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप- मिस्र में कृष्ण-लोहित पात्रों को भट्ठी में औंधे मुँह रखकर पकाने की विधि का साक्ष्य मिलता है। इसी तकनीक से कृष्ण-लोहित पात्रों को पकाने के साक्ष्य भारत में लोथल, रंगपुर, रोजदी, लखबवल (गुजरात), रोपड़, बाडा (पंजाब), नवदाटोली, कायथा (मध्य प्रदेश), बागोर, अहाड़, गिलुण्ड (राजस्थान), आलमगीरपुर (उ0प्र0), चिरांद, सोनपुर, ओरियप (बिहार), पाण्डुराजारधिबी, महिष्दल, भरतपुर, बानेश्वरदंगा, मंगलकोट (पश्चिम बंगाल) आदि पुरास्थलों से मिले हैं[7]। इसके अतिरिक्त चिरांद से प्राप्त नवपाषाणिक मृद्भाण्ड अन्य पुरास्थलों से प्राप्त नवपाषाणिक मृद्भाण्डों से अत्यधिक साम्यता रखते हैं, अतः जिस प्रकार के ओष्ठयुक्त कृष्ण-लोहित कटोरे व घर्षित धूसर मृद्भाण्ड पैयमपल्ली से प्राप्त हुए हैं उसी प्रकार के पात्र चिरांद से भी मिले हैं जिसे इन दोनों पुरास्थलों के बीच सांस्कृतिक विशेषताओं के आदान-प्रदान का द्योतक माना जा सकता है[8]। इसी प्रकार उत्तर हड़प्पा से लम्बी ग्रीवा वाले जार मिले हैं जो चिरांद से भी प्राप्त हुआ है। एस0आर0राव0 के अनुसार चिरांद के पात्र परम्परा में नवपाषाणिक, लोथल (हड़प्पा) एवं अहाड़ के पात्रों की विशेषताएँ देखने को मिलती है[9]। आर0सी0 अग्रवाल का मत है कि चिरांद के लोगों ने हड़प्पा संस्कृति से कुछ तत्त्व ग्रहण किए लेकिन पात्रों में क्षेत्रीय विविधता भी दिखायी पड़ती है[10]। जबकि एम0एन0 देशपाण्डे का मत है कि कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा बिहार में 1000-1600 ई0पू0 के बीच में प्रचलित हुई एवं घर्षित मृद्भाण्ड परम्परा के लोगों के सम्पर्क में आयी, जिसके प्रमाण चिरांद से मिले हैं[11]। इसके अतिरिक्त एस0 सी मुखर्जी ने यह संभावना व्यक्त की है कि बनास घाटी की ताम्रपाषाणिक संस्कृति के लोग जो सफेद रंग से चित्रित कृष्ण-लोहित पात्रों का प्रयोग करते थे, उन्होंने मध्य गंगा घाटी एवं पश्चिम बंगाल में विकसित हो रही समान संस्कृति के लोगों को कुछ हद तक प्रभावित किया[12]। इसी प्रकार के उदाहरण उड़ीसा के खामेश्वरीपल्ली नामक पुरास्थल से भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ के ताम्रपाषाणिक चरण से प्राप्त कृष्ण-लोहित पात्रों पर लम्बवत व उर्ध्वाधर, लहरदार एवं टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ, स्ट्रोक्स आदि आकृतियाँ चित्रित हैं। इन आकृतियों को पात्रों पर उकेरने की विधि व स्थान लगभग वैसे ही हैं जैसे लोथल, रंगपुर, एरण, पाण्डुराजारधिबी, चिरांद, सेनुआर एवं प्रकाश से प्रतिवेदित कृष्ण-लोहित पात्रों पर है।[13] चिरांद, सेनुआर व नरहन से प्राप्त कृष्ण-लोहित गहरे कटोरे तथा सेनुआर, नरहन व खैराडीह से प्राप्त कृष्ण-लोहित ओष्ठयुक्त कटोरों में भी साम्यता परिलक्षित होती है। इसी प्रकार के ओष्ठयुक्त कटोरे नवदाटोली एवं पाण्डुराजारधिबी से भी मिले हैं।[14]

पूर्वी भारत में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड की निरन्तरता-

पूर्वी भारत में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड के प्रचलन के साक्ष्य निम्नलिखित सांस्कृतिक सन्दर्भों के अन्तर्गत देखने को मिलते हैं-

1. **नवपाषाणिक चरणः-**

पूर्वी भारत में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड नवपाषाण काल से ही प्राप्त होने लगते हैं। बिहार प्रांत के चिरांद[15] (प्रथम काल), सेनुआर[16] (प्रथम काल 'अ' व प्रथम काल 'ब' इसमें प्रथम काल 'ब' नवपाषाण व ताम्र पाषाण काल के मध्य संक्रमण का काल माना गया है) एवं चेचर[17] (प्रथम काल) नामक पुरास्थल से कृष्ण लोहित मृद्भाण्ड प्राप्त हुआ है। इस चरण से प्राप्त मृद्भाण्ड हस्त निर्मित हैं। चिरांद व चेचर से इस पात्र परम्परा के विभिन्न पात्र प्रकार प्रतिवेदित हैं जबकि सेनुआर से अपरिष्कृत कृष्ण लोहित पात्र अत्यल्प मात्रा में व अत्यंत जीर्ण शीर्ण अवस्था में प्राप्त हुए हैं जिस कारण उत्खननकर्ता ने केवल कृष्ण लोहित पात्र के नामोल्लेख के अतिरिक्त और कोई विवरण नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त गोपालपुर[18] (प्रथम काल) व भरतपुर (प्रथम काल)[19] से भी कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड प्रतिवेदित है। इन दोनों पुरास्थल के प्रथम काल को भी नवपाषाण व ताम्र पाषाण काल के मध्य संक्रमण का काल माना गया है।

पात्र प्रकार- कटोरे, ओष्ठयुक्त कटोरे, सपाद कटोरे, अण्डाकार कटोरे एवं साधार कटोरे, चौड़े मुँह तथा सँकरी ग्रीवा वाले घड़े एवं टोंटीदार घड़े, चम्मच एवं घुण्डीदार पात्र आदि।

चित्रण- पात्रों पर पकाने के पश्चात् लाल अथवा गेरूए रंग से चित्रण किया गया है।

अन्य पात्र परम्पराएँ- लोहित मृद्भाण्ड, धूसर मृद्भाण्ड, कृष्ण मृद्भाण्ड।

2. **ताम्रपाषाणिक चरण :-**

पूर्वी भारत के कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड का परिष्कृत एवं विकसित स्वरूप ताम्राश्मीय चरण में देखने को मिलता है। इस चरण में कृष्ण-लोहित पात्रों के विभिन्न आकार-प्रकार सर्वाधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इस क्षेत्र में ताम्रपाषाणकाल के दो चरण ज्ञात होते है- 1. ताम्रपाषाण चरण 2. उत्तर ताम्रपाषाण चरण। इन दोनों चरणों से संबंधित अनेक पुरास्थलों के उत्खनन से कृष्ण-लोहित पात्रों के प्रचलन के साक्ष्य मिले हैं।

पूर्वी भारत में ताम्रपाषाणिक चरण से संबंधित पुरास्थल चिरांद (द्वितीय काल), सेनुआर (द्वितीय काल), सोनपुर (प्रथम काल

'अ' व 'ब')[20] मनेर (द्वितीय काल)[21], चेचर (द्वितीय काल), जाफरडीह (प्रथम काल)[22], रामचौरा (प्रथम काल)[23], पाँड़ (द्वितीय काल)[24], ताराडीह (द्वितीय काल)[25], घोड़ाकटोरा (प्रथम काल)[26], मंगलकोट (प्रथम काल)[27], पखन्ना (प्रथम काल)[28], एरेंडा (प्रथम काल)[29], गोलबाईससान (द्वितीय काल 'अ' व 'ब')[30], खामेश्वरीपल्ली (प्रथम व द्वितीय काल)[31], खजेरियपल्ली (प्रथम काल)[32], बानेश्वरदंगा (प्रथम काल)[33], पाण्डुराजारधिबी (प्रथम व द्वितीय काल)[34], महिष्दल (प्रथम काल)[35], हातिगड़ा (प्रथम काल)[36] आदि प्रमुख हैं।

इसके अतिरिक्त उत्तर ताम्रपाषाणिक चरण से संबंधित प्रमुख पुरास्थल सुबुलिया (प्रथम काल)[37], नौगढ़-असुरगढ़ (प्रथम काल)[38], कुरूमपदार (प्रथम काल)[39], बानेश्वरदंगा (द्वितीय काल) है। ताम्रपाषाणिक चरण से प्राप्त कृष्ण-लोहित पात्र मुख्य रूप से चाक निर्मित एवं पूर्ववर्ती काल की तुलना में अधिक परिष्कृत है जो मृत्तिका शिल्प तकनीक के विकसित स्वरूप की द्योतक है।

पात्र प्रकार- कटोरे, गहरे कटोरे, अर्द्धगोलाकार कटोरे, छिछले कटोरे, सपाद कटोरे, बड़े आकार के कटोरे, घड़े, टोंटीदार घड़े, थालियाँ, गहरी थालियाँ, छिछली थालियाँ, कप, गिलास, जार, तसले एवं हाण्डी आदि।

चित्रण- इस चरण में भी कृष्ण-लोहित पात्र चित्रित एवं अचित्रित दोनों प्रकार के मिलते हैं। चित्रण में सफेद एवं काले दोनों रंगों का उपयोग किया गया है तथा पात्रों को पकाने के पूर्व एवं पकाने के पश्चात चित्रण करने की दोनों विधियों से चित्रित किया गया है। चित्रित आकृतियों में बिन्दु, स्ट्रोक्स, घुमावदार वक्त, सीधी रेखाएँ, लहरदार रेखाएँ, पीछे की ओर मुड़ी हुई अर्द्धवक्र रेखाएँ एवं टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ आदि प्रमुख हैं।

अन्य पात्र परम्पराएँ- चित्रित एवं अचित्रित लौह वर्ण लेपित मृद्भाण्ड, अचित्रित लाल मृद्भाण्ड, रज्जू छाप मृद्भाण्ड, घर्षित कृष्ण मृद्भाण्ड, कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड एवं धूसर मृद्भाण्ड आदि।

3. लौहयुगीन चरण :-

लौहयुगीन चरण को ताम्रश्मीय चरण से लोहे की उपस्थिति के आधार पर विभक्त किया गया है। पूर्वी भारत में अनेक पुरास्थलों के उत्खनन से लौह उपकरण यथा-बाणाग्र, भालाग्र, छेनी, कील आदि लौह निर्मित वस्तुओं के उपयोग के साक्ष्य मिले हैं। इसके साथ ही लौह अयस्क एवं लौह धातु प्रगलन के भी प्रमाण मिले हैं। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर ही इस चरण को लौह युगीन चरण की संज्ञा दी गयी। पूर्वी भारत में इस चरण से सम्बन्धित महत्वपूर्ण उत्खनित पुरास्थल पाण्डुराजारधिबी (तृतीय काल), भरतपुर (द्वितीय काल), महिष्दल (द्वितीय काल), खामेश्वरीपल्ली (तृतीय काल), बाड़मल (प्रथम काल)[40], बुधीगढ़ (प्रथम काल)[41], ताराडीह (प्रथम काल), बानेश्वरदंगा (तृतीय काल-प्रारंभिक लौहयुग), कुरूमपदार (द्वितीय काल), कुमेरसिंह (प्रथम एवं द्वितीय काल)[42], आदि है। इस चरण में कृष्ण-लोहित पात्रखण्ड की अल्प मात्रा में प्राप्ति हुई है, जिससे यह ज्ञात होता है कि संभवतः इस चरण में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्डों का उपयोग अपेक्षाकृत कम होने लगा था।

पात्र प्रकार- कटोरे, तसले, घड़े अथवा हाण्डी, थालियाँ, जार, साधार तश्तरी चपटे एवं गोल आधार वाले कटोरे आदि।

चित्रण- इस चरण से भी चित्रित व अचित्रित दोनों प्रकार के कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड प्राप्त हुए हैं। चित्रित आकृतियों में लहरदार एवं टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ तथा बिन्दु हैं।

अन्य पात्र परम्पराएँ- कृष्ण-लेपित मृद्भाण्ड, लौह वर्ण लेपित मृद्भाण्ड, लाल मृद्भाण्ड आदि।

4. उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डीय काल :-

उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्डीय सांस्कृतिक चरण में भी कृष्ण-लोहित पात्र परम्परा की निरन्तरता बनी रहती है हालाँकि इस पात्र परम्परा का प्रयोग उपर्युक्त सांस्कृतिक चरणों की अपेक्षा इस चरण में कम हो गयी थी क्योंकि इस चरण में उत्तरी काले चमकीले मृद्भाण्उ का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था। उत्तरी कृष्ण मार्जित सांस्कृतिक चरण नामांकित ऐसे पुरास्थल जहाँ से कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड प्रतिवेदित किये गए हैं, मुख्य रूप से पूर्वी भारत के बिहार प्रान्त में ही अवस्थित हैं, जिसमें सोनपुर (द्वितीय चरण), सेनुआर (तृतीय चरण), चिरांद (तृतीय चरण), जाफरडीह (द्वितीय चरण), चम्पा (प्रथम चरण 'ब')[43], ओरियप (द्वितीय चरण)[44], ताराडीह (चतुर्थ चरण), मनेर (तृतीय चरण), चेचर (द्वितीय चरण), घोड़ाकटोरा (द्वितीय चरण), दामनखण्डा (प्रथम चरण)[45], रामचौरा (द्वितीय काल), पाँड़ (तृतीय काल) एंव माँझी (द्वितीय चरण)[46] प्रमुख पुरास्थल हैं।

पात्र प्रकार- घड़े तसले, कटोरे व थालियाँ, गहरी थालियाँ, अण्डाकार कटोरे, छिछले कटोरे तश्तरी आदि।

अन्य पात्र परम्पराएँ- उत्तरी काले चमकीले मृद्भाण्ड, चित्रित एवं अचित्रित कृष्ण लेपित मृद्भाण्ड, लाल मृद्भाण्ड, धूसर मृद्भाण्ड।

5. आरंभिक ऐतिहासिक/ऐतिहासिक चरण :-

जैसा कि हमें ज्ञात है पूर्वी भारत में कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड नवपाषाण काल से ही प्रचलन में आ गए थे, जिसकी निरंतरता हमें ऐतिहासिक काल तक देखने को मिलती है। पूर्वी भारत में उड़ीसा एवं पश्चिम बंगाल प्रान्त के कई उत्खनित पुरास्थलों से आरंभिक ऐतिहासिक कालीन/ऐतिहासिक कालीन पुरावशेषों के साथ कृष्ण-लोहित पात्रों के भी ठीकरे मिले हैं। पूर्वी भारत में इस चरण से संबंधित महत्वपूर्ण उत्खनित पुरास्थल बुधिगढ़ (द्वितीय काल), बाड़मल (द्वितीय काल), हिकुड़ी (द्वितीय काल)[47], नौगढ़-असुरगढ़ (द्वितीय काल), कुरूमपदार (तृतीय काल), मरयाकुड (प्रथम काल)[48], मंगलकोट (द्वितीय काल), पांडुराजारधिबी (चतुर्थ काल) एवं बानेश्वरदंगा (चतुर्थ काल) है।

पात्र प्रकार- कटोरे, थालियाँ, घड़े, तसले, स्टोरेज जार एवं घुण्डीदार थाली आदि।

अन्य पात्र परम्पराएँ- लाल मृद्भाण्ड, लौह वर्ण लेपित मृद्भाण्ड, कृष्ण-लेपित मृद्भाण्ड, उत्तरी कृष्ण मार्जित मृद्भाण्ड आदि।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त तथ्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा जो भारत में न केवल दीर्घ कालावधि तक प्रचलन में रही अपितु अनेक संस्कृतियों एवं मृद्भाण्ड परम्पराओं के सम्पर्क में आयी। फलतः इस पात्र परम्परा के पात्रों के निर्माण की तकनीक, स्वरूप एवं चित्रण आदि में समकालीन अन्य संस्कृतियों के प्रभाव को भी स्पष्टतः देखा जा सकता है। पूर्वी भारत में भी इस पात्र परम्परा पर अन्य संस्कृतियों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है एवं नवपाषाणकाल से लेकर ऐतिहासिक काल तक इस पात्र परम्परा का प्रचलन में रहना इसकी निरन्तरता, सांस्कृतिक आदान-प्रदान व ख्याति का द्योतक है। चूँकि कृष्ण-लोहित मृद्भाण्ड परम्परा एक विस्तृत कालावधि तक विविध सांस्कृतिक सन्दर्भों के साथ प्रचलन में रही जिस कारण अभी तक इस पात्र परम्परा के स्वतन्त्र स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सका है और न ही इसे किसी एक संस्कृति के परिधी में बाँधा जा सकता है।

सन्दर्भ सूची-

1. ह्वीलर, आर0ई0एम0, ''ब्रह्मगिरि एण्ड चन्द्रवल्ली मेगालिथिक एण्ड अदर कल्चर्स इन मैसूर स्टेट'', *एन्शिएण्ट इण्डिया* 4, 1947, पृ0 200-202.
2. राव, एस0 आर0, ''एक्सकेवेशन एट रंगपुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन इन गुजरात'', *एन्शिएण्ट इण्डिया* 18 एवं 19, 1963, पृ0 108.
3. *वही*
4. सिंह, एच0 एन0, *हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ ब्लैक एण्ड रेड वेयर (चाल्कोलिथिक पीरियड)*, संदीप प्रकाशन दिल्ली, 1982, पृ0 69
5. *वही*
6. *वही*, पृ0 86, 70
7. मुखर्जी, एस0 सी0, ''एक्सकेवेशन एट बानेश्वरदंगा, डिस्ट्रिक्ट बर्धमान, वेस्ट बंगाल'', *प्रत्न समीक्षा* 2 एवं 3, 1993-94, पृ0 96-97
8. वर्मा, बी0 एस0, ''ब्लैक एण्ड रेड वेयर इन बिहार'', *पॉट्रीज इन एण्शियेण्ट इण्डिया*, सम्पादक- बी0 पी0 सिन्हा, डिपार्टमेण्ट ऑफ एण्शियेण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलॉजी, पटना यूनिवर्सिटी, पटना, 1969, पृ0 108-109
9. *वही*
10. *वही*, पृ0 109-110
11. *वही*, पृ0 111
12. मुखर्जी, एस0 सी0, *पूर्वोक्त*, 1993-94, 100
13. बहेरा, पी0के0, ''इनवेस्टिगेशन इन्टू द मेसोलिथिक एण्ड पोस्ट मेसोलिथिक सेटलमेण्ट इन द मिडिल वैली, ओड़िसा'', *आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसा : रिसेण्ट पर्सपेक्टिव*, सम्पादक- सदाशिव प्रधान, पोस्ट ग्रेजुएट डिपार्टमेण्ट ऑफ हिस्ट्री, सम्बलपुर यूनिवर्सिटी, सम्बलपुर, 2006, पृ0 33-36
14. सिन्हा, बी0 पी0, *अर्ली फार्मिंग कम्युनिटीज ऑफ द कैमूर (एक्सकेवेशन्स एट सेनुवार, 1986-87-90)*, पब्लिकेशन स्कीम जयपुर, 2004, पृ0 110
15. वर्मा, बी0 एस0, ''एक्सकेवेशन्स एट चिरान्द'', *आर्कियॉलॉजिकल एक्सकेवेशन्स इन पोस्ट-इन्डिपेन्डेन्ट बिहार*, सम्पादक- विजय कुमार चौधरी, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना, 2008, पृ 23-28
16. सिन्हा, बी0 पी0 *पूर्वोक्त*, 2004, पृ0 21-24
17. सिंहा, डी0 पी0, ''एक्सकेवेशन्स एट चेचर'', आर्कियॉलॉजिकल एक्सकेवेशन्स इन पोस्ट- इन्डिपेन्डेन्ट बिहार, *पूर्वोक्त*, पृ 101-109
18. कार, सुशान्त के0, ''गोपालपुर : अ नियोलिथिक-चाल्कोलोथिक साइट इन कोस्टल उड़ीसा, *आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसा*, सम्पादक- किशोर के0 बासा एवं प्रदीप मोहन्ती, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2000 पृ0 369-375
19. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू*, 1974-75, पृ0 51
20. सिन्हा, बी0 पी0 एवं वर्मा, बी0 एस0, *सोनपुर एक्सकेवेशन्स (1956 एण्ड 1959-1962)*, डायरेक्टॉरेट ऑफ आर्कियोलॉजी एण्ड म्यूजियम्स, पटना, बिहार, 1977, पृ0 3-8
21. सिंह, अरूण कुमार, ''अ स्टडी ऑफ आर्कियोलॉजीकल रिमेन्स फ्राम द नियोलिथिक टू द पाल पीरियड एट मनेर, पटना डिस्ट्रिक्ट, बिहार'', *आर्कियॉलॉजिकल एक्सकेवेशन्स इन पोस्ट-इन्डिपेन्डेन्ट बिहार*, पूर्वोक्त, 2008, पृ0 7-22
22. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू*, 2006-07 : 6-9
23. *वही*, 1996-97: 8-9
24. चौधरी, बी0 के0, ''एक्सकेवेशन्स एट पाँड़'', *आर्कियोलॉजिकल एक्सकेवेशन इन पोस्ट-इण्डिपेन्डेण्ट बिहार*, पूर्वोक्त, 2008, पृ0 29-35
25. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू*, 1997-98, पृ0 14-15
26. *वही*, 2008-09 : 24-32
27. रॉयचौधरी, सुचिरा एवं चटर्जी, शर्मिष्ठा, ''सेरामिक्स ऑफ मंगलकोट एक्सकेवेशन 2009-2010 : अ प्रिलिमनरी रिपोर्ट'', *प्रत्न समीक्षा*, न्यू सीरीज 2, 2011 पृ0 91-101
28. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू*, 1999-2000, पृ0 197-98
29. गंगोपाध्याय, कौशिक, ''चाल्कोलिथिक पॉट्री फ्रॉम एरेण्डा (वेस्ट बंगाल), *प्रत्न समीक्षा 8*, 2017, पृ0 128-131
30. *इण्डियन आर्कियोलॉजी* : ए रिव्यू, 1991-92, पृ0 86-87
31. बहेरा, पी0 के0, ''इन्वेस्टिगेशन इन्टू द मेसोलिथिक एण्ड पोस्ट मेसोलिथिक सेटलमेण्ट इन द मिडिल महानदी वैली, ओड़िसा'' आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसाः रिसेण्ट पर्सपेक्टिव, पूर्वोक्त, 2006, पृ0 33-38
32. *वही*, पृ0 39-41

33. मुखर्जी, एस0 सी0, ''एक्सकेवेशन एट बानेश्वरदंगा, डिस्ट्रिक्ट बर्धमान, वेस्ट बंगाल'', *प्रत्न समीक्षा* 2 एवं 3, 1993-94, पृ0 96-97

34. दास गुप्ता, पी0 सी0, *एक्सकेवेशन्स एट पाण्डुराजारधिबी*, बुलेटिन ऑफ द डायरेक्टॉरेट ऑफ आर्कियोलॉजी एण्ड म्यूजियम्स, गवर्नमेंट ऑफ वेस्ट बंगाल, कलकत्ता, पृ0 12-21

35. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : ए रिव्यू*, 1963-64, 1964, पृ0 59-60

36. घोष, एन सी एवं नाग, ए0, ''एक्सकेवेशन्स एट हातीगड़ा : ए चाल्कोलिथिक साइट इन वेस्ट बंगाल'', *पुरातत्त्व* 18, 1984-85, पृ0 21-27

37. बहेरा, पी0के0, ''सुबुलिया : अ लेट चाल्कोलिथिक सेटलमेंट इन द मिडिल महानदा वैली'', *इण्डियन जर्नल ऑफ आर्कियोलॉजी*, 2015, पृ0 37-53

38. प्रधान सदाशिव, ''एक्सकेवेशन एट नौगढ़-असुरगढ़ : ए प्रिलिमनरी रिर्पोट'', आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसा : रिसेण्ट पर्सपेक्टिव, *पूर्वोक्त*, सम्बलपुर, 2006, पृ0 39-42

39. *वही*, पृ0 48-57

40. बहेरा, पी0 के0 एवं चट्टोपाध्याय, पी0 के0, ''आयरन ऑब्जेक्ट्स फ्राम द आयरन एज - अर्ली हिस्टॉरिक लेवल एट बाड़मल (डिस्ट्रिक्ट सम्बलपुर, ओड़िसा) : आर्कियोमैटलर्जिकल स्टडीज'', *पुरातत्त्व* 35, 2004-05, पृ0 118-125

41. हुसैन, शकीर एवं मिश्रा, बाबा, ''आयरन एज-अर्ली हिस्टॉरिक पॉट्री फ्रॉम बुधीगढ़, डिस्ट्रिक्ट-कालाहाण्डी, ओड़िसा : अ प्रिलिमनरी ऑब्जरवेशन'', *पुरातत्त्व* 47, 2017, पृ0 157-166

42. बहेरा, पी0 के0, ''इनवेस्टिगेशन इन्टू द मेसोलिथिक एण्ड पोस्ट मेसोलिथिक सेटलमेण्ट इन द मिडिल महानदी वैली, ओड़िसा'', *आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ : रिसेण्ट पर्सपेक्टिव*, पूर्वोक्त, 2006, पृ0 42-48

43. *इण्डियन आर्कियोलॉजी : अ रिव्यू*, 2006, पृ0 42-48

44. *वही*, 1996-67 : 6-7

45. *वही*, 2007-08, पृ0 26-30

46. *वही*, 1983-84, पृ0 15-16

47. बहेरा, पी0 के0, ''इनवेस्टिगेशन इन्टू द मेसोलिथिक एण्ड पोस्ट मेसोलिथिक सेटलमेण्ट इन द मिडिल महानदी वैली, ओड़िसा'', *आर्ट एण्ड आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसा : रिसेण्ट पर्सपेक्टिव*, पूर्वोक्त, 2006, पृ0 26-33

48. त्रिपाठी, बलराम, ''आर्कियोलॉजी ऑफ बौद्ध, सेन्ट्रल उड़ीसा, *आर्कियोलॉजी ऑफ ओड़िसा*, सम्पादक-किशोर के0 बासा एवं प्रदीप मोहन्ती, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ0 401-414

●

मध्य गंगा घाटी से प्रतिवेदित शक्ति मृण्मूर्तियों में सप्तमातृकाएँ : एक पुरातात्त्विक अध्ययन

*डॉ0 सर्वेश कुमार**

एकांकी देवी प्रतिमाओं में मातृका समूह का नामोल्लेख किया जा सकता है। उनकी आराधना समस्त भारत में होती रही, किन्तु गुप्त युग से पूर्व की कोई मातृका प्रतिमा उपलब्ध नहीं हुई है।[1] यों तो देवियाँ अपने देव के साथ वर्णित हैं एवं युगल मूर्तियाँ भी मिलती हैं, किन्तु एकांकी मूर्तियाँ समूह में प्रदर्शित होने से सात की संख्या के कारण ही सप्तमातृका नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो यह मूल शक्ति के सात रूपों में प्रकट सप्तमातृकायें कला में प्रदर्शित हुई है। इन्हें एक ही देवी की सात विभूतियाँ कह सकते हैं।[3] वासुदेव उपाध्याय का मत है कि मध्य कालीन कला में सप्त मातृका क्रम इस प्रकार है- 1. ब्राह्मणी, 2. माहेश्वरी, 3. कौमारी, 4. वैष्णवी, 5. वाराही, 6. इन्द्राणी, 7. चामुण्डा।[4] वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि नागों की देवी मनसा के बहुत से स्थान और लोकगीत हैं। कालबेलिय जैसे इनके बहुत से सम्प्रदाय भी हैं। सात माताओं की पूजा का उल्लेख ऋग्वेद में भी आता है वहाँ उन्हें सप्तमातरः कहा जाता था। उन्हें सप्त स्वसारहः या सात बहनें भी कहा जाता था। वे ही सात अप्सराये थीं जिनमें उर्वशी मुख्य थी। लोक कथा में उन्हें 'सात अक्षरामाई' कहा गया है। ये सात मातायें एक महीमाता अदिती के ही सात रूप थे। वह सात आदित्य देवों की माता थी अदिति ही आगे चलकर बड़ी-बड़ी देवियों के रूप में विकसति हुई जैसे अदिति, सरस्वती, ब्राह्मणी, लक्ष्मी, पार्वती इत्यादि।[5]

मारूतिनन्दन तिवारी के अनुसार गुप्तकाल तक शक्ति पूजा के क्रमिक विकास के फलस्वरूप शक्ति के उपासकों का एक वर्ग शाक्त बना। कुषाण काल के बाद मातृका एवं शक्ति पूजा के बीच समन्वय की स्थापना हुई जिसे सप्त या अष्ट मातृकाओं की अवधारणा में देखा जा सकता है। गुप्त काल तक प्रतिमायें शिव, विष्णु, ब्रह्मा, कार्तिकेय, इन्द्र आदि ब्राह्मण देवों की शक्तियों में परिवर्तित हो गयीं। इसकी कारण मूर्तियों में इनके साथ सम्बन्धित वाहन एवं आयुध प्रदर्शित किये गये। साथ ही मातृकाओं की गोद में बालक दिखाकर उनके मातृपक्ष को भी उजागर किया गया। मातृदेवी और शक्ति की कल्पना के संपृक्त होने के बाद शक्ति पूजा के अन्तर्गत वैदिक एवं लोक परम्परा तथा तन्त्र के प्रभाव के फलस्वरूप अनेक देवियों की धारणा को एक साथ मिलाकर शाक्त सम्प्रदाय का विकास हुआ।[6] नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी के अनुसार सप्त मातृकायें गुप्त काल में प्रमुख रूप से विकसित हुईं एवं इनका प्रतिमा निर्माण प्रारम्भ हुआ।[7]

मृण्मय कला में भी सप्तमातृओं के निर्माण की परम्परा देखी जा सकती है। मध्य गंगा घाटी में चिराँद पुरास्थल के मौर्य तथा कुम्रहार पुरास्थल के गुप्त युगीन चरण से एक-एक सप्त मातृका देवी की मृण्मूर्ति प्रतिवेदित हुई है। इनमें से चिराँद पुरास्थल से प्राप्त सप्तमातृका देवी की मृण्मूर्ति का कुछ भाग खण्डित हो गया है।[8] चेहरा उग्र स्वरूप में एवं नेत्रों को उत्कीर्ण वृत्तों द्वारा निर्मित किया गया है। यह प्रतिमा छोटी एवं उभारयुक्त है जिस पर वृत्तों का चिन्ह निर्मित किया गया है। कुम्रहार पुरास्थल के गुप्त युगीन चरण से प्रतिवेदित एक खण्डित फलक पर सप्त मातृकाओं में से केवल तीन प्रदर्शित हैं।[9] ये तीनों मातृकायें ऊँची कुर्सी पर बैठी हुई हैं।

1. षष्ठी देवी

षष्ठी देवी सप्तमातृका की एक प्रमुख देवी हैं जो कुषाण काल से कलाकृतियों में दिखाई देती है। यह द्विभुजी देवी जिसका दायाँ हाथ कंधे तक अभयमुद्रा में उठा है तथा बायाँ कटि विन्यस्त है।[10] रतनचन्द्र अग्रवाल महोदय इन मूर्तियों की दूसरी पहचान दी है। प्राचीन भारतीय लोक धर्म में उद्धृत 'काश्यप संहिता' के 'बालग्रह चिकित्सा' नामक प्रकरण के आधार पर उन्होंने इस देवी को स्कन्द की बहन षड़मुखी षष्ठी देवी माना है।[11] यह सम्भवतः यूनानी देवता क्यूपिड और देवी एफ्रुडाइटी के प्रभाव से इन दोनों प्रकार की मूर्तियों में पक्ष (पंख) बनाने का अनुकरण किया गया है जिसे काश्यप संहिता में षडमुखी षष्ठी कहा गया है।[12] इसकी मिट्टी की मूर्तियाँ प्राचीन पुरातत्त्व की सामग्री के रूप में पायी गई हैं जो शुंग काल से कुषाण काल तक की है। इसकी प्रकार इसका अंकन यौधेय गण के कुछ सिक्कों पर भी पाया गया है जो दूसरी-तीसरी सती ई0 के हैं। ताँबे की इन मुद्राओं पर एक तरफ षड़ानन कार्तिकेय और दूसरी तरफ षड़मुखी देवी की मूर्ति है, जिसकी पहचान निश्चय रूप से षष्ठी के साथ की जा सकती है।[13] षष्ठी देवी की गुप्त काल में सार्वजनिक मान्यता थी। रीवां प्रदेश के सुपिया नामक स्थान से स्कन्द गुप्त के समय के एक लेख में षष्ठी देवी की पूजा एवं स्थापना का उल्लेख है।[14]

इसी प्रकार मध्य गंगा घाटी क्षेत्र में मृण्कला के अन्तर्गत भी षष्ठी देवी की मृण्मूर्ति प्रतिवेदित हुई है। सोनपुर पुरास्थल के कुषाण युगीन चरण से मृण्फलक पर एक स्त्री का धड़ प्राप्त हुआ है जो सम्भवतः षष्ठी देवी की मृण्मूर्ति है।[15] इसका दायाँ हाथ खण्डित है तथा बायें हाथ में कमण्डलु पकड़े हुए हैं। इनके दायें तरफ एक

* सहायक प्राध्यापक, प्रा0भा0इति0सं0 एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

मयूर खड़ा है। यह पैरों में कड़ा एवं कमर में मेखला से बँधा हुआ घाघरा धारण किये है जो जाँघों पर लटक रहा है।

2. हारीति

हारीति भी सप्तमृकाओं से सम्बन्धित एक देवी है। कुबेर के एक नाम पांचिक का महायान बौद्ध धर्म में बहुत प्रचार हुआ। गांधार देश में पांचिक और उसकी पत्नी हारीति की पूजा प्रचलित थी।[16] महावंश के अनुसार हारीति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह 500 यक्षों की माता थी। उसका मूल स्थान राजगृह में था।[17] महाभारत के वनपर्व में राजगृह की यक्षी का उल्लेख है जिसकी कीर्ति दूर तक फैली हुई थी। इस यक्षी का मूल नाम जरा था।[18] महाभारत के सभापर्व में उसे 'मांसशोषितभोजन' कहा है अर्थात उसकी पूजा में मांस की बलि चढ़ाई जाती थी। वह राक्षसी के रूप में प्रसिद्ध थी। उसी ने जरासंध के शरीर के दो टुकड़ों को जोड़कर उसे जीवित किया था। इससे प्रसन्न होकर जरासंध के पिता बृहद्रथ ने आदेश दिया था कि मगध के निवासी घर-घर में उसकी पूजा करें और उसके सम्मान में प्रतिवर्ष एक महोत्सव मनाया करें।[19] बौद्धधर्म में यह देवी हारीति के नाम से प्रसिद्ध हुई कहा जाता है कि वह बच्चों का हरण कर लिया करती थी। बच्चों का हरण करने के कारण उसकी संज्ञा जातहारिणी या हारीति के रूप में प्रसिद्ध हुई। जिस समय बुद्ध राजगृह में आये लोगों ने उनसे इसके त्रास का वर्णन किया तब बुद्ध ने इसके एक पुत्र को छिपा दिया जिससे यह व्याकुल हो गई और इसके हृदय में मातृस्नेह उमड़ आया। अनुकूल अवसर जानकर बुद्ध ने उसे उपदेश किया और उस दिन से यह बच्चों की रक्षा करने वाली देवी बन गई।[20]

बौद्ध कथानकों के अनुसार हारीति चेचक के द्वारा बच्चों का हरण करती थी इससे इस कहानी का तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। बच्चों को प्रायः यह रोग होता है और बालक जरासंध को भी यही हुआ होगा। आज भी शीतला माता के रूप में इसकी पूजा होती है। बौद्ध साहित्य में जैसा कि कुमारस्वामी ने लिखा है, इसका एक नाम नन्दा भी था। लोग आज भी इसे 'हंसती-खेलती' माता कहते हैं।[21]

मूर्तिकला में भी हारीति देवी का अंकन प्रायः मिलता है जो प्रस्तर एवं मृण्माध्यमों पर प्राप्त होता है। मध्य गंगा घाटी में मृण्माध्यम पर चिराँद पुरास्थल के कुषाण युगीन चरण से हारीति देवी की दो मृण्मूर्तियाँ प्रतिवेदित हुई हैं। इनमें प्रथम मृण्मूर्ति जो शिशु को अपनी बाँयीं भुजा में पकड़े हुए हैं। इसका निचला हिस्सा खण्डित है।[22] द्वितीय मृण्मूर्ति भद्दी बनावट युक्त है जिसका हाथ तथा मध्य से नीचे का भाग खण्डित है। यह उग्ररूप में दिखाई पड़ रही है।[23] इसका मुखभाग बड़ा तथा खुला हुआ है। नासिका का कुछ भाग खण्डित एवं नेत्र भाग तिरछा है। चिपकवाँ विधि से निर्मित ग्रीवा में हार धारण किये हुए है, जिसे वृत्तों की श्रृंखला द्वारा अलंकृत किया गया है।

3. वसुधारा

वसुधारा में लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की विशेषताएँ देखी जा सकती है। समृद्धि की देवी वसुधारा वस्तुतः बौद्ध देवी तारा का ही एक स्वरूप है। समृद्धि के साथ ही वसुधारा को ज्ञान और विद्या की देवी भी बताया गया है। इसी रूप में देवी को कभी-कभी पज्ञापारमिता, विद्यादानेश्वरी, ज्ञानमूर्ति और सरस्वती भी कहा गया है।[24] इसके पास ऐश्वर्य का प्रतीक घट का विद्यमान होना भी विद्वानों द्वारा वसुधारा नाम देने का एक प्रमुख कारण है।[25] इसी प्रकार डॉ0 कुमारस्वामी ने मथुरा से प्राप्त देवी की मूर्ति के दायें हाथ में लटकती तीन मछलियों का उल्लेख किया है। तीसरी मछली दो मछलियों के नीचे क्षैतिज अंकित है। देवी के बायें हाथ पर ब्राह्मी लिपि में लेख है जिसे उन्होंने सुघट पढ़ा है।[26] अक्षरों का पुनर्निरीक्षण करने के उपरान्त माना गया कि इस लेख का व अक्षर मिट गया है। अतः इसे वसुधारा की संज्ञा प्रदान की गई।[27]

मृण्मय कला में भी वसुधारा की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। मध्य गंगा घाटी के कौशाम्बी पुरास्थल के शुंग कालीन चरण से वसुधारा की दो मृण्मूर्तियाँ प्रतिवेदित हुई हैं। इनमें से प्रथम मृण्मूर्ति खड़ी मुद्रा में है जो मछली पकड़े हुए है।[28] यह उभारयुक्त शीर्ष पहनावा धारण किये हुए है। केशों के प्रत्येक उतार-चढ़ाव से निकलते हुए एक अंलकृत पट्टी दोनों तरफ लटक रही है। यह गोलाकार कर्णाभूषण, कंगन एवं भारी मेखला तथा शरीर से चिपकी हुई साड़ी धारण किये हुए है, जो मेखला द्वारा नीचे लटक रही है। इसकी दायीं भुजा कोहनी से मुड़कर उदर पर स्थित है एवं बायीं भुजा नीचे की तरफ लटक रही है। जिसमें यह धागा पकड़े हुए है। धागे में छोटी मछलियाँ गूँथी हुई है। इस फलक के बांये किनारे पर एक वामन स्त्री दासी खड़ी है जिसकी सिर ऊपर उठा हुआ है। द्वितीय मृण्मूर्ति सांचे द्वारा खड़ी मुद्रा में निर्मित है।[29] इसकी केश सज्जा दो उतार-चढ़ाव युक्त निर्मित है एवं टोपी द्वारा मध्य भाग से विभाजित है। शीर्ष भाग से दोनों तरफ चोटी लटक रही है। बायें कर्णभाग में तश्तरीनुमा एवं दायें कर्णभाग में कुण्डलीनुमा कर्णाभूषण धारण किये हुए है। ग्रीवा में दो लड़ियों युक्त मनके की माला, कमर में तीन सूत्रों की मेखला, हाथ में कंगन एवं शरीर में पूर्णतया चिपकी हुई साड़ी धारण किये हुए है, जो मेखला द्वारा बाँधकर बाँयी तरफ लटकाई गई है। नीचे लटकते हुए अपने बायें हाथ में धागे में गूँथी हुई एक जोड़ी मछली एवं दायें हाथ में फलों की एक टहनी पकड़े हुए है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. उपाध्याय, वासुदेव, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, 1982, वाराणसी, पृ0 110
2. वही, पृ0 110
3. वही, पृ0 111
4. वही, पृ0 111

5. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, 1996, वाराणसी, पृ0 345
6. तिवारी, मारूतिनन्दन एवं कमल गिरि, मध्यकालीन भारतीय प्रतिमालक्षण, 1997, वाराणसी, पृ0 122
7. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, 1977, पटना, पृ0 135
8. वर्मा, वी0 एस0, चिराँद एक्सकवेशन रिपोर्ट, 1970, पटना पृ0 173, प्लेट XXII-B-2
9. अल्तेकर, ए0 एस0 एवं विजयकान्त मिश्रा, रिपोर्ट आन कुम्रहार एक्सकेवेशन 195-55, पटना, पृ0 109, प्लेट XLV-B-2
10. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, पूवीक्त, पृ0 132
11. अग्रवाल, रतन चन्द्र, गॉडेज षष्ठी इन मथुरा स्कल्पचर, वी0एम0ए0, 1969, नं0 4, पृ0 1-6
12. अग्रवाल, वासुदेव शरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, 1964, वाराणसी, पृ0 61
13. अग्रवाल, वासुदेव शरण, गाडेज षष्ठी आन यौधेय क्वाइन, जे0 एन0 एस0 आई0, नं0 5, पृ0 29
14. अग्रवाल, वासुदेव शरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, 1964, वाराणसी, पृ0 61
15. सिन्हा, बी0 पी0 एवं बी0 एस0 वर्मा, सोनपुर एक्सकेवेशन, 1962, पटना, पृ0 177, प्लेट XXXI-8
16. अग्रवाल, वासुदेव शरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, 1964, वाराणसी, पृ0 129
17. महावंश, 12.21
18. महाभारत, वनपर्व, 3.12.190
19. महाभारत, सभापर्व, 16.38
20. अग्रवाल, वासुदेव शरण, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, 1964, वाराणसी, पृ0 129
21. वही, पृ0 129
22. वर्मा, वी0 एस0, पूर्वोक्त, पृ0 178, प्लेट XXV-B-2
23. वही, पृ0 166, प्लेट, XIX-1
24. तिवारी, मारूतिनन्दन एवं कमल गिरि, पूवीक्त, पृ0 257
25. जोशी, नीलकण्ठ पुरुषोत्तम, पूवीक्त, पृ0 122
26. स्वामी, के0, अर्ली इण्डियन टेराकोटाज, वी0एम0एफ0ए0, वोस्टन, 1927, खण्ड-25, पृ0 93
27. गुप्त, परमेश्वरी लाल, गंगेटिक वैली टेराकोटा आर्ट, 1972, वाराणसी, पृ0 76
28. काला, सतीश चन्द्र, टेराकोटा इन द इलाहाबाद म्यूजियम, 1980, नई दिल्ली, पृ0 21
29. वही, पृ0 21

●

संस्कृत-काव्यों में प्रतिहारी का समीक्षात्मक अध्ययन

*डॉ0 प्रदीप कुमार**

यद्यपि कि संस्कृत-काव्यों में प्रतिहारी की समीक्षा की मैंने स्वीकृति दी है, और संस्कृतकाव्य कह देने से सम्पूर्ण महाकाव्य, पद्यकाव्य, गद्यकाव्य और चम्पूकाव्य भी इसमें समाहित हो जाते हैं, खण्डकाव्य और नाट्यकाव्य भी इसी में निहित हैं।

विद्वन्मण्डली द्वारा कथित ''काव्येषु नाटकं रम्यम्'' से यह प्रमाणित हो जाता है, कि चाहे पद्यकाव्य हो या गद्यकाव्य हो या चम्पूकाव्य हो सभी के सभी काव्य ही हैं। जबकि विषय का चुनाव 'शोधपत्र' होने के कारण अत्यन्त संक्षिप्त है। फिर भी ऐसे में यदि प्रतिहारी की समीक्षा करते हुए किसी एक पद्यकाव्य, एक गद्यकाव्य और एक चम्पूकाव्य का स्पर्श करा दूँ तो भी मेरा श्रम सार्थक होगा।

अब विषय की चर्चा करें तो यह प्रतिहार या प्रतिहारी जिसे पुरुष-द्वारपाल और स्त्री-द्वारपाल के नाम से जाना जाता है। जिसकी गणना संस्कृतकाव्यों में नगण्य है, जो अत्यन्त निम्न कोटि का पात्र है ।

हमारी दृष्टि में – यही कारण रहा होगा कि आदि आचार्य भरत अपने नाट्यशास्त्र में या आचार्य धनञ्जय अपने दशरूपक में या महापात्र विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में जहाँ नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक, विट, चेट, कञ्चुकी और सूत्रधार आदि पात्रों की सत्ता स्थापित किया; वहीं प्रतिहारी की सत्ता विस्मृत कर दी होगी। लक्ष्य और लक्षण यह दो शब्द हैं, जिसमें लक्ष्य के आधार पर लक्षण का निर्धारण किया जाता है, हो सकता है कि नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत ने भी इसका पालन किया हो और इनके बाद के आचार्यों ने तो लक्ष्य के आधार पर ही लक्षण ग्रन्थों की रचना किया; इसमें कोई सन्देह नहीं।

इन्हीं आदरणीय आचार्यों का नकल करता हुआ मैं भी प्रतिमानाटकम्, स्वप्नवासवदत्तम्, रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, रत्नावली-नाटिका, कादम्बरी, उत्तररामचरितम्, नलचम्पू आदि ग्रन्थों का आश्रय लेकर प्रतिहारी (स्त्री-द्वारपाल) को समझाने का प्रयास करता हूँ-

प्रतिहारी का कार्य राज्य के बाहर से गुप्तचर या नागरिक या कोई भी बाहरी सूचना राजा तक या रानी तक या मन्त्री तक या सेनापति तक या अन्य कोई अपने से उच्च श्रेणी के पात्र के समीप निवेदन करना होता है।

प्रतिहारी- स्त्री-द्वारपाल की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- ''उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्''।[1]

प्रतिहारी = प्रतीहारी ''उपसर्गस्य दीर्घः'' से उपसर्ग परे वर्ण के ह्रस्व को दीर्घ ।

प्रति हृ ''अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्'' हृ धातु से घञ् प्रत्यय ।

प्रति हृ घञ् ''अचो ञ्णिति'' से अजन्त अङ्ग हृ के ऋ को वृद्धि से आकार तथा- ''उरणरपरः'' से- आ के स्थान पर रकार का व्यवहार ।

प्रति हार् घञ् ''लशक्वतद्धिते व हलन्त्यम् और तस्य लोपः'' से लोप ।

प्रति हार् अ प्रतिहार

प्रतिहार ङीष् ''यचिभम् व यस्येति च'' से प्रतिहार के अकार लोप और प्रतिहारी शब्द की प्राप्ति ।

प्रतिहारी - जिसका अर्थ (1) स्त्री-द्वारपाल (2) ड्योढीवान (3) स्त्री-दरबान, होता है ।

इसी क्रम में सर्वप्रथम महाकवि भासप्रणीत प्रतिमानाटकम् से उदाहरण-

सूत्रधार – चरति पुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा ।
मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव ।।[2]

रामराज्याभिषेक का प्रसङ्ग है, सूत्रधार रङ्गमञ्च पर प्रवेश करके कहता है- कि

इस समय काशयुक्त नदीतट पर निवास करने वाली हंसी अत्यन्त प्रसन्न हो उसी प्रकार पुलिन पर विचरण कर रही है; जिस प्रकार राजमहल में द्वारपालिका शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए प्रसन्न होकर शीघ्रतापूर्वक सञ्चरण करती है ।

इसके बाद प्रतिहारी प्रवेश करती है, और कहती है -

अय्य ! को इह कञ्चुईआणां सण्णिहिदो। (आर्य ! क इह कञ्चुकीयानां सन्निहितः।)।[3]

आर्य ! कञ्चुकियों में से यहाँ पर कौन है?

पुनः कञ्चुकी – भवति अयमस्मि। किं क्रियताम् (श्रीमति यह मैं हूँ। क्या कार्य किया जाय?)

प्रतिहारी - अय्य ! महाराओ देवासुरसङ्गामेसु अप्पडिहदमहारहो दसरहो आणवेदि- सिग्घं भट्टिदारअस्स रामस्स रज्जपहाव सज्जोअकारआ अहिसेअसम्भारा आणीअन्तु त्ति।[4]

---

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, कला-सङ्काय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

आर्य ! देवों तथा असुरों के युद्धों में सदा विजयी महाराज दशरथ की आज्ञा है; कि शीघ्र ही युवराज राम के प्रभुत्व के अभिषेक की सारी सामग्री तैयार की जानी चाहिए।

अब यहाँ प्रतिहारी के विषय में कुछ बातें स्पष्ट कर देना चाहता हूँ-

(क) (1) प्रतिहाररक्षी-प्रतिहारं द्वारं रक्षति इति (व्याख्या) कर्मण्यण् स्त्रियां डीप् – प्रतिहारी।

इससे द्वारपाल सूचित होता है।

(2) भवति अयमस्मि से यह स्पष्ट है कि यह निम्न पात्र होते हुए भी सम्मानसूचक शब्दों से सम्बोध्य है।

(3) अय्य ! को इह कञ्चुईआणां सण्णिहिदो। से इसकी भाषा शौरसेनी जान पड़ती है। क्योंकि श,स,ष के स्थान पर केवल स का प्रयोग है। पृथ्वीधर के अनुसार

स्वप्नवासवदत्तम् में कञ्चुकी प्रवेशकर कहती है-

क इह भोः ! काञ्चनतोरणद्वारमशून्यं कुरुते?।[5]

(अरे यहाँ कौन सुनहले बाहरी द्वार को अपनी उपस्थिति से सम्पन्न बना रहा है?)

प्रतिहारी- अय्य ! अहं विजआ। किं करीअदु?

आर्य मैं (प्रतिहारी) विजया हूँ। क्या करूँ?

(ख) यहाँ भी प्रतिमानाटक में प्रयुक्त-अय्य और स्वप्नवासवदत्ता में प्रयुक्त-अय्य शब्द के साम्य से भाषा मागधी जान पड़ती है।

रघुवंशम् से- ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।

प्राक्सन्निकर्षः मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा।।[6]

इसी बीच पुरुषों के समान वीर और राजाओं के यशों की कथा जानने वाली रनिवास की प्रतिहारी सुनन्दा सबसे पहले इन्दुमती को मगध नरेश के आगे ले गयी और बोली-

विदर्भ देश के राजा भोज की पुत्री इन्दुमती के स्वयंवर में राजा 'अज' जाते हैं; और स्वयंवर में इन्दुमती अपनी प्रतिहारी के साथ पहुँती है। सर्वप्रथम मगधनरेश परन्तप क्रमशः उज्जैनी नरेश, मथुरा नरेश पुनः अयोध्या नरेश अज इत्यादि।

(ग) रघुवंश में प्रयुक्त-प्रतिहाररक्षी सुनन्दा से यह स्त्री जान पMती है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् – राजा दुष्यन्त रङ्गमञ्च के आसन पर प्रतिहारी वेत्रवती सहित विराजमान हैं, तभी कञ्चुकी कण्व शिष्यों का समाचार लेकर प्रवेश करता है। तब राजा द्वारपालिका से कहते हैं -

(वेत्रवति तन्नाम प्रतिहारी द्वारपालिका वा)टीका में वर्णित है ।

(उत्थाय) वेत्रवति अग्निशमार्गमादेशय।[7]

(उठकर) वेत्रवति अग्निशाला का मार्ग निर्देशित करो।

प्रतिहारी – इत इतो देवः। (इदो-इदो देवो।)

महाराज इधर से (जाइए) इधर से। परिक्रमा करने के बाद–

प्रतिहारी- महाराज से -

एसो अहिणवसम्मज्जणसस्सिरीओ सण्णिहिदहोमधेणू अग्गिसरणालिन्दो। आरोहदु देवो ।

(एषोऽभिनवसंमार्जनश्रीकः संनिहितहोमधेनुरग्निशरणालिन्दः। आरोहतु देवः।)।[8]

तत्काल लीपे जाने से सुन्दर एवं होमधेनु से युक्त यह अग्निशाला का चबूतरा (आलिन्द) है। महाराज चढे।

हर्षविरचित रत्नावली-नाटिका के चतुर्थ अङ्क में राजा विदूषक से वार्तालाप कर रहा है। तदुपरान्त प्रतिहारी वसुन्धरा का प्रवेश – (ततः प्रविशति वेत्रहस्ता वसुन्धरा) (वसुन्धरा तन्नाम प्रतिहारी)टीका में[9]

वसुन्धरा- जअदु जअदु भट्टा। एसो क्ख रुमण्णदो भाइणेदो विजअवम्मा पिअं किंपि णिवेदिदुकामो दुआरे चिठ्ढदि।[9]

जयतु जयतु भर्ता। भर्तः एष खलु रुमण्वतो भागिनेयो विजयवर्मा प्रियं किमपि निवेदयतुकामो द्वारि तिष्ठति।[10]

जय हो महाराज की जय हो। स्वामी यह रुमण्वान् का भाञ्जा विजयवर्मा कुछ प्रिय निवेदन करने की इच्छा से द्वार पर स्थित है।

(घ) अभिज्ञानशाकुन्तल और रत्नावली-नाटिका में प्रयुक्त-प्रतिहारी वर्णन से यह स्पष्ट होता है। कि प्रतिहारी भी हाथ में दण्ड धारण किये रहती थी।

कादम्बरी में प्रतिहारी- ''एकदा तु नातिदूरोदिते नव-नलिन-दलसम्पुट-भिदि किञ्चिन्मुक्त-पाटलिम्नि भगवति सहस्त्रमरीचिमालिनि, राजानमास्थानमण्डपगतमङ्गनाजनविरुद्धेन वामपार्श्वलम्बिना कौक्षेयकेण सन्निहितविषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयाकृतिः, अविरलचन्दनानुलेपन-धवलित-स्तनतटा उन्मज्जदैरावतकुम्भमण्डलेव मन्दाकिनी चूडामणिसंक्रान्तप्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमती राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बरा, जामदग्न्यपरशु-धारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवन- भूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी, प्रतिहारी समुपसृत्य क्षितितल-निहित-जानु-करकमला सविनयमब्रवीत-''।[11]

एक बार नये कमलपत्तों को विकसित करने वाले और लाली को कुछ छोडने वाले भगवान् सूर्य के कुछ दूर उदित होने पर प्रातःकाल में सभामण्डप में स्थित राजा के पास स्त्रीजन के विरुद्ध और वाम भाग में लटकते हुए तलवार से सर्प की निकटवर्तिनी चन्दनलता के समान भयङ्कर और मनोहर आकृति

वाली निरन्तर चन्दन के अनुलेपन से जिसका स्तनतट सफेद है, जिसमें ऐरावत हाथी का मस्तकपिण्ड ऊपर उठा है ऐसी आकाशगङ्गा की समान, शिर के रत्नों में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के बहाने से अन्य राजाओं के शिर से ली गयी मूर्तिमती राजा की आज्ञा की सदृश, हँसी से सफेद आकाश वाली शरत् (ऋतु) की हंस के समान सफेद वस्त्र पहनी हुई, परशुराम के फर्से की नोक की तरह सब राजसमूह को वश में करनेवाली, जैसे विन्ध्यपर्वत की भूमि वेत्रलता से युक्त है, वैसे ही वेत्रयष्टि को लेने वाली शरीर को धारण करने वाली राज्य की अधिदेवता की सदृश द्वारपालिका निकट आकर घुटने टेककर और करकमलों को जमीन पर रखकर नम्रता के साथ बोली-

(ङ) इस वर्णन से भी यह स्पष्ट होता है, कि प्रतिहारी लाठी धारण करती थी। और तलवार को भी सुरक्षा की दृष्टि से धारण करती थी।

उत्तररामचरित में गर्भवती सीता का वर्णन राम कर रहे हैं। तब तक प्रतिहारी प्रविश्य –

देव ! उवट्ठितो । देव ! उपस्थितः ।[12]

महाराज ! उपस्थित हो गया है ।

रामः – अयि ! कः ?

प्रतिहारी- आसण्णपीरआर ओ देवस्य दुम्महो। (आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः)।

महाराज का निकटवर्ती सेवक दुर्मुख ।

रामः – आगच्छतु। (प्रतीहारी निष्क्रान्ता)।

(च) कादम्बरी और उत्तररामचरित में द्वारपालिका के लिए प्रयुक्त शब्द 'प्रतीहारी' से स्पष्ट होता है, कि प्रतिहारी और प्रतीहारी दोनों शब्दों का प्रयोग होता था।

नलचम्पू में राजा भीमसेन के द्वारपाल का वर्णन है –

एवमविश्रान्तमतितास्वरेण पुरः पौरपुरन्ध्रिमण्डलान्युद्दण्डयतो दण्डपाशिकस्य कलकलमाकर्णयत्यास्थानस्थिते राजनि, प्रविश्य प्राणमप्रेङ्खोलितगलकन्दलावलम्बितजाम्बूनदस्थूलशृङ्खलास्फालितवक्षःस्थलः स्थविरवयाः सवेषः प्रतीहारः सविनयमुक्तवान्।[13]

(प्रतीहारः- द्वारपालः)

इस प्रकार अविरल अत्यन्त उच्चस्वर से नागरिक वधूजनों के समक्ष गाढ उत्साहित करते हुए दण्डपाशिक के सुने जाने पर प्रणाम के लिए आगे बढ़े हुए ग्रीवाङ्कुर से लटक रहे सोने के आभूषण विशेष से विस्तारित वक्षःस्थल वाले अनुकूल वेशधारी प्रतिहार ने प्रवेशकर सविनय निवेदन किया।

(छ) इससे स्पष्ट होता है कि प्रतिहार द्वारपाल भी द्वाररक्षक के निमित्त होते थे।

आदि आचार्य भरत अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत भाषा के सात भेदों में राजाओं के अन्तःपुर में निवास करने वालों की भाषा शौरसेनी हो।[14] ऐसा कहा है।

उपसंहृति-निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है, कि संस्कृत-काव्यों में नायक, नायिका, प्रतिनायक, विदूषक, विट, चेट, कञ्चुकी, सूत्रधार आदि पात्रों की तरह प्रतिहारी भी एक पात्र होती है जो पुरुष द्वारपाल या स्त्री द्वारपालिका के रुप में चिह्नित है। जिसका कार्य राज्य के बाहर से गुप्तचर या नागरिक या कोई भी बाहरी सूचना राजा तक या रानी तक या मन्त्री तक या सेनापति तक या अन्य कोई अपने से उच्च श्रेणी के पात्र के समीप निवेदन करना होता है। जो हाथ में दण्ड धारण किये रहती है, जिसकी भाषा शौरसेनी जान पड़ती है। श,स,ष के स्थान पर केवल 'स' का प्रयोग शौरसेनी पृथ्वीधर सम्मत है। जो प्रमुख द्वारपाल या स्त्री-द्वारपालिका के रुप में चिह्नित है।

सन्दर्भ-सूची-

(1) अष्टाध्यायी -6/3/122 ।

(2) प्रतिमानाटम्-1/2

(3) श्रीधरानन्दशास्त्री-व्याख्या-कृत-प्रतिमानाटम्-1/पृ0-6 ।

(4) श्रीधरानन्दशास्त्री-व्याख्या-कृत-प्रतिमानाटम्-1/पृ0-7-8 ।

(5) आचार्य शेषराजशर्मा 'रेग्मी'-व्याख्या-कृत-स्वप्नवासवदत्तम्-6/पृ0-134।

(6) रघुवंशम्-6/20 ।

(7) डाँ0 शिवशंकर गुप्त व्याख्या-कृत-अभिज्ञानशाकुन्तलम्-5/पृ0-144 ।

(8) डाँ0 शिवशंकर गुप्त व्याख्या-कृत-अभिज्ञानशाकुन्तलम्-5/पृ0-147 ।

(9) पं0परमेश्वरदीन पाण्डेय-व्याख्या-कृत-रत्नावली-नाटिका-4/पृ0-147 ।

(10) पं0परमेश्वरदीन पाण्डेय-व्याख्या-कृत-रत्नावली-नाटिका-4/पृ0-146 ।

(11) आचार्य शेषराजशर्मा 'रेग्मी'-व्याख्या-कृत-कादम्बरी-पृ0-24 ।

(12) डाँ0 रमाशंकर त्रिपाठी व्याख्या-कृत-उत्तररामचरितम्-1/पृ0-90 ।

(13) पं0 परमेश्वरदीन पाण्डेय-व्याख्या-कृत-नलचम्पू-7/पृ0-495 ।

(14) नाट्यशास्त्र-17/51।

प्राचीन भारतीय मठ बद्ध शिक्षा

*डॉ0 पेशन्स फिलिप्स**

भारत में सम्पूर्ण शिक्षण व्यवस्था जो मूलतः आध्यात्म पर ही आधारित थी की परम्परा सनातन वैदिक काल से ही प्रचलन में रही, जिसमें मुख्य आचार्य कुछ शिष्यों के साथ गुरुकुलों में रहकर मुख्य विषयों की शिक्षा प्रदान करते थे। इन प्राचीन गुरुकुलों की परिचर्चा प्राचीन धर्म साहित्यों में मिलती है। इन गुरुकुलों के भौतिक आकृति का कोई पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत बौद्ध शिक्षण का इतिहास बौद्ध मठ-विहारों और भिक्षु संघों के इतिहास का ही एक पक्ष है।[1] प्रायः ईसा पूर्व की चौथी शती से पूर्व तक बौद्ध-संघ में 'विहार' का प्रारम्भ तथागत के जीवन काल में तभी हो गया था जब उन्होंने चेतवन के 60 ग्रहों के अुनदान को वर्षावास के लिए स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् बौद्ध भिक्खुओं के वर्षावास के लिए प्रचुरता से गृह एवं 'गृह-समुदाय' का दान बौद्ध संघ को प्राप्त होता रहा, जिसमें बौद्ध भिक्खु, समूह में वर्षावास करते थे। वर्षावास की अवधि में समूह-वास करते समय निश्चित रूप से समूह का प्रत्येक भिक्खु वर्ष पर्यन्तमे वर्षाकाल से शेष काल में किए हुए भ्रमण के अनुभवों को आपस में साझा करते थे, उस धार्मिक-सामाजिक ज्ञान परिचर्चा में समूह के वरिष्ठ भिक्खु भ्रमण के द्वारा प्राप्त ज्ञान की गूढ़ता को परिमार्जित करके नवीन भिक्खुओं को शिक्षाप्रद सूत्रों में प्रदान करते थे, जिससे नवीन भिक्खु वर्षावास के बाढ़ के भ्रमण में यदि वैसी ही परिस्थिति से दो चार होता था तो वह ज्ञान उसे लाभान्वित करता था। इसके अतिरिक्त समूह में रहने के कारण प्रत्येक भिक्खु मनोवैज्ञानिक रूप से स्वयं को सुरक्षित समझता था, क्योंकि वस्त्र, भोजन, शय्या एवं रुग्ण अवस्था में चिकित्सा सेवा सहज ही उपलब्ध होता था। साधनों के सहज उपलब्ध होने के कारण एक सामान्य बौद्ध भिक्खु ज्ञान के मार्ग पर सहज ही शांत-एकाग्रचित से साधना करने में सहजता को प्राप्त करता था। जिससे उसके आत्मिक ज्ञान में वृद्धि का लाभ मिलता था। विकास के प्रारम्भिक स्थिति में ये विहार वर्षावास की अवधि में 'बौद्धिक जीवन' की प्रक्रिया एवं प्रगति परक समृद्धि के पर्याय बन गये। जिन्होंने अपने उदार प्रभाव की सहज अभिव्यक्ति के कारण विस्तार के नये आयाम प्राप्त किये।

विहारों में वर्षावास की अवधि व्यतीत करने के कारण समूह से भी वस्त्र, भोजन, शय्या एवं रुग्ण-अवस्था में चिकित्सीय देखभाल के अनुमोदन से शनैः-शनैः एक ऐसी शैक्षणिक व्यवस्था अस्तित्व में आई जिसमें सम्पूर्ण शिक्षण प्रक्रिया किसी एक गुरु पर आश्रित न होकर विभिन्न विषयों में अनुभवी भिक्खों पर ही आश्रित होता है। इस तरह बौद्ध पद्धति में शिक्षण कार्य कई शिक्षकों के सौंधिक-स्वामित्त्व की संस्था बन गई जिसे नित्य नवीन मानसिक क्षितिज प्राप्त होते गए। अन्ततः विहार एक ऐसी जगह बन गये जो 'मठ-बद्ध-पद्धति' में पारलौकिक एवं लौकिक मनन एवं चिंतन के स्थान ही नहीं अपितु संस्कृति एवं ज्ञान के पीठ बन गए।[2]

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से मोक्ष प्राप्ति की इच्छा की धारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है। इस आध्यात्मिक प्रवाह की दो धारायें श्रमण परम्परा एवं वैदिक परम्परा सदैव परिलक्षित होती है। मोक्ष प्राप्ति के प्रायोगिक मार्ग पर तो दोनों धाराएं अलग-अलग दिशाओं को प्रदर्शित है।

श्रमणों की उपस्थिति प्राचीन काल से ही है। वैदिक साहित्य भी इसका समर्थन करते है। तैत्तिरीय[3] आरण्यक में वर्णन आता है- 'वातररान श्रमण ऋषि ब्रह्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए। उनके पास अन्य ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हें देख श्रमण कहीं अन्तर्हित हो गये। ऋषियों ने उन वातररान मुनियों से प्रश्न किया- 'किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते है। वातररान मुनियों ने उन्हें निलय आये हुए अतिथि मानकर कहा-हे मुनिजनों, आपकों नमोस्तु है। हम आपका सत्कार किससे करें? ऋषियों ने कहा-हम पवित्र-आत्मा-विधा का उपदेश दीजिए जिससे हम निष्पाप हो जाए। स्पष्ट है श्रमण मुनि पवित्र आत्मा विद्या के निष्पात थे जबकि वैदिक ऋषि इस पवित्र आत्मा विधा से अन्जान थें वैदिक ग्रन्थों में श्रमण साधकों को 'व्रात्य' की संज्ञा भी दी गयी है। जैन साधकों के अनुसार उपवास आत्मा के उच्च भावों में रमण और आत्मा के सात्विक भावों के चिंतन में सहायक है। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्माचार्य नामक पंच महाव्रतों का पालन करने के कारण संहिता काल व्रात्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

भारत के स्वस्थ जलवायु में एक जैसी नवीन धार्मिक स्थिति का जन्म हो रहा था जिसमें यज्ञों के स्थान पर 'ज्ञान' एक 'चिन्तन' को प्रधानता दी गयी[4] जिसे हम 'आरण्यक' के नाम से जानते है। इन आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है जिसमें 'कर्म' और 'ज्ञान' का समन्वय है। श्रमणों की 'आत्म-विद्या' में निष्पात होने के लिए ऋषियों ने 'प्राण' या 'श्वास' तत्व को ही शरीर की जीवन शक्ति मानते हुए आरण्यकों ने इसकी बड़ी महिमा की है। उपनिषद् काल में श्रमण आत्म विज्ञान से 'आत्मा' तत्व एवं वैदिक ऋषियों की खोज 'सत् तत्व' अर्थात् ईश्वर जैसे दो रहस्यमयी शक्तियों को पर ध्यान केन्द्रित करके मोक्ष की अंर्तयात्रा का प्रारम्भ किया। उपनिषदों में ही सर्वप्रथम हमें 'माया' के बीज मिलते है जिसे 'अविद्या' की संज्ञा दी गयी है[5], जिसकी उपस्थिति

* असिस्टेंट प्रो. महिला महाविद्यालय, ए.आई.एच.सी. & आर्कियोलॉजी एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

के कारण संसार एक आभासी छाया जगत् की तरह व्यवहार करता है। उपनिषदों के अनुसार सृष्टि में 'आत्मा' या 'ब्रह्मा' के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह मात्र नाम रूपात्मक ही है। इस नाम रूपात्मक के पार्श्व में 'सत् तत्व' एक ही है जो अविद्या के प्रपंच से छिप गया है जिसके कारण इसे ही 'भव-बंधन' की उपमा दी गयी। उपनिषदों के अनुसार इस 'भव-बन्धन' से 'आत्म-ज्ञान' के द्वारा ही छुटकारा मिल सकता है जिसकी प्राप्ति को 'आत्म साक्षात्कार' कहा गया। 'आत्म ज्ञान' के मार्ग को 'अपराविद्या' कहा गया है। जिसकी विषयवस्तु की प्राप्ति हेतु 'श्रवण', 'मनन' तथा 'ध्यान' ही मात्र उपाय है। इन तीन उपायों का प्रयोग करके मनुष्य आत्म साक्षात्कार कर सके उसके लिए उपनिषदों ने चार महावाक्य या सूत्र या सिद्धांत जो चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करते है को प्रतिपादित किया, ये चार सूत्र निम्न है–

प्रथम-'प्रज्ञान ब्रह्मा', ऐतरेय उपनिषद्, 3.3 ऋग्वेद गुरु के 'श्रवण' के द्वारा ज्ञान का आधार सम्पूर्ण नहीं होता है वरन् वो किसी छोटी से घटना या तत्व (जैसे वृक्ष की पत्ती) सम्बन्धित ज्ञान देगा, यह ज्ञान उस विषय से सम्बन्धित सूचना मात्र होगी। शिष्य इस वस्तु से प्राप्त सूचना पर 'मनन' करके अर्थात् 'स्व-अध्ययन' करके उस वस्तु के विषयवस्तु की सूचनाओं से सम्बन्धित ज्ञान को अपने भीतर रख लेता है, तब उस 'मनन' पर उसका 'ध्यान' लगता है, वह 'ध्यान' की प्रक्रिया के द्वारा गुरु की सूचनाएं जो 'विचार' में परिवर्तित हो चुकी है को 'निर्विकार' से तब्दील करकें, संदर्भित विषय के मूल सतत तत्व को जो 'नाम-रूपात्मक' या 'अविद्या' के पार्श्व में छुपी है को ज्ञान कर लेता है। इस तरह एक साधक इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान पर 'श्रवण', 'मनन', एवं 'ध्यान' के द्वारा 'प्रज्ञान' अर्थात् 'विषयवस्तु के मूल स्वभाव को ज्ञान कर लेना' को प्राप्त करके इस संसार के दुःख स्वरूप को समझ सकता है।

द्वितीय महावाक्य, ''अयं आत्मा ब्रह्मा (मांडूक्य उपनिषद, 1.2, अथर्ववेद अर्थात् यह आत्मा जो मेरी है वहीं ब्रह्मा है, 'पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते अर्थात् पूर्ण से ही पूर्ण पैदा हो सकता है, अंतर केवल 'मात्रा' का होता है। इन्द्रियों द्वारा मात्र 'नाम-रूपात्मक' को ग्रहण करने के कारण ही यह 'अंश' समझ में आया है। यह तो 'अयं प्रज्ञानं ब्रह्मा' वहीं से प्राप्त ज्ञान है वहीं आत्मा की विषय वस्तु है। 'नाम-रूपात्मक से प्राप्त सूचना के लिए 'आत्मा' के पास कोई जगह नहीं है।

तृतीय महावाक्य, ''तत् त्वम् असि', छान्दोग्य उपनिषद् 6.8.7, सामवेद का अर्थ है 'वह तुम ही हो', यह स्वयं का अनुसंधान है, जो 'मृत्यु के शरीर' से 'वह' के छूटने या बचने का उपाय खोज रहा है। 'वह' से बिस्तार का आभास हो रहा है। अंततः मनुष्य इस तथ्य से परिचित हो जाता है। कि वह जिस सत्य को बाहर खोज रहा है वह शरीर के भीतर में 'मैं' ही तो हूँ। हमारी यात्रा उसी से मुलाकात की है। इस स्थिति का सं0 ज्ञान होते ही हमारे भीतर एक 'अवेयरनेस' आ जाती है और तब हम प्रत्येक तत्व के दृष्टा बन जाते है। दृष्टा बनते ही सम्यक् दृष्टि हो जाती है और 'कर्म' के प्रभाव से मुक्त हो जाते है।

चतुर्थ महावाक्य है, ''अहम् ब्रह्मासिम'', वृहदारण्यक उपनिषद, 1.4.10, अपने ही स्वरूप अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करके यजुर्वेद 'अहम् ब्रह्मास्ति' अर्थात् में ही ब्रह्मा हूँ की अनुभूति कर लेता है, उपनिषदों में इसे ही 'मोक्ष' कहा गया है जो 'अर्हत्' के पद को सूचित करता है।

बुद्धकालीन भारत में आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में 'श्रमण' का 'आत्मज्ञान' जो ब्रह्मा की अनुपस्थिति में श्रम से अर्जित होता था, वैदिक ऋचाओं की संगति से गुजरकर उपनिषदीय काल में 'गुरु-शिष्य' परम्परा पर उद्घोषित 'अहमं् ब्रह्मास्मि' के द्वारा श्रमपूर्वक ही अर्जित किया जाने लगा। चूँकि यह ज्ञान 'गुरु-शिष्य परम्परा' में 'मौखिक' शिक्षण पर ही हस्तांतरित होता था जिसे बुद्ध के समय 'आध्यात्मिक ग्रन्थों' में बदल दिया गया था। 'आर्यपर्येषणा'[6] के प्रथम पाँच वर्षों में बुद्ध को निराशा ही मिली। तब उन्होंने बोधिसत्त्व (बुद्ध बनने से पूर्व के जन्मों में प्राप्त ज्ञान के प्राप्त होने की स्थिति) से प्राप्त ज्ञान के आधार पर यह निश्चय किया कि वे निर्वाण प्राप्ति के लिए बचपन में अनुभूत ध्यान के मार्ग पर ही प्रशस्त होंगे।[7] इस निर्णय के साथ ही बोधिसत्व ने अपने ध्यान सुख के भय को भी छोड़ दिया, क्योंकि इस सुख का आधार न भोग लालसा थी, न अपुण्य।[8] इस अनुभूत ध्यान की प्रक्रिया में अपनी पंचतत्वों से बनी काया को भूख, प्यास और थकान से दूर रखने के लिए अनाहार का त्याग कर प्रवेश किया। बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के लिए बुद्ध ने कर्म के द्वारा क्षत्रिय धर्म पर आश्रित 'श्रमण' परमपरा के अति को छोड़ा तो दूसरी तरफ वैदिक कर्मकाण्ड एवं ज्ञान पर आश्रित 'आत्म', ईश्वर, एक ईश्वरीय ग्रन्थों के परिपालन की अति को भी छोड़ दिया। दोनों अतियों के मध्य में एक 'मध्यम मार्ग' विकसित करके बोधिसत्य बुद्धाव की प्राप्ति कर ली। निर्वाण प्राप्ति के सर्वथा नवीन मार्ग जिससे आध्यात्मिक जगत् अनजान या अन्वेषण के कारण बुद्ध को गुरु-तत्व का प्रतीक माना गया है। निर्वाण मार्ग का अन्वेषण करने के कारण ही बुद्ध को 'शास्ता' अर्थात् मार्गदर्शक गुरु भी कहा जाता है।[9] यह गुरु प्रज्ञा के साथ-साथ 'महाकरुणा' के भाव से भी संयुक्त होता हैं, जिससे वह ऐसे सभी जिज्ञासु साधकों को परम सत्य में स्थापित करके उन्हें दुःखों से मुक्त करवा सके। पूर्वजन्म के प्रारब्ध के कारण बोधिसत्य के पद तक पहुँच चुके जिज्ञासु साधकों के प्रति तथागत का यह महाकरुणा भाव बौद्ध धर्म में स्थापित मठ-बद्ध शिक्षा पद्धति' का मूलभाव है। इस महाकरुणा के भाव में स्थापित 'गुरु' इस बुद्धतत्त्व के साथ एक तरफ तो शिष्यों पर 'मठीय-अनुशासन-पद्धति' के द्वारा अपनी करुणा रूपी उत्तरदायित्वों की पूर्ति करके शिष्य को बोधिसत्व के मार्ग पर अग्रसारित तो करता ही है, वहीं दूसरी तरफ गुरु की इस महाकरुणा में निज स्वार्थ का अंश जितना न्यूनतम होगा उतना ही वह स्वयं को भी बोधिसत्व या बुद्ध पर की प्राप्ति की दिशा में अग्रसारित कर

सकेंगे। 1686 ई0 में सर आइजेक न्यूटन ने भौतिक विज्ञान के द्वारा प्रकृति में उपलब्ध दो शक्तियों का वर्णन करते हुए इन्हें क्रमशः 'क्रिया' एवं 'प्रतिक्रिया' की संज्ञा दी।[10] प्रकृति में उपस्थित 'क्रिया' नामक शक्ति को ही बुद्ध दर्शन ने 'प्रतीत्य' अर्थात् कारण पूर्व ही वस्तु की उपस्थिति, यही क्रिया है, जो कम से कम दो घटकों के मेल के परिणाम से उत्पन्न हो रही, इसी 'क्रिया' की 'प्रतिक्रिया' नामक द्वितीय बल उत्पन्न होता है जिसे बुद्ध दर्शन में 'समुत्पाद' अर्थात् उस प्रथम वस्तु की उपस्थिति से किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति होना है। न्यूटन ने प्रकृति में स्थित इन दो बलों क्रिया एवं प्रतिक्रिया के दो गुणों को सिद्ध किया, प्रथम-दोनों बलों की दिशा एक दूसरे के विपरीत होगी, द्वितीय-दोनों बलों की मात्रा समान होगी। न्यूटन से 2214 वर्ष पूर्व बुद्ध ने 'क्रिया-प्रतिक्रिया' के सिद्धांत के विषय में इतना ही कहा- अस्मिन् सति इदं भवति अर्थात् इस चीज के होने पर यह चीज होती है। निश्चय ही एक 'गुरु' जब ऐ ऐसे श्रावक को जो अपने प्रथम दो भव चक्रों से प्राप्त प्रारब्ध के द्वारा सम्बोधि मार्ग पर अग्रसर हो चुका है को 'ज्ञान' प्रदान करता है तो उसकी प्रतिक्रिया में गुरु वर्तमान जन्म के भव चक्रों में सुधार करके अपने पुनर्जन्म के भव-चक्रों में उसी मात्रा में सुधार को स्वतः हासिल करके बोधिसत्व या निर्वाण के पद की ओर अग्रसर हो जाता है।

'प्रतीत्य-समुत्पाद' के रूप में 'कार्य कारण' के सिद्धांत की खोज बुद्ध की नितांत निजी खोज है। इस सिद्धांत तक पहुँचने के लिए बुद्ध ने समकालीन उपलब्ध दर्शन के सिद्धांतो की समीक्षा करके यह देखा कि समाज में भले एवं बुरे कर्म के विधान की अपेक्षा 'नियतिवाद' की प्रधानता है जिसमें सब कुछ को ईश्वर ने भाग्य के अधीन करके मनुष्य को उस भाग्य के आधीन जीवन व्यतीत करने के लिए पृथ्वी पर 'शरीर' धारण करा दिया है। 'भाग्य' का सिद्धांत दूसरे कर्मो से दुःख को प्राप्त होने के पश्चात् भी उस दुःख के लिए उस व्यक्ति उत्तरदायी नहीं ठहरा सकता था। इस तरह समस्त समाज शोषक एवं शोषित वर्ग में समाहित हो गया तथा दोनों वर्ग यादृच्छिक रूप से इच्छापूर्वक एवं अनिच्छापूर्वक अपना कर्म सम्पादित करते रहे। आध्यात्मिक पथ पर 'भाग्य का सिद्धांत' स्वयं द्वारा सम्पन्न किये गए कर्म का स्वः इच्छा से प्रेरित न मानकर 'ईश-इच्छा' के रूप में सम्पन्न करता था, जिसके कारण 'परा' 'जड़ता' ने बुद्धि के तर्क रूपी प्रकाश को आच्छादित करके अपरा ज्ञान को पंगु कर दिया था। इस दुरावस्था से बाध्य होकर तथागत् ने इस 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के अटल नियम की व्याख्या की। यह नियम देश, काल और विषय के प्रति यहाँ तक पूर्ण जागरूक है कि तीनों कालों के बुद्ध भी इस नियम में परिवर्तन की शक्ति न तो रखे थे, न है और न ही होगा। स्वयं बुद्ध भी अटल नियम के परिपालन के लिए बाध्य है। इस तरह बुद्ध धर्म के 'मठ-बद्ध-शिक्षा-पद्धति' में प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांत के द्वारा 'गुरु-शिष्य' परम्परा के उपनिषदीय धारा को ही आगे प्रवाहित करते हुए 'श्रावक-कल्याण' अर्थात् 'शिष्य-कल्याण की अनुकम्पा प्रदान की।

बुद्धकाल के भारत में शिक्षा का मूल अध्यात्म पर ही आधारित था। इन्हीं आध्यात्मिक तथ्यों पर आधारित ज्ञान को सम्प्रेषित करने के लिए भाषा एवं व्याकरण का विकास हुआ फिर प्रकृति में उपलब्ध तथ्वों की मीमांसा के लिए तात्विक प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया गया जिनकी क्लिष्टता के कारण उस समय के शिक्षा जगत् में ऐसी वैचारिक मारकाट मची की जिसे ज्ञान से मानव के दुःखों का अंत होना चाहिए वही ज्ञान अपनी अप्रायोगिक स्थिति के कारण दुःख के कारणों में वृद्धि का कारण बन गयी।

बुद्ध प्रदत्त जिस शिक्षा-पद्धति का अनुसंधान बुद्ध द्वारा किया गया था, वह मूलतः बुद्धिवादी पद्धति थी जिसमें वे तथ्यों को स्वः में परखे बिना विश्वास करने की जगह तथ्यों को प्रत्युत तर्कबुद्धि की कसौटी पर कसने से उत्पन्न विश्वास को ही अपने ज्ञान का आधार बनाने के पक्षधर थे। बोधिसत्व ने कालामों से उपदेश देते समय प्रखर वाणी में कहा कि किसी भी तथ्या को मात्र इसलिए अपना मत मानों कि वह परम्परा से चला आता है, अथवा यह तथ्य प्राचीन काल से विद्यमान है, अथवा यह तथ्य किसी धर्म ग्रन्थ का हिस्सा है अथवा इसका उपदेष्टा गुरु तापस है, अथवा किसी वाद के लिए उसका ग्रहण करना समुचित है। इन कारणों से किसी भी तथ्य को ग्रहण मत करों, प्रत्युत इस कारण से ग्रहण करों कि वे धर्मकुशल (शुभप्रद) है, तथा वे धर्म अनवध-अनिन्दनीय है, तथा उन्हें ग्रहण करने पर उनका फल सुखद तथा हितप्रद होगा। (अंगुत्तर निकाय) तथागत ने अपने भिक्षुओं से कहा किसी भी वचन को बिना उसकी परख किये हुए ग्रहण करना शुभ नहीं होता।

बुद्ध ने अपनी शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत मठ-बद्ध गुरु शिष्य परम्परा के अन्तर्गत तत्वानुसंधान के प्रति अपने भावों को स्पष्ट अभिव्यक्त किया हैं इस शिक्षा पद्धति में साधक को गुरु द्वारा प्राप्त ज्ञान पर अन्धविश्वास करने के स्थान पर युक्ति की सहायता से पुरुषार्थ करके उस ज्ञान में निहित तथ्य का संधान करके उसके शुभ अशुभ तत्व पर स्वयं निर्णय लेना चाहिए, शिक्षा पद्धति की यह परम्परा पुद्गल शरण का विरोध करती है। बुद्ध की शिक्षा पद्धति युक्ति परक होने के अतिरिक्त नितान्त व्यवहारिक थी। इस शिक्षा पद्धति में शिष्यों की जिज्ञासा को गुरु भाव शुष्क तर्क के द्वारा दुरुह तथ्वों की व्याख्या करके नहीं करता था। वरन् जिस प्रकार एक वैध रोगी के रोग अनुसन्धान के पश्चात् उसकी आवश्यकता के अनुसार औषधि का प्रकार एवं उसके उपयोग की मात्रा का निर्देश देकर उसका निदान करता है ठीक वैसे ही भव रोग से पीड़ित शिष्य के प्रश्नों को उनकी आवश्यकतानुसार उत्तर देना संतुष्ट कर देता था। इस तरह तथागत के अनुसार अव्याकृत प्रश्नों के द्वारा आगाम की गई विद्या का न तो कोई उपयोग है न ही इसके द्वारा निर्वाण प्राप्ति की जा सकती है, शिक्षा का यह अव्याकृत रूप शिष्य को मोक्ष के मार्ग से दूर करके अहंकार एवं प्रदर्शन के मिथ्या मार्ग पर स्थापित कर देता है, जिसके कारण उसका जीवन काल व्यर्थ की शिक्षा द्वारा अहेर कर लिया जाता था।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण उसे प्राप्त होता है जो बौद्ध शिक्षा के उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति कर देता है, निर्वाण के स्तर में ज्ञान प्राप्ति बंध हो जाती है क्योंकि प्राणी समस्त जीवलोक के मूल कारण को जान लेता है। भगवान बुद्ध कहते है कि 'भिक्षुओं में पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली और अनेक विषयों में रमने वाली तृष्णा (काम तृष्णा, भवतृष्णा, विनाश तृष्णा) ही इसका आर्य सत्य अर्थात् दुःख समुदाय है। बुद्ध के शिष्यों में दुख के कारण के विष्य में मतभेद था, कोई कहता है कि दुख आत्मा ने उत्पन्न किया है। (सयंकतं दुक्खं) कुछ कहते है कि दुख पर ने उत्पन्न किया (परंकतं दुक्ख) कुछ कहते है कुद अंशों तक आत्मा ने और कुछ अंशों तक पर ने दुख का निर्माण किया और चौथा वर्ग वह है जो यह कहता है कि दुख को आत्मा या पर ने नहीं उत्पन्न किया बल्कि यह तो आकस्मिक है। भगवान् बुद्ध ने यह स्पष्ट किया कि दुख का मुख्य कारण तृष्णा है। एक व्यक्ति यदि अपने जीवन काल में ही राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकार इत्यादि पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह निर्वाण की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। निर्वाण की प्राप्ति जीवन काल में ही सम्भव है। परन्तु परिनिर्वाण का अर्थ होता है मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति, निर्वाण का अर्थ निष्क्रियता नहीं है। बुद्ध ने अनासक्त कमर्त को महत्व दिया हैं। बुद्ध का अनासक्त कर्म गीता के निष्काम कर्म भावना से मेल खाता है। निर्वाण सम्बन्धी प्रश्नों में बुद्ध सर्वदा मौन रह जाते थे, निर्वाण का अर्थ की व्याख्या बुद्ध ने नहीं की है शब्द विहीन होकर बुद्ध ने मौन के द्वारा निर्वाण के अर्थ को अनुभव करने की अवसर दिया, प्रत्येक व्यक्ति के लिए निर्वाण का अनुभव अलग-अलग हो सकता है। निर्वाण के अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है, एक वर्ग निर्वाण का अर्थ बुझा हुआ मानता है। अर्थात् निषेधात्मक तो दूसरा वर्ग निर्वाण का अर्थ सापेक्षात्मक मानता है और इसे शीतलता मानता है, जो लोग निर्वाण का अर्थ निषेधात्मक मानते हैं वो यह मानते है कि जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से उसके प्रकाश का अन्त हो जाता है उसी प्रकाश निर्वाण प्राप्त कर लेने से दुखों का अन्त हो जाता है। दूसरे मत के अनुसार निर्वाण का अर्थ शीतलता है, बौद्ध दर्शन में वासना, मोह, भ्रम दुःख अर्थात् सभी सांसारिक भाव अग्नि के तुल्य है जब यह अग्नि ठण्डी हो जाती है। तब आनन्द का अनुभव होता है। और यही आनन्द निर्वाण है। इस मत को मानने वालों में प्रो. मैक्समूलर, डॉ0 राधाकृष्णन, प्रीसन इत्यादि है। डॉ0 राधाकृष्णन के अनुसार जो आध्यात्मिक संघर्ष की सिद्धि हैं भावात्मक आनन्द की अवस्था है। पालि ग्रन्थों में भी निर्वाण को आनन्द माना गया हैं निर्वाण का महत्व इसलिए है कि इससे तीन लाभ है, प्रथम लाभ यह है कि इससे समस्त दुखों का अन्त हो जाता है दूसरा लाभ यह है कि इससे पुनर्जन्म की सम्भावना का अन्त हो जाता है। तीसरा लाभ यह है कि निर्वाण के उपरान्त व्यक्ति को शान्ति की प्राप्ति हो जाती है और यह परम शान्ति है।

संदर्भ ग्रन्थ :-

1. बलभद्र जैन-जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, पृ0 6।
2. ऋग्वेद-10/94/11।
3. तैत्तिरीय आरण्यक-2प्रपाठक 7 अनुवाक 1-2।
4. के0 सी0 श्रीवास्तव-प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, पृ0 770।
5. के0 सी0 श्रीवास्तव, वहीं, पृ0 866।
6. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ0 34।
7. मज्झिम (रो0) जि0 1, पृ0 247
8. मज्झिम, वहीं-''मैं उस सुख से क्यों डरूँ जो काम एवं अकुशल धर्मों से सम्बद्ध नहीं है।
9. उपाध्याय, बलदेव, बुद्ध-दर्शन।
10. सर आइजेक-न्यूटन।

संगीत एवं सौन्दर्य

डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय[*]

''संगीत कं न मोहयेतु'' अर्थात् संगीत से कौन मोहित नहीं होता। संगीत एक ललित कला है, अर्थात् मनोहर एवं सुन्दर। पाँचों ललित कलाओं के अन्तर्गत संगीत ही एक ऐसी कला है, जिसे किसी बाह्य उपकरणों एवं साधनों की आवश्यकता नहीं होती। संगीत का सर्वाधिक सूक्ष्म माध्यम नाद को माना गया है जिसके कारण इससे प्राप्त होने वाला आनन्द सबसे उच्चस्तरीय माना जाता है। मानव द्वारा सृजन प्रेरणा से निर्मित नादरूपी आधारभूत तत्व से ही संगीत का सम्पूर्ण ढाँचा बना है। नाद के प्रमुख तीन रूप माने गये हैं-

1- वैज्ञानिक तत्व

2- मनोवैज्ञानिक तत्व

3- सौन्दर्यमूलक तत्व।

वैज्ञानिक तत्वों द्वारा नियमों का निर्माण किया गया जिसे सत कहा गया। मनोवैज्ञानिक तत्वों का सम्बन्ध मानव प्रतिक्रिया से माना गया है जिसे शिव, मंगल अथवा चित माना गया एवं सौन्दर्यमूलक तत्वों का सम्बन्ध आनन्द से माना गया है। इन्हीं तीनों तत्वों का सम्बन्ध पाश्चात्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से जोड़ा गया है। इसके लिए नाद के अस्तित्व की विशेष प्रमुखता होती है। संगीत एवं सौन्दर्य को अविभाज्य माना जाता है। संगीत का सौन्दर्य अद्भुत एवं दिव्य होता है, जिस स्थान पर संगीत होता है। वहाँ ईश्वर का वास होता है। इसका प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा कहे गये शब्दों के द्वारा स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है-

''वेदानां सामवेदोऽस्मि''[1]

अर्थात् वेदों में सामवेद मैं ही हूँ।

वेदों से ही संगीत की परंपरा आरंभ हो जाती है। संगीत के सन्दर्भ में पं0 शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' में सौन्दर्यशास्त्र के कतिपय प्रमुख तत्वों के विषय में सामान्य संकेत सूत्र देखने को मिलते हैं। पं0 शार्ङ्गदेव जी ने संगीत कला के लक्षण को बताते हुए कहा है कि-''गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते।'' नाद संगीत का प्रमुख आधार है तथा नाद में ही कला सौन्दर्य की सृष्टि का रहस्य निहित है। संगीतकार रागों की सृष्टि विभिन्न स्वरों एवं श्रुतियों में अनुक्रम, तारतम्य तथा समन्वय को स्थापित करके ही करता है। उसकी कलाकृति वास्तव में राग ही होती है। पं0 अहोबल कृत 'संगीत पारिजात' में लिखा गया हैं-

''देवस्य मानवो गानं वाद्यं नृत्यमतन्द्रितः

कुमर्याद्विष्णोः प्रसादार्ध मेति शास्त्रेप्रकीर्तितम्''[2]

अर्थात् मनुष्यों द्वारा यदि गायन, वादन तथा नृत्य तल्लीनता से किया जाय तो उससे भगवान विष्णु, प्रसन्न होते हैं।

भारतीय संगीतशास्त्र में संगीत एवं सौन्दर्य तत्वों के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं विद्यमान हैं। जिनमें से इन मान्यताओं के कुछ विशिष्ट गुणों पर विशेष रूप से बल दिया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में बंदिश को संगीत का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। इससे संगीत की प्राचीन एवं समृद्धशाली परम्परा को पीढ़ी दर पीढ़ी तक सुरक्षित बनाये रखने में अत्यधिक सहायता प्राप्त हो सकती है। संगीत में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन देखने को मिले हैं। रागों एवं तालों के स्वरूपों पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखने को प्राप्त होता है। बंदिशों के द्वारा ही प्राचीन एवं वर्तमान समय के कलाकारों की सांगीतिक कल्पना एवं सौन्दर्य तथा उनके रागों एवं तालों के प्रति ज्ञान बोध किया जा सकता है। संगीत की स्थिरता, एकल एवं लय का बोध बंदिश के द्वारा ही होता है तथा बंदिश में छिपे हुए अद्भुत सौन्दर्य से ही कलाकार की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति उजागर होती है। भारतीय संगीत की सभी सौन्दर्य धारणाएं रागों में समाहित हैं। राग के संरचनात्मक एवं सौन्दर्यात्मक पहलुओं का वर्णन राग की परिभाषा में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है-

''योयं ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।

रंजको जन चित्तानाम् स रागः कथितेबुधैः।।[3]

यदि निर्धारित समय पर रागों का प्रस्तुतिकरण हो तो अत्यधिक रुचिकर, सुन्दर एवं हृदयग्राह्य प्रतीत होता है। रागों का अत्यधिक प्रभाव विशिष्ट समय एवं विशिष्ट ऋतु के आधार पर होता है। यदि रागों के निर्धारित नियमों का पालन करते हुए प्रस्तुतिकरण किया जाय तो परिणामस्वरूप जो रंजकता उत्पन्न होती है वही सौन्दर्य भावना का परिणाम है। राग-ताल-स्वर-गीत कविता के अर्थ इत्यादि के निर्धारित होने के परिणामस्वरूप ही संगीत द्वारा आनन्द की अनुभूति की जा सकती है। संगीत के विभिन्न अवयव माने जाते हैं जिनके माध्यम से संगीत की सुन्दरता एवं मधुरता उत्पन्न की जा सकती है। इन्हीं अवयवों को वर्तमान समय के अनुसार सांगीतिक सौन्दर्य के सिद्धान्त के रूप में जाना जाता है जिनमें से कुछ विशिष्ट इस प्रकार हैं-

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

1- स्वरों की शुद्धता

2- तालों का सही प्रयोग

3- सांगीतिक रचना का व्यवस्थित विस्तार

4- सांगीतिक रचना के रसानुसार आलाप एवं तान का उचित प्रयोग

5- उचित तथा मधुर कंठ का निकास

6- सांगीतिक अलंकारों का उचित प्रयोग

7- कलाकार एवं श्रोताओं हेतु उचित वातावरण

8- कलाकार द्वारा सुन्दर एवं नवीन स्वर समूहों की रचना।

9- सही एवं उचित अनुपात में प्रस्तुतिकरण

10- सही एवं सुन्दर विश्रान्ति के स्थान।[4]

रागों के सूक्ष्म सौन्दर्य अमूर्त रूप संगीत कलाकारों के मन एवं हृदय में विद्यमान रहता है तथा रागों के प्रस्तुतिकरण के द्वारा ही रागों के सौन्दर्य की सृष्टि एवं अभिव्यक्ति होती है। पं0 भातखण्डे जी ने रागों के निर्धारित समय के विषय में कहा है कि ''राग अपने नियत समय पर गाये जाने पर ही अधिक शोभनीय होते है।''

''यथाकाले समारब्धं गीतं भवति रञ्जकम्।

अतः स्वरस्य नियमात् रागेऽपि नियमः कृतः॥''

संगीत काल में निहित सम्पूर्ण सौन्दर्य संगीत के गुण एवं विद्वता पर आश्रित होता है। विशेष रूप से संगीत सौन्दर्य के लिए निम्नलिखित बातें अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं-

- मधुर तथा सरस कंठ एवं तीनों सप्तकों में सुन्दर एवं चित्तरंजक गायन।
- नियमित रूप से तथा उचित संगीत साधना करने वाला।
- स्वर का उचित स्थान पर उच्चारण करने में सक्षम।
- उचित समय तथा श्रोता की इच्छा को ध्यान में रखते हुए रागों एवं तालों का उचित चुनाव।
- चित्तरंजक तथा सुरीले वाद्य।
- रचना आकर्षक होनी चाहिए।
- गीत के शब्दों में गेयता।
- स्वरों एवं शब्दों का उचित प्रयोग होना चाहिए।
- शब्दों की अधिकता नहीं होनी चाहिए। अपितु उचित मात्रा में ही शब्दों का प्रयोग होना चाहिए।
- छन्द के अनुकूल ही रचना भी होनी चाहिए।
- राग प्रकाशक स्वरों का उचित प्रयोग होना चाहिए।
- सम का प्रयोग तथा गति का प्रयोग उचित स्थान पर होना चाहिए।
- ह्रस्व तथा दीर्घ स्वरों का उचित प्रयोग।
- रागों के नियमों का पालन तथा स्थाई-अन्तरे का उचित सम्बन्ध।
- राग की बंदिश अथवा गायन सीमा कंठ की प्रकृति के अनुसार ही होनी चाहिए।
- प्रदर्शन में कला या भाव का उचित संयोग होना चाहिए।
- नाद की जाति, तारता तथा तीव्रता इत्यादि पर विशेष ध्यान देना चाहिए।
- नवीन स्वर-समूहों की रचना।
- शास्त्रीय संगीत के निर्धारित क्रम का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।
- स्वयं की वेषभूषा पर भी कलाकार को ध्यान देना चाहिए।

भारतीय विद्वानों के द्वारा सौन्दर्य की निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार किया गया है। श्री लीलाधर गुप्त के अनुसार-

''सौन्दर्य प्रकृति के कुछ दृश्यों अथवा कलाकृतियों और मानव मन के मध्य एक विशिष्ट सम्बन्ध का द्योतक है।''

डॉ0 रामविलास शर्मा के अनुसार ''प्रकृति मानव जीवन तथा ललित कलाओं के आनन्ददायक गुण का नाम सौन्दर्य है।''

आचार्य रूप गोस्वामी जी ने सौन्दर्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-

''अंग-प्रत्यंग का जो यथोचित सन्निवेश है, उसे सौन्दर्य कहते हैं एवं जिसकी शोभा के लिए धारण किये गये अलंकार उसकी शोभा न बढ़ाकर स्वयं भूषित हों, उसे रूप कहते हैं।''[5]

भगवान के इसी सौन्दर्य को भागवत में भी माना गया है-

''तदैव रम्यं रुचिरं नवं नवं,

तदैव शाश्वन्महतो महोत्सवम्।

तदैव शोकार्णवशनेषण नृणं

यदुत्तमं श्लोक यशोऽनुगीयते॥

भागवत-12/12/49

प्राणी के हृदय में स्थायी रूप से निवास करने वाले भाव जब लौकिक राग और द्वेष की क्रियाओं के कारण जागृत होते हैं तो उनमें व्यभिचार उत्पन्न हो जाता है, परन्तु जब संगीत अथवा अन्य कला के माध्यम से स्थायी भाव जागृत होते हैं तब व्यभिचारी भाव सौन्दर्य चेतना के साथ उत्पन्न होते हैं, इसीलिए राग एवं द्वेष से उत्पन्न व्यभिचारी भाव मनुष्य को अपकर्ष की ओर ले जाते हैं।

महर्षि भरत के अनुसार व्यभिचारी भावों में विभाव तथा अनुभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

संगीत का सौन्दर्य उस रस में निहित है जो रजोगुण एवं तमोगुण के समाप्त होने पर अन्तःकरण के सत्वगुण को जागृत कर चेतना विशेष में परिणित कर देता है तथा उन क्षणों में मनुष्य काम, क्रोध, शोक, लोभ तथा चिंता इत्यादि से मुक्ति पाकर ब्रह्मानंद सहोदर संगीत आनन्द में विलीन होने लगता है। नाद सौन्दर्य जनित आनंद अगाध है, अनंत है तथा उसकी अभिव्यक्ति के साधन भी अनन्त हैं।

सौन्दर्यात्मक तत्वों से सम्बन्धित अनेक मान्यतायें भारतीय संगीतशास्त्र में विद्यमान है। इन विभिन्न मान्यताओं में कुछ विशेष गुणों पर बल दिया जाता है। जैसे-सौन्दर्य, रंजन, अनुपात, सामञ्जस्य, औचित्य, संतुलन इत्यादि। संगीत में जो भी तत्व संगीत की सुंदरता को बढ़ाने में सहायक होते हैं। वे इसके अन्तर्गत आते हैं। इसके आधार पर एक कलाकार का कार्यक्रम दूसरे कलाकार की तुलना में अच्छा अथवा बुरा कहा जा सकता है। संगीत के सम्बन्ध में जो भी संगीत द्वारा आनन्द की प्राप्ति होती है वह राग, स्वर, गीत, लय, ताल, कविता के अर्थ से निर्धारित होती है।

महाराजा कुम्भा ने 'संगीतराज' में राग की परिभाषा में उसके सौन्दर्य-गुणों को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

''विचित्र वर्णालंकारों विशेषे यो ध्वनेरिह।

ग्रहादि सवर संदर्भो रंजको राग उच्यते॥''[6]

अर्थात् जिस ध्वनि या स्वरावलि में वर्ण, अलंकारों का वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग हो, जिसमें ग्रहादि स्वरों का संदर्भ हो तथा जो रंजक हो, वह राग है।

भारतीय संगीत की रागदारी में सौन्दर्य के अनेक तत्व निहित होते हैं, इसी कारण किसी भी एक राग को यदि बार-बार सुना जाए तो वह राग प्रत्येक बार एक नवीन रूप और सौन्दर्य के साथ ही अत्यन्त ही सुन्दरता के साथ उभरकर सामने आता है। राग को भारतीय संगीत की एक महत्वपूर्ण तथा अमूल्य निधि के रूप में माना जाता है। महान् विद्वान् 'भरत जी' ने अपने महान् ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में रंजकता के अर्थ में राग शब्द का विशेष रूप से इस प्रकार प्रयोग किया है-

''यथा वर्णादृते चित्रं न शोभोत्पादन् भवेत्।

एवमेव विना गानं नाट्यं रागं न गच्छति॥''[7]

सौन्दर्य सिद्धान्त के अनुरूप ही संगीत में नाद की नियमितता को माना गया है। अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट तथा कृत्रिम ये नाद के पांच प्रकार माने गये हैं तथा नाद का ऊँचा व नीचापन, नाद का छोटा व बड़ापन, नाद की जाति इन तीन मुख्य विशेषताओं तथा गुणों के माध्यम से असंख्य सांगीतिक ध्वनियां प्राप्त होती हैं तथा विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। अतः भावाभिव्यक्ति द्वारा संगीत सौन्दर्य प्रदान करने में नाद का महत्वपूर्ण स्थान है। संगीत शास्त्रियों ने एक सप्तक में बाईस श्रुतियां मानी हैं इनकी पाँच जातियाँ हैं-दीप्ता, आयता, करुणा, मृदु, मध्या। इन बाईस श्रुतियों पर ही स्वरों को विभाजित किया गया है। श्रुति राग सौन्दर्य का आधार है। श्रुतियाँ वास्तव में स्वरों को सौन्दर्य रूप प्रदान करती है। किसी भी कलाकार के कार्यक्रम को स्वर-सौन्दर्य प्रदान कर सफल बनाने का कार्य श्रुतियों के यहीं सूक्ष्म सौन्दर्य ही करते हैं। महान् विद्वन् पं0 अहोबल जी द्वारा 'संगीत पारिजात' में श्रुति की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है-

''श्रुतयः स्युः स्वरा भिन्ना श्रावणत्वेन हेतुना।

अहिकुराऽलतत् तत्र भेदोक्ति शासत्रसम्मता॥''[8]

स्वर, ताल व पद इन तीनों में स्वर को विशेष स्थान प्राप्त है।

''स्वयं राजन्ते इति स्वराः।''

अर्थात् स्वयं शोभित होने वाला ही स्वर होता है तथा जिसके द्वारा श्रोताओं के चित्त का रंजन सजहता मात्र से ही हो जाता है वह स्वर कहलाता है। श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, वर्ण, अलंकार, स्थान, साधारण इत्यादि का समावेश स्वर के अन्तर्गत ही होता है। इन्हीं तत्वों के माध्यम से ही गीत के मूर्त रूप का निर्माण होता है तथा राग-रागिनियों के माध्यम से ही यह स्वर सौन्दर्य विभिन्न रूपों को धारण करता है। स्वरों के सम्पूर्ण गुणों को सांगीतिक सौन्दर्य का ही गुण माना जाता है। मंद्र, मध्य तथा तार इन तीन संगीत सप्तकों को विशेष मान्यता स्वर-सौन्दर्य को ध्यान में रखते हुए ही दी गयी है। अलग-अलग रागों की अलग-अलग बढ़त की प्रकृति जैसे-कुछ रागों की बढ़त मंद्र, तथा कुछ रागों की बढ़त तार सप्तक प्रधान होती है। इन्हीं के फलस्वरूप रागों का सौन्दर्य उभरकर सामने आता है।

भरतमुनि ने अपने महान् ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में इस प्रकार लिखा है-

''गीमलङ्काराणां करणविधिरयं यथावदुपदिष्टः

एभिरलङ्कर्तव्या गीति वर्णावरोधेन

स्थाने चलङ्कारं कुर्यान् ब्रह्म रसिकच्चिकांवध्येत॥''[9]

अर्थात् अलंकारों का प्रयोग गीत में यथाविधि तथा उचित अनुपात में होना चाहिए, क्योंकि आभूषण उचित स्थान पर ही शोभायमान होता है तथा अलंकारों के उचित प्रयोग के परिणामस्वरूप ही राग का सौन्दर्य खिलकर सामने आता है।

संगीत में सौन्दर्य उत्पत्ति के लिए राग प्रस्तुतिकरण के सभी तत्व आवश्यक हैं इसी कारण सौन्दर्य उत्पत्ति के लिए इन तत्वों को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। भारतीय संगीत को सौन्दर्य एवं रंजक प्रधान माना जाता है। इसीलिए यह मानव जीवन के अत्यधिक निकट माना जाता है तथा संगीत कला को सौन्दर्य का प्रतीक भी कहा जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सौन्दर्य, रस एवं संगीत, प्रो0 स्वतंत्र शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 55
2. वही, पृ0 55
3. वही, पृ0 55
4. वही, पृ0 55
5. उज्ज्व ल, नीलमणि, पृ0 264
6. सौन्दर्य, रस एवं संगीत, प्रो0 स्वतंत्र शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 59
7. वही, पृ0 60
8. वही, पृ0 62
9. वही, पृ0 64

●

गोंड एवं भील जनजातीय नृत्य परम्परा (मध्यप्रदेश के विशेष संदर्भ में)

हेबा सईद एवं डॉ0 शैलेन्द्र कुमार***

सौंदर्य की भूख मानव को प्राचीन काल से ही रही है, जिसे अपनी आँखों से देखकर संतृप्त होने की बजाय वह अपनी कल्पना एवं सृजनात्मकता के बल से मूर्त रूप देकर आनंदित होता आया है, मानव जाति के इसी चाह से कला का जन्म हुआ। सभी कलाओं में नृत्य कला सर्वोत्तम रही है क्योंकि इसमें जीवंतता होने के साथ-साथ भावाभिव्यक्ति, सौन्दर्य एवं स्वयं की ओर आकर्षित करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। नृत्य शब्द मूल रूप से ''नृत्त'' शब्द से बना हुआ है जिसकी उत्पत्ति ''नृति'' धातु से हुई है। ताल और लय के साथ अंग संचालन करने को ''नृत्त'' कहते है''।[1] भारत में नृत्य की परम्परा वैदिक काल से पहले से प्रागैतिहासिक गुफा चित्रों में हमें नृत्यरत आकृतियाँ मिलती है। सिंधु सभ्यता में नृत्य सम्बंधी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इन मूर्तियों को बनाना इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय नृत्य कला सामान्य जनता के मनोरंजन का साधन होगी।[2] श्रीमती महालक्ष्मी नृत्य के लिये लिखती हैं कि - ऐसी मान्यता है कि ब्रह्मा जी ने देवताओं के अनुरोध पर नाट्य की रचना की जिसमें उन्होंने नृत्य, गायन, वादन, अभिनय इन कलाओं का उल्लेख किया और इसे भरतमुनि तथा उनके सौ पुत्रों को सौंप दिया। फिर भगवान शिव ने तांडव तथा पार्वती ने लास्य नृत्य को जोड़कर उसे पूर्ण बना दिया।[3]

पुराणों में गंधर्व लोक की गंधर्व कन्याओं का उल्लेख मिलता है, जो इन्द्र की सभा की नृत्यांगनायें थी, इन्हें ''अप्सरा'' कहा जाता था। अर्जुन ने भी गंधर्व लोक में जाकर उर्वशी नाम की गंधर्व कन्या से नृत्य शिक्षा ली थी, ऐसा वर्णन महाभारत में भी मिलता है। रामायण में भी नृत्य के तत्व मिलते है, ऐसा विवरण मिलता है कि भगवान राम के जन्म के समय, विवाहोत्सव, राज्याभिषेक, विजयोत्सव आदि अवसर पर नृत्य समारोह का आयोजन कराया गया था।

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र का नृत्य जगत में बहुमूल्य योगदान है, इसे पंचम वेद की संज्ञा देकर सम्मानित किया गया है। जनजातीय समाज में तो नृत्य कला उनके जीवन का अमूल्य अंग है, कोई भी धार्मिक, अनुष्ठानिक, पर्व एवं त्यौहार विवाहोत्सव आदि बिना नृत्य-संगीत से पूर्ण नही होता। नृत्य ये लोग अपने देवताओं को खुश करने तथा मन्नत स्वरुप या मनोरंजन के उद्देश्य से किया करते हैं। जनजातियों में एक कहावत आम तौर पर प्रचलित है - ''जो जाति नृत्य करती है वह कभी नष्ट नहीं होती।'' ऐसा लगता है कि आदिम जातियों के लोग अपने अंतर्मन में यह बात महसूस करते है कि नृत्य एक ऐसी गतिविधि है जो नृत्य की शक्तियों को पराभूत कर सकती है। जनजातीय समुदाय जिन्होंने अपने और अपने जीवन के बीच कृत्रिमता की दीवारें खड़ी नहीं की है आज भी नृत्य करते है। उनका यह नृत्य दर्शकों के मनोरंजन के लिए नहीं होता, बल्कि यह तो जीवन को महानता और प्रतिष्ठा प्रदान करने के लिए होता है।

भारतीय कला एवं संस्कृति की झलक हमें विभिन्न अंचलों में विभिन्न प्रकार की कलाओं में दिखाई देती हैं। इसका एक रुप जनजातीय कला एवं परम्पराओं द्वारा भी व्यक्त होता है, जो यहाँ प्रचलित कलाओं में भिन्न-भिन्न रुपों में प्रदर्शित होता हैं। भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6% भाग जनजातियों का है। जनजातियों के लिये आदिवासी शब्द का भी उपयोग किया जाता है। जिसका अर्थ ''मूल निवासी'' है। पुरातन लेखों में जनजातियों के लिये अत्विका, और वनवासी शब्द भी प्रयोग किये गये हैं।[4] भारत में सबसे अधिक जनजातीय जनसंख्या मध्यप्रदेश में है। इसके बाद उड़ीसा, महाराष्ट्र, राजस्थान, छत्तीसगढ़, गुजरात, झारखंड, आंध्रप्रदेश, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक आदि का स्थान आता है। मध्यप्रदेश की कुल जनसंख्या का लगभग 20-21% भाग जनजातियों का है। यहाँ लगभग 46 जनजातियाँ निवास करती है इनमें प्रमुख रूप से गोंड, भील, बैगा, भारिया, अगरिया, कोरकू, कोल, कीर, मीणा, मुण्डा, मुरिया, माड़िया, परधान आदि जनजातियाँ हैं, जो यहाँ के आधे से अधिक भागों में जो निवास करती हैं। भारतीय परिदृश्य में जनजातियों के नृत्यों को निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है। आनुष्ठानिक नृत्य, भावातीत नृत्य, पारम्परिक नृत्य, फसल कटाई के नृत्य, सामाजिक नृत्य, ऋतु नृत्य, भील एवं युद्ध के नृत्य, ताल नृत्य, लड़कियों के वेश में लड़को के नृत्य एवं सामुदायिक नृत्य होते हैं। जनजातियों में नृत्य उनके जीवन का अनिवार्य अंग है और उनके सभी नृत्य समूहों में ही किये जाते हैं जो एकता एवं सामाजिक समरसता का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जनजाति की परिभाषा -

डॉ. डी. एन. मजूमदार - ''जनजाति'' को परिवारों का संकलन कहा जाता है। जिसका अपना एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर रहते हैं, सामान्य भाषा बोलते हैं, विवाह, व्यवसाय या उद्योग के विषय में कुछ निषेधों का

---

* शोधछात्रा, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध निर्देशक, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

पालन करते है तथा एक सुनियोजित आदान-प्रदान की व्यवस्था कर विकास करते हैं।''

रेमण्ड फर्थ - ''जनजाति'' एक ही सांस्कृतिक श्रृंखला का मानव समूह है, जो साधारणतः एक ही भू-खण्ड पर रहता है, एक भाषा-भाषी है तथा एक ही परिवार की परम्पराओं एवं संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है।''

मध्यप्रदेश की प्रमुख जनजातियाँ -

गोंड, भील, बैगा, कोरकू, सहरिया, अगरिया इत्यादि प्रमुख जनजातियाँ हैं।

गोंड -

गोंड बहुत साहसी जनजाति है ये सीधे रुप से प्रकृति पर निर्भर है अतः प्रकृति प्रेमी और प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं पर अपना जीवन व्यतीत करते है, इनका निवास जंगलों में होता है। गोड मूल रुप से द्रविड़यन परिवार के है और द्रविड़ संस्कृति का मुख्य हिस्सा हैं। मध्य प्रदेश की अनुसूची में गोंड की 50 से अधिक उपशाखायें बताई गयी हैं।[5] गोंड मुख्य रुप से तेलगू शब्द ''कोण्ड'' का अपभ्रंश रुप है। तेलगु में कोण्ड से तात्पर्य पेड़-पौधे से ढके हरे-भरे पर्वत से है, जिससे इसका अर्थ निकलता है कि ऐसे पर्वतों पर निवास करने वाली आबादी गोंड कहलायी। गोंड जनजाति कला की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध जनजाति है। गीत, संगीत एवं नृत्य इनके जीवन के मुख्य अंग है। गोड समाज की संस्कृति को व्यक्त करने का मुख्य आधार उनके पर्व एवं त्यौहार है। गोंड समाज में पर्व अपार खुशियों और उनकी कला का प्रदर्शन है, इनमें विभिन्न कलाओं का प्रदर्शन होता है, जिसमें नृत्य कला भी एक है।

भील -

ये भारत की सबसे प्राचीन जनजातियों में से एक है और सांस्कृतिक रुप से अत्यंत समृद्ध जनजाति है। भीलों का पौराणिक नाम निषाद रहा है, जिसका उल्लेख हमें रामायण, स्कंद पुराण, शिवपुराण, विष्णु पुराण आदि में मिलता है। भील जनजाति के उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक कथा के अनुसार महादेव अपनी ब्याधि को भगाने के लिये जड़ी-बूटियों के लियें जंगल में भटक रहे थे, तभी उनकी नजर जंगली जाति की एक नवयुवती पर पड़ी और नजर पड़ते ही महादेव की ब्याधि दूर हो गई और महादेव ने उस कन्या से विवाह कर लिया। उससे उनकी कई संतानें हुई, उनमें से एक बालक अत्यंत शैतान था एक दिन उसने महादेव के नंदी का वध कर दिया जिससे महादेव ने उसे क्रोधवश जंगल भेज दिया और उसी के वंशज भील कहलायें। भील शब्द द्रविड़ भाषा के ''बील'' शब्द से निकला है जिसका अर्थ ''कमान'' यानी तीर कमान में निपुण होने के फलस्वरुप ये भील कहलाये।[6] इनकी कला एवं परम्परा अत्यंत समृद्ध है विशेषकर भील स्त्रियों द्वारा दीवारों को चित्रित करने की कला। भील हिन्दू संस्कृति से प्रभावित है, भीलों को द्रविड़ मूल की जनजाति माना जाता है। भील दशहरा, दीवाली त्यौहार बड़े उत्साह से मनाते है। भीलों का पारम्परिक पर्व भगोरिया, गल, गढ़, नवई, चलावड़ी जतारा आदि है।

गोड एवं भील जनजातियों में नृत्य परम्परा

गोंड -

गोंड जनजाति के लोगों ने नृत्य परम्परा प्रकृति से सीखी है, स्वयं की प्रेरणा से संगीत एवं ताल के बिना स्वयं ही नाचता है इसी तरह नाच-नाच कर वह इसमें पारंगत हो जाता हैं। गोड जनजाति के प्रमुख नृत्य निम्न हैं - सैला नृत्य, भड़ौनी नृत्य, रीना नृत्य, कर्मा नृत्य आदि।

सैला नृत्य -

यह नृत्य अपने वीरता से भरे गुणों की वजह से जाना जाता है। यह नृत्य केवल पुरुषों द्वारा किया जाता है, ''सैल'' का अर्थ पर्वत या चट्टान से निकलता है, इस नृत्य में पहाड़ जैसा साहस, बल एवं वीरता देखने को मिलती है, इसमें नर्तक लाठी, भाला, अस्त्र-शस्त्र, तलवार, डण्डे आदि से युद्ध की तरह पराक्रम दिखाते है, जिससे दर्शक रोमांचित हो जाता है और हाथों में मोर पंखों गुच्छा नृत्य में श्रृंगारिकता एवं सौंदर्य भरता है। नर्तक एक पंक्ति में तथा अर्द्धगोले में नाचते हैं। यही सैला दल जब दूसरे गॉव नाचने जाता है तो इसे ''गिरदा'' नृत्य कहा जाता है। गोंड जनजातीय मान्यता के अनुसार आदिदेव को खुश करने के लिये सैला नृत्य का प्रदर्शन होता है। एक अन्य मान्यता के अनुसार सरगुजा की रानी राजा से रुष्ठ होकर अमरकंटक चली गई जब रानी नही वापस आयी तो राजा कई युवकों के साथ रानी को मनाने पहुँचे वहॉ जंगल से डंडे काटकर व मोर के पंखो का मूठा बनाकर रानी को मनाने के लिये नृत्य किया। सैला नृत्य में कई चालें होती हैं जिससे सैला नृत्य चलता है, नृत्य का आधार गीत होता है जो साथ-साथ चलता है। यदि कोई नर्तक थक जाता है तो उसकी जगह कोई और नर्तक ले लेता है लेकिन नृत्य बिना रुके चलता रहता है।

तैनक ना मोरे नाना रे नाना, तैना ना मोरे नाना हो,
नैना झींकनी हो..... नैना झींकनी हो.....
नचनी को बाल कीता, रमझिरिया को पानी॥
फुदुर-फुदुर नाचे दाऊ, पारबती कोमली हो,
नैना झीकानी, हो नैना झीकानी॥

सैला नृत्य में प्रमुख रुप से मांदर, टिमकी, बॉसुरी, ठिसकी, गुदुम, मंजीरा और मोहरी वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। नृत्य में पुरुष धोती जाकिर, शर्ट तथा साफा लगाकर मोर पंख के फुदने लगाते हैं।

भड़ौनी नृत्य -

भड़ौनी एक ऐसा नृत्य है जो सतपुड़ा अंचल में निवास करने वाली गोंड जनजाति में पारम्परिक रुप से किया जाता है। विवाह के

शुभ अवसर पर किया जाने वाला यह गीत प्रधान नृत्य है जो विवाह उत्सव को और आनंदित कर देता है। गोंड स्त्रियाँ मण्डप के नीचे खड़े होकर बारात वालो को मीठी गालियाँ देती है और नाचते हुये भड़ौनी नृत्य में विभोर हो जाती हैं।[7]

रीना नृत्य -

गोंड जनजाति में रीना नृत्य स्त्रियों द्वारा शरद ऋतु में किया जाता है, सैला नृत्य की तरह रीना नृत्य में गिरदा की परम्परा है। जब रीना नृत्य की स्त्रियाँ अन्य गाँवों में जाती है तो उनका खूब स्वागत होता है एवं उपहार चढ़ाये जाते हैं। रीना नृत्य अन्य नृत्यों के भांति वाद्य नही बजाये जाते। केवल तालियों एवं गीतों पर नृत्य किया जाता है, इसमें अर्द्ध गोले, गोले या पंक्ति में नृत्य किया जाता है जिसके साथ मुद्रायें सरल एवं सादी होती हैं।

कर्मा नृत्य-

कर्मा अनुष्ठान का आयोजन चंद्रमास के अनुसार आश्विन (सितम्बर-अक्टूबर) में किया जाता है। पूर्वी मध्य प्रदेश में यह तीन बार किया जाता है। पहला आश्विन महीने में तीसरी तिथि को होता है, इसमें केवल अविवाहित स्त्रियाँ ही भाग ले सकती हैं। दूसरा 11वीं तिथि को होता है, जिसको अविवाहित स्त्रियों और युवकों दोनों द्वारा किया जाता हैं। तीसरा अनुष्ठान दूसरे के 12 दिन बाद आयोजित किया जाता है, इसमें महिलाएं ही भाग लेती है चाहे वो अविवाहित हो या विवाहित। तीनों अनुष्ठानों के लिए कर्मकाण्ड और नृत्य एक जैसे ही रहते हैं। 'कर्मा' शब्द कर्म (परिश्रम) तथा करम (भाग्य) को इंगित करता है।'' मनुष्य नियमित रुप से अच्छे कर्म करे और भाग्य भी उसका साथ दे, इसी कामना के साथ करम देवता की पूजा की जाती है। इस प्रकार करमा कर्म की प्रेरणा देने वाला नृत्य है, श्रम को ही ये जनजाति कर्म देवता के रुप में मानते हैं। कर्म देवता की पूजा अर्चना के बाद ये लोग रात भर स्त्रियाँ गोल घेरे में श्रृंखला बनाकर नृत्य करती हैं उनके बीच पुरुष नर्तक, वादक, गायक होते हैं। इस नृत्य में माँदर, झांझ, मोहरी (शहनाई) आदि प्रमुख वाद्य होते हैं। नर्तकों की वेशभूषा भी दैनिक रुप की ही होती है।

गोंड नृत्यों में वेशभूषा -

गोंड जनजाति के नृत्यों प्रमुख रुप से सैला एवं रीना में पुरुष नर्तक विशेषरुप से सिर पर साफा बॉधते हैं उसके बाई ओर पंख का मूख लगाया जाता है। सैला नृत्य में नर्तक कमर से अंगौदे जैसे कपड़े को कंधे पर डालते है इसे ''सलूखा'' कहते है, प्रत्येक नर्तक अलग-अलग रंग का सलूखा डालते हैं और सफेद धोती पहनते हैं। स्त्रियाँ घुटनों तक गोल, कसी साड़ी पहनती है जिसका पल्लू लपेटकर कमर में कसा बंधा होता है। बालों में फूलों की कलगी पहनती हैं। गले में गिलट की माला, कान में करनफूल पहनती हैं। हाथों में कड़े चूड़े चूड़िया भी पहनती हैं। नृत्य करते समय हाथ में रुमाल वेशभूषा का अहम अंग होता हैं।[8]

आभूषण –

नाक	खुटिया			
कान	मूंगा बारी	मुंदरी	बीरी	धर
गले	गंधी	हमेल	मोहर माला	पोतमाला
हाथ	हर्रइया	बाघमूहा चूड़ा	बकरिआ	पटेला
पैर	चूड़ा	पैरी	सतुआ	तोड़ा

वाद्ययंत्र - गोंड जनजाति मुख्य रूप से अपने नृत्यों में मांदर वाद्य का प्रयोग करते है। मांदर गले में टांगकर बजाया जाता है नर्तक मांदर को साथ लेकर विभिन्न कलाबाजियाँ दिखाते हुये नृत्य करता है। इसके अतिरिक्त टिमकी, ढोलक आदि भी नृत्य में प्रयोग किये जाते हैं।

भील -

भील जनजाति के नृत्य विभिन्न अवसरों जैसे त्यौहार, विवाह, धार्मिक अनुष्ठानिक क्रियाकलापों में वर्ष भर होते रहते हैं। नवाई नवराता, दीवाली, होली और विवाह के शुभ अवसर पर नृत्य अवश्य रुप से होते हैं और जैसा अवसर होता है वैसा ही नृत्य किया जाता है, सभी प्रकार के नृत्यों में वेशभूषा लगभग एक सी ही रहा करती है।

भील जनजाति के प्रमुख नृत्य -

बड़वा नृत्य, डोहा नृत्य, गरवी नृत्य, भगोरिया नृत्य आदि।

बड़वा नृत्य -

बड़वा नृत्य वर्षा के ऋतु में मनाया जाता है। आषाढ़ (जून) में जब चन्द्रमा का पूर्ण उदय होता है तब भील जनजाति अपने देवी-देवताओं की पूजा करते है, इसी समय फसल बुवाई का काम होता है और फसल की अच्छी पैदावार की कामना के साथ ये ''बड़वा नृत्य'' करते हैं। यह नृत्य लगभग सभी गाँवों में होता है जिसमें केवल पुरुष ही नर्तक होते है स्त्रियाँ इनमें शामिल नही होती। नर्तक की नृत्य मुद्राएँ ऐसी हुआ करती है कि भ्रम होता है जैसे देवता स्वयं धरती पर आकर नृत्य कर रहे हों।

डोहा नृत्य -

कार्तिक मास की अमावस्या की चौदहवीं तिथि पर लक्ष्मी पूजा के एक दिन पूर्व भील जनजाति की स्त्रियाँ डोहा नृत्य का आयोजन करती है, डोहा मान्यता से सम्बन्धित नाच है। डोहा का अर्थ भीली भाषा में ''मटका'' होता है। मिट्टी के छोटे-छोटे मटकों को विभिन्न रंगों में रंगकर बीच-बीच में ज्वार के दाने चिपकाकर मटके को सजाया जाता है, ये छोटे-छोटे छेद करके बनाये जाता है, डोहा के बीचो-बीच जलता हुआ दिया रखा जाता है उसके बाद

फूलों से सजाया जाता है और मटके के ऊपर भी दिया रखा जाता है, डोहा को लक्ष्मी माता घर का प्रतीक स्वरुप माना जाता है।

हाथ मा झाँझुर वो, पाय मा झाँझुर बाजे वो॥

नवा की नार भड़की वो, भरी जोबन मा॥

इस नृत्य में डोहा सिर पर रखकर स्त्रियाँ घर-घर जाती है और घर की मालकिन उस डोहे की पूजा करती है तथा भेंट में अन्न या धन देती हैं और फिर स्त्रियाँ उसकी आँगन में नृत्य करती हैं इस प्रकार यह नृत्य पूर्णतः अनुष्ठानिक भक्तिभावना से पूर्ण नृत्य है।[9]

गरबी नृत्य -

बारिश के मौसम में नवई के अवसर पर इस नृत्य का आयोजन होता है। नवई नये अनाज के प्रथम उपयोग का त्योहार है, इस दिन को भील जनजाति बड़ी धूमधाम से मनाते हैं। घर-घर में पितृ-भोज होता है और मेहमानों की मौजूदगी में गरबी नृत्य का आयोजन किया जाता है। इस नृत्य में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही भाग लेते हैं, यह सामूहिक नृत्य कभी पंक्ति में तो कभी गोल घेरे में सम्पन्न होता है, इस नृत्य में तालियों की ताल पर नृत्य किया जाता है। गरबी नृत्य का आयोजन पूरे पितृ पक्ष में चलता रहता है।

भगोरिया नृत्य -

भगोरिया नृत्य भील जनजाति द्वारा भगोरिया हाट में होली तथा अन्य अवसरों पर भील युवक-युवतियों द्वारा किया जाता है। ये हाट (बाजार) न होकर युवक-युवतियों के मिलन के मेले हैं जहाँ वे एक-दूसरे के सम्पर्क में आते और आकर्षित होकर जीवन सूत्र में बंधने के लिये साथ भाग जाते इसी वजह से इस तरह की हाट को भगोरिया तथा इसमें किये जाने वाले नृत्य को भगोरिया नृत्य कहा जाता है। वर्तमान में ये नृत्य मध्यप्रदेश के झाबुआ और अलीराजपुर क्षेत्र में निवास करने वाली भील जनजातियों में प्रचलन में है। रंग-बिरंगे वस्त्रों में भील युवक युवतियाँ मॉदल, ढोल, थाली कुंडी की थाप पर बीन-बॉसुरी पर नाचते है। भील युवकों के हाथ में तीर-कमान और कुछ के हाथों में बॉसुरी भी होती है। युवतियाँ पारम्परिक आभूषणों से लदी हाथों में रूमाल लिये होती हैं। भगोरिया नृत्य के लिये एक रोचक कथा प्रचलित है - ''प्राचीन काल में भीलों के एक राजा थे उनकी एक सुंदर कन्या थी। राजा की इच्छा थी कि वह अपनी कन्या की शादी कही दूर रिश्तेदारी में करें लेकिन कन्या पास के ग्राम के ही युवक से प्रेम करती थी, कुछ दिनों बाद होली का त्यौहार आया, सभी लोग निकट के बाजार जाया करते थे, इस अवसर का फायदा उठाकर युवक ने राजकुमारी को बाजार बुलाया और योजना बनाकर मित्रों के साथ खूब भांग पी और बाजार में सबलोग मिलकर नशे में चूर झूम-झूम कर नाचने लगे। मौका पाकर युवक ने राजकुमारी के गाल में गुलाल लगा दी (भील जनजाति में कुँवारी लड़की को गुलाल लगाना दोनों की स्वीकृति विवाह के लिये मानी जाती हैं।) यही से यह प्रथा प्रचलन में आयी। भगोरिया नृत्य में सबसे आकर्षण का केन्द्र अंग संचालन है जिनसे उचकना, दौड़ना, झूमना, लहर लेना आदि होता है नृत्य की संरचना और पद संचालन अधिक गूढ़ एवं कठिन नहीं है, यह नृत्य गोल घेरे में शरीर को हिलाकर और पैरों की तालमय संचालन के साथ आगे की ओर कूदकर किया जाता है, प्रत्येक पुरुष नर्तक के हाथों में तीरों का भूण एवं कमान होती है और स्त्रियों के सिर पर बोड़नी (टोकरी) रखी जाती है।

भील नृत्यों में वेशभूषा -

भील जनजाति नृत्य के दौरान बहुत श्रृंगार पसंद करती है, स्त्रियाँ चोली, घॉघरा उसपर ओढनी पहनकर विभिन्न आभूषणों को धारण करती है। पुरुष वर्गसाफा, अंगरखा, कमरबंद, काली शर्ट, धोती घुटनों तक की पहनकर रूमाल गले में बॉधकर एक रूमाल हाथ पर रखते हैं। नृत्य के समय पुरुष बड़े घुंघरुओं को कमर पर बांधता है तथा पैरों पर छोटे घुंघरुओं को बांधता है, महिलायें केवल पैरों पर छोटे घुंघरुओं को ही बांधती है।

आभूषण –

नाक	नथ	लौंगफूल		
कान	मोरफैल	झाभरया	टोकड़ी	
गले	हार	तागली	गलसन या मोती की माला	पैसों (सिक्कों) की माला
सिर	राखड़ी	झेला	छिवरा	बोर
हाथ	हठका	चूड़ी	करोंदी	हाथ संकरी
पैर	रमरोज	तोड़ा	बिछिया	पावलिया

बाद्ययंत्र -

भीलों के लोक नृत्य में मुख्य वाद्य ''ढोल'' है अतः इसे ये वाद्यों का राजा कहते हैं। इसके अलावा वाद्यों में छोटा ढोल, माँदल, ढाक, कुंडी, थाली, पावली, शहनाई, फेफरया आदि बजाये जाते हैं।

गोड एवं भील जनजातीय नृत्य परम्परा में कलात्मक अभिव्यक्तियाँ -

इन जनजातियों में मुख्य रूप से स्त्रियाँ नृत्य में भाग लेने के लिए विभिन्न प्रकार के गुदने अपने शरीर पर बनवाती हैं, जिसके सौन्दर्य से नृत्य का सौन्दर्य और भी अधिक बढ़ जाता है। ये गोदने इनके श्रृंगारिकता शुद्धता एवं पवित्रता का प्रतीक है। नृत्य से जुड़े वाद्ययंत्रों को सजाने की परम्परा भी इन जनजातियों में पायीं जाती हैं, इन्हें विभिन्न प्रकार की रंगीन पन्नियों, कागज, सितारों, चमकीलों से सजाने की प्रथा दिखती है यहाँ तक की नर्तक अपने भावों के अनुरूप चेहरे का श्रृंगार करता है जिससे नृत्य दमदार बनता है। इन

जनजातियों में कलात्मक अभिव्यक्तियाँ आंगिक मुद्राओं, भावों, आभूषणों, वाद्ययंत्रों में देखी जा सकती हैं। भील जनजाति में डोहा नृत्य में प्रयुक्त होने वाला डोहा मिट्टी से निर्मित कला का उत्कृष्ठ उदाहरण है जिसमें छोटे-छोटे छिद्र किये जाते है जिसमें दिये का प्रकाश बाहर आता है। इस डोहे को रंगीन रंगकर चावल के दाने चिपकाये जाते हैं इस प्रकार डोहे का श्रृंगार या सज्जा की जाती है।

उपसंहार -

मध्यप्रदेश के भील एवं गोंड नृत्यों का अध्ययन करने से हमने पाया कि ये जनजातियाँ अपने नृत्यों में अपनी संस्कृति को व्यक्त करती है और इनके नृत्य विशेषकर भील एवं गोंड नृत्य सामूहिक होते है जिसमें एकता, सामूहिकता, प्रेम, आदर की भावना देखी जा सकती है। इन जनजातियों में नृत्य कला का महत्वपूर्ण स्थान इसलिये है क्योंकि ये उनके संस्कृति एवं परम्परा धर्म एवं रीति-रिवाज आदि के साथ ही मनोरंजन से भी जुड़ी हुई है। मध्य प्रदेश की भील एवं गोंड जनजातीय नृत्यों का अवलोकन करने से ये पता चलता है कि उनकी कला-परम्परा का भारतीय संस्कृति में अमूल्य योगदान है उनकी संस्कृति में भाई-चारे तथा समाज कल्याण की भावना पाई जाती है। जो इनके नृत्यों में दिखते हैं, दर्शक केवल नृत्य देखकर ही मुग्ध हो जाता है इनके अधिकांश नृत्यों में गोल-गोल घूमने के उदाहरण मिलते है बीच में वादक पृथ्वी के केन्द्र बिन्दु की भांति होता है और नर्तक पृथ्वी की परिधि का निर्माण करते हैं, इनके पैर सामूहिक रूप से एक साथ उठते हैं तो प्रगति के पथ पर अग्रसर होने का भाव दर्शाते हैं और यही सामाजिकता एवं भाई-चारे को व्यक्त करने का उदाहरण जनजातीय नृत्यों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[10] इन नृत्यों में जीवन से जुड़ी विभिन्न क्रियाकलापों का सुंदर चित्रण होता है अनेक ऐसे नृत्य हैं, जिनमें फसल की बुवाई, गुड़ाई, कटाई का आकर्षक रचना दिखाई पड़ती है। पशु-पक्षियों की जीवन-शैली, बोली, चाल-ढ़ाल, शिकार आदि का भी जीवंत दृश्य जनजातीय नृत्यों में समाहित होता है कुछ नृत्यों में केवल हंसी-मजाक, उछल-कूद, स्वाँग आदि से ओत-प्रोत रहते हैं। वर्तमान में यही भील एवं गोंड जनजातीय नृत्यों को प्रोत्साहित करने के लिये उनके नृत्यों को मौलिक परिवेश से उठाकर मंचीय प्रस्तुतीकरण के लिये आमंत्रित किया जाता है। जनजातीय नृत्य उनकी संस्कृति, परम्परा, रीति-रिवाज, समाज, एकता एवं प्रेम एवं समर्पण के भाव व्यक्त करते हैं। वेरियर ऐल्विन ने जनजातियों के लिये बिल्कुल सही लिखा कि नृत्य की थिरकन से कदम ही नही मन भी मिलते हैं और सभी आपसी झगड़े दूर हो जाते है।[11]

संदर्भ -

1. मिश्र, लालमणि, *''भारतीय संगीत वाद्य,''* भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 2011, पृ.9।
2. परांजये, शरदचंद्र श्रीधर, *''संगीत बोध,''* मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 1972, पृ.167।
3. बनर्जी, प्रोजेश, *''अप्सरा इन इंडियन डॉन्स,''* कोस्मो पब्लिकेशन्स, 1982, पृ.37।
4. मिश्रा, वाई. डी, *''भारतीय कला एवं संस्कृति,''* करियर क्लासेज़ प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पृ. 75।
5. मिश्रा, उमेश चन्द्र, *''ट्राइबल पेंटिग्स एण्ड स्कल्पचर'',* बी.आर. पब्लिशिंग कोपरेशन, दिल्ली, 1989, पृ. 2-3।
6. कर्मा, सीता, *''भील जनजाति का संक्षिप्त मानवशास्त्रीय अध्ययन,''* प्रकाशन कम्पनी, भोपाल, 1970, पृ.1।
7. तिवारी, कपिल, *''सम्पदा''* (मध्य-प्रदेश की जनजातीय सांस्कृतिक परम्परा का साक्ष्य), आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, भोपाल, 2010, पृ.344
8. सिंह, बृजेश कुमार, *''गोंड जनजाति में सांस्कृतिक परिवर्तन,''* भारतीय प्रकाशन वाराणसी, पृ.1-18।
9. जोड़, मोहनलाल, *''भील संस्कृति,''* अरिहन्त प्रकाशन, जोधपुर, 2016, पृ.46-54।
10. मुखोपाध्याय, दुर्गा दास, *''फोक आर्ट्स एण्ड सोशल कम्यूनिकेशन,''*पब्लिकेशन्स डिविजन, नई दिल्ली, 1994, पृ.2-9।
11. एल्विन, वैरियर, *''ट्राइबल आर्टस ऑफ मिडिल इंडिया,''* ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस नई, दिल्ली, 1951, पृ.73।

●

कोरोना काल में योग एवं संगीतः आवश्यकता एवं उपचार

सौम्या कुमारी एवं डॉ0* **ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय****

समय की गति अत्यन्त प्रगतिशील है, हर काल अपने आप में नया एवं अपने समय की चुनौतियों के साथ आता है। वर्ष 2020, 21वीं शताब्दी का सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण वर्ष है, चुनौतीपूर्ण इसलिए क्योंकि अभी तक इस समस्या से जूझने के लिए कोई उपचार नहीं सूझ पाया है।

कोरोना वायरस सिर्फ एक वायरस नहीं बल्कि मानवजाति के समक्ष एक समस्या, एक चुनौती और एक अभिशाप बन कर सामने आया है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या ज्ञानी मानव अभी तक उतना ज्ञानी नहीं हो पाया है कि वो इस अदृश्य वायरस से लड़ सके? उस वायरस से जिसने इंसानों के बीच दूरी एक अनिवार्य शर्त बना दी है।

निःसन्देह कोरोनावायरस एक जानलेवा वायरस है एवं चिकित्सा विज्ञान इसकी वैक्सिन एवं उपचार की खोज में लगा है परन्तु क्या तब तक हम धीरे-धीरे मरने का इंतजार करेंगे या फिर खुद को तैयार करेंगे? निश्चित रूप से खुद को तैयार करेंगे, कोई भी युद्ध मानसिक रूप से तैयारी के साथ लड़ा जाता है और शरीर इसका माध्यम बनता है, जब बात आती है मनोशारीरिक तैयारी की तो 'योग' से बढ़कर कोई उपाय नहीं दिखता है। 'योग' शरीर और 'मन' का गठजोड़ है।

मैत्रायणयुपनिषद् में कहा गया है कि -

''एकत्वं प्राण मनसोरिन्द्रियाणं तथैव च।

सर्वभाव परित्यागों योग इत्याभिधीयते॥''[1] **(6/25)**

अर्थात्-प्राण, मन व इन्द्रियों का एक हो जाना एकाग्रावस्था को प्राप्त कर लेना, बाह्य विषयों से विमुख होकर इन्द्रियों का मन में और मन का आत्मा में लग जाना, प्राण का निश्चल हो जाना योग है।

गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

''योगः कर्मसु कौशलम्''[2] **(2/50)**

अर्थात् कर्म की कुशलता का नाम ही 'योग' है।

इस लॉकडाउन में जब कर्म की गति बाधित हो रही है तो कौशल एवं कुशलता की तैयारी ही 'योग' है। यही वो जरिया है जो व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रख सकता है। आज हम उस दौर में जी रहे है जहाँ जितनी तेजी से कोराना फैल रहा है उससे कई गुना तेजी से कोरोना का डर फैल रहा है, और कई बार लोगों को डर से दिल का दौरा पड़ जा रहा है। जिसे चिकित्सा विज्ञान की भाषा में Cardiac Arrest बोलते हैं, परन्तु वास्तव में वह मन एवं शरीर के संतुलन का अभाव है। इस संतुलन को वापस पाने का नाम ही 'योग' है। चित्त की एकाग्रता के द्वारा अन्तःकरण और शरीर से पृथक हुए आत्मा का साक्षात्कार करना योग है।

महर्षि पतंजलि द्वारा रचित ग्रन्थ योगदर्शन में कहा गया है-

''योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।''[3] **(1/2)**

अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध 'योग' है और भय भी चित्त की दुष्प्रकृति ही है जो दिन में कई बार हमें मारती है तब योग की आवश्यकता और बढ़ जाती है।

योग हमारे श्वांस के बेहतर संचालन के साथ ही हमारे शरीर के गति को एवं उसके संतुलन को बनाये रखती है, चूंकि इस लॉकडाउन के काल में बाहर निकलना, व्यायामशाला जाना या फिर मैदान में जाकर दौड़ लगाना सब कुछ बंद है तब हमारे सामने सिर्फ एक ही विकल्प सामने आता है, वह है 'योग'। योग के आठ प्रकार के साधन होते हैं -

'यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानसमाध्योऽष्टावंगनि'।[4]

- (यो0सू02/29)

अर्थात् योग के आठ साधन है- 1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि।

योग सिर्फ कुछ आसनों का संचालन नहीं है बल्कि नियमपूर्वक आहार-विहार, जागरण-शयन सब कुछ है। योग सिर्फ एक क्रियाविधि नहीं है बल्कि जीवनशैली है और इस स्वस्थ जीवन शैली की अपरिहार्य आवश्यकता है।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है एवं स्वस्थ मस्तिष्क हर तरह के योग एवं चुनौतियों का सामना कर सकता है, जो योग द्वारा ही सम्भव है और इस महामारी के काल में योग ने अपना प्रभाव दिखाया भी है, जब पूरे विश्व में इस वायरस को लेकर हाहाकार मचा हुआ है, कोई चिकित्सा विज्ञान इसका उपचार नहीं खोज पा रही तब 'योग' ही एक ऐसा विषय है, जिसने

* शोध छात्रा, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
** शोध निर्देशक, असिस्टेंट प्रोफेसर, गायन विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

हमें इस महामारी से लड़ने की शक्ति दी। कई कोरोना पॉजिटिव पाये जाने वाले लोगों ने 'योग' के द्वारा इस वायरस को मात दे दिया। योग के माध्यम से पूरा विश्व शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ हो पा रहा है क्योंकि इस महामारी से बचने के लिए हमें अपनी रोग-प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाना है जो योग द्वारा ही संभव है।

रोग-प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाने वाले कुछ साधारण यौगिक क्रिया-

- **कपालभाति प्राणायाम**

''कपालं भतीति कपालभाति''

कपाल + भाति = मस्तक को स्वच्छ करना। कपाल अर्थात् मस्तिष्क और भाति का अर्थ होता है-दीप्ति, आभा, तेज, प्रकाश आदि। जिस प्राणायाम को करने से मस्तिष्क पर आभा, ओज एवं तेज बढ़ता हो, वह प्राणायाम है-कपालभाति। इस प्राणायाम में श्वास भरने के लिए प्रयत्न नहीं करते; अपितु सहज रूप से जितना श्वास अन्दर चला जाता है, जाने देते हैं, पूरी एकाग्रता श्वास को बाहर छोड़ने में ही होती है। ऐसा करते हुए स्वाभाविक रूप से पेट में भी आकुंचन और प्रसारण की क्रिया होती है तथा मूलाधार, स्वाधिष्ठान एवं मणिपुर चक्रों पर विशेष बल पड़ता है। कपालभाति प्राणायाम को करते समय मन में ऐसा विचार करना चाहिए कि जैसे ही मैं श्वांस को बाहर छोड़ रहा/रही हूँ, इस प्रश्वास के साथ मेरे शरीर के समस्त रोग बाहर निकल रहे हैं। इस प्रकार रोग के नष्ट होने का विचार श्वांस छोड़ते वक्त करने का भी विशेष लाभ होता है।

कपालभाति प्राणायाम का समय

एक सेकेण्ड में एक बार श्वास को लय के साथ छोड़ना एवं सहज रूप से धारण करना चाहिए। बिना रुके एक मिनट में 60 बार तथा पाँच मिनट में 300 बार कपालभाति प्राणायाम होता है। अत्यधिक बीमार एवं कमजोर व्यक्ति प्रारम्भ में 2-3 मिनट में ही थक जाते हैं, परन्तु 10-15 दिन में प्रत्येक व्यक्ति 5 मिनट निरन्तर कपालभाति करने का सामर्थ्य अर्जित कर लेता है। कपालभाति की एक आवृत्ति 5 मिनट की अवश्य होनी चाहिए। इससे कम करने पर पूर्ण लाभ की प्राप्ति नहीं होती। लम्बे समय तक कपालभाति प्राणायाम करते-करते सामर्थ्य बढ़ने एवं अभ्यास के परिपक्व होने पर व्यक्ति 15 मिनट तक भी कपालभाति कर सकता है। स्वस्थ एवं सामान्यतया रोगग्रस्त व्यक्ति को कपालभाति 15 मिनट तक करना चाहिए। 15 मिनट में 3 आवृत्तियों में 900 बार कपालभाति हो जाता है।

लाभ

- मस्तिष्क और मुखमण्डल पर ओज, तेज, आभा तथा सौन्दर्य बढ़ता है।
- समस्त कफरोग, दमा, श्वास, एलर्जी, साइनस आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।
- हृदय, फेफड़ो एवं मस्तिष्क के समस्त रोग दूर होते हैं।
- मन स्थिर, शान्त तथा प्रसन्न रहता है। नकारात्मक विचार नष्ट हो जाते हैं, जिससे डिप्रेशन आदि रोगों से छुटकारा मिलता है।
- सामान्यतः प्राणायाम खाली पेट किया जाये तो उत्तम है। किसी कारणवश प्रातः प्राणायाम नहीं कर पायें तो दोपहर के खाने के 5 घंटे बाद भी प्राणायाम किया जा सकता है। असाध्य रोगी प्रातः सायं दोनों समय प्राणायाम करें तो शीघ्र ही अधिक लाभ होगा।[5]

- **अनुलोम-विलोम प्राणायाम**

अनुलोम-विलोम का सीधा अर्थ होता है सीधा-उल्टा। यहाँ पर नासिका का दाहिना छिद्र सीधा तथा नासिका का बांया छिद्र उल्टा माना गया है। किसी भी सुविधाजनक आसन में बैठ जाए। दायें हाथ को उठाकर दायें हाथ के अंगुष्ठ के द्वारा दायाँ स्वर (पिंगला नाड़ी) तथा अनामिका एवं मध्यमा अंगुलियों के द्वारा बायाँ स्वर बन्द करना चाहिए। हाथ की हथेली को नासिका के सामने न रखकर थोड़ा पार्श्वभाग में रखना चाहिए। इड़ा नाड़ी (वाम स्वर) चूँकि सोम, चन्द्रशक्ति या शान्ति का प्रतीक है, इसलिए नाड़ी-शोधन हेतु अनुलोम-विलोम प्राणायाम को बाईं नासिका से प्रारम्भ करते हैं। अंगुष्ठ के माध्यम से दाहिनी नासिका को बन्द करके बाई नाक से श्वास धीरे-धीरे अन्दर भरना चाहिए। श्वास पूरा अन्दर भरने पर अनामिका एवं मध्यमा से वाम स्वर को बन्द करके दाहिनी नाक से पूरा श्वास बाहर छोड़ देना चाहिए। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास की गति मध्यम और फिर तीव्र करनी चाहिए। इस प्रकार इस विधि को सतत् करते रहना अर्थात्, बाई नासिका से श्वास लेकर दाएँ से बाहर छोड़ देना फिर दाएँ से लेकर बाईं ओर से श्वास को बाहर छोड़ देना। इस क्रम को लगभग एक मिनट तक करने पर थकान होने लगती है। थकान होने पर बीच में थोड़ा विश्राम करके, थकान दूर होने पर पुनः प्राणायाम करें। इस प्रकार इस प्राणायाम को तीन मिनट से प्रारम्भ करके दस मिनट तक किया जा सकता है। कुछ दिन तक नियमित अभ्यास करने से साधक का सामर्थ्य बढ़ने लगता है और लगभग एक सप्ताह में वह बिना रुके पाँच मिनट तक इस प्राणायाम को करने लगता है। इस प्राणायाम को करते समय मन में विचार करें कि इड़ा-पिंगला नाड़ियों में श्वास का घर्षण और मन्थन होने से सुषुम्ना नाड़ी जागृत हो रही है। अष्टचक्रों में सहस्त्रार-चक्र पर्यन्त एक दिव्य ज्योति का उर्ध्वस्फुरण हो रहा है।

अनुलोम-विलोम प्राणायाम का समय

बाईं नासिका से लगभग ढ़ाई सेकण्ड में श्वास लय के साथ भरना एवं बिना रोके दाईं नासिका से लगभग ढाई सेकण्ड में श्वास

को बाहर छोड़ देना तथा दाईं से छोड़ने के तुरन्त बाद दाईं से सहज रूप से ढाई सेकण्ड में श्वास लेना एवं बिना श्वास को रोके बाईं से लगभग ढ़ाई सेकण्ड में ही श्वास को एक लय के साथ बाहर छोड़ना। इस प्रक्रिया को बिना रुके लगभग 5 मिनट तक निरन्तर जारी रखना। यद्यपि प्रारम्भ में थकान होगी। अधिक बल का प्रयोग न करें एवं कोहनी को अधिक ऊपर उठाकर अनुलोम-विलोम न करें तो आप धीरे-धीरे 5-7 दिन में निरन्तर 5 मिनट अनुलोम-विलोम करने में समर्थ हो जायेंगे।

लाभ

- हृदय की धमनियों में आये हुए अवरोध खुल जाते हैं। इस प्राणायाम का नियमित अभ्यास करने से लगभग तीन-चार माह में तीस प्रतिशत से चालीस प्रतिशत तक ब्लॉकेज खुल जाते हैं।

- नाकारात्मक चिन्तन परिवर्तन होकर सकारात्मक विचार बढ़ने लगते हैं। आनन्द, उत्साह एवं निर्भयता की प्राप्ति होने लगती है।

इस प्राणायाम से तन, मन, विचार एवं संस्कार सब परिशुद्ध होते हैं। देह के समस्त रोग नष्ट होते हैं तथा पूरे शरीर में शुद्ध ऑक्सिजन की मात्रा बढ़ती है।[6]

- **भस्त्रिका प्राणायाम**

''भस्त्रिका'' को हिन्दी में धौंकनी कहते हैं। इस कुम्भक में लोहार जैसे धोंकनी को दबाता जाता है, ठीक उसी प्रकार से श्वांस को छोड़ना है। किसी ध्यानोपयोगी आसन में सुविधानुसार बैठकर दोनों नासिकाओं से श्वास को पूरा अन्दर डायाफ्राम तक भरना तथा बाहर सहजता के साथ छोड़ना 'भस्त्रिका प्राणायाम' कहलाता है। इसमें श्वास को अन्दर भरते हुए मन में विचार करना चाहिए कि ब्रह्माण्ड में विद्यमान दिव्य शक्ति, उर्जा, पवित्रता, शान्ति और आनन्द आदि जो भी शुभ है। वह प्राण के साथ मेरे देह में प्रविष्ट हो रहा है। मैं दिव्य शक्तियों से ओत-प्रोत हो रहा हूँ। इस प्रकार दिव्य संकल्प के साथ किया हुआ प्राणायाम विशेष लाभप्रद होता है।

भस्त्रिका प्राणायाम का समय

ढ़ाई सेकण्ड में श्वास अन्दर लेना एवं ढ़ाई सेकण्ड में श्वास को एक लय के साथ बाहर छोड़ना। इस प्रकार बिना रुके एक मिनट में 12 बार भस्त्रिका प्राणायाम होगा। एक आवृत्ति में पाँच मिनट करना चाहिए। प्रारम्भ में थोड़ा रुकना पड़ सकता है। लगभग एक सप्ताह में निरन्तर पाँच मिनट बिना व्यवधान के अभ्यास हो जाता है।

विशेष

जिनको उच्च रक्तचाप तथा हृदयरोग हो, उन्हें तीव्र गति से भस्त्रिका नहीं करनी चाहिए।

लाभ

- सर्दी-जुकाम, एलर्जी, श्वासरोग, दमा, साइनस आदि समस्त कफ रोग दूर होते हैं। फेफड़े सबल बनते हैं तथा हृदय और मस्तिष्क को भी शुद्ध-प्राणवायु मिलने से आरोग्य लाभ होता है।

- थायरॉयड एवं टॉन्सिल आदि गले के समस्त रोग दूर होते हैं।

- प्राण और मन स्थिर होते हैं। रक्त परिशुद्ध होता है।[7]

- **भ्रामरी प्राणायाम**

'भ्रामरी' शब्द 'भ्रमर' से बना है। भ्रमर को हिन्दी में भौंरा कहते हैं। इस कुम्भक से भ्रमर जैसी ध्वनि होती है। वह ध्वनि कानों में गूंजती है एवं उसकी ध्वनि तरंगों द्वारा मस्तिष्क में कम्पन्न होने के फलस्वरूप मन की एकाग्रता होती है। किसी भी ध्यानासन में बैठ जाइए, श्वास पूरा अन्दर भरकर मध्यमा अंगुलियो से नासिका के मूल में आँख के पास में दोनों ओर से थोड़ा दवाएँ, मन को आज्ञाचक्र में केन्द्रित रखें। अंगूठो के द्वारा दोनों कानों को पूरा बन्द कर लें। अब भ्रमर की भाँति गुंजर करते हुए नाद रूप में 'ओऽम्' का उच्चारण करते हुए श्वास बाहर छोड़ दें। पुनः इसी प्रकार आवृति करें।

भ्रामरी प्राणायाम का समय

3 से 5 सेकण्ड में श्वास को अन्दर करना एवं विधिपूर्वक कान, आँख आदि बन्द करके 15-20 सेकण्ड में श्वास बाहर छोड़ना। एक बार भ्रमरी पूरा होने पर तुरन्त पुनः 3-5 सेकण्ड में एक लय के साथ श्वास अन्दर भरना एवं पुनः 15 से 20 सेकण्ड में भ्रमर की ध्वनि को करते हुए विधिपूर्वक श्वास को बाहर छोड़ना। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को लगातार कम से कम 5 से 7 बार भ्रामरी प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। यह पूरी प्रक्रिया लगभग 3 मिनट में पूरी हो जाती है।

लाभ

मन की चंचलता दूर होती है। मानसिक तनाव, उत्तेजना, हृदयरोग, उच्च रक्तचाप आदि में लाभप्रद है। नादानुसंधान में सहायक है।

ये सभी प्राणायाम प्रतिदिन करने से हमें इस वायरस से लड़ने की शक्ति प्राप्त होगी।[8]

अब बात करते हैं संगीत की - इस समय संगीत देश की ऊर्जा का नया स्त्रोत बन गया है जो कोराना से लड़ रहे लोगों का न केवल मनोबल बढ़ा रहा है, बल्कि उनमें नई आशा और आत्मविश्वास भी पैदा कर रहा है। सुव्यवस्थित ध्वनि जो रस की सृष्टि करे उसे संगीत कहते हैं। पं0 शारंगदेव द्वारा लिखित 'संगीत रत्नाकर' में कहा गया है -

'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते॥'[9] (1/21)

अर्थात् गायन वादन एवं नृत्य इन तीनों विधाओं के सम्मिलित रूप को संगीत कहा जाता है। जैसे जीव को परमात्मा के साथ जोड़ने का साधन 'योग' है। वैसे ही संगीत भी ईश्वर प्राप्ति का साधन है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं कि ''संगीत की उत्पत्ति मानवीय संवेदना से हुई है।'' इसके अलावा संगीत और आध्यात्म एक-दूसरे से गहरे रूप से जुड़े हैं, जब आप आध्यात्मिकता में उतरते हैं तो सांगीतिक प्रार्थना स्वयमेव सिद्ध होने लगती है।

भारत के प्राचीन मनीषियों ने सृष्टि की उत्पत्ति नाद से मानी है। ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण जड़ चेतन में नाद व्याप्त है इसी कारण इसे नाद ब्रह्म भी कहते हैं, हमारे प्राचीन शास्त्रों में नाद को ब्रह्म के साथ जोड़ कर नादब्रह्म कहा है। हमारे दर्शन शास्त्र में कहा गया है-

न नादेन बिना गीतं नादेन न नादेन बिना स्वराः।

न नादेन बिना नृत्यं तस्मानादात्कं जगत्॥

अर्थात् गीत, नृत्य, स्वर आदि कुछ भी नाद के बिना संभव नहीं है क्योंकि नाद ही जगत् की आत्मा है।[10]

संगीत एवं योग के माध्यम से जब हम अपनी आत्मशक्ति तक पहुँचते हैं तो नाद, ब्रह्मनाद हो जाता है, यही कारण है कि संगीत और योग दोनों में ही मेडिकेशन और मोटिवेशन की शक्ति होती है, दोनों ही ऊर्जा के अपार श्रोत हैं। योग व ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ आचार्य श्री याज्ञावल्क्य जी कहते हैं-''संगीत एक प्रकार का योग है इसकी विशेषता है इसमें साध्य और साधन दोनों ही एकरूप हैं।''

संगीत में मन को एकाग्र करने की शक्ति है इसलिए दुनिया के जितने भी धर्म हैं वे संगीत आधारित प्रार्थना करते हैं ताकि ईश्वर से एकात्मकता स्थापित हो सके।

''लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनम्॥''[11] (नारद भक्ति सूत्र 37)

अर्थात् गुण, महिमा के द्वारा श्रवण और कीर्तन से ईश्वर की भक्ति किया जाये। संगीत मन के भावों का विरेचन करता है और व्यक्ति के हृदय को प्रफुल्लित रखता है।

संगीत गायन को ''यौगिक स्वास्थ्य साधन'' भी कहते हैं। गाते समय मुंह, जीभ और होंठ ही काम नहीं करते वरन् आवाज नाभि से खींचती है और ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है फिर तालुओं से खींचकर गले से उसे निकालते हैं। इस तरह कमर से नीचे के हिस्से को छोड़कर शेष सम्पूर्ण शरीर का भीतरी व्यायाम हो जाता है। उससे बाहरी व्यायाम से भी अधिक प्रभावी परिणाम दिखाई देते हैं। गायन के अतिरिक्त वाद्य यंत्रों से भी इसी प्रकार का लाभ प्राप्त होता है, जो मनुष्य वाद्य यंत्र स्वयं बजाते हैं उनके सिर, गर्दन, छाती, कंधे, पेट आदि का व्यायाम हो जाता है तथा जो लोग फूंक से बजने वाले वाद्य बजाते हैं उन्हें तो गायन के समान ही लाभ मिलता है। संगीत में निहित तीसरी विधा नृत्य तो पूर्णरूपेण शारीरिक व्यायाम ही है। इसके द्वारा शरीर के समस्त अंगों का व्यायाम नैसर्गिक तौर पर अपने आप ही हो जाता है।[12]

भारतीय शास्त्रीय संगीत में ब्रह्मनाद एक स्थिति होती है जो नाद योग से प्राप्त होती है। अतः संगीत एक थेरेपी है और यह सर्वकालिक एवं सुगमता से उपलब्ध है, जो लोग केवल गायन या वादन सुनते हैं तो उनसे ध्वनि एवं साथ-साथ जो ताल क्रम चलता है उससे उपयोगी स्पंदन उठते हैं जिससे मनुष्य लाभान्वित होता है। संगीत केवल सुनने से भी तनाव का स्तर कम होता है एवं डीपामाइन जैसे हार्मोन का स्तर बढ़ता है, इसके अलावा एंडोर्फिन हार्मोन का स्राव भी अच्छी मात्रा में होता है, जिससे मनुष्य अपने काम को और एकाग्रता के साथ करता है। संगीत सुनने से भी शरीर में खुशी का संचार होता है एवं दिल की कार्य क्षमता में इज़ाफा होता है।

संगीत केवल अपने सुख का ही नहीं बल्कि साधना और सेवा का भी माध्यम रहा है। इस कोराना काल में जब मृत्यु के डर ने लोगों की नींद उड़ा रखी है तब संगीत अच्छी नींद लाने में सहायक है एवं तनाव से मुक्ति दिला रही है।

कोरोना काल के शुरूआती दिनों में ही हमारे देश के प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी जी के निर्देशानुसार पूरे भारतवासियों ने ताली-थाली बजाकर, शंख-घंटी बजाकर संगीतमय ऊर्जा से पूरे देश को इस महामारी से लड़ने की ऊर्जा प्रदान की। ऐसे में जब सभी लोग एक भावना के साथ आते हैं, एक संग जुड़ते हैं तो ये संग ही संगीत बन जाता है।

अतः संगीत एवं योग जीवन की जीवंतता को बनाये रखते हैं एवं प्राकृतिक मृत्यु से पहले मरने नहीं देते हैं तथा संगीत और योग दोनों में ही चिकित्सा और प्रेरणा की शक्ति होती है। इन दोनों विषयों के माध्यम से मनुष्य अपने तन-मन दोनों को स्वस्थ रखते हुए ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। हजारों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियों ने इस माध्यम का अविष्कार किया जो वर्तमान समय में भी सकारात्मक परिणाम दे रहा है तथा भविष्य में भी देता रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:-

1. योग महविज्ञान-डॉ0 कामाख्या कुमार, स्टैन्डर्ड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2007, पृ0 22
2. श्रीमद्भागवतगीता, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ0 40
3. योग-दर्शन (हिन्दी-व्याख्यासहित)-महर्षि पतंजलि, गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण-2017, पृ0 11
4. यौगिक एवं संगीत चिकित्सा, संजय दास, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 3

5. प्राणायाम रहस्य (वैज्ञानिक तथ्यों के साथ), स्वामी रामदेव, दिव्य प्रकाश, दिव्य योग मंदिर (ट्रस्ट) पतंजलि योगपीठ, हरिद्वार, पृ0 90-91
6. वही, पृ0 94-95
7. वही, पृ0 89
8. वही, पृ0 97-98
9. संगीतरत्नाकर, पं0 शार्ङ्गदेव, श्लोक संख्या 21, पृ0 12
10. संगीत चिकित्सा (एकशास्त्रीय अध्ययन)-डॉ0 सतीश वर्मा, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ0 40
11. यौगिक एवं संगीत चिकित्सा, संजय दास, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2005, पृ0 5
12. संगीत चिकित्सा (एकशास्त्रीय अध्ययन)-डॉ0 सतीश वर्मा, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ0 152-153

●

रूपक शैली के अन्यतम कवि तुलसीदास

डॉ0 अनुकूलचंद राय

प्रत्येक महान साहित्यकार की अपनी एक शैली होती है और उसी से उसके साहित्य और व्यक्तित्व की पहचान होती है। उसकी उसी शैली के बल पर अन्य साहित्यकारों की रचनात्मक पंक्तियों के बीच भी उसकी पंक्तियों को आसानी से अलगाया जा सकता है। भारतीय साहित्यकारों में संस्कृत के महाकवि कलिदास जहाँ अपनी उपमा-प्रधान शैली के लिए प्रसिद्ध थे तो दंडी और भारवि क्रमशः अपने पदलालित्य और अर्थगौरव के लिए। हिन्दी के मध्यकालीन महत्त्वपूर्ण कवियों की अपनी अलग-अलग काव्य शैली थी। सूर की शैली उत्प्रेक्षामूलक थी और तुलसी की रूपक प्रधान। केशवदास की शैली परिसंख्या प्रधान थी तथा घनानंद की विरोधमूलक। इसी प्रकार कवि ठाकुर अपने लोकोक्ति-प्रेम के कारण विख्यात हुए और नीतिकार गिरिधर कविराय ने अपनी कुंडलियों के बलपर अपनी अलग पहचान बनायी।

तुलसी रूपक शैली के विलक्षण कवि हैं। वे अपने काव्य में जब सांगरूपकों का बंधान करते हैं तो उस समय उनकी काव्य प्रतिभा का चरमोत्कर्ष दर्शनीय हो जाता है। ऐसे स्थलों पर काव्य-मर्मज्ञ केवल चमत्कृत ही नहीं होता, वरन् वह उस रसात्मक भावभूमि में अवस्थित हो जाता है जहाँ वह स्व और परभाव से मुक्त होकर मात्र काव्यानंद का आस्वाद करता है। तुलसी का रूपक प्रेम तो उनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'रामचरितमानस' (राम कथा रूपी मानसरोवर) के नामकरण से ही आरंभ हो जाता है। वे ग्रंथ के प्रारंभ में ही इस नामकरण की सार्थकता को साँगरूपक के बंधान द्वारा बखूबी वर्णित करते हैं-

सुठि सुन्दर संवाद वर बिरचे बुद्धि विचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।।

X X X X X X

राम सीप जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि विलास मनोरम।।
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई।।
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा।।
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा।।
सुकृती पुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान विराग बिचार मराला।
धुनि अवरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती।।

X X X X X X

नवरस जप तप जोग विरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा।।

X X X X X X

अस मानस मानस चख चाही। भई कबि बुधि बिमल अवगाही।।[1]

ऐसे सांगरूपक बंधानों को लेकर ही विद्वज्जन 'रामचरितमानस' को संसार का सबसे बड़ा रूपक काव्य (Allegory) मानते हैं। वैसे 'रामचरितमानस' एक कथात्मक रचना है। इसमें सर्वत्र इसका निर्वाह अन्वेषित करना औचित्यपूर्ण नहीं है।

रूपक की योजना करने वाला कवि साधारण नहीं होता, असाधारण होता है, दरअसल वही कवि रूपक की योजना में प्रवीणता प्राप्त कर सकता है जिसमें काव्य आचार्यों द्वारा परिगणित विभिन्न काव्य हेतुओं में 'प्रतिभा' के साथ व्युत्पत्ति की सम्पन्नता हो। बिना व्युत्पत्ति (लौकिक ज्ञान, लौकिक व्यवहार) की गंभीर चेतना के कोई कवि जड़-चेतन जगत की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से सम्पन्न नहीं हो सकता और यदि ऐसा नहीं है तो रूपक में प्रयुक्त उपमान नवीनता ग्रहण नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति में उन्हें अन्य कवियों की तरह घिसे-पिटे काव्य के उपमानों तक ही सीमित रह जाना पड़ेगा। तुलसी अपनी इसी काव्यशक्ति के आधार पर प्रकृति और मानव स्वभाव और चरित्र के सूक्ष्म ज्ञान से अत्यधिक सम्पन्न थे। रूपक में प्रयुक्त उनके उपमान बहुत कम काव्य-परंपरा प्राप्त हैं। उनके उपमान या तो प्रकृति के नये-नये उपादानों से गृहीत हैं अथवा मानव स्वभाव के किसी वृत्ति विशेष से जुड़े हुए हैं। उनकी संवेदनात्मक अनुभूति इतनी गहरी थी कि उन्होंने सामान्य प्रकृति और मानव प्रकृति दोनों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर अपने उपमान जगत को अत्यंत व्यापक बना दिया है। वे प्रकृति के सामान्य से दिखने वाले विभिन्न तत्वों एवं क्रियाकलापों में अपनी अभिव्यक्ति की तलाश अत्यंत सहज भाव से कर लेते हैं और उसी के माध्यम से अपनी बात प्रभावी ढंग से उपस्थित कर देते हैं। यही तो है महान कवियों की विलक्षणता! वास्तव में वह कवि उतना ही महान होगा जिसे प्रकृति के माध्यम से अपने भावों को सजाने और गंभीर बनाने की अद्‌भुत क्षमता होगी। तुलसी के इसी वैशिष्ट्य की ओर ए0पी0 वरान्नीकोव ने अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'तुलसी की कविता का विशिष्ट स्वरूप' में विचार करते हुए कहा है- ''भारतीय प्रकृति के पर्यवेक्षण और अध्ययन द्वारा प्राचीन चित्रों, उपमानों को पुनर्जीवित करना, उनके प्रयोग और तुलना द्वारा नये

---

* असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

पक्षों को ढूँढ़ लेना और पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा में अविज्ञात नये चित्र-विधान का निर्माण, तुलसीदास की विशिष्टता है।''[2]

यहाँ कुल मिलाकर एक ही बात कही जा सकती है कि तुलसी की रूपक चेतना और अन्य उपमान प्रयोगों में प्रकृति सर्वत्र छायी हुई है। उनके रूपक, साँगरूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमान मुख्यतः प्रकृति से लिये गये हैं। इस निबंध में लेखक की यही कोशिश होगी कि काव्य में परंपरा से प्रयुक्त होने वाले रूढ़ प्राकृतिक उपमानों की बात त्यागकर तुलसी के मौलिक, मार्मिक तथा प्रभावी रूपकत्व की चर्चा की जाय।

तुलसी ने अपने साहित्य में प्रकृति के विभिन्न अंगों, यथा सूर्योदय, रात्रि, वन, ऋतु-चक्र, सर-सरिता, गंगा-यमुना, सरस्वती, सागर से निसृत मणि-भांडार, पशु-पक्षी जगत, मीन आदि से संबंधित असंख्य उपमानों से प्रयुक्त रूपक और सांगरूपक सृजित किये हैं। यहाँ कुछ प्राकृतिक उपादानों से गृहीत उपमानों की ही चर्चा करना अपेक्षित है। प्रकृति संबंधी रूपकों में सर्वप्रथम सूर्योदय और रात्रि संबंधी रूपकों पर ध्यान जाता है। कवि तुलसी के अत्यंत प्रिय रूपक इन्हीं से संबंधित भी हैं। मानस के प्रारंभ में ही श्री गुरु चरणों की महिमा में कवि को प्रातःकालीन अरुण सूर्य किरणों का वह प्रभाव दिखायी देता है जो अंधकार को विदीर्ण करता है-

बंदऊँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नर रूप हरि।

महामोह तम पुंज जासु वचन रविकर निकर।।[3]

इस रूपक में ध्यान देने योग्य यह बात है कि कवि के मन में यह बिम्ब विद्यमान है कि जिस प्रकार सूर्य की किरणें प्रकट होते ही अंधकार को विनष्ट नहीं कर देतीं उसी प्रकार गुरु के दर्शन मात्र से ही नहीं, अपितु उसके शब्दों, उपदेशों से धीरे-धीरे महामोह रूपी अंधकार विलीन होता है, इसीलिए कवि ने 'किरणों के समूह' की बात कही है जो गुरु के अनेक उपदेशों के समान है। यही प्रकाश किरणें धीरे-धीरे शिष्य को निर्मलता प्रदान करती हैं।

सूर्योदय का एक अन्य सांगरूपक देखिए जिसमें धनुष-यज्ञ प्रसंग में बाल-सूर्य के रूप में श्रीराम का उदित होना तथा उदित होते ही समस्त वातावरण में अद्‌भुत हर्ष एवं आह्लाद का रेखांकन है-

''उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग।

बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग।।''[4]

एक अन्य उदाहरण देखिए जहाँ रूपक का विलक्षण एवं अभिनव प्रयोग है। इन काव्य पंक्तियों में उनकी रूपक-संयोजन की मौलिक प्रतिभा अत्यंत प्रभावी एवं हृदयग्राही बन पड़ी है। वस्तुतः प्रातः काल होने पर सूर्य के उदय होने से संसार का समस्त अंधकार नष्ट हो जाता है। नक्षत्र यद्यपि प्रकाश युक्त हैं, फिर भी अति अल्प प्रकाश देने के कारण वे वैसे प्रभावी नहीं होते जैसा सूर्य। इस सर्वविदित प्राकृतिक सत्य को महान कवि तुलसी अत्यंत सुन्दर रूप में धनुष-यज्ञ-प्रकरण में प्रयुक्त करते हैं-

'नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी।।'[5]

अनेक राजाओं के सामूहिक बल के द्वारा महान अंधकार रूपी धनुष को हटाने की यह कल्पना अत्यंत मनोहारी बन पड़ी है।

'कपास' तुलसी का प्रिय उपमान है। 'कपास' से निकली रूई से वस्त्र बनता है। इस वस्त्र से मनुष्य की नग्नता ढँकती है। तुलसी इस यथार्थ से भली-भाँति परिचित हैं। ऐसा इसीलिए, क्योंकि यह कवि मानव नहीं, बल्कि मानव-मानव है। वस्तुतः मानव-मानव वह होता है जो मात्र मनुष्य जाति से ही प्रेम नहीं रखता, वरन् वह प्रकृति के संपूर्ण चराचर से अपना प्रेम जताता है। यही कारण रहा कि कवि ने उपमान रूप में 'कपास' को भी ग्रहण किया है। 'कपास' का उपमान देकर उन्होंने अपनी सूक्ष्म एवं संवेदनशील दृष्टि की झलक दी है-

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। वंदनीय जेहि जग जस पावा।।[6]

कपास की डोड़ी जिस प्रकार नीरस होती है उसी प्रकार संत-चरित्र सांसारिक रसों से निर्लिप्त होता है। यहाँ कपास और संत-हृदय की उज्ज्वलता को 'बिसद' कह कर अपने अभिप्रेत को अभिव्यक्त किया गया है। कपास एवं संत का अनेक प्रकार के कष्टों को सहना एवं फिर भी परोपकार करना, दोनों को एक सूत्र में पिरोता है। जहाँ कपास नाना प्राकृतिक कष्टों को सहता है और कपड़े तक की अपनी यात्रा पूरी कर मनुष्य के तन को ढँकता है वहीं संत कष्टों को सहकर भी दूसरे के दोषों को ढँकता है। तुलसी के इस रूपक में अर्थ गांभीर्य के साथ कपास और संत दोनों के सभी पक्षों को प्रभावी और व्यापक रूप से उपस्थित किया गया है। यह काव्य कौशल तुलसी के अतिरिक्त अन्य कवियों के वश की बात नहीं।

कवि तुलसी ने प्रकृति में व्याप्त सर, सरिता और समुद्र सभी उपमानों का सार्थक एवं उपयुक्त चित्रण किया है। कवि की महानता यह है कि वह अपने प्रयुक्त उपमानों को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करता है कि गूढ़ से गूढ़ भाव सरल एवं सहज हो जाते हैं। सरिताओं में सुर-सरिता (गंगा) के अनंत गुणों को निहार कर जब तुलसी उपमान के माध्यम से सहज हृदय से अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उद्यत होते हैं तब वे कह उठते हैं-''कीरति भनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।''[7] यहीं से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी को अपने कथा के उपमान के लिए सुर-सरिता अत्यधिक प्रिय है। उन्होंने गंगा के समान जगत का हित करने वाली रामकथा को बार-बार 'मन्दाकिनी' कहा है। यही नहीं, उन्होंने अपने भावों को और अधिक विस्तार देते हुए उसमें मनः जगत को चित्रकूट, सुन्दर स्नेह को वन तथा श्रीराम और सीता को विहार करने वाला बताया

है। ऐसे स्थल पर रामकथा रूपी मंदाकिनी सहज ही सजीव एवं जगत के लिए साकार हो उठती है-

रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।

तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुवीर बिहारु।।[8]

सर-सरोवर का रूपक भी कवि ने गृहीत किया है। इन उपमानों की अपनी अलग विशिष्टता है। विशिष्ट इस अर्थ में कि ये मनुष्य के बहुत नजदीक के उपमान हैं। ऐसे उपमान अमूर्त भावों को सहज ही मूर्त रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। वस्तुतः वे उपमान ही श्रेष्ठ रूप धारण करते हैं जो सहज रूप से मनःजगत में प्रवेश करते हैं और सहृदय को रस के सागर में डूबोते हैं। ध्वनिकारों की दृष्टि में यही रसध्वनि के रूप में व्याख्यायित है। तुलसी को ऐसे ही उपमान मान्य थे-

''रामचरित सर बिनु अन्हवाएँ। सो श्रम जाइ न कोटि उपाएँ।।[9]

एक अन्य स्थल देखिए जहाँ विषयों की दावाग्नि में जलते मन रूपी हाथी को तुलसी इसी रामचरित रूपी मानसरोवर में निमग्न होने का रूपक बाँधते हैं-

अरामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा।

मन करि विषय अनल बन जरई। होई सुखी जौं एहि सर परई।।[10]

तुलसी साहित्य में रूपकों के बंधान में सूर्य से लेकर सागर तक प्राकृतिक उपमानों के सूक्ष्म से लेकर विराट अंगों की वर्णना दिखायी पड़ती है। उनके उपमान तड़ाग (तालाब) से लेकर सागर तक फैले हुए हैं। सागर के रूपक का एक उदाहरण तुलसी के आराध्य श्रीराम के संदर्भ में देखा जा सकता है। धनुष-यज्ञ प्रसंग में राम की भुजाओं के अपार बल के साम्य के लिए कवि ने असीम सागर का ही रूपक चुना है-

संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहुबलु।

बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहिं मोह बस।।[11]

सागर के रूपक को यदि कवि ने पारंपरिक रूप में भव-सागर के लिए अपनाया भी है तो वहाँ श्री राम और उनके नाम की महिमा का बखान कर उसे नयी आभा प्रदान कर दी है। 'विनय पत्रिका' की इन पंक्तियों में यही आभा दृष्टिगत होती है-

राम जपु, राम जपु, राम जपु बावरे।

घोर भव-नीर-निधि नाम निज नाव रे।।[12]

प्रकृति से गृहीत अन्य रूपकों का भी अपना विशिष्ट सौन्दर्य है। तुलसी वर्षा-ऋतु को अपने रूपक बंधान में अधिक महत्त्व देते दिखायी पड़ते हैं। जल अपने में संपूर्णता का द्योतक है। यह गुण, रंग एवं स्वाद से हीन होने पर भी संसार को जीवन प्रदान करता है। सभी संतों एवं भक्तों ने जल तत्त्व को किसी न किसी रूप में महत्त्व दिया है और उसकी गुणवत्ता एवं विराटता का गुणगान किया है। तुलसी को भी प्रकृति, मानव मन एवं संसार को सराबोर कर देने वाली वर्षा का रूपक भक्ति के लिए अधिक उपयुक्त लगता है जिसके रस में सभी समान भाव से भींगते हैं। वस्तुतः वर्षा-ऋतु में कवि को 'राम' नाम के दो सुंदर अक्षर सावन-भादो मास से लगते हैं-

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।

राम नाम वर बरन जुग सावन भादों मास।।[13]

वर्षा ऋतु में उत्तम भक्त रूपी धान श्रीराम की भक्ति का जल मनोनुकूल मात्रा में प्राप्त कर तृप्त हो जाता है। तुलसी ने इसी भाव को इस रूपक में कुशलता से अभिव्यंजित किया है। एक अन्य प्रसंग में श्री राम के विवाह करके अयोध्या आने पर समस्त सृष्टि में पुण्य रूपी मेघ बरस रहे हैं, नित्य मंगल हो रहे हैं। इस तथ्य को वे रूपक के माध्यम से अभिव्यक्त कर सहृदयों के बहुत निकट पहुँच गये हैं-

जब तें राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए।।

भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी।।

रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहुँ आई।।

मतिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती।।[14]

इस स्थल में नदियों का उमड़ कर सागर की ओर गतिशील होना और सागर में मणियों की उपस्थिति का रूपक अत्यंत आकर्षक और चित्त मोहक बन गया है।

कल्पतरु उपमान भी तुलसी को अति प्रिय है। उन्होंने जहाँ मनोनुकूल फल प्रदान करने वाले कल्पतरु का रूपक बाँधकर परंपरा के प्रति अपनी निष्ठा दिखायी है, वहीं कल्पतरु के फूल की परिकल्पना कर अपनी रूपक चेतना का अद्‌भुत कौशल बिखेरा है। श्रीराम की भक्ति वस्तुतः कल्पतरु ही है-

राम नाम को कल्पतरु कलि कल्यान निवासु।

जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदास।।[15]

इसी कल्पतरु में तुलसी जब उसके फूल की कल्पना करते हैं तब ऐसा उपमान देखकर सहृदय गदगद हो उठता है। इस अभिनव प्रयोग को कवि ने रूपक में ढालकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

मातु वचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला।।

सुख मकरंद भरे प्रियमूला। निरखि राम मनु भँवरु न भूला।।[16]

राजतिलक के लिए आतुर माता के सुन्दर वचनों की महिमा कल्पतरू के पुष्प के समान है जो सुख रूपी मकरंद से परिपूर्ण और श्री (राजलक्ष्मी) के मूल हैं किन्तु उन पर श्रीराम का मन रूपी भौंरा आकर्षित नहीं होता। इस प्रकार जहाँ एक ओर कल्पतरु कल्पित हैं।

वहीं उसकी पुष्प राशि महाकल्पित है, किन्तु प्रसंग के अनुकूल होने पर ये उपमान कल्पित नहीं लगते, बल्कि संसार जगत के सामान्य वस्तु से लगते हैं, अस्तु।

प्रकृति के चराचर जगत से पक्षी, पशु तथा जलचर आदि के उपमान तुलसी ने गृहीत किये हैं। कवि की प्रतिभा से ये उपमान स्थानीय रंग (वास्तविक मूल भाव) से ऐसे रंग जाते हैं कि दुरूह भाव भी साधारणीकृत होकर सहृदय को रस से सराबोर कर देते हैं। कवि का एक रूपक प्रयोग देखिए जहाँ वह रामकथा की महिमा को वर्णित करते हुए उसे हाथ की सुंदर ताली कहते हैं जो संदेह रूपी पक्षियों को उड़ा देती है। यहाँ कवि पक्षियों को विषय-वासनाओं के उपमान के रूप में प्रयोग कर अपने उद्देश्य-रामकथा के महत्त्व को सहज ही संप्रेषित कर देता है-

रामकथा सुन्दर कर तारी। संसय बिहग उड़ावन हारी।।[17]

तुलसी ने विहग के रूप में भरत के भौतिक सुख से उदासीन व्यवहार को अभिव्यक्ति देने के लिए चकवा-चकवी पक्षी का जो उपमान ग्रहण किया है वह अत्यंत चारु एवं नवीन है। इस पक्षी का जोड़ा रात में बिछुड़ जाता है और पुनः प्रातः मिलन करता है। यहाँ नवीनता एवं अभिनव प्रयोग यह है कि मिलन होने के बावजूद चकवा उदासीन एवं निर्लेप है। सम्पत्ति (भोग विलास की सामग्री) चकवी है और भरत चकवा हैं और मुनि की आज्ञा खेल है, जिसने उस रात को आश्रमरूपी पिंजड़े में दोनों को बंद कर रक्खा और ऐसे ही सबेरा हो गया। कहना यह है कि भरद्वाज जी की आज्ञा से रातभर भोग सामग्रियों के साथ रहने पर भी भरत जी ने मन से उनका स्पर्श तक नहीं किया-

संपति चकई भरत चक मुनि आयस खेलवार।

तेहि निसि आश्रम पिंजराँ राखे भा भिनुसार।।[18]

यह तुलसी का अभिनव प्रयोग है। वे उपमानों को परंपरागत तरीके से नहीं देखते, बल्कि नवीनता का पुट देकर उसे अद्भुत बना देते हैं। भावों को मूर्त रूप देकर उसे प्रत्यक्ष कर देते हैं। ऐसे अनेक उपमान कवि द्वारा लिये गये हैं जो कवि एवं सहृदय में सुन्दर सामंजस्य उपस्थित कर देते हैं। भक्ति की निष्ठा हेतु मीन, चातक एवं पपीहा तुलसी के प्रिय उपमान हैं। ये उपमान तुलसी की भक्ति के संदर्भ में प्रयुक्त होकर कमनीय हो उठते हैं। 'मीन' का एक रूपक देखिए-

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।

नाम सुप्रेम पियूष हृद तिन्हहुँ किए मन मीन।।[19]

तुलसी ने रूपक के बंधान के लिए पशु जगत से भी उपमान ग्रहण किये हैं। कवि की व्युत्पत्ति प्रतिभा की यह विशेषता बार-बार हमें चमत्कृत करती है। कवि अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए उन उपमानों का सफल प्रयोग करता है जो मनुष्य के बहुत निकट हैं। यही निकटता भावों को जहाँ गंभीर बनाती है वहीं मन में गहरे उतरती है। एक रूपक देखिए जहाँ राम-वन-गमन का समाचार सुन समस्त अयोध्यावासी दुःख के सागर में डूबे हुए हैं वहीं राम नये पकड़े हाथी के समान वन जाने के लिए हुमक रहे हैं-

नव गयंदु रघुवीर मनु राजु अलान समान।

छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान।[20]

तुलसी के उपमानों में बहुमूल्य संपदा के रूप में 'मणि' विशेष को रूपक के लिए प्रयुक्त किया गया है। वे सर्प-मणि के संबंध में बार-बार कहते हैं। ऐसे उपमानों का प्रयोग तुलसी के व्युत्पत्ति ज्ञान को और प्रखर बनाता है। सामान्य मानव के लिए बहुमूल्य संपदा के रूप में मणि का विशेष स्थान है। मानव रत्न, हीरा, सोना और चाँदी जैसे संपदा से परिचित है। ये संपदा 'मणि' से अपना महत्त्व कुछ कम ही रखते हैं। मणि को पाने की आतुरता जितनी रंक में होती है उससे कम राजा में नहीं। तुलसी लोक की इस लोलुपता से भली-भाँति परिचित हैं। वे 'चिंतामणि' जैसे मिथकीय मणि का उपमान अपने रूपक में प्रयुक्त करते हैं-

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।।[21]

उपमानों को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए कवि उपमानों में नव्यता का समावेश करता है। वह मणि की बात करता-करता 'मणि दीप' की बात करने लग जाता है। मणि-दीप विशेष आभा प्रदान करने वाला है और राम-नाम का मणि-दीप, जो मुख रूपी द्वार की जीभ रूपी देहली पर रखा हुआ है, भीतर और बाहर अर्थात् अंतः मन और बाह्य जगत दोनों को प्रकाशित कर देता है-

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।

तुलसी भीतर बाहरेहुँ जौं चाहसि उजियार।।[22]

कवि 'चिंतामणि' जैसे उपमान से उतरकर 'मणिदीप' तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि वह आगे बढ़ते हुए 'दीप-शिखा' जैसे उस उपमान तक आ जाता है जो सर्वज्ञ सुलभ है। कवि की नव्यता इस अर्थ में है कि वह सुन्दरता को भी सुन्दर कर देने वाली सीता 'छवि-गृह' को भी प्रकाशित कर रही है मानो अब तक सुन्दरता का भवन प्रकाशित नहीं था-

सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छवि गृह दीप सिखा जनु बरई।।[23]

कवि तुलसीदास को नये-नये उपमान गढ़ने में महारत हासिल है। वे 'रामचरितमानस' ग्रंथ के उत्तरकांड में श्री राम की भक्ति की महिमा बताते हुए उसके अभाव में सुख नहीं देखते। इस मत की स्थापना के लिए कवि नाना प्रकार की असामान्य कल्पना करता है- चाहे कछुए की पीठ पर बाल उग आएँ, बाँझ का पुत्र भले ही किसी का वध कर दे, आकाश में चाहे कितने ही फूल (उग) खिल जाएं, मृग तृष्णा का जल भले ही प्यास बुझा दे, खरगोश के सिर पर भले ही सींग निकल आएँ, अंधकार भले ही सूर्य को निगल जाए, हिम

से भले ही अग्नि प्रकट हो जाए, जल के मंथन से भले ही नवनीत निकल आए और बालू से भले ही तेल निकल आए, पर हरि विमुख होकर सुख नहीं पाया जा सकता और न ही भव-सागर से तारा जा सकता है-

कमठ पीठ जागहिं बरु बारा। बंध्या सुत बरु काहु हि मारा।।

फूलहिं नभ बरु बहुविधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रति कूला।।

तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस विषाना।।

अंधकार बरु रबिहि नसावै। राम विमुख न जीव सुख पावै।।

हिम ते अनल प्रगट बरु होई। विमुख राम सुख पाव न कोई।।

बारि मथें घृत होई बरु सिकता ते बरु तेल।

बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।।[24]

तुलसी ने कुछ रूपक वैद्यक और योग के क्षेत्र से भी चुने हैं। 'मानस' के प्रारंभ में ही गुरु-वंदना में आया यह उदाहरण अत्यंत सुन्दर और हृदयग्राही है-

बंदऊँ गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू।।[25]

योग साधना में 'सिद्धांजन' की बात सुनी जाती है जिसे लगाकर साधक पृथ्वी के अंदर छिपी अपार संपत्ति की खानों को देख सकता। इसी उपमान को लेकर तुलसी उसे गुरुचरण-रज से ऐसे एक रूप कर देते हैं कि वास्तव में चरण महिमा अपने आप ही महानता के सोपान चढ़ जाती है-

जथा सुअंजन आंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।

कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।।[26]

तुलसी का रूपक प्रेम उनके संपूर्ण साहित्य में बिखरा पड़ा है और विस्तृत रूपक ही तुलसी के अद्‌भुत कवि-कर्म का द्योतक बन गया है। ऐसा होने पर भी कवि यह आभासित नहीं होने देता कि उनके उपमानों में कला की प्रधानता है और भाव की गौणता है। वे तो रूपक-योजना का ऐसा विधान करते हैं कि पाठक रस विभोर हो जाता है। पाठक कला एवं भाव की ऐसी भूमि पाता है कि वह काव्य में रमकर उसमें निमग्न हो जाता है। एक स्थल देखिए जहाँ कवि ने प्रयागराज को सांगरूपक में ढाल कर पाठक को मंत्रमुग्ध कर दिया है। प्रथम पंक्ति में ही संत-समाज को चलता-फिरता तीर्थराज कहा गया है। संतों के तीर्थराज में त्रिवेणी की कल्पना अद्‌भुत है-

मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू।।

रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा।।

विधि निषेधमय कलि मल हरनी। करम कथा रविनंदनि बरनी।।

हरि हर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी।।[27]

सांगरूपक का एक अन्य उदाहरण देखिए जहाँ राम-वियोग में मरणासन्न दशरथ को कौशल्या समझाती हुई तथा राम वियोग को अपार समुद्र से तुलना करती हुई कहती हैं कि इस वियोग-सागर में अवध रूपी जहाज के कर्णधार आप ही हैं और अवध का समस्त समाज जहाज पर चढ़े यात्री हैं। यदि आप इस जहाज के खेने वाले धीरज धारण करेंगे तो उस वियोग-सागर से पार उतर जायेंगे, अन्यथा सारा परिवार डूब जायेगा। कौशल्या के इस कथन का सांगरूपक कितना मार्मिक बन पड़ा है, कहा नहीं जा सकता। इसमें आश्वासन एवं प्रबोध अपने चरमोत्कर्ष रूप में व्यंजित हो रहे हैं-

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम वियोग पयोधि अपारू।।

करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू।।

धीरज धरिअ त पाइउ पारू। नहीं त बूड़िहि सब परिवारू।।[28]

वस्तुतः शब्द और काव्य के अन्य उपादान महान कवि के इशारे पर चलते हैं, वह उनका मनचाहा प्रयोग कर सकता है। राम और उनकी भक्ति को कवि ने अधिकतर सूर्योदय से ही उपमित किया है, किन्तु इन पंक्तियों में सीता-हरण के पश्चात् नारद प्रभु की भक्ति का पूर्णिमा की रात्रि को सांगरूपक में कुछ इस प्रकार बाँधते हैं-

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।

अपर नाम उडगन विमल बसहुँ भगत उर ब्योम।।[29]

इस प्रकार एक कवि उपमानों को मनचाहे ढंग से अभिव्यक्ति कर सकता है। महान कवि तुलसी के लिए उपमान वे श्रेष्ठ हैं जो प्रसंगानुकूल हों तथ सटीक अर्थ की अभिव्यक्ति देने वाले हों। राम-रावण युद्ध के समय अर्थवत्ता वाले उपमानों से युक्त उदाहरण देखिए जहाँ राम-रावण युद्ध के समय विभीषण से प्रश्न करा कर कि हे प्रभु! आपके पास रथ नहीं है, रावण पर आपकी विजय कैसे होगी? राम का सांगरूपक के माध्यम से यह कितना सुन्दर उत्तर है कि जिस रथ से जय होती हे वह रथ ही दूसरा रथ है-

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।

बल विवेक दम पर हित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।

ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना।।

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदण्डा।।

अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिली मुख नाना।।

कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा।।

सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कँह न कतहुँ रिपु ताकें।।[30]

अद्‌भुत सांगरूपकों के बंधान में तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' के उत्तरकांड में ज्ञान-भक्ति प्रसंग में ज्ञान-दीपक की

जो चर्चा की है वह अति श्लाघ्य है। इस सांगरूपक बंधान का उल्लेख मैंने तुलसी से संबंधित अपने अन्य निबंध ''तुलसी का कवित्व : कतिपय असामान्य विलक्षणताएँ'' में किया है। यह प्रसंग काकभुशुण्डि और गरुड़ के संवाद के संदर्भ में वर्णित है। काक भुशुण्डि जी ने गरुड़ जी से कहा कि सांसारिक जीव माया के वशीभूत होकर तोते और बंदर के समान अपने आप ही बंध गये हैं। जीव ईश्वर का अंश है। वह अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभाव से ही सुख की राशि है। अपने इस स्वरूप को माया के वशीभूत होकर जीव संसारी हो गया। यद्यपि सभी धर्मग्रन्थों ने उससे मुक्त होने के उपाय बतलाये हैं, पर वह कठिन गाँठ छूटती नहीं। केवल वह गाँठ ईश्वर कृपा से ही छूट पाती है। जब हरि कृपा से श्रद्धा रूपी सुन्दर गौ हृदय रूपी घर में आकर बसती है तभी उस अज्ञान रूपी अंधकार से मुक्ति मिलती है। इसी प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए तुलसी ने ज्ञान दीपक का जो रूपक बंधान किया है, वह अद्‌भुत है। गाय के दूध, उससे निकलने वाले घृत की पूरी प्रक्रिया से जलने वाले ज्ञान दीपक से ही अज्ञान का अंधकार नष्ट होता है-

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई।।
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा।।
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।।
नोइ निवृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा।।
परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई।।
तोष मरुत तब छमाँ जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै।।
मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी।।
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।
दो0 **जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।**
बुद्धि सिरावै ग्यान घृत ममता मल जरिजाइ।।
तब बिग्यान रूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअति बनाइ।।
तीनि अवस्था तीनि गुन तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।।
एहि बिधि लसै दीप तेज रासि बिग्यानमय।
जातहिं जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब।।[31]

यह तो एक नमूना है। ऐसे न जाने कितने सांगरूपक हैं जो हिन्दी जगत् के लिए नवीन और सहृदय हृदय को चमत्कृत कर देने वाले हैं, अस्तु।

कुल मिलाकर, महाकवि तुलसीदास रूपक शैली के अभूतपूर्व कलाकार हैं। इसके पीछे दो कारण हैं-कवि की अप्रतिम काव्य प्रतिभा और उसका विपुल लोक ज्ञान (व्युत्पत्ति)। वे दूसरे कवियों की तरह अभ्यासी कवि नहीं थे। उनके यहाँ तो लगता है काव्य की रचना स्वतः स्फूर्त है यही तो काव्य शक्ति (प्रतिभा) है जिसके बारे में कहा गया है-

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।।[32]

कहना न होगा, यही शक्ति महाकवि तुलसीदास को मिली थी और इसी शक्ति से सम्पन्न होकर अपने विपुल व्युत्पत्ति ज्ञान के आधार पर अपनी काव्य सर्जना की जो भारत के लोककंठ में ही नहीं रमी, विश्व के महापुरुषों के लिए भी अतिप्रिय हुई। उनके विभिन्न नवीन उपमान प्रयोग उनके व्यापक दृष्टिकोण के द्योतक हैं। उनके उपमान में भाव और कला का सुन्दर संतुलन है। न तो भाव ही अपनी अर्थवत्ता खोता है और न कला ही अपनी सीमा का अतिक्रमण करती है। तुलसी का रूपक उनकी उपस्थिति एवं पहचान को साकार बनाता है। प्रकृति के अंग-प्रत्यंग को उपमान रूप में लेकर उन्होंने अपनी भक्ति, मानव स्वभाव, सौन्दर्य और मानव के विविध क्रिया-कलापों का जो रूपक एवं सांगरूपक के माध्यम से सुन्दर नियोजन किया है वह संसार के किसी कवि में दृष्टिगत नहीं होता, अस्तु।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रामचरितमानस, बालकांड, दो0सं0 36 से 38 के मध्य की चौपा0।
2. मानस की रूसी भूमिका, पृ0 90 (अनु0 डॉ0 केसरी नारायण शुक्ल)
3. बालकाण्ड, सोरठा 05
4. वही, दो0सं0 254
5. वही, दो0 238 की चौपाई
6. वही, दोहा सं0 1/3,
7. वही, दोहा सं013/5
8. वही, दोहा सं0 31
9. वही, दोहा सं0 10 (ख) 3
10. वही, दोहा सं0 34/5
11. वही, सोरठा 261
12. विनय पत्रिका, पद सं0 66
13. बालकाण्ड, दोहा सं0 19
14. अयोध्याकाण्ड, दोहा सं0 1/1-2
15. बालकांड, दोहा सं0 26
16. अयोध्याकांड, दोहा सं0 52
17. बालकाण्ड, दोहा सं0 113
18. अयोध्याकांड, दोहा सं0 215
19. बालकाण्ड, दोहा सं0 22
20. अयोध्याकांड, दोहा सं0 51

21. बालकाण्ड, दोहा सं0 31/1
22. बालकाण्ड, दोहा सं0 21
23. वही, दोहा सं0 229/4
24. उत्तरकांड, दोहा सं0 122 (क)
25. बालकांड, दोहा सं0 1/1-2
26. वही, दोहा सं0 01
27. वही, दोहा सं0 01/4,5
28. अयोध्याकांड, दोहा सं0 153/3-4
29. अरण्यकाण्ड, दोहा सं0 42(क)
30. लंकाकांड, दोहा सं0 79/2,3,4,5,6
31. उत्तरकांड 116 से 117 दोहे तक की चौपा0 तथा सोरठा
32. अग्निपुराण, 327 (3)

●

''सामाजिक न्याय पहुँचाने में स्वच्छ भारत मिशन की भूमिका''

डॉ0 रविश कुमार तिवारी[*] एवं प्रो0 शैलेश कुमार मिश्र[**]

गांधी जी की प्रेरणा से ही प्रधानमंत्री जी ने 2 अक्टूबर, 2014 को स्वच्छ भारत मिशन कि शुरूआत की गयी। देश को खुले में शौच कि समस्या से मुक्त करने और गांधी जी के सपनों का स्वच्छ भारत बनाने के मकसद से इसकी शुरूआत कि गई थी। इसके बाद अगले पांच वर्षों में इस मोर्चे पर अभूतपूर्व सामुदायिक गोलबंदी देखने को मिली थी। इसमें राजनीतिक नेतृत्व, सार्वजनिक फंड, बेहतर समन्वय और लोगों की भागीदारी के जरिये बड़ी सफलता देखने को मिली हैं।[1]

इस अभियान कि शुरूआत एक सरकारी कार्यक्रम के तहत हुई और धीरे-धीरे इसने दुनिया के एक बड़े जन-आंदोलन का रूप ले लिया। अभियान के दौरान सभी स्तरों पर नेताओं, स्वंयसेवकों और अन्य लोगों का सहयोग देखने को मिला।[2] ग्राम सरपंच, मुखिया और स्वच्छाग्रहियों ने इस अभियान को रास्ता दिखाया। इसे व्यवहार में बदलाव से जुड़ा दुनिया का सबसे बड़ा जन-आंदोलन बताया गया है।[3] स्वच्छ भारत अभियान जमीनी स्तर पर प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला लाखों-करोड़ों लोगों की जबरदस्त मेहनत का परिणाम है। आजाद भारत के 73 सालों बाद दलित, पिछड़ा, आदिवासी एवं कमजोर वर्गों को सामाजिक न्याय, प्रतिष्ठा, समानता एवं आत्मसम्मान को दिलाने वाला प्रमुख साधन माना गया है, जो इतने वर्षों के बाद आम आदमी के जीवन में सामाजिक न्याय का मार्ग प्रसस्त हुआ है, गांधी एवं अम्बेडकर के विचार को कार्य रूप में जमीनी स्तर पर उतारकर आम जन को सामाजिक सम्मान स्वच्छ भारत मिशन के द्वारा मिल रहा हैं।[4]

स्वच्छ भारत मिशन प्रमुख रूप से महिलाओं के साथ जुड़ा है। क्योंकि महिलाओं को सामाजिक न्याय एवं इज्जत मिलने में 73 साल लग गयें। आज भारत के प्रत्येक गांव में इज्जत घर (शौचालय) का निर्माण उनके सपनों को साकार कर रहा है जो इतने लम्बे समय बाद मिला है।[5] केवल गांधी एवं अम्बेडकर के विचारों को भाषण के माध्यम से देश की आम जनता को दिया जा रहा था उनके भाषणों को कार्य रूप में पहुँचाने का काम 2 अक्टूबर 2014 के बाद हुआ। जो आज आमजन को इनका सीधा लाभ खासकर महिलाओं को मिल रहा है। जो अपनी आत्म सम्मान की पीड़ा के लिए इतने समय तक इंतजार कर रही थी।[6]

आज स्वच्छ भारत मिशन की प्रक्रिया में वे नेतृत्व वाली भूमिका निभाते हुए सम्मान और सशक्तीकरण भी हासिल कर रही है। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाली महिलाएँ न सिर्फ स्वच्छता पर चर्चा के लिए बाहर निकलती, बल्कि उन्होंने शौचालय बनवाने के लिए मुहिम छेड़ने की खातिर बाकी महिलाओं को भी प्रेरित किया। देश के कई हिस्सों में जिस घर में शौचालय नहीं है उस घर में शादी करने से भी लड़किया इनकार कर देती थी। शौचालय को 'इज्जत घर' का नाम दिया गया है।[7] बच्चों और युवाओं ने इस अभियान में बड़े पैमाने का सहयोग दिया था। उन्होंने स्वच्छता को अपने व्यवहार में शामिल किया और इस अभियान के लिए श्रमदान भी किया। साथ ही, जनता को इकट्ठा करने से जुड़े अभियान में ये लोग बड़े पैमाने पर शामिल हुए। कई स्थानों पर स्कूली बच्चों ने बदलाव के एजेंट के तौर पर अपनी भूमिका निभाई है। इन बच्चों ने 'मुझे स्वच्छता चाहिए'। मांग के साथ माता-पिता और स्कूल प्रबंधन को स्वच्छता की अनिवार्यता के बारे में सक्रिय किया है। बच्चों ने इस सिलसिले में बेहद सक्रियता के साथ सुबह की निगरानी का काम संभाला और सीटी और टॉर्च की रोशनी की मदद से खुले में शौच करने वाले छिटपुट गांव के लोगों को वापस शौचालय भेजवाया।[8]

सूचना, शिक्षा और संचार स्वच्छ भारत मिशन अभियान की सफलता की बहुत बड़ी भूमिका थी। इस जटिल अभियान को बेहद आसान बना दिया। लाखों स्वच्छाग्रहियों ने जमीनी स्तर पर व्यक्तिगत संवाद-संचार का सहारा लेते हुए दूर-दराज के गांवों और अन्य हिस्सों में काम किया और समुदायों में व्यवहार संबंधी बदलाव का मार्ग प्रशस्त किया। देशभर में व्यक्तिगत स्तर पर संचार-संवाद के सहारे अभियान की रूपरेखा तैयार की गई और जन जागरूकता के लिए नियमित तौर पर यह अभियान चलाया गया।[9] इनमें 'स्वच्छता ही सेवा' और स्वच्छ शक्ति' अभियान प्रमुख हैं। महात्मा गांधी के चश्मे वाला स्वच्छ भारत का विचारपुंज का लोगों। आज देश के तमाम गांवों, शहरों, गलियों आदि में आसानी से देखा जा सकता है। जो लोगों को सकारात्मक बदलाव का रास्ता दिखा रहा हैं।

स्वच्छ भारत अभियान की एक खूबी कार्यकर्ताओं द्वारा जागरूकता अभियान के दौरान चीजों के बारे में व्यावहारिक तौर पर जानकारी प्रदान करना है। साथ ही प्रधानमंत्री जी ने अपने सार्वजनिक भाषणों और रेडियों पर आने वाले मन की बात कार्यक्रम में स्वच्छ भारत पर प्रमुखता से अपनी बात रखते थे।[10]

स्वच्छ भारत अभियान का बुनियादी सिद्धांत यह था कि स्वच्छता का संबंध हर वर्ग से है। प्रधानमंत्री जी ने इस बात को कई बार अपने भाषणों में दिये हैं। इसमें सबका साथ एवं सबका सहयोग जरूरी है। पिछले कई सालों से देश में कोई भी शख्स इस अभियान से अछूता नहीं है।[11] सरकारी और गैर-सरकारी, दोनों

* (PDF, DAIC, नई दिल्ली)
** संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

स्तरों पर लोग इससे जुड़े हुए है। सिविल सोसायटी, उद्योग जगत, मीडिया, अकादमिक संस्थान सभी इस अभियान के साथ कंधे-से-कंधे मिलाकर एक साथ खड़ी हुई थी। स्वच्छता पखवाड़ा, स्वच्छता कार्य योजना के अलावा स्वच्छता आदर्श स्वरूप, इत्यादि से देश भर में स्वच्छता के स्तर में काफी सुधार हुआ है। गांव, शहर, पर्यटन केन्द्रों तक देश के हर कोने में इस अभियान का असर दिख रहा है। जिन विभागों का स्वच्छता से सीधा कोई संबंध नहीं है वे भी इस अभियान में योगदान कर रहे हैं। स्वच्छ भारत कोष के लिए बड़े पैमाने पर दान मिल रहा है। स्वच्छ भारत ग्रीष्मकालीन इंटर्नशिप जैसे कार्यक्रम के तहत विश्वविद्यालय के छात्र भी गांवों को गोद लेकर सफाई अभियान को गतिशील बना रहे हैं। यह अपने आप में बहुत बड़ा जन संदेश है। भारत में इस अभियान ने सारे विश्व के देशों को अपनी तरफ आकर्षित किये है। इस अभियान से सारे विश्व के देश भारत की स्वच्छता के प्रति समर्पण को अपने यहाँ लागू कर रहे हैं। 2 अक्टूबर की तारीख महानतम् चिंतक का जन्म दिवस है जिन्होंने स्वच्छता का व्रत लिया था। इनके सपनों को साकार करने में आजाद भारत को 73 साल से अधिक लग गए जो अपने-आप में महत्वपूर्ण है। स्वच्छता के प्रति पूर्ण समर्पण महात्मा गांधी जी के जीवन अंग था। जिससे समाज आत्मनिर्भर होकर एक नवीन समाज का रचना कर सके जो सबको समानता, स्वतंत्रता एवं आत्म स्वाभिमान के साथ जीवन जी सके। इसी विचार के अनुरूप स्वच्छ भारत मिशन की परिकल्पना की गई थी।[12] जिसका लाभ समाज के महिलाओं एवं बच्चीयों को इज्जत के साथ मिल रहा है। देश के हर कोने में इसका लाभ देखने को मिल रहा है जो इस प्रकार हैं-

- खुलें में शौच में मुक्ति
- हाथ से मैला साफ करने की समाप्ति
- आधुनिक एवं वैज्ञानिक नगरीय ठोस अपशिष्ट प्रबंधन
- स्वच्छता गतिविधियों के लिए व्यवहार में प्रभावी परिवर्तन लाना।
- शहरी, स्थानीय निकायों की क्षमता में वृद्धि करना।
- निजी क्षेत्र की सहभागिता के लिए एक सहयोगी वातावरण का निर्माण करना।
- महिलाओं एवं किशोरियों के स्वाभिमान एवं इज्जत की रक्षा
- समय की बचत
- सामाजिक कलह में कमी
- गंभीर बीमारियों से सुरक्षा
- रोजगार सृजन
- गांव एवं शहर स्वच्छ होने से पर्यटन उद्योग को बढ़ावा मिला।
- स्वच्छता के प्रति जागरूकता बढ़ गयी है।
- बच्चों की गन्दगी से मौत हो जाती थी उसमें कमी आयी
- बच्चों में पेचित के मामले में कमी आयी है।
- अपहरण, छेड़खानी एवं बलात्कार इत्यादि सामाजिक अपराधों में कमी आयी है।
- अंधेरे में शौचालय न होने के कारण विषैले जानवर आदि की वजह से जान जाने की दर में भी कमी आयी है।
- स्कूल, कॉलेज में शौचालय न होने से बच्चियां बीच में ही पढ़ाई छोड़ देती थी वो अब पूरा कर पा रही है।
- कोरोना संकट में सामाजिक दूरी को बनाए रखने में इस योजना के होने से काफी मदद मिली हैं।
- शौचालय निर्माण के लिए आर्थिक मदद करना ताकि अंतिम व्यक्ति सम्मानपूर्ण जीवन जी सकें।

कुछ सुझावों को लागू करने से स्वच्छ भारत मिशन को चार चाँद लग सकता है। जो इस प्रकार है-

- पर्यावरण स्वच्छता का पाठ्यक्रम बनाकर स्कूल एवं विश्वविद्यालय के छात्रों को ग्रामीण परिवेश से जोड़ना।
- जो परम्परागत जल के स्त्रोत जैसे कुँआ, तालाब, झील, नहर, एवं कुड़ इत्यादि का स्कूली छात्रों का भ्रमण कराना एवं संरक्षण के बारे में ग्रामीण निवास स्थान पर दस दिवसीय कैंप लगाना।
- ग्रामीण स्थानों पर छात्रों का इंटर्नशिप के दौरान गांव के स्वच्छता का ढ़ाचा व्यवस्था निर्माण व्यवहार परिवर्तन समेत स्वच्छता से जुड़ी गतिविधियों से प्रत्यक्ष जोड़ना।
- सामुदायिक शौचायल बनवाना।
- सार्वजनिक शौचालय बनवाना।
- नगर पालिका ठोस अपशिस्ट प्रबंधन का प्रशिक्षण देना।
- स्वच्छ गांव को भी विश्व पर्यटन से जोड़ना।
- शौचालय घर को परम्परागत कलाओं से पेंटिंग कराना ताकि लोकल कला को संरक्षण मिल सकें।
- कचरा प्रबंधन के लिए ब्लाक तथा ग्रामीण स्तर पर प्रशिक्षण केन्द्र खोला जाए।

- महिलाओं एवं किशोरियों को स्वच्छता के प्रति जागरूक करने के लिए एक 'स्वच्छता सखी' की भी व्यवस्था करनी चाहिए।
- महिलाओं को भी शौचालय बनाने का प्रशिक्षण दिया जाए ताकि वो आत्मनिर्भर बन सकें।
- स्वच्छता का योजना बनाने में आम आदमी को भागीदार बनाया जाए।

इस प्रकार गांधी जी के चिंतन एवं डॉ0 अम्बेडकर के सामाजिक न्याय को अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाना इस योजना का उद्देश्य रहा है, क्योंकि भारतीय समाज लम्बे वक्त के साथ सामाजिक न्याय से वंचित था। जो इतने दिनों बाद खासकर महिलाओं को सशक्तिकरण करने के साथ-ही-साथ इज्जत पूर्ण जीवन देना इस मिशन का उद्देश्य एवं लक्ष्य रहा है। जो अपने महानतम चिंतक के सपनों को साकार होने का समय आज सम्पूर्ण भारतवासी अपने सुन्दर आंखों से देख रहा है। आज सम्पूर्ण समाज के लोग स्वाभिमान, समानता एवं स्वतंत्रता के साथ इस स्वच्छ भारत मिशन के द्वारा अपना जीवन जी रहे हैं। जो अपने आप में सम्पूर्ण विश्व के लिए एक उदाहरण बन चुका है।

आज भारत पुनः प्राचीन गौरव के साथ खड़ा हो चुका है। जो हड़प्पा कालीन स्वच्छ समाज था जो दुनिया को अपने पुराने गौरव को आज भी बता रहा है वही आज भारत एक बार पुनः अपनी अतीत के गौरवशाली स्वच्छता की परम्परा को आज अंतिम व्यक्ति तक पहुँचाकर पुनः सामाजिक न्याय एवं समानता के सिद्धांत को सम्पूर्ण विश्व तक पहुँचाकर अपने दो महानतम चिंतक महात्मा गांधी एवं अम्बेडकर के सपनों को पूरा होते देख सम्पूर्ण भारतवासी खुश एवं सन्तुष्ट है। यही इस योजना का सारतत्व रहा है कि अंतिम व्यक्ति भी अपनी सामाजिक गरिमा एवं आत्मसम्मान के साथ जीवन जी सकें ताकि वह सामाजिक एवं आर्थिक विकास में भागीदार बन सकें।

सन्दर्भ :

1. https:www.niti.gov.in/niti/hi
2. चौरसिया दीपक : कूड़ा-धन, प्रकाशन : प्रभात प्रकाशन, दिल्लीसंस्करण : 2018, पृ0सं0 88-205
3. आचार्य राजेश कुमार : महात्मा गांधी से मोदी, प्रकाशन : Manoland Limited, 2016, पृ0सं0 147-160
4. सेठी रजत : मोदी का भारत, पृ0सं0 175-185
5. वर्मा सुदेश! नरेन्द्र मोदी युग प्रवर्तक : प्रकाशक वितस्ता पब्लिशिंग प्राइवेट लिमिटेड 2/15, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, पृ0सं0 194-207
6. भारत 2020 : प्रकाशक : सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, पृ0सं0 541-294
7. panchayatisaj.up.nic.in
8. sural.nic.in
9. दैनिक जागरण : राष्ट्रीय संस्करण, नईदिल्ली, 9 अप्रैल, 2020
10. https:www.Ifinmin.nic.inn/h
11. योजना : 2015-16, प्रकाशक : सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सितम्बर 2016, पृ0सं0 13-16
12. कुरुक्षेत्र : 2015-16, प्रकाशक : सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, मई 2015, पृ0सं0 10

●

''लक्षणावृत्तिविमर्शः''

डॉ0 शान्तिलालसालवी[*]

सर्वेऽपि पदानि वाक्यानि च श्रुत्वा बोधमङ्गी कुर्वन्ति, शब्दात् आगम इति शाब्दः शाब्दश्चासौ बोधः शाब्दबोधस्तत्र पञ्चम्याः प्रयोज्यत्वमर्थः तथा च शब्दप्रयोज्यो बोधः शाब्दबोध इति। जान्त्येव तत्र भवन्तो भवन्तः विद्वासः श्रुतैरपि सर्वैः पदैः शाब्दबोधो न जायते किन्तु कैश्चिदेवेति, अतएव शाब्दबोधं प्रति वृत्तिविशिष्टं ज्ञानं कारणमिति स्वीक्रियते। तत्र का नाम वृत्तिरिति जिज्ञासायां गदाधरभट्टाचार्यो वृत्तिस्वरूपं व्याचष्टे-

''संकेतो लक्षणा चार्थे पदवृत्तिः''[1]

पदस्य वृत्तिः पदवृत्तिः षष्ठ्यर्थे निष्ठत्वं तथा चार्थ-निरूपिता-पदनिष्णवृत्तिः संकेतो लक्षणा चेति। पटादिनिरूपितापटपदनिष्णवृत्तिः संकेतरूपा, तीरादिनिरूपिता गंगापदनिष्णवृत्तिः लक्षणारूपेति विवेकः।

वाग्देवताचार्येः मम्मटः काव्यप्रकाशे स्पष्टं निगदति यत् लक्षणोपाधिकः शब्दो लाक्षणिकः (लक्षकः) तदर्थश्च लक्ष्य इति यथा-

स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।

वाच्यादयस्तर्थाः स्युः तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित्।।[2]

ननु केयं लक्षणा यदुपाधिकः शब्दो लाक्षणिकः, यत्रतिपाद्यश्चार्थो लक्ष्य इति जिज्ञासायां लक्षणायाः स्वरूपं मम्मटेनोक्तम्-

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया।।[3]

अर्थात् मुख्यस्य अर्थस्य बाधे, तेन मुख्यार्थेन सह लक्ष्यार्थस्य अन्यार्थस्य वा सम्बन्धे सति रूढेः प्रसिद्धिकारणेन अथवा प्रयोजनविशेषण यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थेः लक्ष्यते सः मुख्यरूपेण अर्थे विद्यमानत्वाद् शब्दस्य आरोपितः व्यापारः लक्षणा इत्युच्यते।

कारिकास्थहेत्वंशे मुख्यार्थबाधे, तद्योगे, रूढितः प्रसिद्धेश्चेति त्रयोंऽशाः।

मुख्यार्थबाधः- मुख्यस्यार्थस्य बाधः इति मुख्यार्थबाधः। मुख्यार्थबाधो लक्षणायाः जीवितमिति लोचनकारेणापि उक्तम्। बाधस्तु अनुपपत्तिः। अयं मुख्यार्थबाधो लक्षणायां प्रथमो हेतुः। वैयाकरणः ''शक्यतावच्छेदकारोपः लक्षणेति'' स्वीकुर्वन्ति। तत्रान्वयानुपत्तिः तात्पर्यानुपपतिश्च लक्षणायां बीजम्। सर्वत्रान्वयानुपपत्तेरभावात् तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजमिति स्वीकुर्वन्ति शाब्दिकाः। यथा- यदा वक्ता गंगायां घोषः इत्यादीनां प्रयोगं करोति तदा श्रोता गंगापदस्य अर्थः अभिधया शक्त्या जानाति- ''जलप्रवाहरूपस्यार्थः'' इति। ततश्च जलप्रवाहः घोषस्याधिकरणं कथमिति तन्मनसि सन्देहो जायते। अयमेव सन्देहो मुख्यार्थस्य बाध इति। यदा शक्तिग्राहकैः व्याकरणकोशादिभिः समुपस्थापितैरप्यर्थैः वाक्यार्थो न घटते तथा अर्थप्रतिपादिकां शक्तिं प्रति श्रोता सावधानो भवति। एतादृशी अवस्थायां श्रोता अभिधां विहाय लक्षणां गृह्णाति। लक्षणया च गंगापदस्य तटरूपमर्थं प्रतिपाद्य तटघोषयोराधाराधेयभावसम्बन्धस्य सम्पन्नत्वात् वाक्यार्थ संगतिः जायते।

यदि घोषादिपदस्य मकरादौ लक्षणा क्रियते तदाऽन्वयस्य सत्वेऽपि वक्तुस्तात्पर्यं न सिध्येत् यतोहि घोषे अर्थात् आभीरपल्यामतिशैत्यपावनत्वस्य प्रतीत्यर्थमेव वक्ता एतादृशं वाक्यमुच्चारयति स्म। घोषादिपदानां मकारादौ लक्षणास्वीकारे शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिर्घोषे न स्यात्। अतः विधेयस्य घोषादेः लक्षणा कर्तुमशक्येति तस्मात् घोषीयाधारता जलप्रवाहे बाधिता विद्यते, किञ्चोपायान्तरेणान्वयोपपत्तिकरणेऽपि शैत्यातिशयपावनत्वादिरूप-प्रयोजनं यत् वक्तुस्तात्पर्यं तत् न सिध्येत्। अतः तत्तात्पर्यसिध्यर्थं लक्षणाभ्युपेया। परमलघूमञ्जूषाकार नागेशभट्टेनापि उक्तम् यत् न केवलं अन्वयानुपपत्तिः अपितु तात्पर्यानुपपत्तिरपि लक्षणाया बीजमिति सिद्धान्तितम्। यथा- ''काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'' अत्र वाक्ये वक्तुस्तात्पर्यवशाद् काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा, दध्युपघातकः काकसमुदायः, तादृशसमुदाये शक्यतावच्छेदकस्य काकत्वस्यारोपः क्रियते। शाब्दिकानां मते तु 'शक्यतावच्छेदकारोप एवं लक्षणा इति राद्धान्तः वर्त्तते। यद्यपि तत्समुदायान्तः पाती काकोऽपि, तत्र काकत्वमस्त्वेव, तस्मात् कथमारोप इति, तथापि दध्युपघातकामवृत्तिसमुदायत्वाच्छेदेन तत्समुदाये काकत्वस्याभावात् तत्रारोपः सम्भवति। यत्र काकमात्रे तात्पर्यं तत्र नैव लक्षणा। एतेन तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम्, नत्वन्वयानुपपत्तिरिति सूचितम्। सम्बन्धस्तु स्वघटित्वरूप अन्येषां मतेन। द्वितीयोदाहरणन्तु-रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि'' इत्यस्मिन् वाक्ये कमलपदं सौरभातिशय विशिष्टकमलस्य कमलात्मकव्यक्तिविशेषस्य बोधे लाक्षणिकम्। अत एव सामान्यविशेषभावेन परस्परान्वयः। तादृशे कमले कमलत्वस्य शक्यतावच्छेदकस्य सत्त्वेऽपि विशिष्टे तद्भावान्नानुपपत्तिः। अत्र सौरभविशेषरूपे विशेषणे कमलत्वाभाववति कमलत्वारोपे विशिष्टेऽपि तदारोपो बोध्यः। यथा- ''शिखी ध्वस्तः'' इत्यादौ शिखानिष्ठस्य ध्वंसप्रतियोगित्वस्य विशिष्टे तदारोपस्तद्वत्। इत्थं सर्वत्र शाब्दिकनयेऽत्र लक्षणास्थले सर्वत्र लक्ष्ये शक्यतावच्छेदकस्यारोपः।

---

* उपाचार्यः, संस्कृतअनुभागः महिलामहाविद्यालयः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

आरोपस्य स्वरूपम्- दर्शने आरोपस्य द्वौ प्रकारौ स्तः। आरोपलक्षणन्तु तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानमारोपः, तथाहि- आहार्यारोपः भ्रमश्चेति। तत्राद्यः बाधसमकालिकेच्छाजन्यज्ञानमाहार्यारोपः।[4] यथा- रजतत्वाभाववतीं शक्तिं रजतत्वेन जानीयमिति बाधसमकालिकेच्छाजन्यम् इदं रजतमिति ज्ञानमाहार्यज्ञानमिति। द्वितीये तु उत्तरकाले नेदं रजतमिति ज्ञानं भवति। नैयायिकैराहार्यारोपस्यान्यत् लक्षणमुच्यते- ''स्वविरोधिधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकं ज्ञानमाहार्यमिति।[5] अत्र स्वं रजतत्वं तद्विरोधिधर्मः रजतत्वाभावः, स एव धर्मितावच्छेदको यत्र, एवं स्वं रजतत्वं प्रकारो यत्र, तादृशं ज्ञानमियं शुक्ती रजतमित्याकारकं ज्ञानम्। इदमेवाहार्यम्।

तद्योगे-

तस्य योग इति तद्योगः, तस्मिन् तद्योगे। मुख्यार्थस्य योगे इति लक्षणायां द्वितीयो हेतुः। तात्पर्यमयमेवस्ति यत् लक्षणया यस्य कस्याप्यर्थस्योपस्थितिर्न जायते अपितु मुख्यार्थेन सम्बद्धस्यैव। अन्यथा गंगापदेन यमुनारूपार्थस्यापि प्रतीतिः स्यादिति अतएव-

शक्यसम्बन्धो लक्षणा।[6]

स च सम्बन्धः क्वचित् सामीप्याद्, सारुप्याद्, समवायतः, वैपरीत्याद्, क्रियायोगाद् च पञ्चधा मता-

अभिधेयेन सामीप्यात्सारुप्यात्समवायतः।

वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥[7]

यत्किञ्चिच्छक्यार्थप्रतियोगिकः यत्किञ्चिदर्थानुयोगिकः सम्बन्धविशेषो लक्षणार्थ इति वदन्तः पण्डितराजादयः संगच्छन्ते।

रूढिः प्रयोजनम्-

अयं लक्षणायां तृतीयो हेतुः। एका जिज्ञासा जायते यत् लक्षणा कथं भवति? वाचकं शब्दं श्रुत्वा वक्ता तम् वाचकं शब्दं विहाय लाक्षणिकस्य पदस्य प्रयोगमेव कथं करोति? इति प्रश्नः अस्माकं बुद्धौ समायाति। उच्यते क्वचिद् वक्ता रूढेः प्रसिद्धेः वाचकं पदं विहाय लाक्षणिकं प्रयुनक्ति। यथा- ''कर्मणि कुशलः'' इति। अत्र दर्भग्रहणाद्ययोगात् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते। क्वचिच्च लक्षणायां प्रयोजनं हेतुः। ''गंगायां घोषः'' इत्यस्मिन् वाक्ये वक्ता घोषे शैत्यपावनत्वादिकं प्रतिपादयितुमिच्छति। अत्र गंगादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य बाधे सामीप्ये च सम्बन्धे ''गंगातटे घोषः'' इति प्रयोजनवशाद् मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते। शैत्यपावनत्वादिकं तु गंगाधर्माः न तटधर्मा इति गंगापदं विना तटेन शैत्यपावनत्वादेर्न प्रतीतिरिति तटे घोषः इति वक्तव्ये गंगायां घोष इति लाक्षणिकप्रयोगः एवं प्रयोजनमपि लक्षणानियामेको हेतुः।

लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया-

अस्यां कारिकायाम् लक्षणा लक्ष्यम् वर्तते, आरोपिता क्रियेति स्वरूपकथनम्। यथोक्तं मम्मट-पण्डितराज-जगन्नाथयोर्मतभेदविमर्शे श्रीवायुनन्दनपाण्डेयमहोदयेन-

अन्योऽर्थो यल्लक्ष्यते सा लक्षणा इति हि लक्षणम्, मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः, आरोपिता क्रिया इति पदद्वयं न लक्षणघटकमपि तु स्वरूपकथनम्।[8] अभिप्रायो अयमेव वर्तते यत् शब्दशक्ति प्रकरणसे लक्षणा प्रतिपादिताऽस्ति किन्तु नेयं लक्षणा शब्दस्य शक्तिः अपि नु अर्थस्येति। अन्यथा अभिधेयमर्थं प्रतिपाद्य ''शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः इति क्षीणायामभिधायां सकृदुच्चरितः शब्दो न वृत्तिद्वयमर्हति इति नियमात् अभिधानन्तरं लक्षणायाः व्यापारत्वापत्तेः। अत एव मम्मटाचार्येण वृत्तिभागे उक्तं यत्-

''मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।''[9]

वस्तुतस्तु लक्षणाऽर्थशक्तिरेव। कविराजविश्वनाथेन साहित्यदर्पणे तु तिस्त्रः शब्दस्य शक्तयः इत्यस्य प्रसंगे लक्षणां लक्षयता शब्दशक्तित्वमेव प्रतिपादितम्- सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम।[10]

लक्षणा तेन षड्विधा

लक्षणाभेदनिरूपणप्रस्तावे वाग्देवतावतारेण श्रीमम्मटभट्टेन लक्षणायाः षड्विधत्वमेव प्रतिपादितमस्ति-

1. उपादानलक्षणा- अजहत्स्वार्था
2. लक्षणलक्षणा- जहत्स्वार्था, भागलक्षणा
3. सारोपा लक्षणा
4. साध्यवसाना लक्षणा
5. शुद्धा लक्षणा
6. गौणी लक्षणा

काव्यप्रकाशकारः लक्षणायाः प्रथमं भेदद्वयं करोति उपादानलक्षणालक्षणलक्षणा चेति। अनयोर्लक्षणयोः स्वरूपनिरूपणप्रसंगे तेनोक्तम्-

स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्।

उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥[11]

अयमाशयो यत् यत्र पदं स्वान्वयसिद्धये अन्यार्थस्य आक्षेपं करोति 'स्वसिद्धये पराक्षेपः'। तत्र उपादान लक्षणा भवति। यथा

'कुन्ताः प्रविशन्ति' अस्मिन् वाक्ये कुन्ताः स्वप्रवेशरूपार्थस्य सिद्धर्थं स्वसंयुक्तकुन्तधारिणः पुरुषान् आक्षिपन्ति तथा कुन्तानामपि ग्रहणं भवति, तदानीं कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यस्य वाक्यस्य अर्थो भवति- ''कुन्तधारिणः पुरुषा प्रविशन्ति'' इत्थमिदं प्रयोजनवत्याः उपादान लक्षणायाः उदाहरणं सिद्धयति। लक्षणलक्षणा तत्र भवति यत्र ''परार्थं स्वसमर्पणम् अर्थात् अन्वयसिद्धयर्थं मुख्यार्थस्य परित्यागो विधीयते। यथोदाहरणम्- ''गंगायां घोषः'' अत्र प्रयुक्तघोषशब्दस्य आधारत्वसिद्धये ''गंगा'' शब्दः स्वप्रवाहरूपं मुख्यार्थं परित्यज्य सामीप्यसम्बन्धेन अन्यमर्थं बोधयति। अतोऽत्र लक्षण-लक्षणा सिद्धयति।

इमावुभावपि लक्षणायाः भेदौ शुद्धाया एव लक्षणायाः स्तः। मम्मटमतानुसारेण शुद्धा लक्षणा तु तत्र भवति यत्र लक्षणा उपचारेणामिश्रिता भवति यत्र लक्षणा उपचारयुक्ता भवति तत्र तु गौणी लक्षणा।

अत्र सहसा एका जिज्ञासा उदेति यत्- उपचारः कः? उपचारविषये विश्वनाथाचार्येणाभिहितम्-

''उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।''[12] यथा- ''सिंह माणवकः इत्यादौ। अत्रौपचारिकी लक्षणा। अनेन प्रकारेण मम्मटमतानुसारेण शुद्धगौण्योः लक्षणयोर्भेदको धर्मोऽस्ति उपचारः किन्तु मुकुलभट्टानुसारेणोपचारस्य मिश्रणमुभयत्र हि भवति शुद्धायामपि गौण्यामपि। अत-एव हि मम्मटानुसारेण मुकुलभट्टस्य मतप्रत्याख्यानावसरे कथितम्-

''अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्, तटादीनां हि गंगादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः। गंगासम्बन्धमात्रप्रतिपत्तौ तु 'गंगातटे घोषः' मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।''[13]

सारोपा-साध्यवसाने इति द्वौ भेदावुपर्युक्तयोः लक्षणयोर्भवतः तथा चाहाचार्यो मम्मटः-

सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।[14]

पुनश्च काव्यप्रकाशकारः आह-

भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा

गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा।।[15]

तत्र सादृश्यहेतु इमौ सारोपासाध्यवसानरूपौ भेदौ ''गौर्वाहीकः'' इत्यत्र गौरयमि'त्यत्र च। एतेषु षट्षु भेदेषु यत्र लक्षणा रूढेः कारणात् भवति तत्र तु लक्षणा व्यंग्येन रहिता भवति। यत्र च सा प्रयोजनाद् भवति तत्र तु लक्षणा व्यंग्येन सहिता।

काव्यप्रकाशकारेण उक्तानां षण्णां लक्षणानां विवेचनानन्तरं व्यंग्यस्य आधारेणापि लक्षणायाः भेदाः निर्दिष्टाः ये त्रिविधाः सन्ति (i) अव्यंग्या (व्यंग्यरहिता) (ii) गूढव्यंग्या (iii) अगूढ व्यंग्या लक्षणा। एवं स्पष्टमस्ति काव्यप्रकाशकारस्य षट् प्रयोजनवती लक्षणाः तथा व्यंग्यस्य गूढागूढत्वात् द्वादशविधाः लक्षणाः एवं रूढेः केवलमेकं भेद सम्मेल्य लक्षणायाः संख्या त्रयोदश संजायते।

आचार्यविश्वनाथेन स्वग्रन्थे लिखितम् 'तेन षोडशभेदिताः' अर्थात् लक्षणाया षोडश भेदाः भवन्ति। पुनः उक्तभेदेषु- व्यंग्यस्य गूढागूढत्वात्, धर्मधर्मितत्वात्, पदवाक्यगतत्वाच्च लक्षणायाः अशीति भेदाः कृता सन्ति-

एवमशीतिप्रकारा लक्षणा।[16]

आचार्येण विश्वनाथेन प्रतिपादिताः लक्षणाभेदाः अलंकारशास्त्रोपयोगिनो न सन्ति, अशीतिप्रकाराणां लक्षणाभेदानां काव्यशास्त्रेऽनुपयोगात् यथोक्तम्-

''एवं प्रायः सर्वैरालंकारिकैः कृता भेदा उपयोगिता लक्ष्यीकृत्येव, परं साहित्यदर्पणकृता भेदाः शुद्धपदार्थविश्लेषणात्मकरीत्या न तूपयोगितादृष्ट्या।''[17]

अतएव यैर्लक्षणायाः षड्भेदत्वं प्रतिपादितं तत्तु काव्यशास्त्रोपयोगदृष्ट्यैव। काव्यशास्त्रे लक्षणायाः षड्भेदानामुपयोगो यथा- उपादानलक्षणाया अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनौ, लक्षणलक्षणायाश्चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनौ। गौणीसारोपा रूपकालंकारस्य बीजम्, गौणीसाध्यवसाना तु प्रथमातिशयोक्तेर्बीजमिति। एवमेव शुद्धासारोपा चतुर्थातिशयोक्तेः बीजम्, शुद्धासाध्यवसाना तु कार्यकारित्वसामर्थ्यातिशयव्यग्योपदर्शिकेति लक्षणायाः षड्विधत्वप्रतिपादनस्य मूलम्।[18]

संक्षेपेण वयं कथयितुं शक्नुमः यत् काव्यप्रकाशकारेण त्रयोदशप्ररलजाकाराः लक्षणा - लक्षिताः तथापि एतेषां दिग्दर्शनमात्रमुपस्थापितम् तेषां काव्यशास्त्रानुपयोगात् विस्तृतं वर्णनमत्र न कृतम्। पूर्वोक्तानां षड्भेदानां काव्यशास्त्रोपयोगितयैव सत्सु बहुभेदेषु-

''लक्षणा तेन षड्विधा'' इति दृढ़तापूर्वकमुक्तमस्ति।

सन्दर्भाः

1. शक्तिवादः, पृष्ठः 1
2. काव्यप्रकाशः 2/1
3. काव्यप्रकाशः, द्वितीयो उल्लासः
4. लघुशब्देन्दुशेखरः संज्ञाप्रकरणम् (टिप्पणी), (सू0 पूर्वत्रासिद्धम्)
5. सामान्यनिरुक्ति गङ्गाटीका, पृष्ठः 1181

6. रसगंगाधरः पृष्ठः 103
7. लोचनम्, पृष्ठः 31
8. श्रीमम्मटभट्टपण्डितराजजगन्नाथयोर्मतभेदविमर्शः, पृष्ठः 101
9. काव्यप्रकाशः 2/9
10. काव्यप्रकाशः, पृष्ठः 29
11. काव्यप्रकाशः, 2/10
12. साहित्यदर्पणः, पृष्ठः 56
13. काव्यप्रकाशः, पृष्ठः 61
14. काव्यप्रकाशः 2/11
15. काव्यप्रकाशः 2/12
16. साहित्यदर्पणः 2/12
17. सम्भविनोलक्षणाभेदाः काव्ये तदुपयोगश्च, पृष्ठः 223
18. तत्रैव, पृष्ठः 223

●

राष्ट्रवैभवं नमोवैभवम्

प्रो0 उपेन्द्र पाण्डेय[*]

राष्ट्रवैभवं नमोवैभवं पश्यतु सम्पूर्णो देशः।
सर्वसम्पदाः सुरक्षितास्ताः सम्मान्यतामयं देशः॥1॥
पूर्णधरेयं मातुस्तुल्या पितृसमश्चैवाकाशः।
शान्तिसौख्यसन्मित्रञ्चास्ते सम्मान्यतामयं देशः॥2॥
रामकृष्णयोः पुण्यधरायां प्रवहति गङ्गा माता।
जननीजन्मभूमिरिव पूज्या गायत्री गोमाता॥3॥
अचला वृक्षा नद्यो जीवाः सर्वे सन्तु सुरक्ष्याः।
मनसा वाचा कृत्यैर्नित्यं स्थावरजङ्गमसंरक्ष्याः॥4॥
यस्मिन्नतिथिर्देवः पूज्यो मातृसमाः परदाराः।
राष्ट्रनायकाः सेवकतुल्या जीवन्मुक्तास्ता धाराः॥5॥
यत्र जना वृद्धोपसेविनः कुर्वन्ति नियतं कार्यम्।
श्रेष्ठसेवया सत्कारैस्ते वर्धयन्ति भारतराज्यम्॥6॥
नैव केनचिद् भेदभावना वैरभावना नो काचन।
दुःखवेदना मा भूच्चित्ते कान्तकामनेयं काचन॥7॥
जनलाभोन्मुखमत्र सुतन्त्रं द्वे विद्ये शस्त्रं शास्त्रम्।
रक्षति धर्मः प्रजाः समस्ताः संरक्षायै परमास्त्रम्॥8॥
यस्मिन् ख्याता शूरा अभवन् लक्ष्मीराणासद्वीराः।
नीतिज्ञा विधिवेत्तारस्ते गान्धीवल्लभसद्धीराः॥9॥
काले काले वसुन्धरेयं रत्नं नवं प्रसूते।
रामकृष्णशिष्यत्वेनैवं कार्यं नवं विधत्ते॥10॥
यो हि नायको विनयी मधुरस्त्यागी वाग्मी सङ्गोप्ता।
सैव राष्ट्रनेता सम्भवति समदर्शी नवसंस्कर्त्ता॥11॥
धर्मफलाकाङ्क्षी यो न स्यात् सततं कर्मपथे गन्ता।
सर्वलोकहितसाधनकर्त्ता नीतिदोषशोधनकर्त्ता॥12॥
मनोभावविद् मङ्गलकर्त्ता जनदुःखानामपहर्त्ता।
दीनहीनभयदूरीकर्त्ता विबुधानामादरकर्त्ता॥13॥
साधारणजनसत्कुलजन्मा संस्कारैर्यः परिपुष्टः।
कठिनतपोभिः सुविधेयात्मा सत्सङ्गत्या सन्तुष्टः॥14॥
देवपितृगुरुभक्तिमना यः सङ्कल्पे स्थिररुचिरमनाः।
दिव्यदृष्टिपरिपूतमना यो रम्यराष्ट्रसुरभिसुमनाः॥15॥
राजनीतिविज्ञानविधिज्ञः सकलकलानां मर्मज्ञः।
लोकचित्तसन्तापसुविज्ञः शास्त्राणां नवतत्त्वज्ञः॥16॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिदशासु देशदिशामनुचिन्तति यः।
राष्ट्ररक्षणं देशवर्धनं लोकरञ्जनं कुरुते यः॥17॥
महामनस्वी मेधावी यः शूरः संस्कृतविद्यः।
सेवाधर्मपटुर्यो धीमान् राष्ट्रमुन्नयतेऽद्य च यः॥18॥
तपोधनो यो यशोधनो वै पूर्वनृपाणामनुवर्ती।
राष्ट्रे प्रियदर्शी समदर्शी सन्नवदर्शी समवर्ती॥19॥
सर्वत्रैव च सख्यभावनां सन्तनोति तपसो धाम्ना॥
यस्मिन्नहङ्कारलेशो नो विख्यातो भुवि निजनाम्ना॥20॥
सम्मिल्याखिललोकनायकैः सदा सुचर्चां यः कुरुते।
राष्ट्रोत्कर्षे सत्याग्रहवत् स्वच्छाग्रहचर्चां कुरुते॥21॥
निजकृतकार्याणामभिमानो यस्मिन्नास्ति कश्चित्।
देशविदेशे बहुसम्मानैः सज्जीकृतो विपश्चित्॥22॥
अद्यावध्येतादृशनेता न हि कोऽपि वीरो जातः।
विचक्षणः सन् विलक्षणोऽयं निजनाम्ना गुणधामयुतः॥23॥
राष्ट्रमिदं काले काले प्रस्तौति सदा नवरत्नम्।
जम्बूद्वीपे भारतवर्षे सम्पद्यते स्वतो नूत्नम्॥24॥
आत्मनिर्भरभारततुल्यो नाऽन्यः कश्चिद् भुवि देशः।
शान्तिसौख्यसौहार्दवर्धकः सम्मान्यतामयं देशः॥25॥
पञ्चमोऽगस्तमासीयोऽयं दिवसः सुखदो नूनमभूत्।
कार्यद्वयमैतिह्यं रुचिरं रामकृपातः शीघ्रमभूत्॥26॥

---

* प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अत्रैव राष्ट्रे परमस्तपस्वी

पुरा विवेकः समभूद् यशस्वी।

मनस्विनस्तस्य नवीनजन्मा

प्रधाननेता जयताद् यशस्वी॥27॥

(हिन्दी अनुवाद)

राष्ट्रवैभव और नमोवैभव (अभिवादनशीलतारूपी वैभव) को सारा देश देखे, क्योंकि इस भव्य भारत में वे सारी प्राचीन सम्पदायें आज भी सुरक्षित हैं, इसलिए इस देश का सभी लोग सम्मान करें।1।

सभी रत्नों से परिपूर्ण यह पृथ्वी, माता के समान है, और यह आकाश पिता के समान है तथा यहाँ शान्ति और सौख्य अच्छे मित्र जैसे हैं, इसलिए इस देश का सभी लोग सम्मान करें।2।

राम कृष्ण की इस पवित्र धरती पर गङ्गा माता सतत बह रही हैं तथा यहाँ जननी और जन्मभूमि की तरह गायत्री (मन्त्र) और गोमाता पूजनीय हैं।3।

इस धरती पर पर्वत, वृक्ष, नदी और जीवों की सब लोग सुरक्षा करें, जिससे इनकी क्षति किसी प्रकार से न हो तथा मन, वाणी और कर्मों से नित्य लोग स्थावर एवं जङ्गम का संरक्षण करें।4।

जिस भव्य भारत देश में अतिथि देवता के समान पूजनीय हैं और दूसरे की स्त्री माता के समान है तथा राष्ट्रनायक सेवकतुल्य हैं और जहाँ जीवन में ही मुक्तावस्था की वे पूर्वजों सेवित सम्पूर्ण धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं ऐसे महनीय देश का सभी लोग सम्मान करें।5।

जिस देश में लोग वृद्धों (श्रेष्ठजन) की निरन्तर सेवा करने वाले हैं और शास्त्रों द्वारा निश्चित किये गये कार्यों को करते हैं तथा जहाँ के लोग श्रेष्ठ सेवा और अनेकविध सत्कारों से अपने भारत राज्य का संवर्धन सब प्रकार से कर रहे हैं।6।

नमोवैभवयुक्त राष्ट्रवैभव से विभूषित इस देश में कोई भेदभावना नहीं करता और नहीं हमारे देश के लोग किसी से वैरभावना रखते हैं। दुःख की वेदना (पीड़ा) किसी भी व्यक्ति के हृदय में कभी न हो, ऐसी सुन्दर कामना-भावना यहाँ के लोगों की सतत रहती है। अतः इस भारत देश का सब लोग सम्मान करें।7।

यहाँ लोगों के लाभ हेतु समस्त शासनतन्त्र सन्नद्ध हैं तथा यहाँ दो विद्यायें- शस्त्र विद्या और शास्त्र विद्या सदैव सुप्रसिद्ध रही हैं, और जहाँ धर्म ही समस्त प्रजाओं की रक्षा करने के लिए तत्पर है तथा परम-अस्त्र (ब्रह्मास्त्र-परमाणुबम) जहाँ सम्यक् रक्षा के लिए तैयार रहता है, उस देश का सब सम्मान करें।8।

जिस देश में प्रसिद्ध पराक्रमी महारानी लक्ष्मीबाई, महाराणा प्रताप जैसे श्रेष्ठ वीर हुए तथा नीतियों को जानने वाले और विधिशास्त्र के विशेषज्ञ महात्मा गान्धी, सरदार वल्लभ भाई पटेल जैसे अनेक सच्चे मनस्वी हुए हैं, ऐसे इस देश का सब सम्मान करें।9।

समय-समय पर यह धरती नये-नये रत्नों को जन्म देती है और रामकृष्ण परमहंस जी के शिष्य (स्वामी विवेकानन्द) के रूप में नूतन कार्य करती है। अतः सभी देश इस भव्य भारत देश का सम्मान करें।10।

जो नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, वाग्मी (अल्प एवं सारगर्भित बोलने वाला) और सम्यक् रक्षक होता है वही वस्तुतः राष्ट्र का सच्चा नायक होता है तथा जो समान दृष्टि रखने वाला और बिगड़े कार्यों को संस्कारित (बनाने वाला) करता है, वही राष्ट्रनेता होता है।11।

जो धर्मफलाकांक्षी न होकर केवल कर्मपथ पर निरन्तर चलने वाला होता है तथा सभी लोगों के हित के लिए साधन जुटाने वाला और अनेक प्रकार के नीति-दोषों का परिमार्जन करता है, वही सच्चे अर्थों में राष्ट्रनेता कहलाता है।12।

जो मनोविज्ञानी (मन के भावों को जानने वाला) हो, जो सबका सर्वदा मङ्गल करने वाला हो और जो लोगों के दुःखों को मिटाने वाला हो तथा जो दीन-हीन के भी भय को समाप्त करने वाला और विद्वानों का सम्मान करने वाला होता है, वही राष्ट्रनेता होता है।13।

जो साधारण व्यक्ति के अच्छे कुल में जन्म लिया हो और जो संस्कारों से परिपुष्ट हो तथा अपनी कठोर तपस्याओं से जिसकी आत्मा अपने में ही अत्यन्त व्यवस्थित है और जो सज्जनों की सङ्गति से सन्तुष्ट है, वही राष्ट्रनेता हो सकता है।14।

जो देवता, पिता और गुरु की सेवा (भक्ति) में अपना मन लगाता हो, और सत्कार्य के लिए सङ्कल्प में जो दृढ़निश्चयी हो तथा जो दिव्यदृष्टि से अपने अन्तःकरण को परिपूत कर लिया हो और सुन्दर भारत राष्ट्र की सुगन्ध से जिसका मन सुवासित होकर चारों ओर सुगन्ध फैलाता हो, वही सच्चा राष्ट्र नेता हो सकता है।15।

जो राजनीति के विज्ञान को जानने वाला है और जो विधिशास्त्र (न्यायशास्त्र) को ठीक से जानता है और सम्पूर्ण कलाओं के मर्म को भी जानने वाला है तथा जो लोगों के दुःख-पीड़ाओं को अच्छी तरह समझने वाला है और जो शास्त्रों के नित्य नये तत्त्वों को भी जानने वाला है वस्तुतः राष्ट्र का वही व्यक्ति नेता बन सकता है।16।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में अहर्निश जो देश को सर्वविध विकास की एक नयी दिशा देने के लिए

सोचता रहता है, और जो राष्ट्र की रक्षा, देश की वृद्धि और प्रजाओं का सम्यक् रञ्जन करता रहता है, वही सचमुच में राष्ट्र नेता होता है।17।

जो तप और यश को ही धन मानता है और पूर्व में अपने यश को फैलाने वाले राजाओं के चरित्रों का अनुकरण करता हुआ राष्ट्र में प्रियदर्शी, समदर्शी (समान दृष्टिवाला) और समवर्ती (समान व्यवहार करने वाला) अर्थात् संवेदनाओं एवं भावनाओं से ओतप्रोत है, वही सच्चा राष्ट्रनेता है।18।

जो महामनस्वी, मेधावी, शूर और जिसकी समस्त विद्याएँ संस्कारित (संस्कृत को जाननेवाला) हैं तथा सेवाकार्यरूपी परम गहन धर्म को निभाने में जो अत्यन्त पटु है, और अतीव बुद्धिमान् है, वही आज राष्ट्र का अभ्युत्थान सर्वतोभावेन कर रहा है।19।

जो सर्वत्र अपने तपोरूपी तेज के प्रताप एवं प्रभाव से मित्रता की भावना का विस्तार कर रहा है और जिसमें अहंकार लेशमात्र भी नहीं है और जो अपने नाम (नरोत्तम) से इस धरा-धाम पर स्वतः विश्वविश्रुत हो रहा है।20।

जो विश्व के सभी नेताओं के साथ परस्पर मेल-जोल करके हमेशा देश के सर्वविध विकास सम्बन्धी चर्चा करता है तथा जो राष्ट्र के सर्वाङ्गीण उत्कर्ष हेतु सत्याग्रह-आन्दोलन की तरह स्वच्छाग्रह की चर्चा करता है।21।

अपने द्वारा किये गये कार्यों के लिए जिसमें थोड़ा भी अभिमान नहीं है और जो विद्वान् के रूप में देश-विदेश में अनेक सम्मानों का स्वतः भागीदार बना तथा जिसके करकमलों द्वारा बहुविध सम्मानों से देश और विदेश में अनेक विद्वज्जन स्वयं सभाजित हुए।22।

आज तक इस प्रकार का वीर नेता कोई नहीं हुआ, जो अतीव निपुण (विचक्षण) होते हुए भी विलक्षण (अतिविशिष्ट लक्षणयुक्त) अर्थात् अपने नाम के अनुरूप गुणगण से युक्त है।23।

यह राष्ट्र समय-समय पर सदा नये रत्न को उत्पन्न करता है और जम्बूद्वीपस्थ भारतवर्ष की यह अपनी महिमा है, कि यहाँ नित्य नवीन कार्य स्वतः सम्पन्न होते रहते हैं।24।

आत्मनिर्भर भारत राष्ट्र के समान दूसरा पृथ्वी पर और कोई देश नहीं है, अतः ईश्वर से प्रार्थना है कि शान्ति-सौख्य और सौहार्द को सतत बढ़ाने वाले इस सुरम्य भारतवर्ष नामक देश का सभी लोग सम्मान करें।25।

अगस्त महीने का यह पाँचवाँ (5 अगस्त, 2019 एवं 2020) दिन निश्चय ही बहुत सुखद रहा, क्योंकि (धारा-370 समाप्ति एवं श्रीरामजन्मभूमि-पूजन) ये दो ऐतिहासिक कार्य भगवान् श्रीराम की कृपा से शीघ्र ही सम्पन्न हो गये।26।

इसी राष्ट्र में पहले परम तपस्वी, यशस्वी एवं मनस्वी पूज्य स्वामी विवेकानन्द प्रादुर्भूत हुए थे और मानो उन्हीं मनस्वी विवेकानन्द के नये रूप में यशस्वी प्रधानमन्त्री पुनर्जन्म लिये हों, अतः इनका सर्वत्र जय-जयकार हो, अर्थात् ये सर्वत्र सब प्रकार से श्रेष्ठ बने रहें, यही सम्पूर्ण विश्व मानव-मन की मङ्गलकामना एवं सद्भावना है।27।

●

PRISON ADMINISTRATION IN INDIA DURING COVID 19 PANDEMIC

PROF. BIBHA TRIPATHI*

"In our world, prisons are still laboratories of torture, warehouses in which human commodities are sadistically kept and where spectrum of inmates ranges from driftwood juveniles to heroic dissenters."

– Justice V.R.Krishna Iyer

Introduction

Prison has been commonly neglected and stigmatised notion in India. It is under State List of Indian Constitution according to seventh schedule entry four. Though the centre government can intervene and help as and when required. The role of prison is extremely important in incapacitating the offenders, providing social security to common citizen and creating deterrence on the potential offenders in general and actual offender in particular. It is an extremely important component of criminal justice system after Police and the Court.

There has always been a blistering debate over the penological purpose of prison system. The nomenclature has also been changed from prison to correctional homes. But correction in prison is conceptually antithetical from its origin and development. East India Company never wanted to invest in prison. They wanted to keep prisoners as economically as possible.

There has been a contradictory understanding between the criminologists, penologists, sociologists and the prison authorities and general public. Criminologists focus on causes of crime and penologists focus on purpose of punishment. The sociologists are concerned with the societal impact of penal institutions. The academic discourse moves from retribution to reformation but the general public is confined only to harm and loss notion.

Against this backdrop the paper focuses on present scenario of prison during the emergent crisis created by the Covid-19 pandemic.

Covid 19 pandemic and prison

The Covid 19 pandemic has badly affected the world. When the pandemic was not as serious as it is today the Supreme Court took suo moto cognizance in **In Re: Contagion of Covid 19 Virus in Prisons**[i]**.** By order dated 23.03.2020, directed that each State/Union Territory shall constitute a High Powered Committee comprising of (i) Chairman of the State Legal Services Committee, (ii) the Principal Secretary (Home/Prison) by whatever designation is known as, (ii) Director General of Prison(s), to determine which class of prisoners can be released on parole or an interim bail for such period as may be thought appropriate[ii]. For instance, the State/Union Territory could consider the release of prisoners who have been convicted or are under trial for offences for which prescribed punishment is up to 7 years or less, with or without fine and the prisoner has been convicted for a lesser number of years than the maximum.

The purpose was to prevent the overcrowding of prisons so that in case of an outbreak of coronavirus in the prisons, the spread of the disease is manageable.

In the follow up of the case on 23rd March court noticed the measures taken up by the states and further opined that taking into consideration the possibility of outside transmission, direct that the physical presence of all the under trial prisoners before the Courts must be stopped forthwith and recourse to video conferencing must be taken for all purposes.

Also, the transfer of prisoners from one prison to another for routine reasons must not be resorted except for decongestion to ensure social distancing and medical assistance to an ill prisoner. Also, there should not be any delay in shifting sick person to a Nodal Medical Institution in case of any possibility of infection.

The Overcrowding in prison

Population explosion mainly in prison has always been referred as a serious and major concern to badly affect the prison administration. The situation has to only worsen in the pandemic era. According to the report of National Crime Record Bureau, 2018 there are 1,339 prisons in India where 4.66 lacs prisoners are kept. However, the capacity is just to

* Prof. Faculty of Law, Banaras Hindu University, Varanasi

keep 3.83 lacs prisoners. That means on an average there are 117 prisoners are residing in place of 100 prisoners. The conditions of few states like Uttar Pradesh, Madhya Pradesh, Sikkim, Meghalaya and Delhi are worst. In UP the number is 176.5 in place of 100. The court expressed deep concern over the overcrowding and probability of spread of Covid in prisons. It was observed by the court that Studies indicate that contagious viruses such as COVID-19 virus proliferate in closed spaces such as prisons. Studies also establish that prison inmates are highly prone to contagious viruses. The rate of ingress and egress in prisons is very high, especially since persons (accused, convicts, detenues etc.) are brought to the prisons on a daily basis. Apart from them, several correctional officers and other prison staff enter the prisons regularly, and so do visitors (kith and kin of prisoners) and lawyers. Therefore, there is a high risk of transmission of COVID-19 virus to the prison inmates. For the reasons mentioned above, our prisons can become fertile breeding grounds for incubation of COVID-19.We are of the opinion that there is an imminent need to take steps on an urgent basis to prevent the contagion of COVID-19 virus in our prisons[iii].

The under trial prisoners

The Law Commission, in its 77th report in 1978, had said, "A high percentage of jail population comprises of an under trial person. This is not a satisfactory situation." To deal with the problem of under trials it said that courts should give preference to cases where the accused are in jail and the target for their disposal should be four months.

In the above mentioned case the court expressed deep concern over the under trial prisoners and opined that the High Powered Committee will determine the category of prisoners who should be released, depending upon the nature of offence, the number of years to which he or she has been sentenced or the severity of the offence with which he/she is charged with and is facing trial or any other relevant factor, which the Committee may consider appropriate. It was also mentioned that the Under trial Review Committee contemplated by this Court *In re Inhuman Conditions in 1382 Prisons*, (2016) 3 SCC 700, shall meet every week and take such decision in consultation with the concerned authority[iv].

In Re: Contagion Of Covid 19 Virus. vs N. Raghupathy on 13^{tn} April, 2020[v]

This case is important to be referred because in this case Mr. K.K. Venugopal, learned Attorney General for India vehemently submits that the release and transportation of the prisoners would itself result in transmission of corona virus from prisons or detention centres to locations where the released prisoners have to reach.

Therefore, the court considered the rival submissions and opined that in such circumstances, it would be appropriate to issue the following directions:

(a) No prisoner shall be released if he/she has suffered from corona virus disease in communicable form hereafter. For this purpose, appropriate tests will be carried out. (b) If it is found that a prisoner who has been released is suffering from corona virus after the release, necessary steps will be taken by the concerned authority by placing him/her in appropriate quarantine facility.

(c) Transportation shall be done in full compliance of the Rules and Norms of social distancing. For instance, no transportation shall be allowed in excess of half or one fourth capacity of the bus as may be found appropriate to ensure that the passengers who have been found to be free of corona virus disease are at a distance from each other. (d) The order dated 23.03.2020 shall be applicable to correctional homes, detention centres and protection homes.

Covid 19 pandemic and Children Protection Homes

The bench of JJ. L.Nageshwar Rao and Deepk Gupta again took suo moto cognizance in the matter of **In Re Contagion of Covid 19 Virus in Children Protection Homes.** The Court expressed concern over children who need care and attention and are kept in or children in conflict with law who are kept in various types of homes children who are kept in foster and kinship care.

The court also expressed concern over the violence, including sexual and Gender based violence that it may be exacerbated in contexts of anxiety and stress produced by lockdown and fear of the disease. The court instructed the stakeholders for taking appropriate measures so that the spread could effectively be prevented.

Further, instruction was given for taking necessary steps to practice, promote and demonstrate positive hygiene behaviours and monitoring their uptake[vi]. The court was very serious regarding the

emotional and psychological outburst of children during pandemic and accordingly suggested for proper care and support by the concerned authorities.

Prison Administration during pandemic

It is aptly clear from the discussion that Prison Administration has become more challenging in period of pandemic.

After the death of an inmate in Agra Central Jail due to Covid-19, the Uttar Pradesh Prison Administration and Reform Department has started random testing of samples for corona virus in all the prisons of the state. Though the authorities expressed concern over 4000 elderly prison inmates whose immunity system is comparatively weak. UP prison authority has also issued order on 17th August 2020 regarding providing one cup extra tea- kadha as per the instruction given by the Aayush Mantralya for the next one month.

In Maharashtra it has been noted that On May 5, two months after the Arthur Road jail superintendent warned that an outbreak of COVID-19 could not be contained in the jail due to overcrowding, his worst fears came true: the first positive case was discovered in the precincts. The number has, as expected, grown in the sardine-can jail, with its 25-ft-high walls: there are now 184 COVID-19 patients among over 2,500 inmates. The question of isolating the patients and maintaining physical distancing in such conditions was out of the question[vii].

In Delhi, Tihar prison complex has urged the government to release 1,500 convicts on parole or furlough and around the same number of under-trial prisoners - not the hardened or dangerous ones - on interim bail to ease congestion.

The Delhi government has issued a notification introducing a new provision of "Emergency Parole" of two months, in addition to regular parole available to convicts. Till now, as many as 409 prisoners have been released - 356 were given interim bail, while 63 came out on emergency parole[viii].

Prison Reform in India

Prison Reform is not a new concept in India. It is an age old concept. First of all the idea was conceived by Lord Thomas Babington Macaulay in the year 1835. The Prison Act of 1894 was the culmination of all such efforts. From 1894 to 2020 number of committees have worked and gave suggestions for prison reforms but still it remains a relevant topic to focus on. Actually there is a big gap between the paper law and its implementation. There have been various types of classification of prisons to keep different offenders. The under trials have to be kept separately from the convicted persons but it is hardly followed. The children in conflict with law have to be kept separately but the children from 0 to 6 years are living with their mothers inside the prison. This matter has been raised in many cases but still nothing could be done.

The other grey area of prison was highlighted in the report named “criminal justice in the shadow of caste”. This report highlights that the majority of prison population consists of schedule caste, schedule tribe and minority community. It demands a newer research in this field.

Conclusion and suggestions

Keeping in view of the crisis created by the pandemic it becomes extremely important to implement the previous recommendations along with new guidelines and suggestions issued by the court. Actually prison reform is a long overdue. The pandemic has again reminded the pathetic conditions of India’s prison.

It is submitted through the paper that though the inmates have violated the rules established by law but after that they become the victim of abuse of power. The most important fact behind reluctance in reforming the prison atmosphere has been the collective conscience of the society which is still being governed by the inhuman treatment and retribution towards the offenders.

The studies on prison have made it clear that there is a huge difference between the penological purpose of punishment and societal collective conscience of punishment. The clash between the two becomes more apparent when the offender comes inside the prison. The theoretical development of rights of prisoners and prison reform movement is absolutely forgotten inside the prison. Despite the active interference of Supreme Court to reduce the overcrowding in jail through release of under trial prisoners, overcrowding is creating havoc inside prison. The under trials are residing with convicted prisoners. No progressive step turns into reality relating to prison.

With special reference to the pandemic it can be suggested that there should be primary health care centres with the facility of isolation centres in view of present Covid 19 Pandemic in the very premises of each jails to avoid the extreme situations of not providing medical treatment to many and special medical treatment to few.

It is also submitted that since allocation of budget especially for convicts has never been a prime concern of the government, therefore it is required that now the budget on prison administration should be enhanced on priority basis.

Number of jail superintendents should be increased and their facilities should also be enhanced because their job conditions are tough and they adopt a prejudiced and biased approach against the prison inmates. Sensitization of concerned authorities is also needed.

It is also submitted that all non- cognizable offences where punishment of imprisonment is less than three years should be replaced with appropriate fine, probation or community service and for violations of any norms set by the administration in maintaining peace and tranquillity the violators should be kept in temporary prisons for not more than 15 days.

If such suggestions are considered then it will not only be helpful in dealing with the pandemic situation but also bring changes long overdue.

References

i In Re: Contagion of Covid 19 Virus in Prisons https://main.sci.gov.in/pdf/LU/16032020_100611.pdf , 16th March ,2020

ii https://main.sci.gov.in/supremecourt/2020/9761/9761_2020_1_8_21570_Order23-Mar-2020.pdf

iii Supra note ii

iv ibid

v https://indiankanoon.org/doc/12490871/ 13th April,2020

vi In Re Contagion of Covid 19 Virus in Children Protection Homes, 3rd April, 2020,https://main.sci.gov.in/supremecourt/2020/10820/10820_2020_0_4_21584_Order_03-Apr-2020.pdf

vii https://www.thehindu.com/news/cities/mumbai/jails-turn-into-hotbeds-of-disease/article31666835.ece

viii https://www.indiatoday.in/mail-today/story/india-packed-prisons-raise-coronavirus-alarm-1661136-2020-03-30

●

ANANDA KENTISH COOMARASWAMY: A RE-ASSESSMENT (PART-I 1877 TO 1917)

DR. VIPUL TIWARI* & PROF. ATUL TRIPATHI**

Ananda Kentish Coomaraswamy was born in Colombo, Ceylon (modern Sri Lanka)on August 22, 1877.[1]His father, Sir Mutu Coomaraswamy, was a Ceylonese of Tamil origin and mother was an English woman of Kentish origin. His Father Sir Mutu Coomaraswamy was one of the foremost men of his country and time. His mother Elizabeth Clay Beeby was an English woman of a healthy Kent family that had engaged in the "Indian trade" and the civil service and knew India and Ceylon quite well. The family was Tamil in origin and might have originally come from the Indian subcontinent as connections here maintained with a temple in Allahabad.[2] They belonged to the "**Velella"** caste which has been called the "fifth" caste and is best situated as being between Brahmin and Kshatriyas.[3] The family name "**COOMARASWAMY**" derives from the Hindu deity Skanda Kumara to whom a temple exists in Ceylon at Kataragama.[4]

Sir Mutu was a distinguish personality of his age. Being a member of the British parliament and he was the first Hindu to be called to the English bar. He was the first Asian accredited for the practice of law in Great Britain. He was a close friend of Disraeli and is probably the "Indian gentleman" described in Disraeli's book "Conings by". During his second visit to Britain in 1874 he was knighted by Queen Victoria on the recommendation of Disraeli, the then Prime Minister of England.[5] On the 18th of March 1875 he was married to Elizabeth Clay Beeby, who was seventeen years younger to him.When Coomaraswamy was below two years of age his father unfortunately died on May 4th 1879 due to Bright's disease.[6]Sir Mutu was a wealthy man and he left a good sum of money for his widow and son. Lady Coomaraswamy bought a small thatched cottage in Kent and with the help of her mother and sister concentrate in rearing her son. She became both father and mother to her only son. Her sole objective of life was to provide sound education to Coomaraswamy. When we read the passage in which Coomaraswamy writes about her mother. It discloses the mind setup of Lady Coomaraswamy and her positive attitude towards India and Ceylon.[7]

It seems that it was the boon and the fertile ground which helped Coomaraswamy to have a composite outlook and holistic understanding about the East. And later on we find that Coomaraswamy inherited all the good virtues of his father and mother. Lady Coomaraswamy lived a long life and died on October 4th, 1939 at the advanced age of eighty eight.

His academic career was outstanding and his interest in science and geology was remarkable. In the year 1897, he got admission in University of London and passed B.Sc. (first class honors) in Botany and Geology in 1900. In 1903, Coomaraswamy was selected for Fellow of University College. Because of his findings the authorities in England and Ceylon form a Mineralogical Survey of Ceylon of which he was the first director. He went to Ceylon, a land of his forefathers, which ultimately proved a turning point in his life. Gradually his passion and inner instinct for art-historical studies motivated him to give up his geologist profession. Before we seek the cause of Coomaraswamy's transformation from a geologist to an art-historian his few important achievements deserve to be mentioned here. From 1903 to 1906 Coomaraswamy was working at the post of Director of the Mineralogical survey of Ceylon and during this time he discovered two minerals Serendibite and Thorianite. This latter being radioactive led to his association with Madam Curie and to receiving his Doctorate in Science from London University in 1906.[8] Consequently, he became the first Ceylonese to earn London University's highest degree.[9]

On June 19th, 1902 Coomaraswamy married with Ethel Mary, who was a good photographer. In his study his wife Ethel Mairet (well known for her writings on weaving) played an important role by introducing him to the works of Ruskin and William Morris. The latter remained a strong influence on his life not because of his socialist views but due to his better understanding of craftsmanship. It is interesting

∗ Dr. Ex- Research Scholar, History of Art, Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Prof. Department of History of Art,, Banaras Hindu University, Varanasi

to note that James Crouch in his work "A Bibliography of Ananda Kentish Coomaraswamy" reports that Coomaraswamy made nearly annual visit to Ceylon, usually accompanied by his mother, the first taking place perhaps as early as 1896. Gradually, he was attracted towards social activities and began a depth study of the indigenous arts and crafts of Ceylon. These years were eyes opener for the young geologist and he saw and observed the destructive effect of Imperialism, Colonialism and Occidental Industrialism on art, culture and tradition of the East.

In 1904, like the story of Buddha, a small incident shook the inner self of Coomaraswamy. The local converts to a foreign religion and a foreign dress, equally unnatural and equally misunderstood touched his heart. The degeneration of national character, culture, individuality and art point towards its root cause i.e. the new Commercialism of the West. Perhaps this event proved an immediate cause and the process of transformation of geologist into art-historian began.[10]

Like his father, Coomaraswamy became the champion of the native art, handicraft and the culture in which they were rooted. He started an encyclopaedic study of the arts, architecture and crafts of Ceylon as they existed before the colonial rule. His approach was the mixture of sentiments and extensive training in scientific method. This effort later resulted in the form of his first important book **"Medieval Sinhalese Art."** I observe that at this point of life the strength of his professional commitment weakens and he started dreaming about the social and cultural reforms in Ceylon.

In the year 1905 his first writing on art **"**An Open Letter to the Kandyan Chief" was published which reflects his grave concern over the Industrial revolution and the neglect of artistic tradition in Kandyan society. His letters and pamphlets were welcomed by the like-minded intellectual in Ceylon and ultimately yielded a result. Coomaraswamy started the Kandyan Association and the Ceylon Social Reform Society (1905-1909) for the preservation and promotion of the arts and culture of Ceylon.[11] The other objectives of the society was to initiate reform in social customs among Ceylon in order to discourage the futile imitation of unsuitable western habits and customs. He also edited the "Ceylon National Review" for a short period.

Coomaraswamy also felt the heat of Swadeshi Movement in India which was the immediate outcome of the partition of Bengal and the wave of strong cultural nationalism.The values of Traditional and Pre-industrial Civilization of Ceylon had left a deep impact on the life of Coomaraswamy forever. He was against the Anglicization of the East and unintentional destruction of national culture by the British in Ceylon. It appears that this atmosphere of reaction and unrest motivated the young Coomaraswamy to struggle for the oppressed art and cultures of the East. After completing his final report for the Mineralogical Survey and on the termination of his appointment as Director of the Mineralogical Survey he went to India for three months short tour.In words of R.P. Coomaraswamy (his son), "In the course of his studies on the arts of India and Ceylon he travelled extensively in Indian and for a time became politically involved in the independence movement. He was listed among 400 and while he disengaged himself from such activities, our home was on occasion visited by former revolutionary colleagues."[12]This aspect of his life is almost overlooked by the critics and biographers of Coomaraswamy which clearly reflects the cause behind his transformation from geologist to art historian. Perhaps this involvement and participation in Indian national movement is reflected in his early writings which are by nature suggestive and reformative.

His inclination towards Hinduism and Buddhism increased which could be traced in his statement that: **"Religion is not in the East, as it is in the West, a formula or a doctrine, but a way of looking a life, and includes all life, so that there is no division into sacred and profane,"** published in "The Ceylon National Review" (1908), p. 244. For a brief period Coomaraswamy spent his time in Madras and was acquainted with Annie Besant. But he never try to directly involved in the Theosophical movements. Similarly his company with C.R. Ashbee proved fruitful to him and he came in contact with the current phase of the Art and Crafts movement as well as with the men of high influence in London art world. The influence of personalities like John Ruskin, William Morrise, etc. left enormous impact on his thinking.[14]

After his return to England from Ceylon in 1907 Coomaraswamy extensively travelled in India. It was probably during this voyage that he became formally a Hindu in Lahore.[15]Similarly, account of his **yajyopavita** or sacred thread ceremony[16]and initiation

into **Vaishanavism** at Puri[17] left us without a doubt that Coomaraswamy became a follower of Hinduism. Coomaraswamy himself in his letter dated June 24, 1947 written to his son Rama P. Coomaraswamy disclosed that "Our family is Vellala; this is not a well-known caste name in North India, but any Tamil you may run across will know it. We do wear the yajnopavita*;* I have received upanayana from a Brahman in the Punjab, and shall resume wearing the thread when we come to India."[18]

Although he continued to write articles for Ceylon National Review but his departure was final from Ceylon. Most probably during the period between 1907- 1910 his interest gradually turned towards India which is reflected from his pamphlets- "The Deeper meaning of the struggle."The year 1908 became memorable for Coomaraswamy because of three exceptional events. Firstly, he published his first outstanding work "Medieval Sinhalese Art"; secondly, he participate in the Fifteenth International Oriental Congress held at Copenhagen where he read his brilliant paper on the burning topic of the day- "The Influence of Greece on Indian Art"; and thirdly, he addressed the Third International Congress for the History of Religion held in England on the topic "The Relation of Art and Religion in India." The same year he also prepared a pamphlet on the "Aims of Indian art." This was done at the request of O.C. Ganguly, (the well-known art-critic) whom Coomaraswamy came to know during his visit to Calcutta.

During the period between1909 to 1913 he again made frequent visit to India. His Essays in "National Idealism" published in Ceylon in 1909 which consist mainly of articles that had already been appeared in India. In Calcutta Coomaraswamy was guest of the Tagore's at their family home, Jorasanko. He spent the year 1909 in Indian and stayed with Abanindranath Tagore (a nephew of Rabindranagh Tagore).[49] Abanindranath was the Vice Principal of the Government School of Art in Calcutta (throughout the period 1905-1915). A sketch made by Nandalal Bose, a pupil of Abanindranath, reflects the time spent by Coomaraswamy at Jorasanko.

The Indian Society of Oriental Art provided a milieu for Coomaraswamy and helped him to explore his opportunities. In 1910, the society gave Coomaraswamy the responsibility of organizing an exhibition of old and new Indian art to be displayed at a large popular fair displayed at the United Provinces Exhibition at Allahabad. During this period at the request of Bhagwan Das, Coomaraswamy stayed with him at his home in Varanasi.[19] During the search for Exhibits Mrs Coomaraswamy travelled with Coomaraswamy and had written a letter to their London friend Mr. Ashbee which discloses her personal admiration about the culture and taste of Indian people.[20] This letter also reveals the future plan of Coomaraswamy that he wanted to set up a National Museum and his desire to settle in Banaras.[21] But this did not actualize and Mrs Coomaraswamy returned to England when Coomaraswamy decided to stay for long and consequently their marriage broke up. It appears that during these years Coomaraswamy was struggling to settle himself in Indian in its own planned way. This might be the reason why he did not like to stay with the Tagore circle. Perhaps he wished to do so, on his own.

Coomaraswamy published "Art and Swadeshi" at Madras in 1911, which reflects him as harbinger of Indian nationalism but his outlook was neither parochial nor chauvinistic. The work had a universal appeal. In August, 1912 Coomaraswamy published "Thirty songs from the Punjab and Kashmir." In the year 1913, his "Art and Craft of India and Ceylon" published and in the same year "Myths of the Hindus and Buddhist" also appeared. "Visvakarma" the series of published photographs on Indian art was appearing at intervals during the period 1912-14. In 1914, Coomaraswamy published a monograph on Ceylonese bronzes.

From the above account it appears that before his next pioneering works "Rajput Painting" (1916) and "The Gospel of Buddhism" Coomaraswamy slowly and steadily studies and absorb completely to understand the various aspects of Indian art and culture. We also witnessed his traditionalist and nationalist approach which has scientific blending towards the problem and its response.

Another serious episode happened in his life during the First World War which made him self-exiled from his home country England. In 1917 he was asked to join the British Army and he refused it on the grounds that India was not an independent nation. This led to his being exiled from the British Common wealth. Coomaraswamy expressed his attitude that in the World War-1, the appropriate position of Indians was detachment. It was during the Great War in 1916 that a series of Military Service Acts were passed in England. Coomaraswamy stand point was based on his view that as an Indian we have no imperative call to

offer military service. Family memory records that Coomaraswamy declared himself a conscientious objector rather than serve in the British armed forces. In England he was threatened with legal proceeding before local tribunal. According to his family account in the year 1917, Coomaraswamy was able to get out from the country with the help of his influential friends and he never again returned to England. Such a degree of love and sacrifice he had in his heart for India. In great distress, he left England with a thought to settle in India permanently as it was his long desire but unfortunately India had nothing acceptable to offer to this prophet, preacher and seer of Indian art and culture. India was unable to provide a shelter to a genius who was more Indian than any Indian. It is also very important to mention here that during his tours in India he had acquired good examples of India sculpture and painting. From the letter of his wife to Ashbee it is quite clear that the scheme of a National Museum was cultivating in his mind.[22] He did his utmost to give his extremely rich art collection to the people of India, provided a National Museum of Indian art would be constructed at India's spiritual capital Varanasi.[23] He tried also to obtain a post in the Banaras Hindu University, as a professor of Indian Art and Culture.[24] But it is sad to mention that his both wishes were unfulfilled. No Indian prince or magnate came forward to accept the offer and even prestigious Banaras Hindu University disappointed him. Coomaraswamy's letter dated October 15, 1914 written to The New Age, London discloses the important fact that he was also the part of the group which had been laboriously collecting funds for many years for the Banaras Hindu University.[25] It is also notable in this regard that Rai Krishana dasa, the then Honarary Director of Bharat Kala Bhavan attended the Allahabad exhibition and was inspired by Coomaraswamy to such an extent that immediately on his return to Banaras he started seriously collecting objects of Indian art and by 1920 he established Bharat Kala Parishad in Banaras which include a museum of art. This museum is known at present as Bharat Kala Bhavan. Thus in the nucleus of Bharat Kala Bhavan there lays the encouragement and inspiration of Coomaraswamy. He not only inspired but was quite anxious about the growth of Bharat Kala Bhavan. His anxiety and appreciation have been reflected in one of his letter addressed to Rai Krishanadasa.[26]

The publication of the "Rajput Panting" marked a turning point in life and career of Coomaraswamy. It attracted Dr. Denman W. Ross (the Boston Museum's leading Patron) who decided to purchase the collection of Coomaraswamy and invited him to become the curator of newly created Indian section, the first of its kind in America. Coomaraswamy against his wish accepted the museum's proposal because life in England and India by 1916 offers him more disappointment than a break through.

A prophet does not find acceptance in his own country, says the Bible. Similarly, against his wish Coomaraswamy had to leave India. The Trustee of the Boston Museum of Fine Arts appointed him Curator of the Asian Collection, a post which he held until his death in 1947. In 1933, as a part of a general shift in the Asiatic department at the museum, he was given a new title, the Fellow for Research in Indian, Persian and Mohammedan Art.

CONCLUSION

Coomaraswamy re-discovered and re-evaluated Indian art as perceived by Indian mind in the context of its culture, religion and philosophy with compassionate perennial and comprehensive touch which ultimately resulted in the form of bridge that connects the East and the West. Being polemic and pioneer writer, his versatile talent has no parallel. By his encyclopaedic and transcendental vision and holistic approach he authored his works in an inimitable style marked by lucidity and precision.

REFERENCES

1. Biographical data concerning Coomaraswamy's family and his life is largely drawn from:P.S. Sastri, Ananda K. Coomaraswamy; Roger Lipsey, Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work; Moni Bagchee, Ananad Coomaraswamy: A study; Durai Raja Singham, Remembering and Remembering Again and Again; Rama P. Coomaraswamy (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy; Mukandi Lal, Kalaguru Ananda Coomaraswamy; R. Raphael, Ananda Coomaraswamy & Moore, Alvin, Jr. and Rama Poonambulam Coomaraswamy (ed.), Selected Letters of Ananda K. Coomaraswamy.

2. Coomaraswamy, Rama P. (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 2.

   See also, Moore, Alvin, Jr. and Rama Poonambulam Coomaraswamy (ed.), Selected Letters of Ananda K. Coomaraswamy. p. 31.

3. Lipsey, Roger, Coomaraswamy. Part 3. His Life and Work, p. 7.

4. Coomaraswamy, Rama P.(ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 2.

5. Lipsey, Roger, Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, p. 10.
6. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy : A Study, p. 40.

   See also, Rama P. Coomaraswamy (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 2.
7. Lipsey, Roger., Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, p. 11.
8. Ibid.
9. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy : A Study, pp. 42-45.
10. Lipsey, Roger., Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, pp. 11-13.
11. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy : A Study, p. 47.
12. Ibid, p. 38.
13. Lipsey, Roger., Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, pp. 42, 44-45, 47-51.
14. Ibid, pp. 39, 45, 47, 49, 55-57, 59, 113-14.
15. Coomaraswamy, Rama P. (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 4
16. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy : A study, p. 114.
17. Moore, Alvin, Jr. and Rama Poonambulam Coomaraswamy (ed.), Selected Letters of Ananda K. Coomaraswamy. P. 436.
18. Coomaraswamy, Rama P. (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 4.
19. Rothenstein, William., Men and Memories, 3 Vols. Vol. II, ch. xxviii, 'An Indian Pilgrimage', p. 249.
20. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy: A Study, pp. 49-50.
21. Moore, Alvin, Jr. and Rama Poonambulam Coomaraswamy (ed.), Selected Letters of Ananda K. Coomaraswamy . pp. 431-433.
22. Bagchee, Moni., Ananda Coomaraswamy : A Study, pp. 51, 125. See also Roger Lipsey., Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, p. 125.; Rama P. Coomaraswamy (ed.), The Essential Ananda K. Coomaraswamy, p. 4.
23. Lipsey, Roger.,Coomaraswamy. Part 3: His Life and Work, p. 125.

    See also, Moni Bagchee, Ananda Coomaraswamy : A Study, p. 125.
24. Moore, Alvin, Jr. and Rama Poonambulam Coomaraswamy (ed.), Selected Letters of Ananda K. Coomaraswamy. pp. 334-335.
25. Ananda Coomaraswamy: A Centenary Volume., (Edited by) Kalyan Kumar Dasgupta, p. 28.
26. The Original Letter is now in the Collection of Bharat Kala Bhavan, Banaras Hindu University.

●

FINANCIAL PLANNING FOR SENIOR CITIZENS THROUGH PPF

*DR. S. P. AGRAWAL**

Day by day old age management in India becoming difficult due to increased longevity, breaking of Joint Family System in the society and removal of old pension scheme. As such it has become necessary for the younger generation to plan its old age finance properly. PPF is a government backed long term small savings scheme keeping in mind its safety, profitability, liquidity and tax benefits.

Public Provident Fund scheme is one of the most popular schemes of small savings scheme in India today. This Scheme was initially started by Central Government under PPF Act, 1968 in order to provide retirement security to self-employed individuals and workers in the unorganized sector. This is unique scheme for long term investment.

Salient Features of PPF Account:

1. Who Can Open An Account[1]

Any individual can open a PPF Account in his own or spouse name or on behalf of a minor through guardian. Those who are contributing in GPF Fund or CPF/EPF account can also open a PPF account. For opening this account no age limit is prescribed. At any point in your life, you are allowed to have only one PPF account in your name. In case if at any time it is seen that you have more than one account in your own name, the second account will be deactivated and only your principal will be returned to you.

2. Who cannot open PPF account

It is pertinent to mention that this account **cannot be opened jointly**. A **Power of attorney** holder can neither open nor operate PPF account. Even **The grandfather/mother** cannot open a PPF account on behalf of their minor grandson/daughter.

Non Resident Indian cannot open this account; however, there is a silver lining for some NRIs. When he was resident in India and became an NRI during the tenure of the PPF account, then he may contribute till its maturity (i.e. 15 years).

Hindu Undivided Family cannot open a PPF Account since 13-05-2005, but account opened before 13-05-2005 may contribute up to its maturity i.e. 31st March of the 16th Financial Year from the year in which account was opened and no further deposit can be accepted in such accounts after maturity.

3. Where to open account

PPF Account can be opened in Head Post Office or selection grade sub post offices or in any branch of State Bank of India (Excluding offices managed by single officer or clerk) and also at specified branches of some nationalized banks.

4. Rules regarding Contribution[2]

The minimum deposit 500 and maximum Rs. 150000 in a financial year in the multiple of Rs. 50 (Earlier it was in the multiple of Rs. 100). Now the deposit can be made in lumpsum or in convenient installments (No Limit) (Earlier it was not more than 12 installments in a year with two installments in a month) subject to total deposit of Rs. 150000 per F.Y. The deposit in a minor account is clubbed with the deposit of the account of the Guardian but the limit of Rs. 150000 should not exceed.

Interest rate on PPF Account

Balance in the account earns interest at the rate fixed by Central Government periodically. Present rate of interest is 7.1 per cent. But rate of interest falling rapidly over the years which are evident from Table 1.In fact the PPF interest rate has steadily dropped over the years and can be expected to slowly fall as the years proceed.

Table 1

Rate of Interest on PPF Account[3]

Period	Interest Rate Per Annum
01 April 1986 - 14 Jan 2000	12.00%
15 Jan 2000 - 28 Feb 2001	11.00%
01 March 2001 - 28 Feb 2002	09.50%
01 March 2002 - 28 Feb 2003	09.00%
01 March 2003 - 30 Nov 2011	08.00%

* Prof. Faculty of Commerce, Banaras Hindu University, Varanasi

01 April 2012 – 31 March 2013	08.80%
1 April 2013- 31 March 2016	08.70%
1April 2016- 31 March 2017	08.10%
1 April 2017 – 31 March 2018	07.90%
1 April2018 - 31March 2019	07.60%
1 April2019-30 June 2019	08.00%
1 July 2019 - 31March 2019	07.90%
1 April 2020 – Running	07.10%

Table 1 depicts that rate of interest is continuously decreasing except 1st Quarter of 2019 - 2020 when it increased from 7.6% to 8% thereafter again decreasing and decreased from 12% (between 1986 to 2000) to 7.1%. In true sense rate of interest is still more because interest on PPF is fully exempted and that will depend in which slab of Income Tax investor is? if, the assesse is in 10% slab of Income Tax then effective rate of interest becomes 7.92 (Interest Before Tax + 4% Education Cess=IBT), 20% slab of Income Tax then this rate becomes 8.96 (IBT) and if in 30%% slab of Income Tax then this rate becomes 10.32 (IBT). It is better than any investment option where investor may get up to 7.92%, 8.96% & 10.32% interest respectively, if he is in the slab of 10%, 20% & 30% in Income Tax Act.

Table 2

Statement showing maturity value of deposit on interest@7.1%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution During the Year	Balance on which Interest is Calculated	Amount of Interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	500	35.5	535.5
2	1/4/2021	535.50	500	1035.50	73.52	1109.02
3	1/4/2022	1109.02	500	1609.02	114.24	1723.26
4	1/4/2023	1723.26	500	2223.26	157.85	2381.11
5	1/4/2024	2381.11	500	2881.11	204.56	3085.67
6	1/4/2025	3085.67	500	3585.67	254.58	3840.25
7	1/4/2026	3840.25	500	4340.25	308.16	4648.41
8	1/4/2027	4648.41	500	5148.41	365.54	5513.95
9	1/4/2028	5513.95	500	6013.95	426.99	6440.94
10	1/4/2029	6440.94	500	6940.94	492.81	7433.75
11	1/4/2030	7433.75	500	7933.75	563.30	8497.04
12	1/4/2031	8497.04	500	8997.04	638.79	9635.83
13	1/4/2032	9635.83	500	10135.83	719.64	10855.48
14	1/4/2033	10855.48	500	11355.48	806.24	12161.72
15	1/4/2034	12161.72	500	12661.72	898.98	13560.70
16	1/4/2035	13560.70	0	13560.70	962.81	14523.51

Table 3
Statement showing maturity value of deposit on interest@6.5%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution During the Year	Balance on which Interest is Calculated	Amount of Interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	500	32.5	532.5
2	1/4/2021	532.50	500	1032.50	67.1125	1099.61
3	1/4/2022	1099.61	500	1599.61	103.97481	1703.59
4	1/4/2023	1703.59	500	2203.59	143.23318	2346.82
5	1/4/2024	2346.82	500	2846.82	185.04333	3031.86
6	1/4/2025	3031.86	500	3531.86	229.57115	3761.43
7	1/4/2026	3761.43	500	4261.43	276.99327	4538.43
8	1/4/2027	4538.43	500	5038.43	327.49784	5365.93
9	1/4/2028	5365.93	500	5865.93	381.28519	6247.21
10	1/4/2029	6247.21	500	6747.21	438.56873	7185.78
11	1/4/2030	7185.78	500	7685.78	499.5757	8185.36
12	1/4/2031	8185.36	500	8685.36	564.54812	9249.90
13	1/4/2032	9249.90	500	9749.90	633.74375	10383.65
14	1/4/2033	10383.65	500	10883.65	707.43709	11591.08
15	1/4/2034	11591.08	500	12091.08	785.9205	12877.01
16	1/4/2035	12877.01	0	12877.01	837.00534	13714.01

Table No 4
Statement showing maturity value of deposit on interest@6%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution During the Year	Balance on which Interest is Calculated	Amount of Interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	500	30	530
2	1/4/2021	530.00	500	1030.00	61.8	1091.80
3	1/4/2022	1091.80	500	1591.80	95.508	1687.31
4	1/4/2023	1687.31	500	2187.31	131.23848	2318.55
5	1/4/2024	2318.55	500	2818.55	169.11279	2987.66
6	1/4/2025	2987.66	500	3487.66	209.25956	3696.92
7	1/4/2026	3696.92	500	4196.92	251.81513	4448.73
8	1/4/2027	4448.73	500	4948.73	296.92404	5245.66
9	1/4/2028	5245.66	500	5745.66	344.73948	6090.40
10	1/4/2029	6090.40	500	6590.40	395.42385	6985.82
11	1/4/2030	6985.82	500	7485.82	449.14928	7934.97
12	1/4/2031	7934.97	500	8434.97	506.09824	8941.07
13	1/4/2032	8941.07	500	9441.07	566.46413	10007.53
14	1/4/2033	10007.53	500	10507.53	630.45198	11137.98
15	1/4/2034	11137.98	500	11637.98	698.2791	12336.26
16	1/4/2035	12336.26	0	12336.26	740.17584	13076.44

Since rate of interest is continuously decreasing so it is presumed and computed maturity value @ 6.5% and @6% too in addition to 7.1% prevailing rate. If investor is continuously investing Rs. 500 for the entire period then @7.1% he will get Rs.14523.51 (Refer Table 2) at the time of maturity. If rate of interest decreased to 6.5% he will get Rs.13714.01 (Refer Table 3) and @6% he will get Rs.13076.44 (Refer Table 4) respectively. If investor is contributing regularly for entire period Rs.150000 then he will get Rs.4357053, Rs.4114203 and Rs.3922932 respectively.

Table No 5

Statement showing Deposit, Loan& Withdrawal of Rs.500 on interest@7.1%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contrition during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	35.5	535.5
2	1/4/2021	535.50	500	0	0	1035.50	73.52	1109.02
3	1/4/2022	1109.02	500	133.88	0	1609.02	114.24	1723.26
4	1/4/2023	1723.26	500	277.26	0	2223.26	157.85	2381.11
5	1/4/2024	2381.11	500	430.82	0	2881.11	204.56	3085.67
6	1/4/2025	3085.67	500	595.28	0	3585.67	254.58	3840.25
7	1/4/2026	3840.25	500	0	500	3840.25	272.66	4112.91
8	1/4/2027	4112.91	500	0	500	4112.91	292.02	4404.93
9	1/4/2028	4404.93	500	0	500	4404.93	312.75	4717.68
10	1/4/2029	4717.68	500	0	500	4717.68	334.96	5052.63
11	1/4/2030	5052.63	500	0	500	5052.63	358.74	5411.37
12	1/4/2031	5411.37	500	0	500	5411.37	384.21	5795.58
13	1/4/2032	5795.58	500	0	500	5795.58	411.49	6207.06
14	1/4/2033	6207.06	500	0	500	6207.06	440.70	6647.77
15	1/4/2034	6647.77	500	0	500	6647.77	471.99	7119.76
16	1/4/2035	7119.76	0	0	0	7119.76	505.50	7625.26

Table No 6
Statement showing Deposit, Loan & Withdrawal of Rs.500 on interest@6.5%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	32.5	532.5
2	1/4/2021	532.50	500	0	0	1032.50	67.1125	1099.61
3	1/4/2022	1099.61	500	133.13	0	1599.61	103.97481	1703.59
4	1/4/2023	1703.59	500	274.90	0	2203.59	143.23318	2346.82
5	1/4/2024	2346.82	500	425.90	0	2846.82	185.04333	3031.86
6	1/4/2025	3031.86	500	586.71	0	3531.86	229.57115	3761.43
7	1/4/2026	3761.43	500	0	500	3761.43	244.49327	4005.93
8	1/4/2027	4005.93	500	0	500	4005.93	260.38534	4266.31
9	1/4/2028	4266.31	500	0	500	4266.31	277.31038	4543.62
10	1/4/2029	4543.62	500	0	500	4543.62	295.33556	4838.96
11	1/4/2030	4838.96	500	0	500	4838.96	314.53237	5153.49
12	1/4/2031	5153.49	500	0	500	5153.49	334.97697	5488.47
13	1/4/2032	5488.47	500	0	500	5488.47	356.75048	5845.22
14	1/4/2033	5845.22	500	0	500	5845.22	379.93926	6225.16
15	1/4/2034	6225.16	500	0	500	6225.16	404.63531	6629.79
16	1/4/2035	6629.79	0	0	0	6629.79	430.9366	7060.73

Table No 7
Statement showing Deposit, Loan& Withdrawal of Rs.500 on interest@6.0%

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	30	530
2	1/4/2021	530.00	500	0	0	1030.00	61.8	1091.80
3	1/4/2022	1091.80	500	132.50	0	1591.80	95.508	1687.31
4	1/4/2023	1687.31	500	272.95	0	2187.31	131.23848	2318.55
5	1/4/2024	2318.55	500	421.83	0	2818.55	169.11279	2987.66
6	1/4/2025	2987.66	500	579.64	0	3487.66	209.25956	3696.92
7	1/4/2026	3696.92	500	0	500	3696.92	221.81513	3918.73
8	1/4/2027	3918.73	500	0	500	3918.73	235.12404	4153.86
9	1/4/2028	4153.86	500	0	500	4153.86	249.23148	4403.09
10	1/4/2029	4403.09	500	0	500	4403.09	264.18537	4667.27
11	1/4/2030	4667.27	500	0	500	4667.27	280.03649	4947.31
12	1/4/2031	4947.31	500	0	500	4947.31	296.83868	5244.15
13	1/4/2032	5244.15	500	0	500	5244.15	314.649	5558.80
14	1/4/2033	5558.80	500	0	500	5558.80	333.52794	5892.33
15	1/4/2034	5892.33	500	0	500	5892.33	353.53962	6245.87
16	1/4/2035	6245.87	0	0	0	6245.87	374.75199	6620.62

Table No 8
Statement showing Deposit, Loan & Withdrawal @7.1% as per rule

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	35.5	535.5
2	1/4/2021	535.50	500	0	0	1035.50	73.52	1109.02
3	1/4/2022	1109.02	500	133.88	0	1609.02	114.24	1723.26
4	1/4/2023	1723.26	500	277.26	0	2223.26	157.85	2381.11
5	1/4/2024	2381.11	500	430.82	0	2881.11	204.56	3085.67
6	1/4/2025	3085.67	500	595.28	0	3585.67	254.58	3840.25
7	1/4/2026	3840.25	500	0	1190.56	3149.70	223.63	3373.33
8	1/4/2027	3373.33	500	0	1542.84	2330.49	165.46	2495.96
9	1/4/2028	2495.96	500	0	1247.98	1747.98	124.11	1872.08
10	1/4/2029	1872.08	500	0	936.04	1436.04	101.96	1538.00
11	1/4/2030	1538.00	500	0	769.00	1269.00	90.10	1359.10
12	1/4/2031	1359.10	500	0	679.55	1179.55	83.75	1263.30
13	1/4/2032	1263.30	500	0	631.65	1131.65	80.35	1212.00
14	1/4/2033	1212.00	500	0	606.00	1106.00	78.53	1184.52
15	1/4/2034	1184.52	500	0	592.26	1092.26	77.55	1169.81
16	1/4/2035	1169.81	0	0	0	1169.81	83.06	1252.87

Table No 9
Statement showing Deposit, Loan & Withdrawal @6.5% as per rule

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	32.50	532.5
2	1/4/2021	532.50	500	0	0	1032.50	67.11	1099.61
3	1/4/2022	1099.61	500	133.13	0	1599.61	103.97	1703.59
4	1/4/2023	1703.59	500	274.90	0	2203.59	143.23	2346.82
5	1/4/2024	2346.82	500	425.90	0	2846.82	185.04	3031.86
6	1/4/2025	3031.86	500	586.71	0	3531.86	229.57	3761.43
7	1/4/2026	3761.43	500	0	1173.41	3088.02	200.72	3288.75
8	1/4/2027	3288.75	500	0	1515.93	2272.81	147.73	2420.55
9	1/4/2028	2420.55	500	0	1210.27	1710.27	111.17	1821.44
10	1/4/2029	1821.44	500	0	910.72	1410.72	91.70	1502.42
11	1/4/2030	1502.42	500	0	751.21	1251.21	81.33	1332.54
12	1/4/2031	1332.54	500	0	666.27	1166.27	75.81	1242.08
13	1/4/2032	1242.08	500	0	621.04	1121.04	72.87	1193.91
14	1/4/2033	1193.91	500	0	596.95	1096.95	71.30	1168.25
15	1/4/2034	1168.25	500	0	584.13	1084.13	70.47	1154.60
16	1/4/2035	1154.60	0	0	0	1154.60	75.05	1229.64

Table No 10

Statement showing Deposit, Loan & Withdrawal @6.0% as per rule

S. No.	Date of Deposit	Opening Balance	Contribution during the year	Loan during the year	Withdrawal during the year	Balance on which Interest is calculated	Amount of interest	Closing Balance
1	1/4/2020	0	500	0	0	500	30	530
2	1/4/2021	530.00	500	0	0	1030.00	61.80	1091.80
3	1/4/2022	1091.80	500	132.50	0	1591.80	95.51	1687.31
4	1/4/2023	1687.31	500	272.95	0	2187.31	131.24	2318.55
5	1/4/2024	2318.55	500	421.83	0	2818.55	169.11	2987.66
6	1/4/2025	2987.66	500	579.64	0	3487.66	209.26	3696.92
7	1/4/2026	3696.92	500	0	1159.27	3037.65	182.26	3219.90
8	1/4/2027	3219.90	500	0	1493.83	2226.07	133.56	2359.64
9	1/4/2028	2359.64	500	0	1179.82	1679.82	100.79	1780.61
10	1/4/2029	1780.61	500	0	890.30	1390.30	83.42	1473.72
11	1/4/2030	1473.72	500	0	736.86	1236.86	74.21	1311.07
12	1/4/2031	1311.07	500	0	655.54	1155.54	69.33	1224.87
13	1/4/2032	1224.87	500	0	612.43	1112.43	66.75	1179.18
14	1/4/2033	1179.18	500	0	589.59	1089.59	65.38	1154.97
15	1/4/2034	1154.97	500	0	577.48	1077.48	64.65	1142.13
16	1/4/2035	1142.13	0	0	0	1142.13	68.53	1210.66

Loan Facility[4]

According to Public Provident Fund Scheme 1968, the facility of loan against the PPF deposits is available between 3rdto 6thfinancial year of deposit to the extent of 25 % of the amount standing at the end of the second last financial year in which the application for loan is given. The loan is repayable in 36 months either in lump sum or in convenient installments of not more than 36 months; subsequent loan can be taken when the earlier loan with interest has been fully repaid. No loan will be given after 6th year. Interest on loan is charged 1% [Interest rate applicable on PPF + 1% (Before December, 2019 it was 2%)] if loan is repaid within 36 months, 6 per cent interest will be charged on outstanding amount of loan after 36 months.

For example if one has opened his account in the financial year 2000-2001 then he may take loan between the financial years 2002-2003 to 2005-2006.(i.e., 3rd to 6th year from the opening of account).

It is clear from the table 5 & 8 that investor may take loan between Rs.133.88 in 3rd year to Rs.595.28 in 6th year when rate of interest is 7.1%. Table 6 & 9 shows when rate of interest is 6.5 he may take loan between Rs.133.13 to Rs586.71and @ 6% Loan amount ranges between Rs.132.50 to Rs.579.64 only when the contribution by investor is 500 per year (Refer Table 7 &10).

It is clear from the table 5 &8 that investor may take loan between Rs.26776 in 3rd year toRs.119056 in 6th year when rate of interest is 7.1%. Table 6 & 9 shows when rate of interest is 6.5 he may take loan between Rs.26626 to Rs.117342 and @6% Loan amount ranges between Rs.26500 to Rs.115928 (Refer Table 7 & 10) only when the contribution by investor is Rs.100000 per year.

So, it may be concluded the amount of loan vary according to contribution.

Withdrawal Facility[5]

However, pre-mature withdrawals can be made from the end of the sixth financial year (i.e.7th year

from account opening). The maximum amount that can be withdrawn pre-maturely is equal to 50% of the amount standing in his account at the end of 4th Financial Year or 50% of the balance standing in his account in the preceding Year whichever is less.

Table no (s) 5, 6 & 7 depicts if a person contributing each year only Rs. 500 then he will be in position of withdrawing each year Rs. 500 from Seventh Year onwards to the date of maturity and if he will deposit same amount in the said account immediately at various rate of interest 7.1%, 6.5% & 6% respectively then he will get at maturity Rs.7625.26, Rs.7060.73, & Rs.6620.62 at the time of maturity.

If a person contributes Rs.100000 per year then he will get Rs.1525052, Rs.1412146 & Rs.1324124 respectively.

If investor contributes Rs.150000per year then he will get Rs.2287578, Rs.2118219& Rs.1986186 only.

It is interested interest in interest that investor had only contributed Rs.3,000 (500 x 6) and will get at maturity Rs.7625.26, Rs.7060.73 & Rs.6620.62 at the time of maturity along with various other benefits mentioned at various rate of interest.

In case Contribution is Rs.100000 then he had contributed only Rs.600000and will get Rs.1525052, Rs.1412146& Rs.1324124 respectively.

In case if he contributes Rs.150000 then he had contributed only Rs.900000 which becomes Rs.2287578, Rs.2118219 & Rs.1986186respectively.

Table 8 depicts that Investor can withdraw in each year from Seventh Year onwards maximum amount being Rs.1542.84 (in 8th year), Rs.592.2 (in15thyear) and will get Rs.1252.81 also at the time of maturity (When investor is investing Rs.500 yearly, rate of interest being 7.1%). So, it is clear if investor invests Rs.150000 yearly then he will get maximum amount in 8th year Rs.462852, Rs.177660in 15th Year and will get Rs.375861 also at the time of maturity.

Table 9 depicts that investor can withdraw in each year from Seventh Year onwards maximum amount being Rs.1515.93 (in 8th year), Rs.584.13 (in15th year) and will get Rs.1229.64 also at the time of maturity (When investor is investing 500 yearly, rate of interest being 6.5%).

So, it is clear if investor invests Rs.150000 yearly then he will get maximum amount in 8th year Rs.454779, Rs.175239in 15th Year and will get Rs.368892 also at the time of maturity.

Table 10 depicts that Investor can withdraw in each year from Seventh Year onwards maximum amount being Rs.1493.83 (in 8thyear), Rs.577.48 (in15th year) and will get Rs.1210.66 also at the time of maturity (When investor is investing 500 yearly, rate of interest being 6.0%).

So, it is clear if investor invests Rs.150000 yearly then he will get maximum amount in 8th year Rs.448149, Rs.173244 in 15th Year and will get Rs.363198 also at the time of maturity.

Three options are available after completion of 15 year

1. First option:[6]

Accountholder may take final payment.

2. **Second Option:[7]**

Extend the PPF account unlimited for any period in a block of 5 years without contribution. The balance in the account will continue to earn interest at normal rate as admissible on PPF account till the account is closed. Accountholder may withdraw full/partial amount during extended period any time but only once in a financial year.

3. **Third Option:[8]**

Extend the PPF account unlimited for any period in a block of 5 years with contribution. Accountholder has to contribute as stated above. Accountholder will earn interest at normal rate as admissible on PPF account till the account is closed. One withdrawal in each financial year is also admissible in such account held beyond 15 years subject to a ceiling of 60% of the balance at the end of the 15 year term (Accountholder may withdraw 60% of the balance standing in his account at the end of 15th year lump sum in one installment or partial withdrawal during extended period but once in a financial year.) If account has completed 20, 25 or 30 years, then he may withdraw 60% of the balance standing in his account at the end of 20, 25, or 30 years during next extended period either lump sum in one installment or partial withdrawal during extended period but once in a financial year.

If accountholder forget to contribute in any year

The account in which deposits could not made due to any reasons will be treated as discontinued

and such account will not be closed before maturity but can be activated by payment of minimum deposit of Rs.500/- with default fee of Rs.50 for each defaulted year.

Pre mature closer of account

PPF account opened that cannot be closed before maturity but in following circumstances may be closed after completion of 5 financial years [excluding (i) condition].

i. If the account holder dies.

ii. If the any of the dependent family members are suffering from fatal disease.

iii. For the higher education of account holder.

iv. For the higher education of dependent family members w. e. f. December, 2019.

v. Due to final shifting of account holder in foreign country.

In case of above circumstances that should be supported by valid documents and penalty of 1% interest will be charged by the banker since its inception excluding condition (i) given above.

Other important features:

- Account is transferable from one Post office to another and from Post office to Bank and from Bank to Post-office.
- Account is transferable from one Bank to another bank as well as within the bank to any branch.
- After the death of Account Holder nominee/legal heir of PPF Account holder cannot continue the account.
- More than one person can be nominated
- If you are keen for a safe corpus, a decent rate of return, tax benefits (deduction under Income Tax Act, 1961 on the money invested, tax free interest and a tax free maturity value) and have a long term investment horizon, then the PPF is matchless scheme.
- It is not mandatory to make a deposit equal amountin every month / year. The amount of deposit can be varied to suit the convenience of the accountholders.
- Contribution in it qualifies for deduction U/S 80 C Rs.1,50,000/- along with other savings schemes and interest credited in it is totally exempt.[9]
- Withdrawal and maturity value of PPF account fully exempted.
- Amount standing in PPF account is not subject to attachment under or decree of court in respect of any debt or liability.

On the whole I may say it gives a peace of mind that my money is safe.

Assumptions:

Various tables in the above article are prepared keeping in mind following assumptions.

- Interest on PPF is calculated on the minimum balance in PPF account between the 5th and the last day of every month.
- Each contribution is made before 5^{th} day of each month (April)/year.
- Withdrawal is also made before 5^{th} day of each month (April)/year.
- Deduction U/S 80C of Income Tax Act, 1961 is not availed.
- Interest rate will not change in each year or fixed for each year.
- Equal amount Rs. 500 contributed annually before 5^{th} April.

So, it may be concluded that PPF Account is matchless scheme for each and every person whether he is income tax payee or not. Broadly, it can be said that it is best scheme for those individuals who do not have Government Provident Fund, Statutory Provident Fund, Employees Provident Fund or Recognized Provident Fund. Balance standing in PPF remains secure in each and every circumstances including insolvency of the accountholder. Moreover, accountholder gets Deduction U/S 80 C on the contribution as well as entertain exemption at the time of contribution, interest received & amount received at maturity, withdrawals during 15 years as well as after 15 years too based on EEE concept. For a person having conservative to moderate approach it is best scheme. Of course rate of return like mutual funds and shares is not lucrative, but considering safety, profitability, taxation & liquidity it is best scheme. Even if, you are not interested in fixed interest bearing securities, it may be suggested that have

diversification in your investment and certainly open PPF account.

References:

1. Public Provident Fund Act, 1968.
2. Guidelines on Public Provident Fund, National Savings Organisation, Nagpur.
3. Various Issues of Economic Times and Financial Express.
4. Small Savings Scheme, District National Savings Office, Varanasi.
5. Public Provident Fund Rules – Published by Nationalised Banks in India.
6. www.sbi.co.in
7. www.bankofindia.co.in
8. www.unionbankofindia.co.in
9. www.taxguru.in

●

ANALYSIS OF CARIYĀ WITH SPECIAL REFERENCE TO VISUDDHIMAGGA

HIMANSHU KUMAR SINGH* & PROF. BIMLENDRA KUMAR**

In the Buddhism the stage of purification of *citta*[1] (mind) of a person has been divided into four parts[2] that starts from *kāmāvacara citta*[3] (Sense – Sphere Consciousness) which has two classifications– *akusala* or *kusala.*Actually in these four subsequent stages of purification, *citta* (consciousness) becomes purer to the purest. There are five ways to eliminate the *akusalamūla* i.e. *rāga, dosa* and *moha.* It is must for living a peaceful and meaningful life and to fulfil the ultimate purpose *nibbāna* also. In this purification process, the person first and foremost has to follow *sīla*[4] that curtail *akusala kāyika, vācika,* and *māno kammās* then s/he turns to take a *kammaṭṭhāna*[5] (object of meditation) on the basis of suitability of *cariyā.* Out of forty *kammaṭṭhānas*, each and every *kammaṭṭhāna* has distinctive characteristics that are suitable for requirements of persons willing for meditation. As medicines are prescribed by observing and diagnosing the symptoms of patients' disease in the same way *kammaṭṭhānas* are suggested by observing the *cariyā* of the person. The selection of *kammaṭṭhāna* is the next step followed by well establishment in *sīlas.* It is the most important step because the given *kammaṭṭhāna* is like boat in a sea to cross it. As thorough a boat one could go through sea even in the most pacified or the tempest conditions. In the same manner, the suggested *kammaṭṭhāna* is like a boat. Also, it is like a '*key*' to open the gate of super mundane plane. After meditating on *kammaṭṭhāna* in *rūpāvacara* (fine material sphere consciousness), a *kammaṭṭhāna* worked as means for meditation in *arupāvacara* (immaterial sphere consciousness).

Owing to above discussed importance of *kammaṭṭhānas*, the selection process becomes crucial. It is *cariyā* that determines the object of meditation. For instance, *rāga carita* (one of greedy temperament) person is suggested to take either *kammaṭṭhāna* named *kāyagatāsati* (mindfulness on the body) or anyone of other remaining fourteen ones also.

The *nibbāna* is obtained by complete elimination of *kilesa*. This elimination process starts with abiding by the *silās* and ends with mediation. For better result as purification of *citta* and elimination of all *akusalakammas*, one must have to follow the *sikkhāpadās* (guidelines) instructed by the Buddha.

So, the necessity for describing the *cariyā*, in the magnum opus of Buddhaghosa named *Visuddhimagga*, is that from this point starts the journey of gaining complete liberty from the vicious cycle of rebirth. Because Buddhism considers *kāmāvacara* life is full of sufferings due to these seven natural phenomenons as:

1. *jātipi dukkhā* (birth is suffering)
2. *jarāpi dukkhā* (old age is suffering)
3. *byādhipi dukkho* (disease is suffering)
4. *maraṇampi dukkhaṃ* (dying is suffering)
5. *appiyehi sampayogo dukkho* (association with what is not dear is suffering)
6. *piyehi vippayogo dukkho* (separation from what is dear is suffering)
7. *yampicchaṃ na labhati tampi dukkhaṃ* (not getting what one wants is suffering)

And, in the end, text concludes that *saṃkhittena, pañcupādānakkhandhā dukkhā* (in sort, the five grounds of grasping is suffering). 'Suffering' is well accepted rendering for the term '*dukkha'*. But, Homer has rendered it as 'ill'. For instance, "birth is ill" (Horner, 1971, p. 16). It doesn't bring forth the basic meaning of it.

Pāli text defines '*dukkha'* as:

"*Du kucchitaṃ hutvā khanati kāyikasukhaṃ, dukkhamanti vā dukkhaṃ*."[6]

The thing that eliminates the peace and calmness of both body and mind is called *dukkha*.

Here, the term *'dukkha'* represents all the problems faced by beings at each and every step in various forms in the life. *Taṇhā* (craving) is the root

∗ Research Scholar, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Professor, Deptt. of Pali and Buddhist Studies, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

defilement because it is *nandīrāgasahagatā*[7] (with delight and greed). Its elimination is must in order to get rid of *dukkha.* There are three subsequent purification steps – *sīla, samādhi* and *paññā.* For systematic and organized development on that path the role of *kusalacariyā* is indispensible. As the Buddha has uttered to Devaputta at Jetavana that after the *sīle patiṭṭhāya*[8] (perfect establishment on *sīla*) a wise man (*naro sapañño*[9]) needs to take *samādhi*[10] by taking suitable *kammaṭṭhāna.* How to judge suitability of an object of meditation? For the solution of this problem, the Buddhism takes person's *cariyā* as basic tool. *Cariyā* is like a '*determining factor*' for selection.

RESEARCH QUESTIONS

1. Does the term '*cariyā'* carry the meaning of 'temperament' only throughout Pāli canon?
2. Are the ways of counting of '*cariyā'* by combination valid logically?

OBJECTIVES

1. To know different pragmatic meanings of *cariyā*.
2. To know the logical validity and relevance of the several counting ways of '*cariyā'*.

RESEARCH METHODOLOGY

Both historical and analytical methods have been used. For making Pāli technical terms plural suffix '*s*' has been added at the end of the words. Chaṭṭha Saṅgāyana Tipiṭika 4.0 © Vipassana Research Institute (1995) is the database for all the primary sources. The main technical Pāli words have been used in Pāli language so that their meanings couldn't be "reduced to merely one of its many meanings" (Malhotra, 2016, p. 47).

DELIMITATION

Causes of formation of *rāgacariyās* have been excluded from this study. Only Pāli sources are used for this study despite of being available lots of other sources in other language. *Visuddhimagga* is the primary source for this study and other Pāli texts and *aṭṭhakathās* have been used.

EXPLANATION

Like the modern theory of temperament, in the *Pāli* canon also there is concept of *cariyā* which is explained in the *Visuddhimagga* comprehensively. The teachings of the Buddha are not the subject of just mental and/or philosophical reasoning but the subject of experience by following them. In the 5th century ADE Buddhaghosa has compiled and explained the concept of *cariyā* comprehensively. By deducting from the *buddhavacana* – "*manopubbaṅgamā dhammā*[11]" (mind is forerunner of all phenomena) – it might be said that thinking on a subject and its reaction in the forms of speech (*vācika*) or action (*kāyika*) or thought (*mānasika*) or *dhammappattito* (mental states) are guided and highly influenced by *cariyā.*

Meaning of *cariyā*

Cariyā which is rendered as 'temperament' (Ñāṇamoli, 2010, p. 330), (Thera, 1979, p. 435) is the collective form of activities not only limited to oneself but also toward others. It is, here, in the sense of 'nature' or 'character' of a person. It is not true that '*cariyā'* has only one meaning – 'temperament'. In Pāli texts, it has also meaning of 'behaviour'[12], in the *Nettippakaraṇa-aṭṭhakathā* same meaning[13], in the *Sāratthadīpanī-ṭīkā* same meaning[14], in the *Vimativinodanī-ṭīkā* same meaning[15], in the *Visuddhimagga-mahāṭīkā* same meaning[16]; doing charitable works (*dāna*)[17]; past lives' *kusala* and *akusala kammas*[18] and arising of *kāya*, *vacī* and *mano kammās*[19] etc.

The way of *iriyāpatha* (posture), the way of discharging duties (*kicchas*), in physical form like sweeping, wearing clothes and eating (*bhojana*), food habits as well as the tastes are noticed to determine the traits of *cariyā*. It is wise to focus on the point that in the food habit sense, there is no description of the recipes based on which the classification of *cariyā* could be done. The edible materials and food ingredients greatly varies due to geographical condition. But what is common in all the food items is their 'taste'. So, the Buddhist text has classified the *cariyā* on the basis of taste. It is also point to notice that out of six types of tastes[20] there are only two types have been discussed in the text in this context. There are six types of *cariyā* which are "fundamental and basic"[21] as described in *Visuddhimagga*[22].

These are as follows:

1. *Rāga Cariyā* (one of greedy temperament): the person who is with *rāga* and his activities are influenced by it is called *rāga carita*. It is an *akusala cariyā*. Such person takes unliked objects with hatred and anger. Such person is of greedy nature.

2. *Dosa Cariyā* (one of hatred temperament): the person who is with *dosa* and his activities are influenced by it is called *dosa carita*. It is an *akusala cariyā*. Such person takes objects with hatred and anger.
3. *Moha Cariyā* (one of deluded temperament): the person who is with *moha* and his activities are influenced by it is called *moha carita*. It is an *akusala cariyā*. Taking the objects with *moha* is the nature of such person.
4. *Saddhā Cariyā* (one of faithful temperament): the person who is with *saddhā* and his activities are influenced by it is called *saddhā carita*. It is an *kusala cariyā*. Taking the objects with *saddhā* is the natural tendency of such person.
5. *Buddhi Cariyā* (one of intelligent temperament): the person who is with *buddhi* and his activities are influenced by it is called *buddhi carita*. It is a *kusala cariyā*. Taking the objects with *buddhi* (intelligence) is the natural tendency of such person.
6. *Vitakka Cariyā* (one of speculative temperament): the person who is with *vitakka* and his activities are influenced by it is called *vitakka carita*. It is an *akusala cariyā*. Such person takes objects by thinking on various aspects.

They are single and distinct. But by taking these *cariyās* in different sets, they go up to sixty three[23]. Since, there is no *cariyā* which is found in a person 'perfectly and solely'. The *cariyā* is found in the dominant and the reduced manner. If a person is with *rāga cariyā*, it doesn't mean that he is only filled with *rāga*. There is little amount of *dosa* (hatred), *moha* (delusion), *saddhā* (faith), *buddhi* (intelligence) and *vitakka* (speculation) are also in him. A person is *rāga carita* means that he has *rāga cariyā* as dominant *cariyā* and other *akusala* and *kusala cariyās* are as reduced ones. The *cariyā* which is found as 'dominant trait' is taken as 'identifying *cariyā*' – or it is said that the person is of '*that'carita*. For instance, in a person if *rāga cariyā* is dominant, the person is called either '*rāga carita'* or 'person with *rāga cariyā*'. But there is no person who is of totally greedy temperament or hatred temperament or deluded temperament and so on. It is impossible for any person to perform activities purely with any one temperament out of six ones. For instance, either with faithful temperament or intelligent temperament or speculative temperament. Owing to this reason, there is also a tradition to count the temperament by combining the single temperament in double combination and triple one. The substantiating logic for this combination of different *cariyās* is that no immoral activities are conducted by only greedy temperament or hatred temperament or deluded temperament. It is deluded temperament which is present with all the immoral temperaments due to being the root of all immoral activities. So, *moha cariyā* is common in all seven types of immoral *cariyās* and play initiative role in all *akusala* activities.

It would not be wise to interpret that in a person of *rāga cariyā*, there is no other *cariyā* at all. Greedy temperament might be dominant and other temperaments like *dosa* or *moha* might be in little amount. So, the tradition of counting the *cariyā* by taking two and then three together is worthy to be considered and acknowledged.

Counting of *Cariyā* by Combination Method (*Saṃsaggasannipātavasena*)

Immoral Temperament (*Akusala Cariyā*)

Double Combination

1. *Rāgadosacariyā* (greedy – hatred temperament)
2. *Rāgamohacariyā* (greedy – deluded temperament)
3. *Dosamohacariyā* (hatred – deluded temperament)

Triple Combination

4. *Rāgadosamohacariyā* (greedy – hatred – deluded temperament)

So, there are three *akusala cariyās– rāga cariyā, dosa cariyā* and *moha cariyā* – in single manner. On the other hand, by taking these three *akusala cariyās* in combination with two *cariyās* the total number goes three and taking three in combination the number of *cariyās* is one. In this way total number of *akusala cariyās* is seven.[24]

Moral Temperament (*kusala cariyā*)

Double Combination

1. *Saddhābuddhicariyā* (Faithful – intelligent temperament)
2. *Saddhāvitakkacariyā* (Faithful – speculative temperament)
3. *Buddhivitakkacariyā* (Intelligent – speculative temperament)

Triple Combination

4. *Saddhābuddhivitakkacariyā* (Faithful–intelligent – speculative temperament)

So, there are three moral temperaments on taking in single manner which are as:

1. *Saddhā cariyā* (Faithful temperament)
2. *Buddhi cariyā* (Intelligent temperament)
3. *Vitakka cariyā* (Speculative temperament)

On the other hand, by taking these three *kusala cariyās* in combination with two *cariyās* and then with three together, the total number of moral temperament is also seven.[25]

Types of persons/personality

After describing about *cariyā* in detail, Buddhaghosa has described the types of person on the basis of *cariyā*.

"….*Tāsaṃ vasena chaḷeva puggalā honti rāgacarito, dosacarito, mohacarito, saddhācarito, buddhicarito, vitakkacaritoti*."[26]

By using "*tāsaṃ vasena*" (according to these) – the author has said lots of things indirectly. "According to these" means, as *cariyā* has been described in very explanatory manner and since the classification of person is based on *cariyā* so, the person might also be classified in 63 types by taking *cariyā* in single as well as in combination manner of double and triple.

Since, if one understands the explanation pattern of *cariyā* he could understand personality also without brain storming because classification of personality is based on that of *cariyā*. Therefore by *tāsaṃ vasena* focus is on '*tasmā saṅkhepena chaleva cariyā veditabbā*'[27] ("therefore the kinds of temperament should be understood briefly as only six").[28] In the same way:

"*tāsaṃ vasena chaleva puggalā honti – rāgacarito, dosacarito, mohacarito, saddhācarito, buddhicarito, vitakkacarito ti*"[29]

So, there are six types of person also:

1. Person of greedy temperament
2. Person of hatred temperament
3. Person of deluded temperament
4. Person of faithful temperament
5. Person of intelligent temperament
6. Person of speculative temperament.

CONCLUSION

In modern concept, of temperament is influenced by the 'new information' but in *Visuddhimagga* no such concept is mentioned. The term '*cariyā'* doesn't carry the meaning of 'temperament' only but it is representative of all actions and ways of thinking. It has several meanings unlike narrow meaning of 'temperament' of western psychology. '*Cariyā'* is the term for a collective meaning that includes physical, mental and vocal activities and way of thinking of a person. The various meaning of *cariyā* in several texts of Pāli is not contradictory but shows its wide range of contextual meanings. There is no age factor in determining the nature of *cariyā.* Several ways of counting by combining *cariyās* highlight that in a person several *cariyās* are present that start playing role dominantly at different times or in different circumstances. It is for highlighting that not just single *cariyā* is found in a person but a person's activities and thinking is result of collective actions of different *cariyās* in different proportion. All the activities in any forms whether in present life or in past life or in future life are collectively expressed by *cariyā* in the Pāli canon. So, it could be said that *cariyā* is all the activities including physical, vocal and mental conducted by the human beings.

REFERENCES

1. The translation of '*Citta'* used in this work is either mind or consciousness.
2. '*Tattha cittaṃ tāva catubbidhaṃ hoti kāmāvacaraṃ rūpāvacaraṃ arūpāvacaraṃ lokuttarañceti*' – *Abhidhammatthasaṅgaho*, VRI: 01
3. "*Kāmāvacara*", therefore, means that which mostly moves about in the sentient realm, or that which pertains to the senses and their corresponding objects." (Thera, 1979, p. 25)
4. '*Sīlanaṃ lakkhaṇaṃ tassa, bhinnassāpi anekadhā*; *Sanidassanattaṃ rūpassa, yathā bhinnassanekadhā*'. (*Visuddhimagga*, 1995), VRI:1.6
5. '*Kammassa ṭhānanti kammaṭṭhānaṃ*' – *Paramatthadīpanī*, Myanmar: 413
6. *Abhidhammatthavibhāvinīṭīkā*. VRI: 83.
7. *Vinayapitake/Mahāvaggapāli. VRI: 13*

8. *Visuddhimagga*, 1955), VRI: 1.2
9. *Visuddhimagga*, 1955), VRI: 1.2
10. *This is second stoppage in the path of nibbāna*
11. Dhammapadapāli (Yamakavaggo), VRI:13
12. '*Tena vuttaṃ ''caritanti cariyā, samattiṃsapāramisaṅgahā dānasīlādipaṭipattī''ti - Khuddakanikāye/Cariyāpiṭaka-aṭṭhakathā*', VRI: 16.
13. '*Tattha caritanti cariyā, vuttīti attho*'- *Khuddakanikāye/Nettippakaraṇa-aṭṭhakathā*, VRI:181.
14. '*Atha vā caritanti cariyā, veditabbā*'- *Vinayapiṭake/Sāratthadīpanī-ṭīkā (paṭhamo bhāgo,.* VRI: 1.220.
15. '*Atha vā caritanti cariyā te rāgādayo cha mūlacariyā, saṃsaggasannipātavasena anekavidhā honti. Vinayapiṭake/Vimativinodanī-ṭīkā (paṭhamo bhāgo).* VRI: 1.48.
16. '*Atha vā caritanti cariyā veditabbā*'- *Visuddhimagga-mahāṭīkā,*VRI: 1.226.
17. '*Caritanti ciṇṇaṃ dānādipaṭipattiṃ*'- *Khuddakanikāye/Cariyāpiṭaka-aṭṭhakathā*, VRI: 18.
18. '*Caritanti pubbe kataṃ kusalākusalaṃ kammaṃ*'- *Khuddakanikāye/Paṭisambhidāmagga-aṭṭhakath,* VRI: 2.4.
19. '*Caritanti kāyādīhi abhisaṅkhataṃ kusalākusalaṃ. Caritanti kāyādīhi abhisaṅkhataṃ kusalākusalaṃ*'- *Sammohavinodanī (Vibhaṅga-aṭṭhakathā),* VRI: 432.
20. '*……..ambilattaṃ vā lavaṇattaṃ vā tittakattaṃ vā kaṭukattaṃ vā kasāyattaṃ vā madhurattaṃ vā''ti*' - *Milindapañhapāḷi* , VRI:56
21. '*Atha vā caritanti cariyā te rāgādayo cha mūlacariyā, saṃsaggasannipātavasena anekavidhā hont*' - *Vinayapiṭake/Vimativinodanī-ṭīkā (paṭhamo bhāgo),* VRI: 1.48.
22. '*ettha cariyāti cha cariyā rāgacariyā, dosacariyā, mohacariyā, saddhācariyā, buddhicariyā, vitakkacariyāti - Visuddhimaggo,* VRI:1.98
23. '*…….teseṭṭhi caritā daṭṭhabbā keci pana diṭṭhiyā saddhiṃ carusaṭṭhī ti* vaṇṇenti'– Abhidhammatthavibhāvanīṭīkā 1965, p. 237
24. '*Rāgādike tike satta….. Abhidhammatthavibhāvanīṭīkā*'- (Sumangalasami, 1965, p. 236)
25. '*sattasaddādike tike……. Abhidhammatthavibhāvanīṭīkā'-* (Sumangalasami, 1965, p. 236)
26. *Visuddhimaggo*, VRI: 1.98.
27. *Visuddhimaggo*, VRI: 1.100.
28. *(* Ñāṇamoli, 2010, p. 96)
29. *Visuddhimaggo*, VRI: 1.99.

BIBLIOGRAPHY

Primary Sources

(All the primary sources are cited from Chaṭṭha Saṅgāyana © VRI, 1995)

Abhidhammatthasaṅgaho

Abhidhammatthavibhāvinīṭīkā

Cariyāpiṭaka-aṭṭhakathā

Dhammapadapāḷi

Itivuttaka-aṭṭhakathā

Milindapañhapāḷi

Nettippakaraṇa-aṭṭhakathā

Paramatthadīpanī

Paṭisambhidāmagga-aṭṭhakathā

Sammohavinodanī (Vibhaṅga-aṭṭhakathā).

Sāratthadīpanī-ṭīkā

Vinayapiṭake/Mahāvaggapāḷi

Vinayapiṭake/Sāratthadīpanī-ṭīkā (paṭhamo bhāgo)

Vinayapiṭake/Vimativinodanī-ṭīkā (paṭhamo bhāgo)

Visuddhimagga-mahāṭīkā

Visuddhimaggo

Secondary Sources

Bodhi, B. (2006). *A Comprehansive Manual of Abhidhamma (Anuruddhācariyappṇī to Abhidhammatthsaṅgaho)*. Kandy, Sri Lanka: Buddhist Publication Society.

The Book of Discipline: Vinaya-Piṭaka (Mahāvagga) (Vol. IV). (1971). (I. B. Horner, Trans.) London: Luzac & Company LTD.

The Path of Purification (Visuddhimagga). (2010). (B. Ñāṇamoli, Trans.) Kandy: Buddhist Publication Society.

Sumangalasami. (1965). *Abhidhammatthavibhāvanīṭīkā*. (B. R. Shastri, Ed.) Varanasi: Baudha svadhyayasatra.

A Manual of Abhidhamma (Abhidhammatthasaṅgaho) (IV ed.). (1979). (N. M. Thera, Trans.) Kuala Lumpur: Buddhist Missionary Society.

Tertiary Sources

Malhotra, R. (2016). *Academic Hinduphobia: A Critique of Wendy Doniger's Erotic School of Indology*. New Delhi: Voice of India.

●

''प्रज्ञा''
नियम एवं निर्देश

1. ''**प्रज्ञा**'', जहाँ तक संभव होगा, वर्ष में दो प्रकाशित होगी : प्रथम अंक सत्रारम्भ के अवसर पर और दूसरा अंक मालवीय जयंती के अवसर पर।

2. ''**प्रज्ञा**'' पत्रिका में प्रकाशनार्थ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लेख/शोध प्रपत्र सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' के कार्यालय में प्रथम अंक के लिए 30 नवम्बर तथा द्वितीय अंक के लिए 30 अप्रैल तक पहुँच जाने चाहिए। शोध छात्रों के लेख/शोध प्रपत्र अपने निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष से संस्तुत एवं अग्रसारित होने चाहिए।

3. ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित लेखों/शोध प्रपत्रों के लेखकों को ''**प्रज्ञा**'' की दो प्रतियाँ दी जायेगी : प्रथम लेखकीय प्रति और दूसरी प्रतिमुद्रण की 10 प्रतियों के बदले में।

4. सभी प्रकार का शुल्क, सम्पादक ''**प्रज्ञा**'' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी-221005 के नाम भेजें।

5. **शोध-प्रपत्र/लेख के पाण्डुलिपि निर्माण सम्बन्धी दिशा निर्देश :**

   (क) संगणक (कम्प्यूटर) पर टंकित शोध प्रपत्र/लेख की एक प्रति सी०डी० के साथ ''**प्रज्ञा**'' कार्यालय में जमा करना होगा।

   (ख) पाण्डुलिपि ए-4 आकार के बाण्ड पेपर पर डबल-स्पेस में टंकित होना चाहिए। लेख के चारों तरफ 2 से०मी० की हासिया छोड़ें।

   (ग) **हिन्दी एवं संस्कृत भाषा में टंकित लेखों के लिए दिशा निर्देश :**

   ए.पी.एस.-डी.वी.-प्रियंका रोमन फॉन्ट, शीर्षक– 17 प्वाइंट ब्लैक, लेखक का नाम – 13 प्वाइंट इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट– 13 प्वाइंट, फोलियो – 11 प्वाइंट और पाद टिप्पणी 9 प्वाइंट।

   (घ) **अंग्रेजी भाषा में टंकित लेखों/शोध प्रपत्रों के लिए दिशा निर्देश :**

   'टाइम्स न्यू रोमन' फॉन्ट, शीर्षक – 14 प्वाइंट आल कैप्स काला, लेखक का नाम – 11 प्वाइंट सभी कैप्स इटैलिक ब्लैक, टेक्स्ट – 11 प्वाइंट ऊपर नीचे की पाद टिप्पणी और फोलियो – 9 प्वाइंट।

   (ङ) **टंकित पृष्ठ संख्या : अधिकतम 10 पृष्ठ।**

6. **लेखक का घोषणा-पत्र :**

   ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशनार्थ प्रेषित ''.....'' शीर्षक लेख/शोध प्रपत्र का लेखक मैं घोषणा करता हूँ कि—

   (अ) मैं लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है, और साथ ही अपने लेख/शोध प्रपत्र को ''**प्रज्ञा**'' जर्नल में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ।

   (ब) यह लेख/शोध प्रपत्र मूल रूप से या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इसे छापने के लिए भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है।

   (स) मैं ''**प्रज्ञा**'' जर्नल के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। ''**प्रज्ञा**'' में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापी राइट का अधिकार **सम्पादक** ''**प्रज्ञा**'' को देता हूँ।

   लेखक का नाम एवं हस्ताक्षर .....

   दिनांक एवं स्थान .....

   मोबाइल/टेलिफोन नं0 .....

●

JIM MORRISON AND THE MYTH OF THE AMERICAN 60S: A CRITIQUE OF COUNTERCULTURAL DIONYSIA

SHANKHADEEP CHATTOPADHYAY* & PROF. M.K. PANDEY**

The counterculture of the 1960s in America was not simply an era to live through the protest, contestation, radicalism and vigour as a unified effort of reconstructing the cultural history has always been a dominant factor throughout the period by constant initiation of new sensations and ideas through multiple cultural productions, rock music being one of its cardinal impetus. The stylistic forms of music in the sixties were very much expectant of some harmony and value that could be experienced in everyday life as well as functioning as a medium of action and symbol of solidarity. The inception of this cultural tension in post-war America is located in the 1940s when the entire US exploded with birth rates - the 'Baby Boom'. It was a time when countless youths were experiencing the consumer-oriented society on the backdrop of Cold-War conservatism and the fearful parental legacy, thus a large number of young intellectual minds were becoming extremely conscious about their belonging to the existing generation and expunging all the socio-cultural differences between them. These people were no passive mass at all and formed an active community who were connected by their unified motif of disaffiliation towards the mainstream culture. Amongst them were the 'Beatniks', musicians, songwriters, playwrights, social activists to name a few groups. An extreme dynamic attitude towards life on the collective consciousness of the mass obliterated the boundaries between work and play, shaped a new reality and produced a metaphysical comfort out of the stern Appoline rigour in mainstream society. And this clash of irreconcilable conceptions of life gave birth to such a consciousness which doesn't negate, deny, defer and repress the libidinous impulse anymore but blurs the limit of observation and delves deep into the orgiastic celebration of life. This impulse is, needless to say, 'Dionysiac', the primordial echo of the illimitable coexistence of nature and man, living the unmitigated life with extreme immediacy.

The myth of Dionysus remained on a symbolic and metaphorical plane throughout the sixties and has returned time and again by critics and philosophers like Camille Paglia, Norman O. Brown, Walter Fredrich Otto etc. to enlighten on its relation to society since its philosophical development in Nietzsche's *The Birth of Tragedy* in 1872. No other countercultural icon has been associated and caught up with more Dionysian impulse than Jim Morrison, the poet and lead singer of one of the most controversial rock bands in history – 'The Doors'. He was much ahead of his time, who questioned for perceptions, his words remained a mysterious and unexplained incantation for the entire generation he defined, which we often hear about but do not quite believe. His wild countenance insisted the audience get reckless over his Dionysian use of poetry which he saw as a form of continuation of tradition, history and art.

Unlike their contemporary San Francisco hippies and psychedelic-catchphrases he attempted to separate himself and his band to express a farfetched intellectual appeal through his words and music. Greil Marcus, the American cultural critic in his 2013 book *The Doors: A Lifetime of Listening to Five Mean Years*, has opined that,

> The Doors were not just kidding. There was the seriousness of intent that was thrilling on its own terms. There was a sense of consequences: to walk through the dramas being enacted on 'The Doors' was to take a chance, just a chance that you might not come out quite the same. That was what people wanted, that was what they hoped for; that was why they listened. That seductive promise was what they heard.[1] (p. 62)

In his extremely short lifetime, Morrison had self-published two volumes of poetry later to be combined into a single volume entitled *The Lords and The New Creatures* and two other volumes of poetry were published posthumously, *Wilderness: The Lost Writings of Jim Morrison* came out in 1988 and *The American Night* in 1990. His poetic genius transparently reflects the visionary quality of William

∗ Research Scholar, Deptt. of English, Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Prof. Deptt. of English, Banaras Hindu University, Varanasi

Blake, symbolic and surreal nature of Arthur Rimbaud, the avant-garde performative revelation of Antonin Artaud, the journalistic fashion of cultural commentary of Norman Mailer and most importantly the contradiction in artistic forces – 'Apollonian and Dionysian' duality of Fredrich Nietzsche. His writing is a creation of his own universe, a voyage to explore the unseen and unknown, an attempt to erase the thin line between art and life, a typical Dionysian longing to dissolve into the primal oneness. This is exactly the way Nietzsche defined the nature of a Dionysiac artist in *The Birth of Tragedy*,

> First of all, as a Dionysiac artist, he has thoroughly united with the primal Oneness, its pain and contradiction, and produces the copy of that primal Oneness as music, if we can rightly call music a repetition and recast of the world.[2] (p. 29)

Countercultural Dionysia and The Limits of Observation:

The Dionysian currents stirred deeply into the heart of American thought and culture due to more than one reason. A historical enquiry towards the mythical and symbolical value of Dionysus in the 60s declares that the antediluvian reaction against a society, which is debilitated by capitalism, orthodoxically sustaining hierarchies and feeling smug with achievements, is not the only reason behind the popularity of the rebel Dionysus. In his article "Dionysus Now: Dionysian Myth-History in the Sixties," John Carlevale states that "from the arcane depths of literary history, myth and symbol here Dionysus briefly surfaces into the American mainstream as a cautionary psychoanalytic parable"[3] (p. 102). The socio-cultural urgency of that era, to cite Carlavale's quote from the famous American cultural commentator Benjamin Demott, "created vehicles and instruments of sensation on an order of arousal power never before legitimized by the consent of an entire society" (p. 102). A constant conflict between the faculty of 'reason' and 'emotion' on the collective consciousness of the mass was seeding due to the rampant expansion of technocracy and extreme law-abiding nature of the society. The tyranny of institutional order nurtured against the backdrop of the 'Civil Right Movements' and 'Vietnam War' fostered a kind of social mise en scène for the singers and songwriters along with the Beat poets to produce a demotic force in their artistic production to put the value of rationality in the troubled and existentially concerned American psyche who had consciously surrendered themselves before the almighty state and its nationalistic fervour.

Ayn Rand, the Russian-American writer and philosopher, observes this situation in her 1971 collection of essays, *The New Left: The Anti-Industrial Revolution*, later to be published as a book in 1999 under the title *Return of the Primitive: The Anti-Industrial Revolution*:

> It is not true that reason and emotion are irreconcilable antagonists or that emotions are a wild, unknowable, ineffable element in men. But this is what emotions become for those who do not care to know what they feel, and who attempt to subordinate reason to their emotions. For every variant of such attempts—as well as for their consequences—the image of Dionysus is an appropriate symbol.[4] (p. 351)

In the opinion of Ayn Rand, "the American people are predominantly Apollonian; the "mainstream" intellectuals are Dionysian" (p. 358). The anti-repressive practices aroused a cluster of concerns throughout the counterculture of the 60s, where 'sex, drugs and rock n' roll' triumphed over the modern American technocratic civilization as Carlevale explained in his 2005 article 'Dionysus Now',

> Sex became the overcoming or restrictive genital sexuality through 'polymorphous perversity'; 'drugs' became the royal road to a visionary intoxication that could disclose a new reality and erase the boundary between work and play, reality and fantasy; 'rock n' roll' became not just the music but the pulse-beat of a new kind of mass community that depending on your point of view, portended the birth of either a utopia or a totalitarian nightmare. (p. 78).

This actually produced a space of public voice, the alliance of music and lyrics created together with a loud voice of concrete social experiences and cultural contexts, embedded in particular structures of everyday life. American social critic and writer Camille Paglia stated in her 1992 collection of essays entitled *Sex, Art and American Culture*, that "[t]he dark poetry and surging Dionysian rhythms of rock have transformed the consciousness and permanently altered the sensorium of two generations of America born after world war two"[5] (p. 35).

The principal action of the age was dedicated to building touchstones, something remarkable like a saga of liberation. Essentially the iconic emergence of 'The Doors' in 1965 to their final appearance with Jim Morrison in 1971, this few years, have left an inestimable significance to add up to the construction of cultural history by pioneering an experiential narrative structure in their music and poems. Greil Marcus questioned this phenomenon in his book, *The Doors: A Lifetime of Listening to Five Mean Years*, that what are the constituents of history that hold the record of a culture, simultaneously he goes on saying;

> It means to make images and sounds, to launch ideas and sensations that feel absolutely new even if they are not. Cultural history is a matter old forms dressed in new clothes that turn history in a new direction. Cultural history may mean to triumph – to achieve world-wide and enduring fame, even to affect the lives of countless people long after you are gone, as 'The Doors' did. (p. 57)

Dialectics of Desire in Urban Imagination of the 60s:

The need for analyzing the dialectics of desire arises from the tyranny of a clandestine socio-cultural attitude against the free expression of libidinous energy against the 60s political disruption. Neo-Freudians and Marxists like Norman O. Brown and Herbert Marcuse had opened the gate to critique the restricted attitude to sex and amalgamated Freudian 'perversity' and the Marxist notion of 'capitalism' to shape a unique and revolutionary enquiry into the unconscious of the human mind. Brown's *Loves Body* (1966) and *Life Against Death* (1959) on the one hand and Marcuse's *Eros and Civilization* (1966) on the other had risen the importance to explore the other side of the human desire that resulted in 1969's historic 'Stonewall Riots' – 'The Gay Liberation Movement' and the introduction of the 'Contraceptive Pill'. The entire society was celebrating the hymns of liberation not only by conquering the nihilistic fervour of life but they realized that there's a motif lies beneath the embracement of the nihil and absurd and that is to move the society away from the Apollonian rationalization, by seeing absurdity as a captivating force in human life which leads to a subliminal union of the self with its primal oneness. Out of a myriad of subjects that Morrison had dealt with in his writings, I will focus particularly on his conception about 'cinema', which he thought has the most vital energy to portray the unconscious, and 'city', from the very urban setting to where he belonged.

Morrison's visionary interpretations of Cinema and its value to modern life reflects a longing for the ineradicable human instincts which are subject to transformation. It certainly secures his place as an 'Outsider' on the high-voltage technocracy of advancement. Colin Wilson in his 1956 book, *The Outsider*, claims that "[t]he Visionary is inevitably an Outsider. And this is not because visionaries are a relatively small minority in proportion to the rest of the community…It is for the very different reason that he starts from a point that everybody can understand, and very soon soars beyond the general understanding"[6] (p. 222). The very idea of this 'visionary' lies underneath the motif of separation of the individual from society to cultivate the faculty of reason for an advanced outlook towards humanity. And this costs no less price to Morrison, because being a living symbol of Dionysus he had to get succumbed into the 'pain and contradiction' of a limitless existence, that is the 'primal suffering'. This idea reflects transparently when he writes, "The appeal of cinema lies in the fear of death"[7] (*The Lords*, p. 47). Morrison was an avid reader of Dostoyevsky and Russian literature, since his visionary realm was much similar to that of Raskolnikov, and seeks the meaning of life in pain and suffering, hence, he rejects a passive way of taking part in the perception of art and preferred a direct experience from the depth of the being by actively engaging the self with the artistic form. After encountering the French New Wave filmmakers like François Truffaut, Jean-Luc Godard, and Éric Rohmer on one hand and Artaud's 'Theatre of Cruelty' on the other, his feeling of powerlessness and helplessness of human beings on the face of naked reality got a new dimension. He saw in an art form like cinema, a capability to represent the directorial dominance on the subjects. The new wave French films were spectacularly surrealistic and avant-garde in nature, they redefined the use of the movie camera by abnormally shifting its focus directly to the audience with the rapid changes of scene. That signifies the need for engaging the collective consciousness on the other side of the movie screen with that of the directorial intent, which is like the way an author governs its subjects towards the end. Naturally, this revolutionary film technique shook the mainstream ideas of cinema that maintained a certain distance from dealing with the viewer's psyche. Another poem captures this motif of engagement,

> Cinema is the most totalitarian of the arts. All/ energy and sensation is sucked up into the skull, / a cerebral erection, skull bloated with blood. / Caligula wished a single neck for all his subjects/ that he could behead a kingdom with one blow. /Cinema is the transforming agent. The body/ exists for the sake of the eyes; it becomes a/ dry stalk to support these two soft insatiable/ jewels. (*The Lords*, p. 44)

This very poem reflects a strong desire of melting with the subject with insatiable thirst in the eye for the pure perceptions of surroundings, to dwell into an ecstatic Dionysiac state where all the habitual boundaries of existence are obscured. Here the physical corpus witnesses transmigration of self from the very libido which finds an alternate reality of images and symbols to hover over, because the cathartic purgation of fear releases the self from the repellence of the absurd and enables it to derive pleasure out of that artistic integrity. He shared his feeling of suffering and pain with the world, which is according to Nietzsche, is an act of a wise Dionysiac mind, "sharing his suffering, it is also wise, heralding the truth from the very heart of the world. This is the origin of that fantastic, apparently repellent figure of the wise and inspired satyr" (p. 44). Cinema has always been a phantasmagoric other world to Morrison where a 'masculine will' can be found into the total substitute of sensory perceptions. Because, cinema, according to Morrison, is an "androgynous machine, a kind of mechanical hermaphrodite" (p. 46) The following poem expresses this motif with clear insight,

> Each film depends upon all the others and drives
>
> You on to others: Cinema was a novelty, a scientific toy,
>
> until a sufficient body of works, had been
>
> amassed, enough to create an intermittent other
>
> world, powerful, infinite mythology to be dipped
>
> into at will. (*The Lords,* p. 46).

Thus, not only negating the conscious barriers of reason in the act of perceiving any artistic phenomenon but also the echo of primal pleasure of the subject that is directly experienced in pain, is actually the Dionysiac reception of the art and that was firmly established by Morrison time and again through several metaphors and images. While these musing shows the writing of an intellectual university film enthusiast, a chain of his other poems from *The Lords* and a selection of songs from 'The Doors', have vividly centered around an ancient and sacrificial motif of 'exchange', because his radical Dionysiac mind speculated the unified and unchanging motif behind the human evolution, and that is 'Will', a wild Dionysiac impetus of abstraction from reality.

On the other hand, he envisioned 'city' as a metaphorical representation of society where this 'will' can be exercised. Unlike the Eliotian crooning of an alienated induvial inside the private sector of life, where the subject goes on mooring over the lacunas and lamentation of an unreal city, he desired for a mass invitation towards the birth of a new city. "What sacrifice, at what price can the city be born?" he asks in one of his poems (*The Lords,* p. 20). Why the resurgence in point of view was essential to experience urban life, was it because his nauseate vision of the existing metropolis, where, the voice is full of cracks and burrs, and the life moves with 'sex at its centre', like, he stated in one of his poems: "The city forms-often physically, but inevitably psychically-a circle. A Game. A ring of death with sex at its centre" (*The Lords*, p. 4). Like Nietzsche's 'Zarathustra', Morrison's city subjects are always in an anxious search for the 'Übermensch', for deliverance, because his portrayal of urban life is extremely hedonistic, ravenously chaotic and expresses an instinctive desire of violence. Morrison embraced these aspects in an unshrinking fashion to convey his raging hubris and uncontrollable dissipation against the vicarious urban existence. One of his early poems depicts this instance, "Destroy roofs, walls, see in all the rooms at once. /From the air we trapped gods, with the gods' /Omniscient gaze, but without their power to be /Inside minds and cities as they fly above" (*The Lords* p. 25).

Morrison's depiction of city scenes clearly expresses his visionary genius under the experimentation with different kind of drugs, states of isolations and sexual encounters. His methodical search for a transformation and self-awakening through rituals and intoxications undoubtedly set his countenance as the leader of the countercultural Dionysia, who by experiencing the primordial pain and suffering, expressed his violent and chaotic desires for a change of the world. This endeavour portrays his countenance as of an 'Overman', whose Dionysiac

energy is summoned by the youth subculture for a better recruitment of natural genius and whose visionary guidance lead the entire clan of disenfranchised people to form their urban identity. Morrison experienced the city scenes majorly over Los Angeles, where he spent most of his musical careers and that shaped the most fitting epitaph for his band and him – his sixth studio album for 'The Doors' – 'L.A Woman', which came out in 1971. The seven-minute-long title track of the album is simply a mash note on the city of Los Angeles. Greil Marcus compares the album to Thomas Pynchon's *Inherent Vice*- a detective narrative set in 1970s L.A. Marcus writes, "It has the textures of ordinary life, and, everything about it is slightly off, because the epic is what it's reaching for, but without giving itself away, without makeup, cool clothes, photo shoots or any of the other trappings of Hollywood glamour" (p. 11). Now, let's look into the lyrics of the song as it goes:

> Well, I just got into town about an hour ago/ Took a look around, see which way the wind blow/ Where the little girls in their Hollywood bungalows/ Are you a lucky little lady in The City of Lights? /Or just another lost angel?... Motel money murder-madness/ Let's change the mood from glad to sadness"[8]. (*L.A Woman*, 1971)

The song not just signals for a sordid American apocalypse, but delivers an inciting incantation of Dionysian refusal, a desire to use violence and madness to transcend the social stagnation and fear of alienation as if any engagement with the very thought of this motif could bring a change in the urban spectacle. All the characters in this song, like the city, the woman and her desired man, are inextricably fabricated to each other's psyche. That is actually the process of gradual connection of the city subjects, who were a bunch of disintegrated people, who were existing without any motif of association. Certainly, the horrific portrayal of transformation of a 'city of light' to a 'city of the night' does not only embed in personal connotation but violently seeks for a spiritual resurrection of the city consciousness. What seemed real here to Morrison is the subjective passions and stimulating will, which is the desire of violence, directed at a particular objective, to create a new myth of the city.

Conclusion:

The American counterculture of the 60s has witnessed the inevitable suffering of Dionysus in all possible forms of artistic production. "In the sixties", Carlevale writes in his article 'Dionysus Now', "Dionysus suffered not from an anemia but from a hypertrophy of symbolic content", that is promulgated by the implicit Dionysian narratives in rock music, and that provided such a loud summon of an apocalypse, that many other pop-artists began turning away from their introspective abstraction and focused on the depiction of blatant imagery on their respective choices of art. Countercultural music tradition is a tradition of the constant proliferation of this Dionysiac ecstasy and holds a very crucial juncture of the contemporary cultural history which is identified with anti-repressive practices. With the emergence of Morrison and 'The Doors' in the mid-wave of the counterculture in 1965 and on the backdrop of the sexual liberation movement, this celebration of 'primal ecstasy' outstretched the climax, which is obviously inimical of the Apollonian reason and structured performance principal.[9]

Morrison's music and poems orchestrated and determined the motif of this everyday language, that has created a possibility to form a different kind of social communication altogether, perhaps the other side of the language, because his image is nothing but a different objectification of himself, his artistic self, as Nietzsche would affirm, is not the state of a "waking, empirical or real man, however, but rather sole, truly existing and eternal self that dwells at the basis of being". As he ceaselessly drained himself enacting the same image in the rock n' roll theatre, his "lyric genius sees right through the very basis of being" (p. 30) and created a wonderful blend of will and perception, a combination of dithyrambic salvation in each of his frenzied performance over the Dionysian assemblage.

Unruliness is the exclusive nature of the god Dionysus and his oracles were disruptive and sang the hymn of primordial chaos by dissolving the boundaries between the 'player' and 'spectator', which establishes that all the collective efforts behind the hymn are united in their belief that individually they are all the rational subjects and have a will to choose. Jim Morrison resuscitated the cult of Dionysus in the myth of the 60s, unlike Nietzsche, he never bent to an artistic impulse guided by the wisdom of Apollo and Dionysus both, but his music, poetry and performance have always overpowered the Apollonian suppression for the most natural and dynamic way of existence which demands an absolute acquiescent to the power of 'will'.[10]

Reference

1. Marcus, G. (2013). *The Doors: A Lifetime of Listening to Five Mean Years*. Hachette UK.
2. Nietzsche, F. (2003). *The Birth of Tragedy: Out of the Spirit of Music*. Penguin UK.
3. Carlevale, J. (2005). Dionysus Now: Dionysian Myth-History in the Sixties. *Arion: A Journal of Humanities and the Classics*, 13(2), 77-116. http://www.jstor.org/ stable/ 29737263
4. Rand, A. (1999). *The Return of the Primitive: The Anti-Industrial Revolution*. Penguin.
5. Paglia, C. (1993). *Sex, art and American culture*. United Kingdom: Penguin.
6. Wilson, C. (2014). *The Outsider*. Diversion Books.
7. Morrison, J. (1970). *The Lords and The New Creatures*. Simon & Schuster.
8. Sugarman, D. (2006). *The Doors: The Complete Illustrated Lyrics*. Hyperion
9. Davis, S. (2011). *Jim Morrison: Life, Death, Legend*. Random House.
10. Janaway, C. (2010). *Schopenhauer: The World as Will and Representation.* Cambridge University Press.

●

SPIRITUALITY AND RELIGION IN COMPETITIVE SPORTS

DR. ARCHANA SINGH*

Spirituality and Religion is a growing discipline in sport. The increasing interests in religious and spiritual aspects of sport are very positive. The Olympics and sport in general include elements that appear as a substitute for religion for some because of an inner transcendental experience[1]. Some athletes and spectators have declared that sport is their religion. However, sport is not a religion because it does not center on a supernatural being, creator, or sustainer of life [2]. Religion may be defined as cultural system of designated behaviours and practices, worldviews, texts, sanctified places, prophecies, ethics, or organizations that relates humanity to supernatural, transcendental or spiritual elements. Religious practices may include rituals, commemoration, sacrifices, festivals, feasts, trances, meditation, prayer music, art, dance or other aspect of human culture. Traditionally, faith in addition to reason has been considered a source of religious beliefs.

Spirituality is a worldview and a way of life based on the belief that there is more to life then what meets the senses, more to the universe than just purposeless mechanics, more to consciousness then electrical impulses in the brain and more to our existence than the body and its needs. Spirituality usually involves the belief in a higher form of intelligence or consciousness running the universe, as well as life after death. It exists to satisfy the deeper human thirst for meaning peace, mystery and truth.

Spirituality: The Hidden Source of Power in Sports

There is a pronounced - though usually hidden - psychic and spiritual aspect to sport, which the best sportsmen are familiar with, even though they may not use the word 'spiritual' to describe it. In fact it's possible to say that - depending on the definition of spirituality - the desire to experience spiritual well-being is one reason for playing sports. Sport is important because it's one of the most readily available ways of generating the state of being 'flow'. This is the state where attention is completely absorbed in an activity, and awareness of surroundings. It's not the passive absorption of watching television or playing computer games, but the 'active' absorption player experience when fully concentrate and make powerful mental efforts - when perform challenging, stimulating, activities like playing sports. 'Flow' enables sportsman to take control of one's own consciousness, and step beyond the 'psychic entropy' which is the normal state, when worries, desires and other kinds of chaotic 'thought chatter' run through the minds. Player experiences an inner peace, and a sense of being more 'energized' or alive than usual. When a player plays the game, a general sense of well being, a feels of complete control over the playing, during performance, a strong feeling of relaxation and calmness and no worries of failure, feeling of enormous power to effect something of grace and beauty. These states don't involve experiencing any transpersonal or transcendent reality but it is a kind of 'base level' spirituality, the point when spiritual experience begins. 'Flow' corresponds to the state which the traditional eight-limbed path of yoga refers to as dharana - usually translated as concentration - which comes before the deeper spiritual states of dhyana (meditation) and with the divine). Once a sportsperson is 'locked into' a state of flow, his or her absorption might intensify samadhi (union further, until it reaches a state which is similar to dhyana. At this point unusual things may happen. Psychic and paranormal abilities emerge naturally in higher states of consciousness, as a 'side effect' of spiritual progress, and sportspeople occasionally experience these.. These are moments when suddenly everything 'clicks' and they shift to a higher level of performance and become capable of astounding feats. Without even trying very hard, everything seems naturally and inevitably perfect. Time moves slower than normal - in fact this is often the main reason why the player is capable of such astounding feats, because he or she has more time to play with, more time to anticipate his opponents' actions and to position himself [3].

Although peak experiences, characterized by intensive joy, and flow, characterized by an

* Professor of Physical Education, Mahila Mahavidyalaya, Banaras Hindu University, Varanasi

intrinsically rewarding experience, have attracted sport psychologists' main attention, other phenomena are also connected to these human experiences. One of them is "peak performance," which, in contrast to habitual behavior, is defined as superior, high-level functioning and the using of human potential productively based on concentrated effort[4]. While peak experience and flow are perceived as positive and joyful experiences, peak performance can be triggered by a crisis event that may be life-threatening. Peak performance of athletes is associated with an intense focus on the activity, not the outcome[5]. Flow is described by many athletes as being "in the zone": a state of harmonious union of body and mind wherein the two work together effortlessly, leaving the individual with an undeniable feeling that something special has occurred [6].

Experiences like these are usually temporary, but it seems that the best sportsmen are always in that state' to a degree, or at least have the ability to slip into it. At this Dhyana level, other types of strange phenomena can occur too. Many distance runners, feel glimpses of the inside of their own bodies while running. Short-distance runners, on the other hand, often experience a phenomenon called 'tipping', in which they feel that they are rising into the air and becoming extremely light as they run. More dramatically, an athlete might feel a sudden inrush of great strength and energy, as if they've made contact with a giant 'energy reservoir' inside them which is normally inaccessible. Players seems to make contact with this new 'source of power' as a result of making powerful efforts of will, but this can also occur spontaneously in states of deep absorption. Advanced practitioners of martial arts such as Judo and Karate are traditionally expected to perform astounding feats - such as smashing bricks with their bare hands, or knocking over opponents with the lightest of touches, or perhaps without touching them at all. The prerequisite for performing these feats is to cultivate a state of intense absorption, which enables them to 'tune in' to a more subtle and powerful form of energy. Patanjali, whilst describing the amazing paranormal powers accessible through spiritual practice, states that these are dangerous distractions, and can easily lead individual away from true spirituality. But sports can - if only rarely – take players beyond the psychic level, and give them a glimpse of Samadhi, or a mystical state of union with the cosmos.

Sport has the Seeming Power to Generate Spiritual States:-During meditation by sitting in a quiet place and closing the eyes sportsperson have already 'plugged' three of the normal ways in which consciousness-energy drains away (processing information, interacting with other people and activity). Successful meditations plug the first and most significant 'energy leak': the thought activity that runs through our mind. As one concentrate on the mantra (if that is the kind of meditation practice) this 'thought chatter' naturally fades away until- hopefully- it stops altogether, and experiences a sense of complete mental stillness and peace. And this means, that there is a higher than normal level of consciousness-energy within us. One should retain it; therefore it's able to rise to the highest chakra, at the crown of the head. All of this results in a spiritual state of being. Something similar can happen during playing sports. The activity or game itself can have the same function as a mantra in meditation. It focuses the attention. It turns the attention off to everything outside it, and as a result the level of consciousness-energy that one give away drastically reduces. As a result there is an intensification and purification of consciousness-energy inside, which equates with states of Dharana, Dhyana and perhaps even Samadhi.

Religion and Spirituality in Sports: - Religion is understood as a complex intersection of ideas, behavior, and social phenomena (organizations, institutions) that help people with their contact to sacred and holy reality. Religions vary in their system of beliefs, practices, rituals, social hierarchy, and connectedness to the divine. Conversely, spirituality can be practiced in religious as well as nonreligious form, and social organizations, cultural products, and other religious elements are not as important. Whereas the element of sacred is a central point for religion, existence and authenticity are key for spirituality, characterized by the vertical dimension of human life, high ideals, and deep ideas[7]. Contrary to religion, spirituality is an inner part of sport, movement, and physical activities. Internal sport values should be seen as spiritual values, for example, overcoming one's limitations by maximum performance, courage, honesty, friendly bonds with opponents, and principles of fair play. Spirituality in sport should be visible in the natural dimension of the personal authenticity of players and referees, interpersonal relationships, the search for deeper meanings in such activities, and transcendence in the level of celebration.

The spiritual dimension of sport should be evaluated as a unique human experience and without any association with religion but providing a spiritual depth to our everyday lives[8]. Human movement activities are potentially more influential than ordinary routines. This kind of reported nonreligious spirituality confirms a change of time and space, that is, a change of consciousness toward an extraordinary state that is different from the normal state. Notably, sport offers a natural way of maintaining the body and personality suitable for this altered state of the human being. Sport has qualities that can be described as a cultic act. Movements during physical activities in organized conditions of competition are predisposed to the dramatic power of ritual and religious metaphor. They are full of symbolism and imagery, which should be a source of catharsis, similar to art. However, sport transcendence is the experience of escaping from everydayness toward festive celebration; however, it cannot reach the sacral world of deity. For this reason, the term spirituality is more appropriate than religion in sports.

Religion and Olympic Games

Religion and Ancient Olympic Games:-When discussing sport activities across history, it must be emphasized that human movement activities in ancient civilizations were not sport as we understand it in the 21st century. Often these activities were part of religious cult practices. From the time of Homer [9], the organization of games and religious funerary rites[10] were occasions for contest in different sport disciplines, like boxing, fighting, running, pike combat, discus throwing, bow shooting, and javelin throwing. Fighting was probably the oldest sport. Dances often played a part in magic and religious acts in every society, connected to ideas about the cosmos[11]. The ancient Olympic Games represent a long history of a religious celebration. The Olympic Games were celebrated for Zeus and were a demonstration of the religious experience of ancient Greeks[12]. Sport competitions in Olympia were probably only on the margins of the cult realm in the first centuries of Olympia's existence, in which the goddess Hera played the primary role.

Religion and Modern Olympic Games:-Athough Coubertin wanted to revitalize an old Greek Olympic idea with its religious sentiment and spiritual symbols, modern Olympism does not maintain the mythologized ideal of the ancient Greeks but instead retains characteristics from the end of the 19th century. The aim and purpose of the new Olympic Games was not a religious ritual celebrating the gods (or God) but a sport competition that was an educational ideal of human development. Coubertin was convinced it was possible to identify Olympism with religion, as his term religio athlete evidences. Olympism lis "the religion of energy"[13], and athletes became "a sort of priest" in the "religion of the muscles"[14]. Consequently, different symbols of the Olympic festivities (Oath, ceremony, Olympic fire) should be seen as quasi-religious sentiment, symbol, or metaphor. Additionally, such terminology is a sign of ideology, an artificial artifact, "Olympism as religion is an idolatry"[15].

Religious Issues in Sports

The study of the diversity of religions and spiritual practices in sport is more noticeable now than in the past and can help sport coaches and professionals provide psychological care to athletes and better understand the religious athlete on the field. Athletes are often seen pointing to the heavens after crossing home plate following a home run or thanking God in postgame interviews. However, the connection between sports and God (or the gods) actually goes back to the ancient Greeks, if not earlier. In the fifth century B.C., the Olympic games were always played to placate or to praise the gods.

Sport as an Instrument of Religion:-Sport can be considered a suitable instrument for religion; however, religion is not an internal and integral part of sport, and people bring their own religion into the sport environment. Religion in sport should not, however, be evaluated negatively. Sport can be a space for the presentation of religious values. When love is recognized as the greatest religious virtue, then such religious utilization of sport activities should be accepted as a positive aspect of sport by agnostics and atheists [16].

Religiosity Contributes to Athletes Well Being:- Although one can see sport as a specific sacred religious phenomenon,[17], sport itself is a nonreligious human activity, which can have some connection to religion through athletes and their religious faith and beliefs. There are also visible interrelations between sport identity and religious identity, as religiosity (beliefs, faith, practices, rituals) affects the formation of the role of athlete, including training and competing[18]. Therefore, it is very important to know various religious associations with sport because

religion should help athletes to cope with suffering and stressful situations that accompany sport. This is particularly vital in elite sports, where a dominant competitive sport culture—an excessive importance on winning, acceptance of physical injury risk as part of the game, striving for social status, treating opponents as enemies, and so on—could transform into a serious personal crisis for some religious people.

Various Types of Spiritual and Religious Practices Utilized in Sports

A-Superstition:-The sport environment is very predisposed to accept repetitive and ritualistic superstitious behavior as part of sport activities. Superstitious behavior falsely and irrationally links two unrelated events as the product of magic and paranormal superpowers and implies that athletes or fans can influence this power via specific food, clothing, and so on. Superstitious behavior often takes the form of rituals involving certain dress, like wearing only a "lucky" pair of socks, jersey, or underwear or the same swimming goggles during a game; food, such as chewing one specific type of gum or eating poultry before every game; or other activities, like talking to the goalposts or net, sitting in certain seats, not shaving, taking specific baths before a game, listening to a certain song before an event, or using magical charms or talismans. Different sports report some commonalties in superstitious rituals; however, each sport also has specific rituals that correspond with personalities and personal belief system[19]. Superstitions are full of symbolic values and differ from other repetitive actions, like pre-performance routines. Such rituals are used to decrease feelings of anxiety, uncertainty, shame, and embarrassment and to cope with pressure[20]. They can help those who wish to have a feeling of control in uncertain, unstable situations, although there is no logical influence or causal link between the behavior and the performance. Superstitious rituals can be personalized for an individual athlete or may be team-generated and performed by the larger group. Not only athletes themselves but also fans perform superstitious behaviors.

B-Prayer:- Prayer and other religious and spiritual practices are a very important part of psychological coping strategies used by athletes. Religiosity is culturally and socially constructed, and prayer plays a key role in the sport life of athletes from various countries. Praying is a religious, not a magic or superstitious, behavior. Through prayer, athletes try to transcend the profane everydayness into a more sacral, holy sphere to contact God (or a higher power, spiritual entity). For athletes, prayer is used especially before as well as during and after a competition, and the frequency of prayer increases as the importance of the performance increases[21]. Sport and religion should be seen also as the confluence of praying and playing, a revivification of play and expressions of piety[22]. Prayer is the most common religious practice utilized in sport as a technique for coping with uncertain and stressful situations, nervousness, and anxiety, and as a motivational device, especially at higher levels of competition, which is why coaches allow athletes time for prayer if necessary. Praying in sport fulfills four purposes of athletes[23] which are as follows:-:

a-**Prayer Related to Performance**:-Performance-related prayers to cope with stress, nervousness, and tension and to ask for safety and to perform to one's best ability—prayers utilized before, during, and after competitions.

b-**Prayers Related to Routine:-S**pecific group and individual rituals performed using the same pattern each time for a game.

c-**Prayer for Thankfulness**:-Thanks and appreciation for talent, ability and performance.

d- **Prayers for Acceptance of Gods Will**:-Acceptance of outcome as what God wants.

Prayer is not only a personal and private silent activity but also a collective ritual. Prayers that sporting behavior[24], so athletes, coaches, and psychologists should differentiate among variants of praying in sporting contexts instead of recommending general prayer. However, because the majority of athletes do not pray for a win but for safety, ability, and to give concern winning are in a different moral category than, for example, prayers for playing one's best. This kind of praying, as well as asking for the avoidance of injury, can be considered ethically glory to God [21], coaches may encourage religious athletes to practice their religious rituals as a part of fair and ethical psychological and spiritual care in sport.

C-Other Religious and Spiritual Practices in Sport:-Other religious and spiritual practices related to superstitions and prayer is also utilized in sport. Many of them come from Eastern types of spirituality, like Zen Buddhism or yoga[25]. For example, meditation techniques and other forms of relaxation,

contemplation, deep breathing, and breath control as well as reading religious books like Geeta, Ramayana, etc. are frequently used as coping strategies.

D-Sport Consulting:-Religious practices within sport should be strictly voluntary. However, the integration of religion and spirituality into sport training should be perceived as part of a framework of positive mental health, personal growth, flourishing, and well-being enhancement. Athlete-centered models of sport psychology can justify the importance of spirituality and religion to personal growth through sport and exercise activities[26]. Religious athletes in a sport environment should adhere to ethical principles that respect athletes' beliefs and values, understand how religion impacts others, and show integrity, honesty, competence, and concern for the well-being of others[27].

E-Other Disciplines and Theology of Sport:- Theology of sport looks for meaning in sport activities and their connection to God. Religious belief and faith are necessary conditions for active participation. This specific discipline usually refers to the Scripture, and athletic metaphors, such as running the race, fighting the good fight, and training in righteousness. Sport is also evaluated from this standpoint because it is not viewed as useful on its own but as a symbol, metaphor, or parallel for understanding religious life. Sport, as a microcosm of life, is more than a game and less than a God[28]. Sport should be perceived as an auto telic activity that has everything to do with human identity in relationship to God and God's creation as an unnecessary yet meaningful reality; this is also a delimitation of sport games[29]. Sport theology proposes a balanced evaluation of sport based on acknowledgment of its positive values as the development of bodies, a contribution to mental and physical health, and the moral development of the athletes through fair play that is, learning to be honest and not to win at any cost. At the same time, the theology of sport criticizes its negative aspects, for example, doping or sport as a means of earning money[16].

Conclusion:- Sport is a kind of spontaneous spiritual practice and for those who, for cultural or social reasons, don't have the opportunity or the desire to follow an actual spiritual path, it's probably very significant in this regard, since it's a way of adding a spiritual dimension to their lives. The spiritual essence of sports is rarely linked with the physical performance and competitive outcomes of sport. But as most fundamental and pure form, sports is spiritual, as it raises the human condition to a higher level of personal awareness and interpersonal consciousness. Because sports are spiritual as well as physical, it can lead an athlete to personal transfiguration. In sports spirituality act as hidden source of power and religious practices utilized as prayer and superstitions. In sports athlete utilizes spirituality and religion as various purposes like for coping from stress and tension, for thanking God and acceptance of outcomes as what God wants and as rituals and for performance. To follow a spiritual path, activities like sport should still be important. In the end the connection between sport and spirituality reminds that instead of just being 'spiritual' for the half an hour or sit down to meditate, one should try to integrate spirituality into every aspect of lives.

References:-

1. Nissiotis, N. (1980). Olympism and religion. In O. Szymiczek (Ed.), Report of the international sessions of educationists 1973–1977–1979 Ancient Olympia (pp. 171–181). Athens, Greece: Hellenic Olympic Committee.
2. Collins, M. (2014). Sport, religion, wellbeing, and Cameron's big society. Implicit Religion, 17(2), 139–163.
3. Ivo Jirásek , (2018) Religion and Spirituality in Sports https://doi.org/10.1093/acrefore/9780190236557.013.149.
4. Privette, G. (1983). Peak experience, peak performance, and flow: A comparative analysis of positive human experiences. Journal of Personality & Social Psychology, 45(6), 1361–1368.
5. Jackson, S. A., & Roberts, G. C. (1992). Positive performance states of athletes: Toward a conceptual understanding of peak performance. Sport Psychologist, 6(2), 156–171.
6. Jackson, S. A., & Csikszentmihalyi, M. (1999). Flow in sports: The keys to optimal experiences and performances. Champaign, IL: Human Kinetics.
7. Jirásek, I. (2013). Verticality as non-religious spirituality. Implicit Religion, 16(2), 191–201.
8. Hutch, R. A. (2012). Sport and spirituality: Mastery and failure in sporting lives. Practical Theology, 5(2), 131–152.
9. Homer. (1992). The Iliad (R. Fitzgerald, Trans.). London, UK: Campbell.
10. Burkert, W. (2004). Greek religion: Archaic and classical (J. Raffan, Trans.). Oxford, UK: Blackwell.
11. Rappenglück, B. (2014). Cosmic dance: Correlations between dance and cosmos-related ideas across ancient cultures. Mediterranean Archaeology and Archaeometry, 14(3), 307–317.
12. Mikalson, J. D. (2005). Ancient Greek religion. Oxford, UK: Blackwell.

13. Müller, N. (2000). Coubertin's Olympism. In N. Müller (Ed.), Pierre de Coubertin 1863–1937 Olympism: Selected writings (pp. 33–48). Lausanne, Switzerland: International Olympic Committee.

14. Coubertin, P. (2000). The philosophic foundation of modern Olympism. In N. Müller (Ed.), Pierre de Couberdtin 1863–1937 Olympism: Selected writings (pp. 580–583). Lausanne, Switzerland: International Olympic Committee.

15. Moltmann, J. (1981). Olympism and religion. In O. Szymiczek (Ed.), Report of the twentieth session of the International Olympic Academy at Olympia (pp. 81–88). Athens, Greece: Hellenic Olympic Committee.

16. Jirásek, I. (2018). Christian instrumentality of sport as a possible source of goodness for atheists. Sport, Ethics and Philosophy, 12(1), 30–49.

17. Shilling, C., & Mellor, P. A. (2014). Re-conceptualizing sport as a sacred phenomenon. Sociology of Sport Journal, 31(3), 349–376.

18. Proios, M. (2017). Exploring the relationship between athletic and religious identities. Trends in Sport Sciences, 24(3), 117–122.

19. Bleak, J. L., & Frederick, C. M. (1998). Superstitious behavior in sport: Levels of effectiveness and eterminants of use in three collegiate sports. Journal of Sport Behavior, 21(1), 1–15.

20. Maranise, A. M. J. (2013). Superstition & religious ritual: An examination of their effects and utilization in sport. Sport Psychologist, 27(1), 83–91

21. Czech, D. R., & Bullet, E. (2007). An exploratory description of Christian athletes' perceptions of prayer in sport: A mixed methodological pilot study. International Journal of Sports Science & Coaching, 2(1), 49–56.

22. Price, J. L. (2009). Playing and praying, sport and spirit: The forms and functions of prayer in sports. International Journal of Religion and Sport, 1, 55–80.

23. Czech, D. R., Wrisberg, C. A., Fisher, L. A., Thompson, C. L., & Hayes, G. (2004). The experience of Christian prayer in sport: An existential phenomenological investigation. Journal of Psychology and Christianity, 23(1), 3–11.

24. Kreider, A. J. (2003). Prayers for assistance as unsporting behavior. Journal of the Philosophy of Sport, 30(1), 17–25.

25. .Park, J.-K. (2000). Coping strategies used by Korean national athletes. Sport Psychologist, 14(1), 63–80.

26. Watson, N. J., & Nesti, M. (2005). The role of spirituality in sport psychology consulting: An analysis and integrative review of literature. Journal of Applied Sport Psychology, 17(3), 228–239.

27. Sarkar, M., Hill, D. M., & Parker, A. (2014). Working with religious and spiritual athletes: Ethical considerations for sport psychologists. Psychology of Sport & Exercise, 15(6), 580–587.

28. Treat, J. R. (2015). More than a game: A theology of sport. Themelios, 40(3), 392–403.

29. Harvey, L. (2012). Brief theology of sport. London, UK: SCM Press.

●

KAUTILYA ON ELEMENTS OF STATE

PROF. RACHNA SRIVASTAVA*

Kautilya in his Arthashastra enumerates how state came into being and what are the elements of state. In ancient India, theory of divine origin of state prevailed. It can be traced back to Brahmana period. It was stated in Manu-Smriti too. The theory of divine origin was generally recognized as the origin of State; however there prevailed social contract theory too in ancient India. Its genesis may be traced to the Sutra period too. According to Baudhyana, the king was to protect his subjects, receiving as his pay a sixth part of their grains.[i] The theory is more elaborately given in Mahabharata and was also known to Kautilya who says that state came into existence because there prevailed a state of anarchy from which people wanted to be emancipated, and so they elected Manu to be their King and allotted one-sixth of the grains grown and one-tenth of the merchandise as sovereign dues. In return, King protected the subjects. The general rule found in the Sutras, Smritis and Arthashastra was that if King cannot recover stolen property, he must compensate the owner. This corroborates the social contract theory. The king was bound by the contract and was the servant of the people, and the same is explicit in this remark by the Buddhist monk Aryadeva towards a haughty king, 'What is thy pride worth, O king, who art a (mere) servant of the gana (multitude, i.e., body politic) and received the sixth part as wages.'[ii] According to both, divine origin and social contract theories, the state and kingship evolved out of necessity caused by the evils of anarchy and wickedness inherent in human behavior. 'The social contract theory which was propounded by ancient Indian thinkers was also advocated by Hobbes, Locke and Rousseau.'[iii]

What Kautilya had said in third century BC, Hobbes (1588-1679) says in seventeenth century AD. Hobbes was well aware of the politics of Aristotle, contemporary of Kautilya, when he rejects one of the most famous thesis of Aristotle's Politics that human beings are naturally suited to life in a polis (city state). Hobbes claims that human beings are by nature, not suited to political life. They naturally fear and compete with each other and think very high of themselves. Hobbes espoused that no human being is above aggression and the anarchy that goes with it. War comes more naturally to human beings than political order. Political order is possible only when human beings abandon their natural condition of judging and pursuing what seems best to each and delegate this judgment to someone else. This delegation is effected when the many contract together to submit to a sovereign state in return for physical safety and well being. Although such formal contract is assumed by Hobbes, he claims that it is the best to understand state assuming such agreement.[iv] Hobbes is echoing Kautilya's concept of Matsyanyaya so far and the contract entered thereupon when citizens promise to pay one-sixth of grain and one-eighth of merchandise in return for their safety by the king. But the similarity ends when Hobbes makes his sovereign absolute as long as people feel that their life is not threatened by this submission. Hobbes' sovereign determines who owns what, who will hold which public offices, how the economy will be regulated, what qualifies as crime, what punishments should be given etc. Sovereign is the supreme commander of the army, supreme interpreter of scriptures and has authority over church. But while Kautilya abhors king to be the servant of the people because in the well being of the people lies his well being; Hobbes is of the view that people have no right to oppose the sovereign even for his wrong decisions and that they should not oppose him until and unless the sovereign utterly fails.

Kautilya in Arthashastra prescribes that king works along six other elements of State. His State is an organic unity. While western philosophy prescribes four elements of State, Kautilya enumerates seven organs of State. His theory of elements of State is rightly termed by him as *Saptang* theory of State. The seven *angas* work in unison with each other and depend on each other for their well being with the first *anga*- king at the centre.

Elements of state - Saptanga Theory in Arthashastra

The state was conceived by Manu and Kautilya as an organic whole, its different constituent parts

* Prof. Political Science & Principal, Vasant Kanya Mahavidyalaya, Kamachha, Varanasi

being called 'Anga' or limbs, evidently on the analogy of a human body. Kautilya has modeled the machinery of the state administration with reference to seven constituent elements of state (prakriti). All the seven elements constituted the wealth of the State.[v] These consist of– Sovereign – Swami; The Ministers – Amatya; Territory – Janapada; Fortification – Durg; Treasury – Kosha ; Army – Danda; Mitra – Ally.[vi]

Sovereign – Swami - Unlike western concept of state, where there are four components which characterize the state, Kautilya's state has seven elements and he describes that the king was not only the source of origin of the state but also the chief among all its organs. Kautilya has gone to the extent of saying that the king and the state epitomize the Prakirti (the seven limbs). The king was the symbol of state and the rise and fall off the prakritis depended on the king. In book 8, chapter 2 of Arthashastra Kautilya has described it 'राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः।'[vii] Kautilya has clearly stated that the king can appoint Ministers, different officials and departmental heads. The king can dispel the cloud of misfortune befalling the prakritis which are Amatyas, Janapada, Durga, Kosha, Army, and Ally/Mitra. In book 8, chapter 1 of Arthashastra,[viii] Kautilya has described मन्त्रिपुरोहितादिभृत्यवर्गमध्यक्षप्रचारं पुरूषद्रव्यप्रकृवितयसनप्रतीकारमेधनं च राजैव करोति। व्यसनिषु वामात्येषु अन्यानव्यसनिनःकरोति। पूज्यपूजने दूष्यावग्रहे च नित्युक्तस्तिष्ठति। The king should not work in an arbitrary manner because it would lead to the downfall of the state. Kautilya says, 'For, the king, trained in the science, intent on the discipline of the subjects, enjoys the Artha (alone) without sharing it with any (other) ruler, being devoted to the welfare of all beings.'[ix] He also says, '(the observance of) one's own special duty leads to heaven and to endless bliss. In case of its transgression, people would be exterminated through (the) mixture (of duties and castes). Therefore the king should not allow the special duties of the (different) beings to be transgressed; for, ensuring adherence to (each one's) special duty, he finds joy after death as well as in this life.[x] While describing the duties of the King, Kautilya says, 'One must remember what had caused the state downfall in the past and what had helped it prosper and learn from it.'[xi] Arthashastra contains following eloquent exhortation to the king, 'For a king his Vrata is constant activity in the cause of his people; his best religious ceremony is the work of administration; his highest charity is equality of treatment meeted out to all' and 'In the happiness of the subjects lies the happiness of the King; in their good is his own good, and not in what is pleasing to him. He must find his pleasure in the pleasure of his subjects.'[xii] This exertion is emphasized as 'the root of success in administration', अर्थस्य मूलम् उथगम.[xiii] In another place, Kautilya points out the king's virtues to be abundance of enthusiasm and freedom from procrastination.[xiv] And again the king who is a fatalist, devoid of energy or of initiative will come to grief.[xv] King is the source of Danda, he wields 'danda.' It is his duty to protect and conserve the people and the territory. When it comes to laws, in case of controversy between custom, edicts and smritis, it is the king's edicts which were to prevail. Kautilya's king is very much like modern day political system. In twentieth century, behaviouralists opined that the first characteristic of political system is that it allows the legal authority to use the force. David Easton speaks of 'authoritarian allocation of values'; Dahl of 'power', 'rule' and 'authority'. Max Weber, who calls Machiavelli's The Prince harmless in front of Kautilya's Arthashastra; says that 'legitimate use of force is a distinct feature of political system. When the state or government extends certain facilities then at the same time, it possesses power to impose taxes upon the people and punish those who violate these orders. Almond's definition of political system in 'The Politics of developing areas' bears uncanny similarity to what Manu and Kautilya had said about the state/kingship. Almond writes, 'Political system is that system of interactions to be found in all independent societies which perform the functions of integrations and adaptation (both internally and vis-à-vis other societies) by means of the employment or threat of employment or more or less legitimate physical compulsion.[xvi]

Amatya-Ministers- The second crucial element of Kautilya's state was the Amatyas or the ministers. Kautilya says that the state affairs cannot be conducted by the King without the assistance of competent counselors in the same manner as the carriage with one wheel cannot move. Thus the king should employ Amatyas or ministers and hear their advice.[xvii] Kautilya has divided the Mantrins into three categories according to their qualities. Those who were of indigenous origin, noble family, firm determination, and retentive memory, and artists, economists, wise, clever, orator, powerful debater, enthusiastic, impressive, charming, tolerant, loyal to the king, gentle, capable, healthy, steadfast etc were considered worthy of being the ministers. Those who possessed

either one-fourth or half of these qualities were taken as ministers of middle or lower grade. The talents i.e. loyalty, integrity and credibility of both the ministers and the Amatyas were tested but methods employed were different. The king used to test the former by himself as well as through his colleagues and neighbors. Whereas on the other hand the king employed various secret means with the help of his Mantrins and Purohits to test the conduct of the latter. According to Kautilya a king should have three or four ministers; one minister would do as he pleased and two ministers could unite against the king and hence three or four ministers.[xviii] It was the duty of the king as well as his ministers to maintain secrecy about the planning, program and contemplated actions, war and peace etc which were decided by them through mutual consultations. The advice was like armor for the king, it was the essence of the statecraft. Kautilya regarded ministers as dangerous, and so he insisted that they must constantly be tested.[xix] 'After appointing ministers…. (The king) should test their integrity by means of secret tests'.[xx] Kautilya also provides list of 18 different officials who were in charge of different departments.

Janapada-Territory- The third important Prakriti or constituent of the state is the Janapada or Rashtra. The janapada falls in order as the third important organ of the state. The territory or the population being the prerequisite condition for the creation of a rashtra or a state was always kept in view by ancient Indian kings. Kautilya has categorically stated that a king either by inviting the people from other countries or by increasing the population of his own country should revive old janapada or create a new one. Each janapada should consist of villages with minimum hundred and maximum five hundred houses and must be inhabited mostly by the shudras and farmers. The distance of one village from the other should not be more than one or two Kosa (two or four miles) so that they may help each other in necessity. The boundary of a well settled village should be fixed by planting trees, or rivers, mountains, forests etc. It seems that Kautilya provided urban planning for people other than Shudras. Kautilya has further pointed out that it was the duty of Samaharta to divide the whole Janapada in four parts, to put it into three categories i.e. higher, middle and lower and to record their number, positions, geographical situations etc in to his register. He had also to record the details about the villages which were put into three categories i.e. villages not paying any tax, villages from where armed forces were regularly recruited and villages which paid taxes or tributes in the form of corns, animals, gold, silver, menial labor etc. In administrative units consisting of five to ten villages, each was managed by officer designated as Gopas. They had to work under the supervision of Samharta. They had to maintain the record of population structure of each village. The register also contained the number of Brahmans, Kshatriyas, Vaishyas, Shudras, farmers, traders, artisans, slaves, tax payers etc living in villages. In each of the four Janapada or Rashtra, an officer designated as Sthanika was appointed who had also to do the same work. The gopas and sthanikas were assisted by Tradesta in running the administration of Rashtra.[xxi] We find that the system was practiced not only by Chandragupta Maurya but also by his grandson Asoka. According to Kautilya, forts were erected at the frontiers of janapadas to provide security to Rashtra and the duty of guarding the frontiers was given to forest tribes.[xxii] The defense of the Rashtra was a subject of great importance for the king, not only for his own survival but also for the well being of his subjects.

Durg-Fort- Kautilya regarding forts or Durg says that there can be four kinds of forts: Audaka durg (surrounded by water on all four sides, looking like delta); Parvata durg (made on the mountains or made of rocks); Dhanvana durg (on the plain, surrounded by desert); Vana durg (near thick forests).[xxiii]

Kautilya has provided an elaborate discussion of Nagaras. According to him the sight for building Nagars should be selected in accordance with the advice of an expert on architectural engineering. Nagars should be built on the banks of ponds, rivers etc. There should be land and river routes, commercial towns, sthaniya nagar (800 villages) etc. It should have big houses with stairs, houses with separate apartments for women, separate places for armed forces, tunnels, wall with holes for taking aim at enemies, strong door, six roads divided into three – each from east to west and from north to south. It should have separate houses for various government officers. He has pin pointed that the king should not allow those people to settle in Nagaras who may be instrumental in bringing the moral, religious and national standards of Nagaras and Rashtra down. Such people should be made to settle on the frontiers and state tax should be collected from them.[xxiv]

Kosha-Treasury- The next important prakriti is Kosha or treasury. Kautilya considers both Kosha and

Army equally important. But comparatively the former is more important than the latter because army protects only Kosha but the latter protects both army and durg. The king could accumulate wealth by applying Sama, Dama and Bheda. He used to collect one sixth of the income or the produce of the subjects as tax but in case of emergency the tax could be increased and before doing so people had to be informed about the nature of emergency. Taxes were to be collected according to their capacity.[xxv] Kautilya says that in case of an economic crisis also the king had to collect extra taxes.[xxvi] One third or one fourth of the total produce of big, medium and small janapada was collected as tax. But janapadas that were situated in the frontier or with little produce or were useful for commercial purposes were not expected to pay tax.[xxvii] One fourth of the land produce and one sixth of the forest produce were also taken as taxes.[xxviii] One fiftieth of the total costs on the commercial products like gold, silver, diamond, pearls etc, one fortieth of cotton clothes, metal, herbs etc, one thirtieth of crops like wheat and oil, ghee, iron etc, one twentieth of income from big merchants and artisans and one fifth of woods, bamboos, stones, earthenware etc were collected as state taxes. It was collected only once and not twice.[xxix] Kautilya makes mention of Sannidhata (Koshadhyaksha) whose duty was to set up a treasury house.[xxx] In order to increase the resources, the king was supposed to augment wealth of the whole rashtra, to encourage all kinds of production, to promote trade and commerce, to collect taxes in time etc. The Koshadhyaksha was not supposed to violate the rules regarding the collection of state taxes. There were harsh punishments prescribed by Kautilya for financial embezzlement.[xxxi]

Danda-Army- As regards army, Kautilya while referring to the qualities of soldiers has observed that they should be valiant warriors, well versed in the art of war and loyal to the king. He prescribes that in an army maximum number of soldiers should be Kshtriyas, especially those who are born in family which has been serving the army for generations.[xxxii] However, we see that Chandragupta Maurya attacked Dhananda with the help of an army consisting of mostly tribals. While describing army in Arthashastra, Kautilya says that soldiers should be recruited on hereditary ground and on permanent basis. In the event of war they may be well equipped with all necessary things and they should fight bravely and crush the enemies. Kautilya does not suggest that in comparison to Vaishyas and Shudras, the Brahmins and Kshatriya soldiers are more efficient. He considers that whoever is brave can be in army. He holds that the hostile forces by submitting before the Brahmins or prostrating at their feet or bowing down before them, easily win over them.[xxxiii] Kautilya points out that on the strength of a well organized army, not only a friend of the king continues to be friend but even an enemy is converted into a friend. The army and friends have been considered very helpful bodies for the king.

Mitra-Ally- The seventh prakriti or element of state is Ally. Kautilya has described six types of friends in connection with Saptanga theory: Traditional, Permanent, Who could exercise restrain upon himself, Who is not of hostile attitude, Who is endowed with courage and ability to offer worthy advice, Those who could help in need . The allies had to play an important role in the spheres of mutual relation of kings by strictly adhering to the principles of check and balance. In this connection various other types of friends and enemies have been described. The three noted friends were Sahaja mitra (obtained through near relatives), Kritrima (acquired by virtue of obliging other king or being obliged by the latter) and Prakrta (living adjacent to the frontiers of neighboring kings). Likewise, the three kinds of enemy were named Sahajashatru (found among own relatives), Kritrima Shatru (always hostile to others) and PrakratShatru (neighboring kings).[xxxiv] Kautilya describes a Mandala of states consisting of twelve kings who are either allies or friends.[xxxv] In the centre is Vijigishu, the state itself who seeks conquest to expand the frontiers of his state. Second is ari, which is the enemy in front of number one. In front of ari is mitra. At number four is ally of ari which is in front of number three i.e. mitra. At number five is mitramitra, friend of friend. At number six is arimitramitra, friend of enemy's friend. At number seven is parshnigraha i.e. rearward enemy in the rear of number one. It is an enemy who suddenly attacks vijigishu. At number eight in the mandala of state is akranda, which is ally ruling over the state in front of number seven or it can be said that it is a friend of vijigishu and enemy of number seven. At ninth number is parshnigrahasara, who is an ally of number seven in front of number eight. At tenth number is akrandasara, ally of number eight in front of number nine and at eleventh number is madhyama, an intermediate king, occupying a territory close to both vijigishu and its immediate enemy in front. It can be seen as China in India's case. At twelfth number is udasina, who is neutral king which may be in front of number one or far from

Vijigishu but in any case remains indifferent to Vijigishu. In India's case, it can be United States of America. Allies always help Vijigishu through resources, army and territory at their disposal. They do not desert him even in crisis.[xxxvi] Alignment can be divided in to three groups: One, Vijigishu, Ari, Madhyama and Udasina. Second, Mitra, Mitramitra, Akranda and Akrandasara and the third group is Arimitra, Arimitramitra, Parshnigraha and Parshnigrahasara. All the twelve kings forming the Rajmamandala i.e. confederation of twelve kings is considered equivalent to twelve prakritis which is collectively known as Rajaprakriti. Each one of them has five elements – amatya, territory, forts, treasury and army. Thus 12x5=60 is Dravayaprakriti. These sixty prakritis added to twelve become 72 prakritis which constitute the basis of Rajmandala.[xxxvii] On Saptanga theory Kautilya and Manu are in perfect agreement with each other.

The focus of Mandala theory is not only on interstate relations but also on Shadgunya (six fold) policy of diplomacy which are following: Sandhi (alliance), Vigraha (war or hostility), Yana (expedition or march of the army), Asana (neutrality), Samsrya (seeking shelter of stronger king), Dvaidhibhava (duplicity or dual policy).

Romila Thapar has rightly pointed out that Mandala theory represents mathematically balanced diplomacy.[xxxviii] The Shadgunya or six fold policy was prerequisite condition for striking balance in the interrelations of the states. The king had to act with the help of allies as well as sixfold policy. The concept of Mandala envisages mutual relationships between different states.

Relative importance of Elements of State- In Kautilya's state, the king being the central pillar of the state and its heart and soul or the brain of the bodypolitik had not only to protect himself from all dangers but all other six organs of the state which were all interlinked. Actually, the state was only the means through which the king had to achieve the end which was the attainment of Dharma, Artha and Kama. The comparative and relative importance of all the seven constituents of state were assessed by Kautilya and all his predecessors but no element excelled others. All the elements worked unitedly and their organic unity has been emphasized in not only Arthashastra but in all ancient Indian epics. Elements of Saptang have been placed in an order depicting their relative importance. King is most important. Army is placed after Treasury because if King has money he can raise an army.

Kautilya has mentioned all the virtues that a state should have. It should be fortified; able to support not only indigenous population but immigrants too. Natural means of defense like mountains, rivers, forests, are necessary. It should be economically self-contained (like today's US). It should have a loyal people who would resent foreign invasion. It should have abundance of agriculture lands. It should be independent in its own supply of waters from its rivers. It should have road and water traffic, manufacturing capacity. It should have a vast population of lower castes or aboriginal tribes who may aid in the development of arts and crafts. As per Arthashastra the prosperity and future of the country ultimately depends upon the quality and loyalty of its population. As far as treasury is concerned, Kautilya prescribes a justifiable system of taxation, which is necessary for a modern state too. While Kautilya prescribes an army which works on the basis of the principle of heredity and made of Kshatriyas, modern army does not recognize caste although generation after generation may serve in army. Kautilya believed that even if a king had small territory but he had all the other elements of sovereignty, he will make himself invincible.

Conclusion- The purpose of Kautilya's State in Arthashastra is to provide for each and every aspect of man's life in great detail and specification. It includes practically everything. The state should promote true religion but it should also regulate the age and condition in which one might renounce. He levies fine on those who renounce the world without providing for their family. He prescribes modalities of divorce, use of even witchcraft, faithfulness in relations, gambling, prostitution, relations of lovers, etc. The state should provide support to the poor, the pregnant women, the new born, offspring, orphans, the aged, the infirm, the afflicted and the helpless. The three-fold motive of regulating life, detecting thieves and spies and securing revenue for the state underlies Kautilya's excise policy. Although state was to establish liquor shops, but it was so that state could regulate consumption of liquor. Prostitution was legal and elaborate arrangement for the same along with rates of tax was made in Arthashastra; these places were also used as places of spying and gathering intelligence too. According to Arthashastra all professions and occupations are to be controlled by

state. Rules regarding conduct of various professions ranging from physician to goldsmith were given. The purpose was that nobody may exploit the other. All profit margins and taxes were fixed by the state. State was to provide relief from natural calamities too. Wealthy were to be taxed more. Taxation system was as per the capability of tax payer. Kautilya even provides for highways. The list of the functions to be performed by Kautilya's state is comprehensive. It would need a separate study to discuss the functions of Kautilya's state.

Kautilya is often criticized too because he has written about classes and castes in Arthashastra i.e. Varna. Western thinkers have very vocally criticized the Varna system described in ancient Indian scriptures. Henrich Zimmer says that the fear of pollution by being touched by a low caste person led to elaborate rules governing all aspects of life.[xxxix] Personal affairs like eating, conversing, marriage all were minutely regulated in Arthashastra with severe and exacting penalties for accidental as well as for intentional infringement. Western thinkers have said that in order to glorify Kautilya Indian thinkers tend to explain the Varna System described by Kautilya. Roger Boesche in 'Kautilya: the first great political realist' says that according to the early Hinduism reflected in Arthashastra, the kingdom would prosper materially and morally if each does the special duty outlined by Varna (class) and Jaati (caste and sub caste).[xl] Kautilya makes it the duty of the king to ensure that all adhere to their special duties. However the scholars have opined that Kautilya's reference to Varna system can be compared to the concept of justice enumerated by Plato in Republic where the residents of Plato's ideal state had to do work according to the capability they had, only then they would be doing justice to both himself and to the state. Kautilya although upheld the class structure when it came to the established system of property distribution.[xli] Yet he defended the rights of Shudras to join the army. He further says that, 'Never shall an Arya including Shudras be subjected to slavery. Kautilya told the king that it was advantageous to please and be just towards the lower classes. Kautilya wanted the King and the state to combat oppression in the name of caste. Kautilya also asked the king to preserve the Ashrama System i.e. the four stages of life–Bhramcharya, Grihastha, Vanprastha and Sanyasa. The age old belief that by following these four stages of life, one could achieve Mokhsha was found politically useful by Kautilya and he urged the king to defend the Varnas and the four stages of life.

References cited

i Mazumdar,R.C, The Age of Imperial Unity, Motilal Banarasidas Private Limited, New Delhi, 1951, pg.305.

ii Ibid,p.305

iii Singh, G., Political Thought in Ancient India. New Delhi: DK Printworld, 2005,p.3

iv Sorell, T. (1999, May 04). *Thomas Hobbes.* Retrieved July 24, 2019, from Encyclopaedia Britannica: https://www.britannica.com/biography/Thomas-Hobbes/Political-philosophy

v Shamashastry, R. Kautilya Arthashastra,Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi,2010,p.511 (KA 6.1.1 - Arabic Numerals indicate the number of verse with Book, Chapter, Verse Number respectively from the same).

vi Singh, G., Political Thought in Ancient India., op.cit, p.30

vii Shamashastry, R. Kautilya Arthashastra, op.cit, p.633

viii Ibid., p.627.

ix Ibid., p.18 (KA.1.5.8).

x Ibid, p.15(KA.1.3.10).

xi Ibid, p.21 (KA1.6).

xii Ibid, p.73. (KA1.19.10).

xiii Ibid. p.74. (KA1.19.12).

xiv Ibid, p.511(KA6.1.2)

xv Ibid, p.513 (KA6.1.12).

xvi Almond, G., The Politics of Developing Areas. Princeton, Princeton University Press,1960, p.121.

xvii Shamashastry, R. Kautilya Arthashastra, op.cit, p.28 (KA.1.9.1-5).

xviii Ibid, p.53 (KA.1.15.11-12).

xix Boesche, R., Kautilya; The first great political realist, Harper Collins Publications, New Delhi, 2017, p.45

xx Shamashastry, R. Kautilya Arthashastra, op.cit, p.31 (KA.1.10.1, 18)

xxi Ibid., p.88 (KA2.1.5).

xxii Ibid., p.87 (KA2.1)

xxiii Ibid, p.96 (KA2.3.1)

xxiv Ibid., p.101(KA2.4.10).

xxv Ibid., p.482 (KA5.2.2).

xxvi Ibid., p.482 (KA5.2.1).

xxvii Ibid., p.482(KA5.2.3).

xxviii Ibid., p.483(KA5.2.8-9).

xxix Ibid., p.485 (KA5.2.16).

xxx Ibid., p.105(KA2.5.1).

xxxi Ibid., p.121(KA2.8.1-16).

xxxii Ibid., p.513(KA6.1.10).

xxxiii Ibid., p.669. (KA9.2.19).

xxxiv Ibid., p.517 (KA6.2.11).

xxxv Ibid., p.518. (KA6.2.16-18).

xxxvi Ibid., p.629 (KA8.1.9).

xxxvii Ibid., p.518 (6.2.16-18).

xxxviii Thapar, R., From Lineage to State, Oxford Publications, Bombay, 1984. p.156

xxxix H.Zimmer. *Philosophies of India*. Princeton: Princeton University Press, 1951,p.39

xl Boesche, R., Kautilya; The first great political realist, op.cit., p.27.

xli Shamashastry, R. Kautilya Arthashastra, op.cit., p.322 (KA.3.5).

EXPLORING THE UNPAID WOMEN WORK IN RURAL INDIA: NEED FOR ECONOMIC SECURITY MEASURES

DR. ANUP KUMAR MISHRA*

1. Background

The last 30 years since India began embarking on economic reforms provide various lessons for current economic policy – makers as they look ahead to future challenges that face the country and seek to combat difficulties. Among many difficulties, gender discrimination continues to be an enormous problem within Indian society. Traditional patriarchal norms have relegated women to secondary status within the household and workplace. This drastically affects women's health, financial status, education, and political involvement. Women are commonly married young, quickly become mothers, and are then burdened by stringent domestic and financial responsibilities. They are frequently malnourished since women typically are the last member of a household to eat and the last to receive medical attention .Rural women continue to be treated as if they contribute nothing of value to society or the nation. Though we experienced that, women's lives have changed rapidly over time. Social, economic and legislative improvements and scientific advancements have allowed women to gain greater control over their lives. But mostly these experiences reflect only in the urban areas. Unless these trends reach the bottom strata of the society especially in the rural areas, attaining the motive of gender equality and inclusive growth remains an impossible vision

Gender norms are related to Gender behavior, attitude, and ethics. It is indicate the notions of society in the eyes of male and female about what is good or bad. Most of the society is male dominating society as a result women are in vulnerable situation. Since the beginning of human civilization patriarchal societies males are emancipated and female are seeking equal of rights but social norm towards female suppression. Every step towards women equality is a struggle against of social norms. Northern part of rural India is comprises of few poor states (Uttar Pradesh, Bihar and Jharkhand). Nearly half of the total populations are women. Over all developments cannot be achieved without women participations and involvement in the development sectors of the country. But at the beginning of civilization the first agriculture and pastoralist society established by women. Long historical background of women development is exploitation by male. Women participation in socio-economic activities as well as decision making, political rights, human rights, decision making, access to properties, freedom of choice, freedom of speech everything are essential for women development but social norms are the main impediments of women development.

Census after Census, women's contribution has been rendered invisible by failing to quantify their work inputs, especially in agriculture and the unorganized sector. There are basically two kinds of work. Work for which payment is received and work for which no payment is made. Women are known to work longer hours than men and to participate in the work force to a far greater extent than is measured by the data gathered in the census. But a lot of the work they do is unrecognized, leave alone rewarded with equal remuneration. Traditionally, men spend most of their time on tasks for which payment is received or tasks that are clearly within the realm of "economic activity". However, while a large number of women work outside the home and are remunerated for the work they do, most women spend several hours doing work for which no payment is received. This seems as a disguised exclusion of rural women from the mainstream of economy. With the above background the present paper focuses upon the Status of Unpaid Rural Women in India.

2. Objective and Methodology of the Study

The main aim of this paper is to investigate women's unpaid household and quantifies women's unpaid household work in the rural India and attempts to assess an economic value for it.

The specific objectives of this paper are to:

a. Analyze the average daily time spent by women and man on paid or unpaid work.

∗ Professor & Head, Department of Economics, DAV PG College, Banaras Hindu University, Varanasi

b. To study caste wise time use per day of household's female in unpaid economic activity..

This research is based on time use survey of about 500 rural households from three states of North India i.e. Uttar Pradesh , Bihar, Jharkhand of rural areas in fifteen villages with mixed method study using both the quantitative as well as qualitative methodology. The present paper is a part of the research study "Gender norms, labour supply and poverty reduction in comparative context: evidence from rural India and Bangladesh" sponsored by the University of Manchester for the year 2015 -17.

3. Review of Literature

A large literature has examined recent trends in rural female labour force participation (RLFPR) in India. There seems to be no consensus, however, on what explains the recent decline in RLFPR. One view stresses the role of education, with women in rural areas are now getting enrolled in higher education and are, therefore, simply delaying entry into the labour force (Chowdhury, 2011[i]; Rangarajan et al, 2011[ii], Dubey, Olsen & Sen, 2016[iii]). A second view highlights a possible "income effect". Arguing that household incomes could have risen in rural areas due to higher male wage levels which have taken the pressure off women to seek distress employment in times of economic hardship (World Bank, 2010[iv]; Rangarajan, 2011[v]; Neff et al. 2012[vi]; Dubey, Olsen & Sen 2016[vii]). A third view argues that the decline in women's LFPR is due to an overall decline in or absence of short and long term employment opportunities in rural areas (World Bank,, 2010[viii]; Chowdhury, 2011[ix]; Mazumdar and Neetha, 2011[x]; Dubey, Olsen & Sen 2016[xi]). A fourth view argues that the decline of rural female LFPR could be due to cultural factors and social constraints which might come to the fore with rising incomes or limited employment opportunities (see Das 2006[xii]). It could even be that women's nonwork status is a growing source of household dignity or honour but the evidence does not cast light directly on that (Dubey, Olsen & Sen 2016[xiii]).

Kabeer(1994)[xiv] argues that despite global gender concern women continue to occupy a marginal place in development thought and policy, and that the institutions within which development policies are made and implemented are male biased.

Social norms are typically seen to emerge in environments characterized by multiple equilibriums, to keep the community in a preferred equilibrium.

The social factors are level of economic inequality between men and women, level of female autonomy, attitudes towards gender roles and violence against women, the extent of extended family, neighbors‟ and friend's intervention in domestic violence incidents and some measure of social capital. World Bank, 1995 reported that while women's unpaid, reproductive work is vital for household welfare and for regeneration of the labor force, socially defined inequality in intra household division of labor makes women's entry and productivity in the labor market difficult.

Jahan,(1989)[xv] shows that macro policies, major programs and projects generally overlook men's and women's differentiated roles in development; yet their impact in changing gender roles and status is far greater than that of women specific mandates and projects.

4. The Categorisation of Labour Force Participation

When analysing Indian households, Dubey et al (2016)[xvi] argue that demand for labour are partly overlapping due to farming and the informal parts of the labour market. The latter could be called the peasant economics approach. Even in the modernization approach, once gender issues are introduced, the moral economy of work decisions is complex, because each person's supply of labour can contribute to household income and thus reduce the need for others to work outside the house. Studies showed that when intra-household work is valued, as in farming and micro-enterprises, the substitution effects have an important part in each individual's apparent supply of labour outcome. The farm or the shop or trading activity can use 'unpaid helpers' or informally arranged co-entrepreneurship, and thus take up labour time, creating a demand for labour simultaneously with making decisions to supply this latter. This more complex approach is superior to making false assumptions that the economy is fully modernised. The modernised approach would separate the breadwinner (who is in the labour market) from the demand for labour and the rest of the family (who are construed as non-earners) from the supply of labour. Overall, the peasant economics approach (also known as the new home economics) is preferable.

Using such a conceptual framework to measure labour time, Dubey et al (2016)[xvii] define narrow labour as the supply of labour onto markets where the demand for work is outside one's own household. Their narrowest definition (LFP1) includes casual paid daily labour ("kuulie") and salaried employment. At the other extreme, they define as 'wide' to define labour most widely to include informal sector work, unpaid family helpers, farming work, and extra domestic work (defined below), using the label LFP3 for wide labour. In between, LFP2 is familiar to western labour specialists, because it includes self-employment of the respondent. Ambiguities around the definition of self-employment have made this category under-report women's remunerated market-related work. Table 1 shows finely-grained breakdown.

Some controversies must be attacked head-on. First, a person having a subsidiary occupation but no principle occupation is included as active according to their subsidiary work. The subsidiary work is counted here even if it takes up less than six months of their year. The NSS EUS used a one-year recall in all the Rounds from 1983. The minimum standard we use to count work into all our definitions is at least one hour of work, following the ILO definitions of work. Thus the work recorded here is consistent with ILO's approach.

Secondly, a person's work could be misrepresented by their household's main respondent. The reports given by a household head, or whoever else might respond on behalf of the whole household, may involve some subjective approximation of what roles take up their time. This approximation may use typical category labels, like 'housewife'. That is why we need the 'wide' definition so badly. On the other hand it also implies an admitted weakness in the accuracy and comparability of the household NSS EUS records.

Thirdly, the work recorded under our 'wide' measure may significantly understate the actual work done.

Extra-domestic work refers to that work done outside all the existing remunerated categories, yet still done in such a way that either subsistence or saleable goods are obtained. These goods include services like teaching (tutoring) and sewing, but we have left out child care. Extra domestic work is not meant to include all the socially reproductive activities. It responds to what is known in lay terms as 'work'. We have made a concession in not recording time spent on cooking, building houses, sweeping, and child care and so on, which are also work. There is low status accorded to child care and cooking, as well as cleaning, in Indian homes. However, using this NSS data we cannot highlight this work as there is no record of it. Even so, a huge amount of work emerges under the wide heading and we hope to offer some insights by using this new headcount of 'wide' workers. It includes effectively *housewives who also did work outside the home, not for direct remuneration.*

In between narrow and wide, we define LFP2 as a medium measure of work participation. LFP2 is not meant as the perfect or ideal measure. It is meant to capture a halfway point between the two useful extremes of measurement. LFP2 omits the extra domestic work which some would call subsistence labour. One reason is that extra domestic work was defined by NSS to arbitrarily include many activities undertaken by women and children, but the NSS ignored the reproductive work done by men, such as collecting firewood, boiling sugar, building houses or walls, cooking, or child care, because men were considered breadwinners *a priori*. Only women without a principle occupation were invited to state which often extra domestic tasks they had engaged in. The recall period was a year. The coverage was patchy. Questions were answered yes/no, not in terms of days worked.

In LFP2, the medium measure of work, we include farming work and all other self-employment, if declared as self-employment, but we omit unpaid family helpers.

Table 1: Rural India, Female Labour Force Participation, Competing Definitions

Percentage of Women	1983	1993-94	2004-05	2011-12	Column Percentage of Workers, 1983	Column Percentage of Workers, 2011/2012
Salaried Work and Employees Only	1.5	1.4	2.0	2.2	0.7	1.3
That + Casual Labour (Narrow Def'n, LFP1)	23.5	24.0	22.2	17.5	11.5	10.6
That plus those Unemployed	24.0	24.5	23.3	18.2	11.7	11.0
That plus those Self-Employed (Medium Def'n, LFP2)	35.4	32.7	31.5	24.7	17.2	15.0
That plus those who worked as "helper in household enterprise"	52.1	51.3	52.7	37	25.4	22.7
That plus extra-domestic duties (EDD) (Wide Def'n, LFP3)	68.8	71.2	70.7	64.8	33-.5	39.3
Total					100.0	100.0

Source: Dubey, Olsen & Sen 2016

Table 1 shows female labour participation in rural India according to various definitions (defined by Dubey, Olsen & Sen 2016[xviii]). It shows that, except as per wide definition of LFP3 the female labour force participation in every category has been decline over time (since 1983). Only as per wide definition that plus extra-domestic duties of women the female labour force participation has increased since 1983 that is 33.5 per cent to 39.3 per cent in the year 2011/12. This is the concern of our present paper. In our present paper we tried to examine the economic role of this wide definition female worker which could be valued according to labour market. For this purpose we apply the time use data. This data have been collected around the clock (of the previous working day) for both male and female respondents in the study area.

5. Analysis of the present study

5.1 Workers population ratio

As per population distribution in various usual principal occupation in the study areas, data reveals that nearly 76 percent female are engaged as unpaid women worker (as household work and family worker) which indicates the double burden on rural female in the study areas. Only 7 percent female are engaged in proper wage economic activities. This observation shows that female participation in proper work is very low in comparison of their male counterpart (75.17 percent) (table-2).

Table 3 indicates that there is huge gap between male and female regarding WPR in the study areas. Female WPR is only 7.36 percent against 69.04 percent for male. The worst condition prevails in the Bihar state where WPR of female is merely 4.73 percent.

Table 2: Population distribution in various usual principal occupation

Occupation of Usual principal activity	Male					Female				
	FC	OBC	SC	ST	TOTAL	FC	OBC	SC	ST	TOTAL
Professionals	1.4	1.0	-	-	0.9	-	-	0.5	-	0.1
Self-employed (with employees)	2.0	1.5	0.4	-	1.4	-	0.2	-	-	0.1
Employed workers	39.1	32.2	20.4	25.6	31.4	1.5	2.5	3.6	2.6	2.5
Own account workers	26.5	23.9	10.4	15.4	21.6	0.8	3.6	1.5	7.9	2.6
Manual Labourers	4.8	19.1	40.9	38.5	20.4	-	1.7	2.6	7.9	1.7
Family worker	0.3	1.2	0.9		0.9	0.4	1.7	1.5	2.6	1.4
Unemployed	2.0	0.8	2.6	2.6	1.6		-	1.0	-	0.2
Housewife	1.7	1.5	0.9	2.6	1.5	75.7	76.2	72.8	55.3	74.7
Student	22.1	18.8	23.0	15.4	20.3	21.6	14.2	15.9	23.7	16.7
Beggar	-	-	0.4	-	0.1	-	-	-	-	-
Others	-	-	-	-	-	-	-	0.5	-	0.1
TOTAL	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0	100.0

Source: Primary data (Survey)

Table 3: Workers population ratio in survey area (15 years and above) in percentage

Caste	UP			Bihar			Jharkhand			Total		
	Mae	Female	Total	Male	Female	Total	Male	Female	Total	Male	Female	Total
FC	66.0	3.5	36.8	64.0	1.7	34.0	65.1	2.4	34.1	64.7	2.3	34.8
OBC	74.6	8.9	42.9	64.7	7.6	38.9	75.2	9.9	45.0	71.6	8.7	42.1
SC	71.1	12.8	44.7	60.6	4.7	34.1	76.9	8.3	44.0	68.0	8.8	40.5
ST	68.8	41.7	57.1	64.0	7.4	34.6	100.0	25.0	62.5	68.9	18.6	44.3
Total	72.3	9.5	42.6	63.7	4.7	35.9	73.9	8.2	42.8	69.0	7.4	39.9

Source: Primary data (Survey)

Table 4: Percentage of workers population ratio in survey area (15-59 years) by age group

Age group (5yrs)	UP			Bihar			Jharkhand			Total		
	Male	Female	Total	Male	Female	Total	Male	Female	Total	Male	Female	Total
15-19	25.88	3.95	15.53	15.09	2.60	9.84	44.44	2.70	23.29	23.79	3.16	14.39
20-24	62.20	0.00	36.17	62.32	3.45	35.43	71.43	4.35	41.18	63.69	2.14	36.68
25-29	91.03	11.24	48.50	90.77	0.00	46.46	91.30	7.14	45.10	90.96	6.70	47.25
30-34	97.22	3.57	56.25	89.36	6.67	48.91	96.30	5.56	60.00	94.52	5.04	54.34
35-39	92.31	16.67	56.00	91.30	8.00	47.92	94.12	17.65	55.88	92.17	13.04	52.61
40-44	97.50	8.57	56.00	100.00	21.05	62.50	100.00	12.50	50.00	98.94	14.61	57.92
45-49	96.77	16.67	57.38	97.44	6.67	57.97	88.24	20.00	62.96	95.40	12.86	58.60
50-54	96.43	28.57	58.73	100.00	5.00	52.50	90.91	18.18	54.55	96.61	19.70	56.00
55-59	100.00	25.00	71.43	100.00	0.00	60.47	100.00	16.67	75.00	100.00	14.89	68.25
Total	**78.30**	**10.40**	**46.30**	**71.30**	**5.54**	**40.84**	**81.08**	**9.04**	**47.01**	**75.95**	**8.28**	**44.25**

Source: Primary data (Survey)

As per various age group wpr we found worst condition in the age group of 20-24 (2.14 per cent) followed by 15-19 (3.16 per cent) and 30-34 (5.04 per cent). The condition of age group 50-54 (19.7 per cent) is highest followed by 55-59 (14.89 per cent) and of age group 40-44 (14.61 per cent) (table-4)

5.2 Time use of activity (Male & Female)

5.2.1 Time use of activity of all workers

The study conducted in the 15 villages of the north rural India in the year 2015 confirms the unequal unpaid work status between men and women. We observed that women are for more involved in unpaid economic activities (domestic activities) than men. Applying the time use method on the basis of time use survey we found that on an average, women spent 9-10 hour (9.30 hours) daily on categorized unpaid economic activity and on other side men spent only 5-6 hours (5.90 hours) for the same.

Table 5: Time use per day in hour of all male and female in study area of economic and non-economic activity

Economic activity	**Male**	**Female**
Crop farming and vegetable gardening	1.25	0.73
Livestock care	0.93	0.67
Fetching of fruits, hunting, collecting	0.01	0.04
Mining and rock quarrying, rock breaking	0.06	0.00
Construction Activities	0.88	0.01
Manufacturing Activities (beedi, garment	0.09	0.02
Trade and Business	0.31	0.08
Services	0.74	0.05
Grinding, flour, husking, or making spic	0.10	0.25
Cleaning	0.13	0.72
Washing and ironing cloths and utensils	0.02	1.37
Repairing the house or repair household	0.06	0.01
Cooking and serving	0.11	3.42
Getting firewood	0.04	0.14
Carrying water, fetching water	0.02	0.19
Childcare	0.10	0.66
Teaching one'sown children or giving tution	0.18	0.08
Caring for the sick people	0.02	0.06
Training, private or government (DWCRA etc)	0.02	0.01
Other activities	0.85	0.78
Total	5.90	9.30
Non-economic activity		
Work done	**Male**	**Female**
Sleep and rest	9.85	9.4
Eating and drinking	1.63	1.02
Personal washing, toilet, etc	1.49	1.51
Shopping	0.28	0.02
Travel	1.66	0.44
Participation in meetings of groups, soc	0	
Studying	0.04	0.02
Participating in social events: wedding,	0.12	0.05
Socialising, chatting, visiting neighbou	2.18	1.65
Games and hobbies	0.44	0.11
Reading	0.06	0

Watching television, video, internet, vi	0.17	0.28
Prayer	0.14	0.2
Total	**18.05**	**14.7**
Source: Primary data (Survey)		

5.2.2 Time use of female unpaid economic activity

As observed in many cases we find unpaid work s highly unequally distributed between men and women (especially in rural areas). The time use survey, though no universal, national or regular in many countries, clearly indicate that (i) unpaid work is highly unequally distributed between men and women, with women sharing its main burden – in terms of participation as well as the time spent on it (ii) paid work is also distributed unequally with men carrying somewhat higher burden of (3) women carry significantly higher burden of total work (paid and unpaid work) than men .

Table 6: Time use per day in hour of male and female in study area of unpaid economic activity

Economic Activity	**Male**	**Female**
Crop farming and vegetable gardening	0.78	0.43
Livestock care	0.91	0.67
Fetching of fruits, hunting, collecting	0.01	0.04
Mining and rock quarrying, rock breaking	-	0
Construction Activities	0.01	-
Manufacturing Activities (beedi, garment	0.01	0.01
Trade and Business	0.01	0.02
Services	0.03	0.01
Grinding, flour, husking, or making spic	0.08	0.24
Cleaning	0.13	0.71
Washing and ironing cloths and utensils	0.02	1.36
Repairing the house or repair household	0.05	0.01
Cooking and serving	0.09	3.4
Getting firewood	0.01	0.14
Carrying water, fetching water	0.02	0.19
Childcare	0.1	0.66
Teaching one own children or giving tuition	0.11	0.07
Caring for the sick people	0.02	0.06
Training, private or government (DWCRA)	0.01	-
Other activities	0.48	0.7
Total	**2.88**	**8.73**

Source: Primary data (Survey)

Our study in the rural areas of rural India (UP, Bihar and Jharkhand) also confirms the unequal unpaid work status between men and women. Table 6 shows the reported involvement of men and women in various unpaid economic activity in the rural India (study area). We observed the table that women are for more involved in unpaid economic activities (domestic activities) than men. Applying the time use method on the basis of personal interview and observation we found that on an average women spent 8-9 hour (8.73 hours as per table) daily on twenty (female engagement in two activities are not found) categorized unpaid economic activity and on other side men spent only 2-3 hours (2.88 hours as per table 3) for the same.

Table also reflects that women spent maximum time in the household for cooking, serving the food, cleaning, washing and related works and caring the children in the house i.e. 5-6 hours on average duty

(5.47 hours as per table 6) and also they spent 2-3 hours outside household's for the unpaid economic activity like agricultural activity, animal husbandry, collecting and fetching of household uses and manufacturing works etc. (2.46 hours daily as per table 6).

As per interview we found that females got up early than men. Women's day starts at about 5a.m. and ends after 10 p.m. Rural women are for more involved in a range of domestic activities than men and regularly carrying and approximately 33 tasks in which 20 takes can be treated as unpaid economic activities. In contrast men carry less household's task and enjoy more leisure than women. Graph 1 show that males spent their maximum time (21.12 hours a day) in non-economic activities which includes less use and female spent 15.27 hours as non-economic activities in which very little time is spent on their leisure.

Graph 1: Time use per day in hour of male and female in study area of unpaid economic activity (in first round survey)

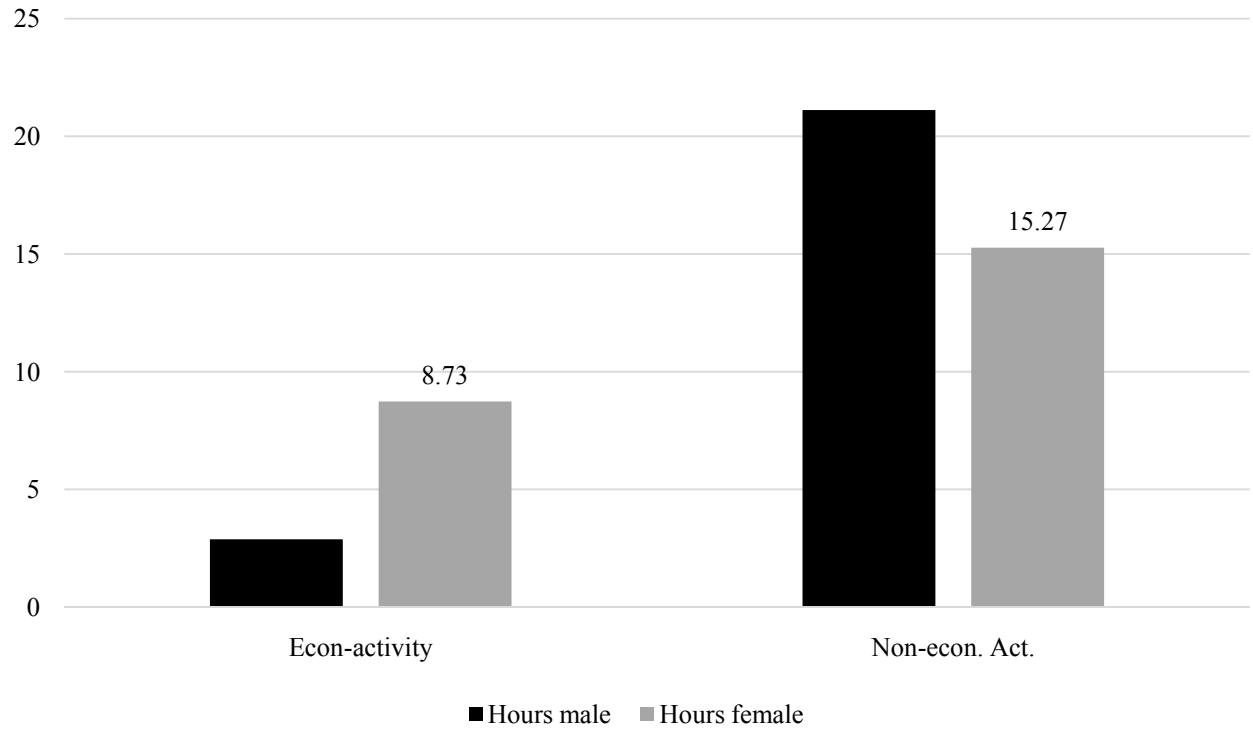

5.2.3 Caste wise time use per day in hour household female in study area of all economic activity

As per caste wise economic activities analysis by using time use method (per day in our) we found that forward caste female are spending more time on cooking and serving , washing and ironing cloths and utensils, grinding flour , husking , or making spice and teaching own child in comparison with OBC and SC / ST female in the study area. This may be seen as better condition of forward caste in terms of availability of food, housing and education and we could explain that may be SC, ST and OBC female have less food to cook , less space to clean and less money to send their child to school. (Supported by qualitative interview)

Table 7: Caste wise Time use per day in hour female in study area of unpaid economic activity

Activity	**FC**	**OBC**	**SC**	**ST**
Crop farming and vegetable gardening	0.05	0.64	0.41	0.17
Livestock care	0.16	0.81	0.81	0.9
Fetching of fruits, hunting, collecting	-	0.03	0.08	0.05
Mining and rock quarrying, rock breaking	-	0	-	-
Manufacturing Activities (beedi, garment	0.05	0	-	-
Trade and Business	0.01	0.02	0.02	-
Services	0	0.01	-	0.03
Grinding, flour, husking, or making spic	0.39	0.22	0.09	0.45
Cleaning	0.88	0.65	0.71	0.64
Washing and ironing cloths and utensils	1.57	1.31	1.29	1.23
Repairing the house or repair household	0.01	0.02	0.01	
Cooking and serving	4.21	3.18	3.16	2.88
Getting firewood	0.05	0.19	0.15	0.02
Carrying water, fetching water	0.09	0.2	0.27	0.23
Childcare	0.54	0.71	0.57	1.2
Teaching one's own children or giving tu…	0.16	0.06	0.02	-
Caring for the sick people	0.2	0.02	0.02	-
Other activities	0.72	0.7	0.73	0.4
Total	**9.09**	**8.78**	**8.33**	**8.19**

Source: Primary data (Survey)

Earlier we had traced and analyzed the time use of male and female in the study area which reflects that females are more vulnerable and engaged in unpaid work (table-6). We also found that women are far more involved in domestic works than men. Though it was found that it is difficult to quantify the economic value of women's unpaid work in the rural areas, but for the purpose of our present study a method of calculating economic value based on replacement value was adopted. In this method, the cost of unpaid workers is calculated by the cost of paying someone else based on current wages for comparable work.

6. Other-Side of the Coin

Uniquely, even today this perception exists in Indian society in reality. At least our primary data survey results revealed this. The societal configuration accountable for the notion that men are intrinsically the means of survival and women are the custodians, disseminated over years. Even in the 21st century, the outlook that working women are unfit house wives and are not capable to balance professional work and family life is dominant. It has been often deduced that the upholding of gender typecast manifest sizeable dynamic in hindering women's growth in the professional pitch.

Likewise, women who do choose to stray from the conventional path are often faced with challenges of a varied nature within the workplace/educational institute/political party etc. When a few are able to persevere and make it to top-notch positions, these women are faced with the work-life balance dilemma, reinforced by society and gender norms.

Specifically, the intra-household norm and practice of cooking is definitely female oriented. However, we should not overlook the increasing role of the "Other members of the family" in this respect. Besides, if we try to go deep to understand the typical intra-household norm and practice of Hindu family, it will surely not be an exaggeration that primarily

cooking had been traditionally done by the wives. This culture is still maintained particularly by the rural wives. Even in the urban Hindu families it prevails with the exception of typical individual family conditions (for example of both earners, health conditions of wives, mutual cooperation within micro families etc.)

All in all, let us keep alive the sayings of ancient Hindu law yielder Manu:

"Women are supposed to be in the custody of their father when they are children, they must be under the custody of their husband when married and under the custody of her son in old age or as widows. In no circumstances she should be allowed to assert herself independently".

This is the foundation of the norms and practices of Hindu religion and is still in bold letters in our present social structure. Analysts today although do have the full knowledge of this existing norms and practices, yet probably be doing serious mistake of viewing the norms and practices of Hindu religion from the angle of their own behavioural practices (in the event of not having any deep-rooted cultural norms in the western world). Very sharply, the present western social norms and practices not only differ but are just sharply opposite. As a result, they regularly put the traditional patrilineal joint family system of Indian Hindu society to be the root cause of gender inequality.

7. Conclusion and suggestions

Rural women continue to be treated as if they contribute nothing of value to society or the nation. Though we experienced that, women's lives have changed rapidly over time. Social, economic and legislative improvements and scientific advancements have allowed women to gain greater control over their lives. But mostly these experiences reflect only in the urban areas. Unless these trends reach the bottom strata of the society especially in the rural areas, attaining the motive of gender equality and inclusive growth remains an impossible vision More than in any other area, it is in the recording of the work done by women that serious inaccuracies and measurement failures occur. As a result, their participation in the economy is undermined and seems as disguised exclusion from the mainstream of the economy. Census after Census, women's contribution has been rendered invisible by failing to quantify their work inputs, especially in agriculture and the informal sector.

Hence we suggest that adequate recognition should be made of the unpaid works of the rural women to increase their self-esteem and to improve their image in the family and society at large. Also access to and control over production and market resources such as access to training, credit, employment, technical skills, entrepreneurship etc, by women should be increased while recognising that the goal is not to burden women with two full time jobs. We should also take all appropriate measures to ensure that care responsibilities are equally shared by men and women.

After gaining the recognition of their unpaid work the second step may be to enhance the rural skill development programme especially for women to present themselves properly in the labour market. So that their income could rise and they can enjoy the better standard of living.

The present study suggests that the value of unpaid work performed by the rural women may be quantified and valued. This quantification may be linked with public social security programmes like MNREGA in which there are hundred days' job guarantee by paying them appropriate wages. But due to lack of proper co-ordination and proper job in the rural areas this type of programmes are not properly running and fail to benefit the rural population. Hence, we strongly suggest that at least rural unpaid women worker should be directly benefited through direct cash transfer in their account through JAN DHAN yojana recognising their economic activity performed in twenty-four hour time.

This paper provides a new definition of time poverty as working long hours without choice because an individual's household is poor or would be at risk of falling into poverty if the individual reduced her working hours below a certain time-poverty line.

References:-

I. Chowdhury, S. (2011): "Employment in India: What Does the Latest Data Show?", *Economic& Political Weekly,* 6th August.

II. Rangarajan, C., Padma Iyer Kaul & Seema (2011): "Where Is the Missing Labour Force?" *Economic & Political Weekly*, 24th September.

III. Dubey, A., Wendy, O. and Kunal, S. (2016), *The Decline in the Labour Force Participation of Rural Women in India: Taking a Long-Run View*, unpublished paper.

IV. World Bank (2010): *India's Employment Challenge. Creating Jobs, Helping Workers*, The World Bank, New Delhi: Oxford University Press.

V. Rangarajan, C., Padma Iyer Kaul & Seema (2011): "Where Is the Missing Labour Force?" *Economic & Political Weekly*, 24th September.

VI. Neff, D., V. Kling and K. Sen (2012), "The Puzzling Decline in Rural Women's Labour Force Participation in India: A Re-examination", *Indian Journal of Labour Economics*, 2012, Vol. 55, No. 3, pp. 407-429.

VII. Dubey, A., Wendy, O. and Kunal, S. (2016), *The Decline in the Labour Force Participation of Rural Women in India: Taking a Long-Run View*, unpublished paper.

VIII. World Bank (2010): *India's Employment Challenge. Creating Jobs, Helping Workers*, The World Bank, New Delhi: Oxford University Press.

IX. Chowdhury, S. (2011): "Employment in India: What Does the Latest Data Show?", *Economic& Political Weekly,* 6th August.

X. Mazumdar, I. & Neetha, N. (2011): "Gender Dimensions: Employment Trends in India, 1993-94 to 2009-10", *Economic & Political Weekly,* 22nd October.

XI. Dubey, A., Wendy, O. and Kunal, S. (2016), *The Decline in the Labour Force Participation of Rural Women in India: Taking a Long-Run View*, unpublished paper.

XII. Das, M.B., (2006): "Do Traditional Axes of Exclusion Affect Labour Market Outcomes in India", *Social Development Papers South Asia Series*, Paper No.97.

XIII. Dubey, A., Wendy, O. and Kunal, S. (2016), *The Decline in the Labour Force Participation of Rural Women in India: Taking a Long-Run View*, unpublished paper.

XIV. Kabeer, N. (1994). *Reversed Realities: Gender hierarchies in development thought*. London; New York, Verso.

XV. Jahan. (1989). Women and Development in Bangladesh: Challenges and Opportunities. Dhaka: The Ford Foundation.

XVI. Dubey, A., Wendy, O. and Kunal, S. (2016), *The Decline in the Labour Force Participation of Rural Women in India: Taking a Long-Run View*, unpublished paper.

XVII. Ibid

XVIII. Ibid

●

HERMENEUTICS AND TRANSLATION: SOME REFLECTIONS ON APPROACHES TO LITERARY TRANSLATION IN THE GERMAN TRANSLATION TRADITION

DR. OM PRAKASH*

The practice of translation is probably as old as the human civilization itself. Today we live and interact with each other in a world which is both - multilingual and global. This world is strongly conditioned by the need for interpersonal communication, which takes place either through a common third language or through translation. This is a clear proof of how our life activities are inconceivable without translation. The German translator Klaus Reichert rightly said that man is a being that "relies on translation as it does on the air"[i]. An apt and famous quote about the significance of translation comes from the American poet Paul Engle, who wrote the following words in his foreword to his anthology of literary translations *Writing from the World II* (1985):

> "As this world shrinks together like an aging orange and all peoples in all cultures move close together (however reluctantly and suspiciously) it may be that the crucial sentence for our remaining years on earth may be very simply: TRANSLATE OR DIE."[ii]

When we look at the role of translation in the field of literature we notice that the *world literature*[iii] as a concept could become possible only through translation, which is more appropriately termed as *literary translation*. Germany is the largest publisher of the literary translations of the Anglo-American literature as well literature of different languages of the world. Every year Germany's Frankfurt hosts world's largest book fair *Die Frankfurter Buchmesse*, which is attended by innumerable publishers representing almost every country in the world. What is not commonly known is the fact that the *Frankfurt Book Fair* which was founded in its current format in the year 1949 has a long precedent dating back more than five centuries before Gutenberg invented the printing press. It is therefore not surprising to see that we witness a great range of theoretical discussions accompanying the actual practice of literary translation in the German tradition. However, this paper will focus on the discussion on literary translation in the writings of the noted German translation scholar and major hermeneutic thinker Friedrich Schleiermacher.

Literary Translation and Hermeneutic

The translation of the Bible from ancient Hebrew and ancient Greek into German done by the German theologian Martin Luther (1483-1546) in 1520s is a major event in the history of Europe. It led to the famous protestant reformation movement as the translation of the Holy Scriptures brought it closer to the masses which were hitherto unable to understand the meaning of the text without the same being interpreted by the class of clergy. In 1530 in his work *Sendebrief vom Dolmetschen*, Luther tried to explain his strategy that he used in his translation of the bible. He argued as follows:

> (...) because you don't have to ask the letters in the Latin language, how should you speak German, (...), *but you have to ask the mother in the house, the children in the streets, the common man in the market about it and the same in the mouth see how they speak* and then interpret; then they understand and notice that one speaks German to them.[iv]

As it is evident from the above quote, the comprehensibility of the translation was central to his strategy as a translator. Instead of translating a text literally, he stressed on the *understandability* of the text which is more important to the reader. Scholars are of the view that Luther's translation of the Bible was the first major translation work which had a significant bearing on the development of the German language as it paved the way for emergence of a standard form of German known as *Neuhochdeutsch*. Before its standardization, the language was divided into many dialects that were limited in reach as they were spoken and understood only regionally. Its contribution to the German language has been recognized by German intellectuals and writers, including Herder and Goethe. Goethe even claimed that the Germans became a *Volk*, a nation through

* Assistant Professor, Department of German Studies, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

Luther[v]. And for Herder, Luther was the one - "who woke up and untied the German language, a sleeping giant"[vi]. He was to him someone who "raised a whole nation to think and feel."[vii]

After Luther, for a long time there was not much change or novelty in the theoretical understanding guiding the principles of translation. The next paradigmatic shift in understanding the nature of translation came in the period of romantics which was a pan European movement. Friedrich Schleiermacher was one of the most influential German philosophers of the late 18th Century who belonged to the school of romantics. He was not only a philosopher, but also an eminent classical scholar and theologian. Much of his philosophical work has dealt with the philosophy of religion, but from today's philosophical perspective, his theory of text interpretation, *hermeneutics*[viii] and theory of translation deserve the most attention. In 1813 he read his foundational treatise on the various methods of translation *Ueber die verschiedenen Methoden des Uebersetzens*, which is borne out of his own experience as a translator[ix] and which is one of the most discussed works in translation theory. According to Annette Kopetzki (1996), he is the first modern scholar to have pioneered a "methodical path" for translation theory. One of Schleiermacher's most important philosophical contributions concerns the theories of interpretation, or hermeneutics. According to him, every interpretation always has two sides: one linguistic and the other psychological side. The basic task of linguistic interpretation (which is based on the principle of the meaning of a word) is to infer the general rule from the particular known uses of a word, i.e. to find its use and then its meaning. The psychological interpretation instead focuses on the author's individual psychology. Linguistic interpretation is mainly concerned with what is shared in a language. Psychological interpretation with what is characteristic of a particular author. According to Kopetzkie, this is the first time that the dialectic between "the creative use of language by every individual and language as a conventional, rule - based structure" is so pointedly expressed. For Schleiermacher, thinking is essentially dependent on language and is limited by it or is even identical to it. This is how he argues in his famous treatise on the various methods of translation:

> Everyone is on the one hand in the power of the language he speaks; he and his whole thinking is a product of it. He cannot think with complete certainty anything that is beyond its limits; the form of his concepts, the type and the limits of their connectivity is predetermined for him by the language in which he was born and raised; understanding and imagination are bound by them.[x]

This conception of language is, according to Friedmar Apel (1983), in contrast to the rationalistic theory of language prevalent since the period of *Enlightenment*, in which words were regarded as representatives of universal things and thoughts.[xi] For Schleiermacher, the *how* and *what* of the meaning are dependent on each other. The various specific meanings that a single word typically carries and which are normally distinguished by a good dictionary entry actually always form a larger semantic unit to which they each essentially belong. The ideal interpretation is inherently a holistic activity. A particular piece of text must be interpreted in the light of the entire text to which it belongs, and both must be interpreted in the light of the broader language in which they are written, in the larger historical context, in the entire corpus of the author, and in the general psychology of the author. Such wholeness leads to an omnipresent *circularity* in the interpretation, because ultimately the interpretation of these more comprehensive elements in turn depends on the interpretation of such pieces of text. The interpretation of the text informs the strategy and the choices of a translator.

Schleiermacher differentiates between the two traditional types of translation: paraphrasing and adaptation. These types of translation are related to the particular perception of the language. About paraphrasing Schleiermacher argues that it seeks to overcome the irrationality of languages, but only in a mechanical way:

> It means that if I cannot find a word in my language that corresponds to that in the original language, I will try to achieve its value as far as possible by adding restrictive and expanding provisions. (...) In this way it can perhaps reproduce the content with a limited degree of accuracy, but it completely dispenses with the impression (of reading the original text); for living speech is irretrievably killed in that everyone feels that it could not originally have come from the mind of a person.[xii]

The adaptation, on the other hand, bends under the irrationality of languages:

> It admits that one cannot produce an image of a work of art of speech in another language which, in its individual parts, corresponds exactly to the individual parts of the original, but nothing remains with the difference of languages, with which so many other differences are essentially connected other than to work out an adaptation, a whole, composed of parts noticeably different from the parts of the archetype, which nevertheless comes as close in its effect to the whole as the difference in material allows.[xiii]

But neither paraphrasing nor adaptation is example of an actual translation for him. In his opinion, the actual translation has not yet been practiced by a translator. So far, says Schleiermacher, the translators have only followed one of two possible methods – *foreignizing* or *domesticating* when translating a work of literature:

> Either the translator leaves the writer in peace as much as possible and moves the reader towards him; or he leaves the reader in peace as much as possible and moves the writer towards him. The two are so completely different from one another that one of the two must be pursued as strictly as possible, (...)[xiv]

In the first case the translator tries to through his work to replace the understanding of the original language, which he lacks, for the reader. He tries to convey to the readers the same picture, the same impression which he himself has gained by knowing the original language of the work as it is, and thus to move them to a place that is actually strange to them. But if the translation wants its Roman author to speak, argues Schleiermacher, as he would have spoken and written to Germans as a German: it does not just move the author to the place of the translator, because he doesn't speak German either, but rather Roman, rather it moves him directly into the world of German readers, and transforms him into theirs; and this is the other case. Between the two contrasting approaches of *foreignizing* and *domesticating* methods, the preferred choice for him is the former. According to Sdun (1967), Schleiermacher aims to find "a middle way"[xv], "on which the translator tries to remain true to the original, but within the limits of his own language". Schleiermacher expresses himself as follows:

> (...) one must admit that an indispensable requirement of this method of translating is an attitude of language that not only is not commonplace, but also allows punishment for the fact that it has not grown entirely freely, but rather has bent over to a strange likeness; and one must confess to do this with skill and measure, without disadvantage of one's own and without disadvantage of language, this is perhaps the greatest difficulty which our translator has to overcome.[xvi]

Schleiermacher admits, however, that the actual translation is only possible if one accepts that languages are not a reflection of each other. Like Herder and Schlegel before him, Schleiermacher starts from the irresolvable strangeness of the original, which one can only approximate but not fully accomplish. In this sense, the translations are not a substitute for the original. That is why he sees it as an essential task of the translator to show that a perfect translation that corresponds completely to the original is impossible. And the translator can do this by translating his text in a *foreignizing* way.

Conclusions:

The most important contribution of Schleiermacher to the theory of translation is the insight that a work of translation is inseparable from *Hermeneutics*, the art of understanding a text. It is the interpretation of the literary work that determines and shapes the understanding of the translator, particularly the question about the essential uniqueness of the literary work which he tries to deliver so that the translation is able to retain some of the uniqueness of the original work.

References:-

i Klaus Reichert (2003): *Die unendliche Aufgabe zum Übersetzen*. Carl Hanser Verlag: München. Pp. 9.

ii Bijay Kumar Das (2005): *Twentieth Century Literary Criticism*. Delhi. Pp.168.

iii The concept of World Literature is usually traced back to the great German writer Johann Wolfgang Goethe's neologism *Weltliteratur*, most notably in a diary entry in January 31, 1827. Refer to: http://mason.gmu.edu/~ayadav/Goethe%20on%20World%20Literature.pdf

iv Martin Luther (1530): *Sendbrief vom Dolmetschen*. In: Stoerig, Hans Joachim (1973): Das Problem des Übersetzens, Pp. 21. Translation and emphasis is mine.

v In his letter of May 28, 1819, Goethe remarked: "And so it was only through Luther that the Germans became a people". Please see: Wolfram Wills (1977):

Übersetzungswissenschaft. Probleme und Methoden. Stuttgart. Pp.36.

vi Ibid

vii Ibid

viii Hermeneutics as the methodology of interpretation is concerned with problems that arise when dealing with meaningful human actions and the products of such actions, most importantly texts. See a detailed discussion here: https://plato.stanford.edu/entries/hermeneutics/

ix Schleiermacher's German translation of Plato's works is still widely used.

x Schleiermacher, Friederich (1813) *Ueber die verschiedenen Methoden des Uebersetzens*. In: Stoerig, Hans Joachim (1973): Das Problem des Übersetzens, Pp. 43.

xi Friedmar Apel (1983): *Literarische Übersetzung*. Stuttgart:Metzler. Pp. 19.

xii Schleiermacher, Friederich (1813) *Ueber die verschiedenen Methoden des Uebersetzens*. In: Stoerig, Hans Joachim (1973): Das Problem des Übersetzens, Pp. 45-46.

xiii Ibid. Pp 46.

xiv Ibid. Pp 47.

xv Winfried Sdun (1967): *Problem und Theorien des Übersetzens in Deutschland vom 18. bis zum 20 Jahrhundert*. München: Max Hueber Verlag, Pp.57

xvi Schleiermacher, Friederich (1813) *Ueber die verschiedenen Methoden des Uebersetzens*. In: Stoerig, Hans Joachim (1973): Das Problem des Übersetzens, Pp. 54.

UNIT OF EMPOWERMENT: WOMEN, LABOUR, AND LAND

DR. SUSMITA SINGH*

The term "empowerment" is not a new concept, and its emergence could be traced back to the period of late 1960s and 1970s, and in particular, the (western) feminist movements, and Paolo Freire's theory which was based on the development of a critical conscience by popular education[1,2].

The ability to participate, to make a decision, to challenge inequality and oppression, to choose from a range of choices, control over own life, et cetera, are some words which usually consider defining the term empowerment[3]. The actual term 'empowerment' was first commonly used in association with the western (or global north) women's political movement. However, the current usage of the term first appeared in the book '*Black Empowerment: Social Work in Oppressed Communities* (1976)' by Barbara Bryant Solomon. Its definition also gets refined and accentuated by non-western, non-white feminist and thinkers, such as black feminists, global south feminists include south Americans, Asians or Africans.

The word 'empowerment' is used and defined in many different contexts and by different organizations for different purpose and agendas. Human Development Report of the United Nation Development Program has considered empowerment is one of the most essential aspects of human development-"*development must be by people, not only for them*". For Oxfam, 'Empowerment involves challenging the forms of suppression which compel peoples to play their part in the society on terms which are inequitable, or in ways which deny their existential rights'[4]. Rowlands defines empowerment as a bottom-up process through which one not only have access to the decision-making but also being able and entitled to occupy the decision– making space[5]. There is a variability and frequency difference in the women empowerment projects upheld in different parts of the world, like needs and issue of women of the global south is different from the global north.

The 'Empowerment' encompasses diverse strands of issues- woman's sexuality and reproductive rights[6,7]; exclusion of women from 'the right to property' especially land[8,9,10]; gender-based division of labour[11]; the sexual division of labour[12]; lack of choice and control over social resources[13]; illiteracy[14]; cultural factors[15] and ideological phenomenon[16]; unequal distribution of power, and honour of the society in women's body[17].

For Indian women, the main hurdle to her empowerment is ignorance and illiteracy, stereotyped cultural attitudes, lack of confidence, lack of economic accessibility, burdened with domestic responsibilities. Also, on the policy implementation side, lack of will of the administrative officials and political leaders, corruption, weak interconnectivity between government and state's machinery, weak delivery mechanisms, low adaptability, and slow feedback response and reflexivity, lack of awareness among women, are some of the factors for the low level of development on women's issues through legislative approach[18].

So, if we have to define the gender discriminated system, then, based on gender, the unequal access to resources and information, social position or status dictate by cultural norms and values; the roles, the rights and related obligations are defined, enforced and reproduced by its institutionalised branches, is enough to put in its definitional frame, which affects almost every aspect of human functioning[19].

Family, Kinship and Gender Construction:

Leela Dube (2001) argued that Gender roles are conceived, enacted, and learnt within a complex relationship which can be understood under the implications of the family structure and the wider context of kinship -

- A family structure is a function of demography, includes the rules of recruitment, and lineage reproductive process which maintains the successive generational replacement. Also, Family entails 'objective' and 'specific' contribution of members to the functioning of the family- the apportionment of family resources, gender and age-based division of

* Assistant Professor, Department of Sociology, Banaras Hindu University, Varanasi

labour, and the naturalization of roles of male and female children according to societal norms and values. It gives the notion of entitlement to its members - accessibility to shared food, health care, education, and shared conversation.

- Kinship is a moral code and an organizing principle. It governs the recruitment of individuals in social groups, the legalisation of marriage and formation of the family, resource distribution including inheritance, and directing the obligations and responsibilities to the group's members. The kinship system is central to the understanding of the process of socialisation- like, control and monitoring of female's sexuality until her marriage. Motherhood is considered the highest achievement in a woman's life. However, there is considerable diversity across regions and social groups. The distinction between feminine work and masculine work becomes sharper as the child grows up.

But, now, it is a well-known fact that sex signifies the biological identification of male and female of an individual, and gender is a psychological, social, and cultural construction (of masculinity and feminity). A newborn baby is not only classified immediately by sex but also get assigned to a gender.

There are four processes of the social construction of gender. In the first process, the mother and other family members tend to infuse child with gender traits. The second process involves directing the attention of child onto particular objects or aspects of objects which are assigned by gender. In the third process, a boy child or girl child is naturalised by their parents or relative to think differently, according to the assigned gender, by the differential use of gender-specific descriptions and labels. The last process where both male and female children are exposed to masculine and feminine activities, and get domesticated[20]. A case study of Gaddi population of Himachal Pradesh, it has been found that when the daughter attains the age of 12-14, she takes over the much of the work in a household like cleaning utensils, fetching water from the nearby water sources, babysitting[21]. These social expectations are assigned or enforced to both sexes through a variety of practices and institutions like scolding, reprimand or punishment.

Women and Labour:

Anthropology and history suggest that the division of labour was not always a hierarchical one. Although many texts talking about the primitive society in general, and the early Indian (Vedic) period[22], in specific, that women enjoyed a high or equal status with men. But, after the settled agriculture and production of the property, the position of women deteriorated with giving preference to the male line of descent and paternal law of inheritance, which Engels called it as, "*the world historical defeat of the female sex*[23]. Thereafter, in all sphere of life, whether it is economic, social, cultural or political, the dominance of man upheld; '*the woman was degraded and reduced to servitude*'[24].

In all societies, different types of work are evaluated differently, but who will be allotted what work will depend on the variety of institutional factors[25]. According to Bardhan, peasant mode or household system of production is a cultural process, a mechanism of subordinating and controlling the women's labour. This cultural process is regulated by gendered division of work, and segregation between domestic and public sphere for female and male, respectively.

Although, the Marxist scholars talked about capitalism works alongside, as a companion, with patriarchy in the production and reproduction of the subjugating structure. When capitalists began to organize production on a larger scale, the production became separated from the homes, excluded women from participation in the industries. Women were then forced to carry out domestic work. But, when women entered public space, i.e., wage labour market, they were at disadvantage position relative to men -women were less trained than men and less capable of organizing themselves. Men benefited more than women in the wage-labour market because women are performing dual responsibility, i.e., employment responsibility or homemaking responsibility, which weaken women's position in the capitalist market[26].

Land, Traditions, and Indian Tribal Women:

As to the fact speaks, tribal women contribute more to economic development (local economy) than tribal men[27]. Women take more work at hand than men which includes agricultural activities (often have high participation rate than men)[28], indigenous- cottage, and- handicraft productions, household chores, child-rearing, living a no more different life than urban

women. Apart from this, they are also acting like a repertoire or keepers of the cultural customs, tradition and values. The wage gap (when women paid less than men for the same amount of work) appears because her work is considered as supplementary to men's effort to make ends meet. Women and their labour are 'invisible' because they are not considered as bread-winner of family and agricultural farmer in the state economy[29].

The tribal women work through as labourers in agriculture, at industries or construction sites, or mapping the breadth and length of the forest for its natural products for her family's consumption and minor businesses, but all her economic activities don't help her to raise her status in a hierarchical gendered society[30].

The reason for the non-progressive nature of these societies mostly lie in unscientific dogmas, examples are-

- Sumi Krishna found that in Kalahandi, Orissa such belief is practised that only men should plough because menstruating women will pollute the earth[31].
- In Andhra Pradesh and Maharashtra, it was found that the knowledge of medicine relating to the healing of animals should not be taught to menstruating women despite she managed domestic livestock[32]; also, Indian society maintains "the notion of service" as a necessary quality of females.
- Also, restriction to access to knowledge and skills found in Munda-dominated villages in Singhbhum district and Oraon-dominated villages in Ranchi district[33].

In some traditions, mostly Indian tribal, the women's labour is treated as a commodity or asset which is exchanged or priced (bride-price), is mainly a tool for men to regain control over the women[34]. But, ironically, her labour is exploited in her husband's house and her natal home too, as noted by Rajani Palriwala in her case study of practice called '*aoni-jaoni*' in Rajasthan.

Exclusion of Women:

The women's exclusion from the property right has its root in traditional texts and generational practices. The land is a precious commodity. It helps the landowner to garner much power needed to access the social resources, to mingle with local power dynamics, and even to have control over the dependent person, i.e., landless or labourers. The customs were created, like *stridhan* (or daughter's dowry) for the occasion of marriage, where the absurd proportional property share are given to the married women by her family so that no term remained for her to have a share in the ancestral property, not to mention the unreasonable justification used for non-transferable nature of the paternal land. An example of a case study of *Hos* of Singhbhum by Madhu Kishwar would be enough[35], but not a general practice among tribes of India as some tribal women (unmarried or windowed) have income and property rights[36].

But, any effort or practice, either traditional or modern one, where women get the land ownership or property share met with counter-effort by men, under the influence of the patriarchal system, to snatch her rightful share (by force or deceitfully), dignity (by blaming and shaming), or even deprive her of her life– examples are :

- Witch-hunting as an attempt to denounce women as witches is an attack on women's land rights[37].
- A forced marriage where young women, against their wishes, are pushed into marriage, to grab their property share.
- In the name of family honour, many women are being deprived of property (which then transferred to her husband), If they think a woman had committed an offence and brought shame to - father's or husband's - family's dignity and respect.

Though Indian society has many belief systems, one of them is 'the symbolism of seed and earth', which ultimately explains the general mind. Leela Dube argued that on the cultural level the metaphorical use of the word 'seed' and 'earth' represents the father and mother, respectively; where the seed is needed for the fertile earth so it can produce 'nature'. These connotations paved the way for the interpretation of women role as supportive and secondary to the men.

Nothing Left for Herself:

Man control over the women's body, i.e., her sexuality and reproductive choice, and also over her labour and the related productions left nothing to decide for herself; even the control exceed to the level of community where community's leader or elders

decides what work she should do and where- happened in some Bangladesh villages and India's Punjab villages. In these villages, women face dual authority.

The money earned by women is for anything except for her or her needs; either her money went to the family's fund or household expenses, or the husband; she has no control over the money, and no say over the money earned by her husband. The practice of alienating the women from her hard-earned money is legalized by the patriarchal customs and rules[38], and also where the naturalizationsucceed infrastructural constrain – a case study of women's missed opportunity over her income and marketing related skills which transferred to men in Santhal villages of Jharkhand.

In the above discussion, we come to the point that the explanation for the position of women in pre-industrial and modern period would look for theories of female subordination and male dominance, but in the post-industrial era, it rather looks like a bargaining condition has been developed where the male has an acute advantage over women in almost every aspect of life despite critical challenges hosted by feminism[39]. Ancient traditions (and texts) and the modern capitalist system, no matter what, patriarchy finds its way through and perpetuate discriminations in favor of men to have control over women's agencies - sexuality, productive and reproductive rights, economic rights, private to public life, and even life. The patriarchal society could not move an inch without women, but would not give an inch or penny to her, not even token of gratitude. The struggle for women over labour and land don't seem to be ending anytime soon.

WORK CITED

1. Luttrell, C., & Quiroz S., & Scrutton, C., & Bird, Kate. (2009). *Understanding and operationalising empowerment*. Overseas Development Institute, London. https://www.odi.org/sites/odi.org.uk/files/odi-assets/publications-opinion-files/5500.pdf
2. Charlier, S., & Caubergs, L. (2007). *The women empowerment approach: A methodological guide*. https://www.eldis.org/document/A54300
3. Kabeer, Naila. (1999). Resources Agency and Achievements: Reflections on Measurement of Women's Empowerment. *Development and Change*, 30 (3), 435-464
4. Rowlands, J. (1996). Empowerment examined. In Deborah Eade (ed.), *Development and Social Diversity* (86-92). Oxfam (UK and Ireland).
5. Ibid. P. 86-92
6. Bardhan, K. (1985). Women: work, welfare and status. Forces of tradition and change in India. *Economic and Political Weekly*, *20* (50), 2207–2220. https://doi.org/10.1215/07323867-6-1-3
7. Dube, Leela (2001). *Anthropological Exploration in Gender: Interesting Fields*. Sage Publications, New Delhi
8. Geetha, V. (2007). *Patriarchy*. Stree, Calcutta
9. RAO, N. (2001). Enhancing Women's Mobility in a Forest Economy : Transport and Gender Relations in the Santal Parganas, Jharkhand. *Indian Journal of Gender Studies*, *8* (2), 271–290
10. Agarwal, B. (1997). "Bargaining" and gender relations: Within and beyond the household. In *Feminist Economics* (Vol. 3, Issue 1). https://doi.org/10.1080/135457097338799
11. Hartmann, H. (1976). Capitalism, Patriarchy and Job Segregation by Sex. *Signs: Journal of Women in Culture and Society*, 1(3), part 2, 137-69.
12. Bardhan, K. (1985). P. 2207–2220.
13. Bhasin, V. (2007). Status of Tribal Women in India. *Studies on Home and Community Science*, *1*(1), 1–16. https://doi.org/10.1080/09737189.2007.11885234
14. Pathan, D., Wasim, M., & Shabbir, M. (2019). Women empowerment in India : A quest from past to present. *International Journal of Reflective Research in Social Sciences*, *2* (1), 9–13.
15. Geetha, V. (2002). *Gender*. Stree, Calcutta
16. Dube, Leela (1997). *Women and Kinship: Perspectives on Gender in South and South-East Asia.* Rawat Publications, Jaipur
17. Desai, S. (1994). *Geographic Inequalities and Demographic Behaviour - India*. The Population Council, New York.
18. Vyas, Girija. (2011). Evaluating the Status of Women Rights in India. *Yojna,* 55, 14-15.
19. Kishor, S., & Kamla Gupta. (2004). Women's Empowerment in India and Its States: Evidence from the NFHS. *Economic and Political Weekly, 39* (7), 694-712.
20. Oakley, A. (2016). *Sex, gender and society*. Routledge.
21. Pandey, K. (2011). Socio-economic status of tribal women : A study of a transhumant Gaddi population of Bharmour, Himachal. *International Journal of Sociology and Anthropology*, *3* (6), 189–198.
22. Tripathi, R. S. (2014). *History of Ancient India* (ed. 10th). Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi.
23. Engels, F. (2007). The origin of the family, private property, and the state. In L. L. O'Toole, J. R. Schiffman, & M. L. K. Edwards (Eds.), *Gender violence: Interdisciplinary perspectives* (p. 12–32). New York University Press.
24. Ibid. P. 12–32.
25. Beteille, Andre. (1974). The study of Agrarian Systems: An Anthropological Approach. In Andre Beteille (Ed.), *Studies in Agrarian Social Structure*. Oxford University Press, New Delhi.

26. Hartmann, H. (1976). P. 137-69.

27. Das, Susmita. (2006). Women and Agriculture: Their Overall Role. In Bimal J. Deb and B. Datta Ray (eds.), *Changing Agricultural Scenario in North East India*, Concept Publishing Company (175-81). New Delhi.

28. Corbridge, Stuart. (2004). The Ideology of Tribal Economy and Society: Politics in Jharkhand, c. 1950-1980. In Stuart Corbridge et.al, *Jharkhand: Environment, Development, Ethnicity* (17-55). Oxford University Press, New Delhi

29. Chowdhry, P. (1993). High participation, low evaluation: women and work in rural Haryana. *Economic and Political Weekly*, *28* (52), A135–A148. http://www.jstor.org/stable/4400591

30. Thakur, Devendra, & Thakur, D. N. (1995). Tribal women. In Devendra Thakur and D.N.Thakur (eds.), *Tribal Life in India* (vol. 6). Deep & Deep Publication, New Delhi.

31. Krishna, Sumi. (2004). A 'Genderscape' of Community Rights in Natural Resource Managements. In Sumi Krishna (ed.), *Livelihood and Gender* (17-63). Sage Publication India Pvt Ltd, New Delhi

32. Ramdas, S R & et.al. (2004). Overcoming Gender Barriers: Local Knowledge Systems and Animal Health Healing in Andhra Pradesh and Maharashtra. In Sumi Krishna (ed.), *Livelihood and Gender* (67-91). New Delhi: Sage Publication India Pvt Ltd.

33. Jewitt, Sarah and Sanjai Kumar (2004). A Political Ecology of Forest Management: Gender and Silviculture Knowledges in Jharkhand, India. In Stuart Corbridge et.al, *Jharkhand: Environment, Development, Ethnicity* (148-74). Oxford University Press, New Delhi.

34. Ibid. P.148-74.

35. Kishwar, M. (1987). Toiling without Rights: Ho Women of Singhbhum. *Economic and Political Weekly, 22*(3), 95-101.

36. Krishna, S. (2001). Gender, Tribe and Community Control of Natural Resources in North-east India. *Indian Journal of Gender Studies*, *8* (2), 307–321. https://doi.org/10.1177/097152150100800210

37. Nathan, D., Kelkar, G., Xiaogang, Y., Nathan, D., Gue, M., Jingdai, M., & Nungdiem, M. (1998). Women as Witches and Keepers of Demons: Cross-Cultural Analysis of Struggles to Change Gender Relations. *Economic and Political Weekly*, *33* (44), WS58–WS69.

38. Mukund, K. (2016). Women's Property Rights in South India. *Economic and Political Weekly*, *34* (22), 1352–1358.

39. Krishna, Sumi. (2005). Gendered Price of Rice in North-Eastern India. *Economic and Political Weekly, 40* (25), 2555-2562.

●

IMAGINING THE REAL: SELECT SOCIAL ISSUES IN RAMNIKA GUPTA'S THE FUNERAL OF TRUTH

DR. UMESH KUMAR*

Ramnika Gupta (1930-2019) never shied away from the 'utilitarian motif' of her literary production. Writing in Hindi, she follows the path laid out by the *realists*. However contentious, her writing makes readers uncomfortable, hits them hard, and attempts to manufacture opinions around justice and liberation of her characters. She has consistently provided a voice to the voiceless – the dalits, adivasis, and women through socially conscious and engaging characterizations. Gupta maintains that her literary characters are inspired by the reality of their social conditions.

The present paper is a humble attempt to examine Ramnika Gupta's (short) story titled Daag Diya Sach (*The Funeral of Truth*)[i] within the general framework of caste, sexuality, and honour in the rural Indian context. *The Funeral* is an important signpost in terms of literary articulation of inter-caste marriage and the ramifications such a 'transgression' invites from the caste and honour ridden society. The length of the story does not correspond to the usual size of a usual short story. It is rather long for its genre. On a careful examination, one sees this composition as an interface between a long story and a novella. The story incorporates a lot of regional words to bring home the authenticity of the setting. The exact locale of the story, however, is not mentioned. Though after reading it, one has little doubt that it is set in contemporary north-India.

The theme of the story is that of forbidden love and corresponding forbidden marriage between a lower caste dalit boy and an upper-caste girl. The protagonist of the story is a bright dalit boy named Mahaveer, who is born dead in the narrative. Mahaveer falls in love with Malati, a Kurmi girl. Because of her insistence and continuous pressure, he elopes with her and they get married at the place of a distant relative. The aftermath of their love and the subsequent marriage brings out the brutal and intolerant character of the rural society. The caste Kurmis are at loss to find that the sexuality of 'their' caste girl is polluted by a lower caste dalit.

The purity of caste and its honour becomes the site of contestation, which in turn, provides the legitimacy and freehand in unleashing brutal violence on the lower caste individual. The purity of caste and its honour is finally 'restored' by the murder of its violator.

In addition, this nerve-racking tale explains in detail, the tensions and ramifications created by an inter-caste marriage in a rural set-up and the resultant response of the immediate community to correct the 'wrong' committed by its members. The narrative does not exhaust itself with the gruesome murder of Mahaveer but also describes the violence of community, directed at Malati for being loose and immoral and also forgetting her caste stature. The narrative further brings out the clout and impact of caste panchayats in rural India, displaying in the process, the masculine powers of these patriarchal bodies. On the whole, *The Funeral* is a heartbreaking tale of love, caste, honour and brutal violence.

More Social, Less Personal: Marriage in the (north) Indian Context

The excessive and brutal involvement of caste community in an individual's (often supposed) personal matter i.e. love and marriage is vividly revealed with the help of this story. The families of Mahaveer and Malati enjoy deep personal bonding with each other and had no problem whatsoever with Mahaveer and Malati's relationship:

> *This was a time when the love between Mahaveer and Malati was at its zenith—the story of their love has now travelled from fields to the lanes of the village and finally culminating in their own houses where they would meet after their respective fathers have gone for work! A slight whispering has also started among the members of Mahaveer's Tasha party. The members of the family, in spite of an awareness of this whispering, preferred to remain silent, thereby giving a hint that the parents of both the families had no problem with this relationship.*[ii]

∗ Assistant Professor, Department of English, Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi

The decisions of love and marriage, however, do not remain 'individual' in a society that has an obsessive caste consciousness. And the consciousness manufactured thus carries a brutal degree of hierarchy, measured always, in terms of purity and pollution. The dominant castes are often the 'pure' castes tracing their lineage to some great sage or warrior. The mixing of pure blood with the so-called polluted dalit blood has a danger of polluting the entire bloodline. Therefore, it becomes mandatory for the caste community to crush any association that threatens the idea of its purity. Such a structure of caste makes it a closed entity in which one caste crossing its predefined endogamous nature invites violence, condemnation, and disapproval. As happens in Mahaveer and Malati's case:

> *Kurmis are descendants of Shivaji- the Kurmi Shivaji, the warrior, the king – and even Sardar Patel was a Kurmi. In such a scenario, how could a lower caste love a Kurmi girl? The whole village was burning in anger.*[iii]

The anger of the village does not remain at the levels of emotions only but quite often crosses its limits and threatens the violators with dangerous consequences. The marital decision of the family is inevitably linked with the prestige of the community. In other words, a community 'claims' its boys and girls with respect to their decisions of marriage and love. It enjoys de facto 'rights of correction' in cases of violation of the community's caste norms. The community elders warn Malati's father in strong terms:

> *The news reached the elders of the village. They rebuked Malati's father Buddhan Mahto and told him in clear terms. "What do you wish? Do you want your daughter to be married to a dalit? Do you want to live in the community or not? Within ten days, find a boy and marry off your girl, otherwise, none would be worse than us. You are sullying the honour of the community. He is your friend and he must remain a friend; he shouldn't dare to become your relative. House arrest Malati if you must. We will bury them alive, in case they are again seen together.*[iv]

The utterance is both a warning and a life threat at the same time. It further hints towards the deadly nexus of caste and honour associated with the 'preserving' character of the caste. In front of caste, all other human relations are given dwarf status. The community elders do not pay any heed to the long-term friendly association between the two families. We also see here that caste is a determining factor that defines the limits of human interactions. In the story, one is allowed to make friends beyond caste but the nature of such a friendship can never be absolute. The relations of friendship fall apart when faced with the harsh reality of caste purity.

The wider community perceives Mahaveer and Malati's love affair as an infringement on its cultural norms and cultural practices. The extra emphasis on the prospective dalit groom hints towards the violation of caste and kinship codes. It needs to be mentioned here, again, that the social institution of marriage provides the operational link between caste and kinship. The Kurmis have a firm belief that if Buddhan marries his daughter Malati in his own caste, the same will provide solidarity and strength to the caste group. On the other hand, doing the opposite of it will only weaken the uniform structure of caste brotherhood. Further, such a breach will also set a dangerous precedent for the caste group, which maybe imitated by the other girls in future. Hence, it becomes necessary to dismantle such an attempt in its infancy.

Minority vs. Majority: The Capital of Numerical Relations in Marriage

One of the major ways by which such dismantling becomes possible is the binary of minority and majority in caste relations. The story attempts to bring out the structural disadvantage that Mahaveer's dalit community faces in comparison to the Kurmis who are in majority. The violent behaviour of Kurmis gets strengthened due to the awareness that they are more in numbers. By the law of logic also it can be stated that a minority is a minority because it can never overpower the majority. The Kurmis seem aware of this logic in the narrative. One can observe the numerical strength getting revoked when Malati defies the norms by not supporting her powerful caste and speaks for Mahaveer and his family instead:

> *None could be at ease with the truth uttered by Malati. The entire panchayat was unable to digest Malati's truth. The girl who belonged to four hundred houses was speaking the truth of ten houses. How could that be possible? Four hundred houses… Ten houses…! She should have spoken the truth of four hundred houses but she was speaking the opposite.*[v]

These incidents prove that Mahaveer's caste suffers at the hands of Kurmis not only in terms of numbers but also in terms of caste and economic status. Drawing from the general argument of M Harris' book titled *Caste, Class and Minority*, 'minority is a subgroup within a larger society and its members are subjected to disabilities in the form of prejudice, discrimination, segregation or persecution at the hands of another subgroup usually called a majority.[vi] Powered by this idea of being superior both in numbers and status, the Kurmis become hyper-aggressive to keep intact the endogamy of their caste status. Such a stand, in turn, reveals the darker side of the powerful majority with graphic display of horror and violence, on the unarmed Mahaveer and Malati both, for attempting to engage in forbidden love and forbidden marriage.

Unleashing Violence, Restoring Honour: Contextualizing Mahaveer's Death

Once the transgression of Mahaveer and Malati becomes public, Malati's caste community springs into action. The narrative reveals that there develops a strong unity among the caste men to punish the offenders and create an example for future generations. Mahaveer's defiance against the normative structure of caste superiority of Kurmis provokes the majority community to teach the offender a stringent lesson. In a graphic description, the author depicts the circumstances thus:

> *A group of young males shouted from the other side – "Kill this bloody dalit. Give him such a punishment that the people of other castes never dare to look at our girls again!"*
>
> *Mahaveer's hands and legs were tied to different pegs. Holding a big stone in his hands, Nakul Mahto ran towards him.* […] *Meanwhile, Arjun came from behind and crashed a big stone on Mahaveer's head. Mahaveer could not even cry. Then he was crushed to death with stones. His hands and legs were shivering till they had life in them.*[vii]

The story reveals the unanimous opinion of the community, which displays its will to punish those who violate community rules. The emphasis here is of course not only on the immediate offenders but also on 'the people of other castes'. The decision to kill, thus, becomes the requirement for the majority community's own survival in the narrative. Further, the community's diktat to kill is defended by the silent approval of the other members of the community. The caste members do not see Mahaveer's killing as a murder but as a mere punishment that one has to bear for violating caste restrictions. In this episode, the *izzat* of the village and Kurmi caste is accorded preference and proceeds in a parallel manner. The villagers in general and primarily the Kurmis, invoke the izzat of caste and village, to justify the brutal and inhuman murder of Mahaveer.

Policing Female Sexuality, Preserving Honour: Analyzing Malati's Characterization

Malati poses the greatest threat to the *izzat* of her (caste) community in the story. Her decision to love and then subsequent elopement with a dalit boy Mahaveer threatens to bring shame for her family and the caste to which she belongs. However, her own family does not mind her relationship with Mahaveer. The behaviour of Malati's family fractures the chronology of 'felt' honour that travels from individual to family, from family to caste, and from caste to wider community. Here, in this case, the community takes upon itself the task of preserving family, caste, and community honour.

Malati's decision to run away with Mahaveer assumes to have wide-ranging ramifications for the caste community. Her open defiance establishes her claim on her sexuality and on her body. Traditionally, in a patriarchal society, men claim the right over a woman's body. In practical terms, a man is the regulator of a woman's sexuality as well as her body. Malati's decision to choose her own (sexual) partner takes away that regulation right and brings heavy resentment among the caste people. One can discern it from the following scene:

> *"See, how this girl is chirping? Don't you know that Mahaveer is a low caste? We were all here, why you didn't choose any one of us?"*
>
> *"Is there a meaning of caste and sub-caste today? You too keep a woman, belonging to a lower caste. Mohana even eloped with a married woman. I like Mahaveer and that's why I married him. Love is not possible forcefully – then how could I choose any one of you." Malati answered spontaneously. She could not be scared.*
>
> *"Education has turned the girl into a leader. Such a girl should be buried alive."*[viii]

Such an action supposedly brings dishonour and shame for the society and it becomes a compulsion to reorder that dishonour and shame in some way or the other. According to Veena Das, a well-known exponent of critical sociology, once dishonoured, the concept of honour starts to operate at the expense of human values and emotional sentiments for its reversal.[ix] The following incident in the story hints towards this reversal at the physical expense of Malati's body:

> *Meanwhile Arjun came up with a burning wood in his hand, pulled off Malati's saree and stripped her. He thrust the firewood into her naked thighs. "Take this, this is Mahaveer's pe**s! This burning will teach you a lesson". And then he crashed the burning firewood into Malati's womb…the truth of Malati's existence… the truth of a woman's existence!*[x]

Drawing further from Das' arguments, restoration of honour demands sacrifice of the natural bonds created either by biology or kinship. Accordingly, the Kurmis sacrifice their kinship ties with Malati during the incident above to achieve a higher degree of caste and community morality, primarily for the upkeep of honour. Further, we notice that Malati's body parts that bear the marks of punishment can be read both symbolically and strategically. The violence depicted in the scene invokes male and female sexual anatomies, thereby, hinting towards the major sites of transgression. Crashing of burning firewood across Malati's thighs and subsequent attack on her womb symbolically represents the caste male's anxiety and frustration when the woman begins to assert her reproductive freedom by choosing to mate with an individual who does not belong to the identical caste. However, this anxiety does not limit itself to the younger caste members, as one can find in the scene just quoted but also transcend to the older members of the community.

The next segment of our discussion shall bring into focus the anxiety of older caste males – represented through their participation in the panchayat proceedings in the story.

Caste Matters: Representation of Caste Panchayat in *The Funeral of Truth*

The caste panchayat, belonging to the majoritarian group, plays a pivotal role in the sequence of the narrative. It is represented as an institution that sanctions and legitimizes the punishment given to Mahaveer and Malati as well as to their families. One notices that the panchayat does not follow any official decorum or structure while passing its judgments. It turns Malati and Mahaveer's marital transgression into political and economical capital and gains from the sanctions imposed on the defaulting families. The panchayat sanctions restrictions against the offenders in an arbitrary way, though the same seems to have community approval:

> *Dhokar's entire family was tied and presented before the panchayat. Even their eight-year old girl was tied. Buddhan Mahto's family was summoned too. In the stillness of the night, people came and sat around lanterns and oil-lamps. A bonfire was built at the centre. The red flame of the fire reflected in the red eyes of four hundred Kurmis who were burning in anger. The Ravidasis were horribly scared. Their eyes turned white with fear. "Kill these bastards! Take away Dhokar's daughter and rape her - all of you…Then only this bastard will realize what is the honour of someone's daughter?"*[xi]

The extract above brings to the fore, the unrestricted powers of a caste panchayat. The panchayat is not scared of the police because even the police inspector happens to belong to the same caste. The panchayat not only becomes an apparatus to humiliate and kill Mahaveer but also ends up looting both the families of their resources. Till Mahaveer and Malati are brought back for judgment, the panchayat orders for a community feast at the expense of the offending families. It hardly requires any clarification that the decision of the panchayat to kill Mahaveer was blinded by caste prejudice. Further, its celebration of Mahaveer's death brings out the rotten character of humanity. As the narrative reports:

> *Mahaveer's corpse was lying in the open the whole night. Everybody celebrated. Khichdi, snacks and liquor were served throughout the night! That day, the man who crushed Mahaveer with stones was the hero of the whole community. The great warrior, who killed a helpless, tied man. Their honour was saved, the honour of their community, the honour of their women! The honour of women - which was given to them by men and in return the women were supposed to be the slaves of men for their entire lives. The lover of the girl was hacked to death. All women were happy. The community was happy. Who could break the rule of the*

community? Can the cattle break the fencing of its byre? Was it anything less that the community has given them all the security? The panchayat was happy.[xii]

Moving further, one could see in the story that the composition of caste panchayat is exclusively patriarchal. It is the masculinity of the younger males that makes the execution of panchayat's decisions possible. This masculinity both challenges and assimilates the participation of older members of the panchayat, thereby playing a game of mutual (re) assertion. Though at times, the young challenge and supersede the older group in the course of the story.

Conclusion

Thus, the paper has attempted to examine Ramnika Gupta's *The Funeral of Truth* from the sign positions of caste, marriage, honour and violence. The story also challenges the myth that there is no literary articulation centered on the themes of caste, marriage, honour, and violence. In a way, the narrative displays the role of literature in proposing a compelling and strategic intervention in/around the issues just mentioned. We must not miss the point that the availability of such literary expressions, again, shifts our gaze back to the prevailing social problems of our society. In fact, scholars must unearth more such writings that speak to the prevailing social realities. Such an exercise will provide a systematic stimulus to the discipline of literature itself.

References:-

i Gupta, Ramnika. *The Funeral of Truth* (Trans. Umesh Kumar). New Delhi: Indian Literature (Sahitya Akademi, 2019, Pp. 19-33, Print.

ii Ibid. P. 22.

iii Ibid. P. 22.

iv Ibid. P. 23.

v Ibid. P. 29.

vi Harris, M. *Caste, Class and Minority*. New York: Columbia University Press, 1959, Print.

vii Gupta, Ramnika. P. 29.

viii Ibid. P. 28.

ix Das, Veena. "Masks and Faces: An Essay on Punjabi Kinship." *Family, Kinship and Marriage in India*, Ed. Patricia Uberoi. Delhi: Oxford University Press, 1993, Pp. 198-224, Print.

x Gupta, Ramnika. P. 29.

xi Ibid. P. 25.

xii Ibid. P. 30.

●

IMPERIAL TONE IN J.G.FARRELL'S THE SIEGE OF KRISHNAPUR AND THE HILL STATION

DR. VIRENDRA KUMAR SINGH* & DR. KANCHAN YADAV**

J.G. Farrell's *The siege of Krishnapur (1973)* deals with the 1857 uprising and massacre at Captainganj and the siege of the British community in Krishnapur and is divided into four parts. The story of this fictitious town 'Krishnapur' is a retelling of the Siege of Lucknow, based on the contemporary accounts, letters and diaries of the British colonialists who safeguarded their residency against the Indian Sepoys for several months during the mutiny.

The attack on British rule in India is due to the use of the rifles that go against religious beliefs of the Hindus as well as the Muslims. Life goes on as usual in Calcutta with a choice of amusements for upper class members. George Fleury along with his sister arrives from England and socializes with Mr. Hopkins, the Collector, whose wife is returning to England and also he comes in contact with the Dunstaple family. They go for picnics and meet officers of Captainganj, and Fleury meets competition with Lieutenant Stapleton for Louise Dunstaple's attention.

The Collector is the only person to sense trouble brewing when chapatis begin to mysteriously appear around the soldier's camp in Krishnapur. The Collector gets the mud ramparts erected and leaves for Calcutta to presage other officials of the approaching danger. No one pays attention to his warnings and soon afterwards there is an atrocious rebellion at Captainganj which leaves several British soldiers dead. All of the soldiers including the Eurasians and the British citizens take refuge in the Residency area. Fortifications are erected and they defend themselves against a series of attacks by the Indian Sepoys who were British employed soldiers. The novel also deals with the mention of 'The Great Exhibition of London' (1851), another major event of the time.

As the siege advances, several moral and practical tensions occur. The Native Christians are prohibited from entering the compound for the sake of saving food supplies. Also, there is debate over the food allocation and the burial of bodies. Condition worsens with the progress of siege and religious faith and the "cultured" society is put to the test. The Padre becomes convinced in Fleury's case that he needs to renounce his sins, and the priest becomes ever more ardent in his lectures and in his discourse with the Collector. Fleury and Louise come closer with the progression of the siege, also Harry and the 'fallen girl', Lucy Hughes become close. The Collector becomes ill and a final withdrawal is made into smaller and more protected fortifications. The Prime Minister along with Hari is kept unofficially as hostage in the hopes of thinning the enemy attacks, although the Collector ultimately lets the men go.

With the attack of Cholera on the community, Dr. Dunstaple comes in disagreeing terms with Dr. McNab's incompetency, and in order to win an ongoing public argument, Dr. Dunstaple gulps down a deadly vial of rice water, a liquid from a cholera affected person. With the beginning of the September month the group becomes frantic, and hunger and anguish set in. The social customs are nearly fully ignored; an auction is attempted where Rayne shows up with his deceitful bidding. An unequal distribution of the depleted food stores is done.

The Sepoys attack many times during the siege but the community members survive each time either by luck or by several military tactics. Ultimately, a large attack comes from the enemy and the British recoil to the banqueting hall which is their final stand. The community uses every possible object as ammunition. Finally, a relieving army arrives in order to save the besieged group. George Fleury and the Collector meet several years later in Pall Mall. The Collector's stay in Krishnapur brings about a drastic change in his attitude regarding culture and the idea of progress.

While working on *The Hill Station* J.G. Farrell accidently got drowned. This novel along with Farrell's 'Indian Diary', which he wrote during his trip to India was published in Britain by Weidenfeld and Nicolson. It also includes essays by John Spurling, Margaret Drabble, and Malcolm Dean which are about

* Assistant Professor, Department of English, Banaras Hindu University, Varanasi
** Lecturer in English, Govt. Polytechnic, Moradabad

J.G. Farrell and his work. The novel is half finished and is set in 1871 in India. The protagonist is Dr. McNab who is taciturn and also skeptical. McNab and his wife Miriam are the survivors of Krishnapur. They along with their niece Emily, travel to the hill station, Simla to spend the summer there. Dr. McNab unwillingly gets drawn in a doctrinal disagreement between the Anglican Bishop and Mr. Kingston, a controversial priest who wants to bring in more ritual into the Anglican service at Simla. The Hill Station is on a smaller scale than his previous novels, based on an incident of theology rather than on a war or rebellion.

The selected novels are in third person narration and provide the reader different perspectives of the characters. Farrell works as an omniscient narrator in his novels. The incidents in *The Siege of Krishnapur* are arranged in a logically ordered sequence and they arouse interest and suspense. There is continual interaction between the characters and the incidents portrayed. Farrell displays his skill in creating living characters. The techniques and language used in the narration of the historical incidents make it fictional. Although J.G. Farrell has attempted to remain true to the facts as he has used the diaries, memoirs and letters written by the eyewitnesses, yet the incidents would have been filtered through the consciousness of the writer. Several incidents in the novel resemble the events of history.

Voices of the Colonizers

Farrell's cast of characters in *The Siege of Krishnapur* goes along with the excitement of its battle scenes. Various characters are depicted, however with different responses to the hardships of the siege which provides a level of human interest and a peep into the writer's mind. A comprehensive study of the British characters has been done and the Indians have been marginalized.

Major characters in the novel are the Collector Hopkins, Fleury, Harry, Padre Magistrate, McNab and Dunstaple among whom Mr. Hopkins, the Collector, plays the role of the protagonist. His role is significant throughout the novel. He perfectly fits in the frame of the British claim of White Man's Burden. He can be seen on the civilizing mission to India as he is determined to bring the superior Western civilization to India. It is the Collector who foresees the impending danger and orders to safeguard the residency which helps a lot during the siege and the garrison sustains until the help arrives, "Just supposing that serious trouble should break out in Krishnapur…an insurrection, for instance,…where could we find shelter? Could the Residency, merely as a matter of interest, of course, be defended?"[1]. He orders to dig a deep trench along with a thick wall of mud for proper drainage during the monsoon season around the boundary of the Residency compound. Many of the characters disagree with his this idea of mud ramparts for defense but he is firm with his decision. He is well aware of the talk behind his back but doesn't pay heed to it. Hesays to Dr. McNab, "Doctor, I'm well aware of what is being said about me in the cantonment on account of the mud ramparts down there."[1].

The collector is devoted to the British culture and civilization. He is very keen to bring the idea about Englishness, religion, civilization, technology and life to India. He came to India with full of ideas about crop rotation, hygiene and drainage and devoted a significant part of his wealth to bring out to India European art and science. His love for British culture and civilization can be seen in the Residency at Krishnapur which is full of machines, statues and paintings. His efforts of bringing civilization to the natives are expected to be laughed at but he remains still in his conviction.

Farrell has sketched the character of Collector as a well-wisher of India. He has been depicted as a benevolent and progressive man beyond the boundaries. In his words, "What use it is if we bring the advantages of our civilization to India without also displaying a superior morality?... The foundations on which the new men will build their lives are Faith, Science, Respectability, Geology, Mechanical Invention, Ventilation and Rotation of Crops!"[1].

Farrell has depicted him as a person who is benevolent, moral and consistent even in tough situations, he has concern for the natives even during the Sepoys' attack on the residency. He wants the human race especially Indians to be familiar with the superior culture and civilization of Britain. Farrell has depicted him as a humanitarian. Out of concern he states, "Can it be that the Indian population will ever enjoy the wealth and ease of the better classes?"[1]. Although he is in perilous condition during the siege, he records the reaction of the natives and feels good for them, hence proving himself a quintessential 'White man' as what the British claimed. He exclaims, "How happy they are!' thought the Collector, in spite of the pain. 'It is good that the natives should be happy

for surely that is ultimately what we, the Company, are in India to procure…'"[1]. The mutiny of the sepoys makes him think why the natives want to return to the anarchy rule despite the beneficial rule of the Company. He fails to understand why the religious matters are too serious to reject the superior culture of the British.

Collector has strong faith in human perfectibility although gradual loss in it can be seen in the later parts of the novel. He is so keen to bring the superior civilization and morality to the natives that even during the siege he discusses with Magistrate and Fleury about it, "All the same, I should go so far as to say that in the long run a superior civilization such as ours is irresistible. By combining our advances in science and in morality we have so obviously found the best way of doing things."[1].

He is a mature man who reacts sanely without losing his temper. He detains Hari, the Maharaja's son inside the residency for the safety of his people as the condition of the residency worsens. He is disheartened by the unfortunate situation and weeps silently, "And as he dug, he wept. He saw Hari's animated face, and numberless dead men, and the hatred on the faces of the sepoys..."[1]. It is he who takes care of the entire residency, listens and solves the complaints of the women, manages to bring the harmony between the two doctors and is always optimistic. During tough times he washes his own clothes and manages to make others wash theirs for themselves. It is he who keeps the faith and makes others too optimistic regarding the situation.

As a person he proves himself a perfect ideal leader who sets example through his actions which motivates the others to follow him, "He had not washed merely a handkerchief either…his underclothes, too, had a grey look, and so did his shirt, whose grey cuffs peeped from beneath the dirty, tattered sleeves of his morning coat. He had done it all himself and without soap."[1].

The immediate repercussions of the Siege, the experience of physical horrors and psychological fallout make him realize that humanity is above all. He in the penultimate chapter of the novel states, "All our actions and intentions are futile unless animated by warmth of feeling. Without love everything is a desert. Even Justice, Science, and Respectability.'…He had nothing left now from the Exhibition."[1].

Another major figure in the novel is Fleury who many a time disagrees with the others including the Collector on the issues of superior civilization. Fleury can be perceived as the mouthpiece of Farrell as he dares to differ from the imperial standpoint. He interrogates the imperialist mindset and boldly proposes his opinions and beliefs. He has arrived lately to India and is extremely curious to know the people and the country. Although he has less experience of war, during the siege he is constantly involved to safeguard the residency and plays a significant role in sustaining it till the help arrives. He often makes the Empire uncomfortable by posing questions and by disagreeing with the 'white man's claim' at several instances. He asks the Treasury official, "Why, if the Indian people are happier under our rule, (why) do they not emigrate from those native states like Hyderabad which are so dreadfully misgoverned and come and live in British India?"[1].

Where the Collector, Padre and others praise and hold high opinions about the Great Exhibition of 1851, Fleury on the contrary doesn't agree with them. Although he can't put his view emphatically in front of the Collector, but before Hari he criticizes 'the Great Exhibition' and speaks with conviction, "…what I mean is that the Great Exhibition was not, as everyone said it was, a landmark of civilization; it was for the most part a collection of irrelevant rubbish such as your ancestors might well have collected."[1]. He goes on explaining the unnecessity and irrelevance of the Exhibition:

> Take the Indian Court in the Crystal Palace, it was full of useless objects. There were spears, a life-sized elephant with a double howdah, swords, umbrellas, jewels, and rich cloths…the very things you have just been showing me. In fact, the whole Exhibition was composed merely of collections of this and that, utterly without significance….what I mean is that collections of objects, whether weapons or sea-shells or a life-sized stuffed elephant, are nothing but distractions for people who have been unable to make a real spiritual advance.
>
> 'And science? Were there not many wonderful machines?'
>
> 'It's true that the Agricultural Court was often full of bushy-whiskered farmers staring at strange engines…but reflect, these engines were merely improved methods for doing the wrong thing.'[1].

Farrell, through Fleury, has presented the idea of no superior civilization. He doesn't agree with the idea of superiority attached to any civilization which the Collector believes in. Fleury questions the labels attached to anything. For him all civilization is bad and there is no superior civilization. He opines, "But what I think is this,' declared Fleury when the rubble had ceased to fall, determined at last to get his word in. 'It's wrong to talk of a superior civilization because there isn't such thing. *All* civilization is bad. It mars the noble and natural instincts of the heart. Civilization is decadence!"[1].

In the arguments of Fleury, one can see the traces of Mahatma Gandhi's *Hind Swaraj*, "Machinery has begun to desolate Europe. Ruination is now knocking at the English gates, Machinery is the chief symbol of modern civilization; it represents a great sin"[2]. As Mahatma Gandhi didn't believe in the western civilization, Fleury too doesn't believe in mechanization. While discussing his opinions with Hari he remarks:

> But the only *real* progress would be to make a man's heart sensitive to love, to Nature, to his fellow men, to the world of spiritual joy…It's just that we must change the direction of our society before it's too late and we all become like these engines which will soon be galloping across India on railway lines. An engine has no heart![1].

Thus, through the voices of these major British characters, Farrell delineates his intention regarding imperial superiority. He interrogates the imperialist mindset which considers itself superior.

Voices of the Colonized

Although the narrative of *The Siege of Krishnapur* is set entirely in India, it affords surprisingly slight exposure to the ordinary life or culture of the subcontinent. The focus falls largely on the English people and their suffering. Not talk about the voices of the Indians, even the names of the Indians are not disclosed at several places, or it can be said Farrell didn't think necessary to name them, "The Punkah- wallah had simply fallen asleep; he squatted there on the Verandah still holding the rope which led up to a hole high in the wall. Beside him the *khansamah* was buttering some toast for Fleury's breakfast…"[1]. In the initial chapters, before the siege we see that the English men at Rayne's place (crosscheck) address the Indians by the name of animals. The bearers in Rayne's house are called by the names of 'Ram (here male sheep)', 'Monkey' and 'Ant' and are made fun of:

> When the bearer returned with a glass of champagne for Fleury, Rayne said loudly: 'We call this lad "Ram". His real name is Akbar or Mohammed or something like that. We call him Ram (here male sheep) because he looks like one. And this is Monkey,' he added as another bearer came in carrying a plate of biscuits. Monkey did not raise his eyes. He had very long arms, it was true, and a rather simian appearance…presently another servant came in bearing a box of cheroots; he was elderly and dignified, but exceedingly small, almost a midget.
>
> 'What do you call this blighter?' asked Burlton.
>
> 'Ant,' said Rayne.
>
> Burlton slapped his knee and abandoned himself to laughter…'Ant! Monkey! Bring *simkin*double quick!'[1].

The Orientalist perspective of the oriental beings as primitive, innocent and docile, can be traced in the *The Siege of Krishnapur*, as we can see that despite the humiliation by the colonizers, later during the siege these bearers assist the English men to protect the Residency from the sepoys, "But Harry, Fleury and the other elderly pensioner, Ram, set to work in a frenzy. Ram was very thin and tall, and his white moustaches drooped almost to the medals on his tunic; but fortunately he had served in the artillery and knew what he was about"[1]. They risk their lives for the sake of safeguarding the residency rather than helping their Native brothers at the time. Farrell presents this description as, "Barlow and the second native pensioner, Mohammed, he ordered to take up positions on the verandah with rifles, while Fleury and Ram waited to take up sponge and ramrod once more"[1].

Similarly, in *The Hill Station*, the bearer is called a brute. Hagan, although concerned with the hungry state of the bearer, doesn't call him by his real name, "The brute must be fed,' declared Hagan sombrely…"[3]. The natives are not taken seriously by the English men, their attitude towards the natives can be seen in the statement of Ford when Burlton tells Ford and Rayne about the native's talk of the Indian sepoys marching on Delhi to revive the Mogul Empire, "The first thing one learns in India, Burlton, is not to listen to the damned nonsense the natives are always talking"[1]. The British came with the

indoctrination of Christianity and converted many natives proposing to bring them respect and equality away from the discrimination faced by them in their native religion. Nahal mentions this in *The Salt of Life* says, "Imperialism in India went hand in hand with evangelism"[4]. But the reality surfaces when the Native Christians come to the residency for shelter and the Magistrate denies taking them inside. He says:

> '…I suppose we could take in the Eurasians at a pinch but we can't possibly have any more native Christians…We have more than enough as it is. We haven't enough food.'… 'All I can suggest for the native Christian is that we give each of them a certificate to say that they've been loyal to the Government, for when these difficulties are over. They can be rewarded afterwards.'[1]

He provides them with the 'Certificate of Loyalty' to the British during the siege. The Maharajah's son Hari too comes to obtain the certificate despite his differences with the Maharajah who declines to support the British during the siege. Farrell delineates, "The whole country was rising to put the *feringhees*and their vassals to the sword; his own power was certain to increase once the Company was destroyed"[1]. This incident reminds of Nahal's Thakur Shanti Nath of *The Crown and The Loincloth*, who is the village patriarch and is loyal to the Colonial government "The crown that had brought money and honour to him. The crown that had given him power, made him feel *Somebody*"[5]. This incident suggests that the British had become aware of their strategic faults of ignoring the local Patriarchs which resulted in mutiny. After 1857 they had transferred power in the hands of the local leaders to avoid such disaster in future.

Hopkins tells Fleury about the character of rich natives that their sons are brought up in luxurious and effeminate manner. The health of the rich natives is ruined by eating sweetmeats and by indulging in other sick behaviour. It can be seen in the given lines, "Instead of learning to ride and take up manly sports they idled away their time girlishly flying kites. Everything was for show with your rich native…he would travel the countryside with a splendid retinue while at home he lived in a pigsty..."[1]. Harry too adds from his side about the physical weakness of a native, "You have to be careful thrashing a Hindu, George, because they have very weak chests and you can kill them…Father says it's a thinness of the pericardium"[1].

In this novel only one native has been individualized and he is Hari, the Maharajah's son. Although Hari's personality emerges as an individual, it is not without its own limitations. He doesn't excel as a person with a strong personality but remains a mimic man whose behaviour suggests the stereotype of a 'Babu.' Despite his substantial and powerful position he takes no interest in supporting the independence struggle of his countrymen. Unlike the other Indians in Farrell's narrative, he harbours interest for the innovations of the West, like photography along with his attachment to his native customs and prerogatives. This split in his personality makes him a comical figure. The way he is portrayed in the novel corresponds in Dyers words, "a familiar trope of white fiction, the fun made of the black or native character who tries to behave like a (white) lady or gentleman"[6]. Hari for the most part is perceived through the eyes of either the Collector or Fleury, to whom he is at best exotic and at worst imperceptive. It can be argued that Hari is merely one Indian among many who could have been represented, and his peculiar comic failings, which come from his privileged education and status, don't imply anything at all about the Indians as a class. The way he is presented in the novel, Hari, by default becomes a defining portrayal of national character. Hari can be perceived as a mediocre imitator both of his own and Western culture. "He preferred squatting on the floor to the discomfort of chairs but feared that his English visitors might regard this as backward"[1]. This idea of Hari eating a boiled egg and reading Blackwood's magazine came to Farrell during the visit of Benaras palace. He mentions in his *Indian Diary* "My rajah might be sitting in the middle of all this gloomily eating a boiled egg and reading Blackwood's magazine"[3].

"A boiled egg and *Blackwood's* is the best way to begin the day"[1]. Hari is so influenced by the western culture that he imitates it as much as he can. He tells Fleury, "Yes, I see you are looking at my coat which is also of English flannel, though bought in Calcutta, unfortunately, and cut by *durzie* from bazaar and not by your Savile Rows"[1].We don't find any understanding of Indian culture and civilization in the narrative. The way natives have been ignored there is no room for their culture and civilization. Hari is so supportive of Western civilization that he becomes

annoyed when Fleury criticizes the Great Exhibition of 1851. He says, "The wrong thing! I am sad, Fleury, that you should be so very backwards. These machines make more food, more money, save very much labour,' said Hari coldly and vanished under a tent of dark muslin hung over a frame in one corner of the room"[1].

Hari's father, the Maharajah of Krishnapur, although plays a minor role in the novel, has his own standpoint. We listen about him from others but he leaves an impact on the reader. He makes his son study from English tutors but himself is a purely native Indian Maharajah. Although he had a fine son who had been educated in Calcutta by English tutors, the old Maharajah himself was eccentric, libidinous, and spoke no English[1]. His life style was copied by Farrell again from the Benaras Palace, "The Maharajah also had lights for different moods: a blue-glass lamp for sleeping, a green one for walking, etc. and a whole variety of velvet cushions, one to go under each joint, ankle, knee etc. While he slept the servant stood by to slip cushions, one to go under each joints if he moved."[3]

Luxurious life of the Maharajah is explained to Fleury by Hari. He tells him how the colour of light signifies Maharajah's mood and activity in the room:

> Father is asleeping,' Hari explained softly. 'He has blue light for asleeping, green light for awaking, red light for entertaining ladies, and so on and so forth. To make comfortable he has cushion under every joint of body…bearer watch him to place cushion under joint when he move"[1].

Although, unlike other British novelists, Farrell has undermined British imperialism. Ronald Binns in his book *Contemporary Writers: J.G. Farrell* says: His mother remembers Farrell developing into a passionate socialist and coming home in the holidays to rail against his bourgeois background. Farrell's friend, the journalist Malcolm Dean, identified the novelist as 'a romantic socialist idealist' and recalls how Farrell used to mock people who spoke disdainfully of 'Seychelists'.[7]. Farrell showed his hatred for Hitler to the reporter of Southport Gazette. Ronald Binns quotes it, "This man, Hitler, is really a nuisance"[8]. He was a great humanist but while portraying the characters of the Krishnapur he has emphasized them and has ignored the native Indians in his text. There is general non-presence of Indian characters despite the novel is set in the subcontinent. His disregard of Indian characters and culture can be seen from varied angles. The war takes place only between the natives and the Garrisoned British, but we find no voice of the Indian sepoys. Only the British characters have been drawn in the centre. Third World characters are peripheral in Farrell's work, seen only through the eyes of European characters as comic or inscrutable.

Farrell stands tall as a novelist. He could have delivered more to the world as he was an ingenious writer. In New Statesman Derek Mahon says, "His artistic ambitions were large...He measured himself, I suspect, against the giants of modem literature; and, given the time, he might have joined them..." (qtd. in Mane).[9].

Works Cited

1. Farrell, J.G. *The Siege of Krishnapur*. London: Orion Books Limited, 1993. Pp12,37,47,53,56, 57,61, 68, 71-76, 81- 84,108,126,138, 147,159,178,193,215,235, 301 Print.
2. Gandhi, M.K. *Hind Swaraj*. Ahmedabad: Navajivan Publishing House, 1938. pp88,Print.
3. Farrell, J.G.. *The Hill Station and an Indian Diary*. ed. John Spurling. London: Phoenix. 1993. pp 3, 235, 234Print.
4. Nahal, Chaman. *The Salt of Life.* New Delhi: Allied Publishers, 1990. pp 335Print.
5. Nahal, Chaman. *The Crown and the Loincloth.* New Delhi: Vikash Publishing House Pvt Ltd, 1981. pp 250 Print.
6. Dyer, Richard. *White: Essays on Race and Culture*. London and New York: Routledge, 1997. pp6 Print.
7. Binns, Ronald. *The Contemporary Writers: J. G. Farrell*, London: ethuen.1986.pp 31.Print.
8. ---. J. G. Farrell, London and New York: Methuen. 1986.pp 18. Print.
9. Mane, Hemangini S. *Major Crises in the novels of J.G. Farrell.* Ph.D thesis. Shivaji University, 2010.Web.4 Jan.2018.pp 3.

   https://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/140153/7/07_chapter%201.pdf

●

REPRESENTATION OF CASTE IN POPULAR HINDI CINEMA

DR. SWARN SUMAN*

The present paper discusses how popular Indian Hindi cinema reflects the caste image of Indian society. The research focuses on the caste representation in cinema where protagonist is often portrayed as they belong to upper caste of Indian society. Why don't they belong to lower caste? Have we ever noticed that the name of main character is always – Kapoor, Malhotra, Khanna, Mathur, Singh etc. Do we remember any popular cinema where actor's name was Raj Mahto or Reena Paswan. Answer is – 'can't say' or 'no'. It shows the dominance of upper caste in our society and how they regulate, communicate and represent their image. Media Semiotics By David Chandler defines media representation as:- "Representation refers to the construction in any medium (especially the mass media) of aspects of reality such as people places objects, events and cultural identities. The term refers to the process as well as to its products. For instance into the key markers of identity (class, age, gender and ethnicity) representation involves not only how identities are represented within the text but also how they are constructed in the process of production and reception"[i] Such representation may be in speech or writing as well as still or moving pictures. The easiest way to understand the concept of representation is to remember that watching a film is not the same as watching something happen in real life. All media products re-present the real world to us; they show us one version of reality, not the reality itself. So, the theory of representation in Media Studies means thinking about how a particular person or group of people are being presented to the audience.

Antonio Gramsci developed the concept of cultural hegemony. This is the idea that one social class is able to dominate a society by making their way of life and values appear normal, natural, and common sense. As a result other social classes accept these values as the normal way of life. In India we often ignore the mass production of idea that is imposed on us by upper caste or dominant caste and that would maintain their strong position in society. We unconsciously assume and accept it's a general idea but consequence of that representation leads to set our mindset that they are influence people of our society and other lower caste is inferior. People of all ages and from every section of society go to the cinema frequently, and films depicting the dominance of upper caste influence the mind of the spectators. Representations provide models of how we see gender, social groups, individuals and aspects of the world we all inhabit. They are ideological in the sense that they are constructed within a framework of values and beliefs. Representations are therefore *mediated* for and reflect the value systems of their sources. No representation is ever real, only a version of the real.[ii] This is very much true with popular Hindi cinema; as it depicts caste ideology constructed in various form.

As cinema is one of the most powerful medium of mass communication; it has a great impact on the minds of the spectators, who spend almost three hours in the cinema hall. While justifying the necessity of film certification in India, the supreme court also upheld the above views in the following words-

> "…film motivates thought and action and assures a high degree of attention and retention as compared to the printed word. The combination of act and speech, sight and sound in semi darkness of the theatre with elimination of all distracting ideas will have a strong impact on the minds of the viewers and can affect emotions. Therefore, it has as much potential for evil as it has for good and has an equal potential to instill or cultivate violent or bad behaviour. It cannot be equated with other modes of communication…."[iii]

For this purpose it is better to discuss in brief about the caste system in India and Indian cinema-that affects us more than any other medium.

2. Caste System in India:

The caste system in India is a social system where people are ranked into groups based on heredity within rigid systems of social stratification. In ancient India there developed a social system in which people were divided into separate close communities. These communities are known in English as caste. The caste is a group whose members are restricted in their choice of occupation and degree of social participation. Marriage outside the caste is prohibited. Social status is determined by the caste of one's birth.

* Assistant Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Banaras Hindu University, Varanasi

3. Medium of Communication in Past and Caste

From ancient time to till now, upper caste used popular medium of communication to maintain their ascendancy. In ancient India literature, epics, drama and poetry were the main medium of communication. Ancient literature Veda, Ramayana, Mahabharata, Manusmrti, Puran etc. were the important example of how the upper caste carve out a niche for themselves. By using this tool they created superior status in society and they regulated the caste system for their own benefit. All literature was written by putting of upper caste in the centre. Protagonist always belongs to upper caste in society in all epic, literature and drama of ancient times. So this is not a new phenomenon to popularize higher section of Indian society. Still today the root of the caste system is held strongly. This social stratification exists all over and the most effective medium of communication "cinema" is not an exception.

4. Indian Cinema:

India is the largest film-producing country in the world; it produces over 900 films annually.[iv] It has evolved to a great extent after the release of first Indian feature film named "Raja Harishchandra" in 1913**.** India is multi cultural, multi-religious, multi language country and it has been explored by Indian film makers. These are good reasons to why we should study Indian cinema and its representation image.

Many film makers made movie on caste issue which is a bitter truth of our society. *Through cinema we can enter the world of caste system and see how it operates. As early as the 1930's just two decades after the first indian film was made, caste became a central issue of cinematic exploration. In films like 'Untouchable Girl' (Achut Kanya). A more sophisticated approach to caste can be seen in Sujata (of high caste), produced in 1959.*[v] There are also other caste based cinema), like Samskara (1970), Ankur (1974), Mrigayaa (1976), Nishant which dealt with the oppression by the high castes. In early days, caste based cinema was part of mainstream cinema. But later caste converted in to class and became essential feature of Indian cinema. From Brahmin to Shudra, this issue moved to higher class and middle class. It almost disappeared from Indian cinema and now only the culture of higher caste is depicted directly and indirectly. As Washington Post, a popular newspaper writes -

> After Mohandas K Gandhi's efforts to end caste discrimination in the 1930s and later during the 1970s, there was a trend toward serious caste-based films. But those movies became an old chapter in Indian cinema as soon as the country opened its markets to the world in the 1990s. Consumerism exploded, and plots about non-resident Indians living abroad became the vogue. It's the American dream turned into the Indian dream that's really seen in our aspirational cinema.[vi]

After 1990, whole world entered a new world named 'Global village'. This was a period of changes in every aspect of our society. Cinema was one of them. Market became key factor of film industry. From story of cinema to shooting location everything was decided by market. Cinema was made for NRI and crossover audiences. It can be seen in Yash Chopra & Aditya Chopra, Karan & Yash Johar's movies that how Indian culture and values are reflected in movie where Indian culture means all about Punjab and through the eyes of NRIs. Depiction of culture was obsessed by Punjabi. Indian culture was symbolised as village of Punjab, fields of mustard, dutifully applied mehendi, observed karva chauth and bhangra. From this period till now Inidan cinema has a very strong Punjabi connection. Too many movies have a bhangra song, NRI hero or heroine having roots back in Punjab. Punjabi weddings, there whole family dance and sing together. Even the lyrics and dialogue have to have words like makhna, soniye, puttar, tussi, soni, rab, kudi etc.

5. Objectives of the Study:

- To find out how the popular medium of entertainment depicts the Indian caste system
- What are the ways in which the caste system manifests in Indian cinema?
- How does the upper caste dominate their ideas and status through Film?
- What are the important reasons behind it?

6. Research Methodology

This research paper 'Representation of Caste in Popular Hindi Cinema' is descriptive, comparative and analytical. Description has been made regarding caste and their representation. After collecting data from various sources, analysis has been done. This work is primarily based on content analysis. Content analysis

has been done to the purposely selected popular cinema. Here popular means a cinema with leading stars, renowned directors, full entertainment material-song, dance, music and hit movie of that year. This movie can be also called commercial cinema which is made for mass. In this research both qualitative and quantitative methods have been used.

7. Collection of Data:

For the present research work 116 popular Hindi cinema have been selected purposely. Among these 116 cinemas, representation of caste has been chosen for the analysis. For primary source popular cinema has been chosen purposely released between the years 1990 to 2010. For this purpose movies have been viewed with the help of CDs, DVDs, Cable TVs and YouTube. From this, those movies were selected which were useful for research work. For the secondary sources books, journals, magazines, websites related to cinema especially Indian cinema have been consulted.

8. Period of the Study

The period chosen for this research work are the movies released during 1990 to 2010. These decades has been considered a paradigm shift in many fronts of the Indian society; like economy, polity, culture etc. It was the decade of 1990s when Indian economy started opening avenues for the world market. A large number of investments flooded the Indian economy. New technology started gripping the Indian industries. Indian cinema also could not escape from these changes. With the new stars, new directors, new producers, new stories and new technology started refreshing themselves for the changing mood of the spectators. But at the same time, it is interesting to watch that one thing which could not change was the representation of caste in Indian cinema, instead the upcoming movies started enforcing caste ideology strongly. This also supports the theory that caste changes its forms according to the situation, but never demolishes itself.

9. Limitations of the Study:

Although cinema has various forms for example parallel cinema or art Cinema; which are very close to reality. There are also many short films which may show other dimension of caste reality. However, this research is focusing only on popular Hindi cinema. Foreign and other Indian movies dubbed in Hindi have not been considered for the research.

10. Analysis and Findings

Caste represents itself in various forms in Indian cinema. Important among these are as follows:

10.1. Naming the Film:

Name or title of the cinema indicates what the cinema is all about. It portraits a hypothetical image of the cinema in the mind of a person. Generally name of any film is its identity. Many popular Hindi movies have its caste origin i.e. upper caste. Film name itself shows caste slavery mentality in cinema. There have been many films made whose title reflects caste dominance – *Arjun Pandit* (1999), *khatriya* (1993), *Bhai Thakur* (2000), Mangal Pandey (2007), *Singh is King* (2008), *Rocket singh* (2009), *Main Aurr Mrs Khanna* (2009), *Mittal Vs Mittal* (2010), *Mr. Singh Vs Mrs. Mehta* (2010), *Paan Singh Tomar* (2010),

All the above names like Pandit Khatriya, Thakur, Singh etc are the caste title of upper caste people in India. There are hardly any film depicting so called lower caste title like Chamar, Badhai, Dom etc. these are very ‘dull’ and ‘unromantic’ name a film can adopt for its title.

10.2. Naming of the Character:

As Shakespeare said what’s in a name? But, in Indian film industry ‘Name’ is everything. Naming the character is one of the most popular tools through which a movie depicts the caste system of Indian society. Out of 100 movies selected for this research, the caste title of all the leading characters belongs to upper caste like Amitabh Bachchan as Vijay Dinanath Chauhan in Agnipath (1990), Aamir Khan as Sanjay Lal Sharma in Jo Jeeta Wahi Sikander (1992), Shahrukh Khan as Raj Malhotra in Dilwale Dulhania Le Jayenge (1995), Salman Khan as Suraj Khanna in Pyar Kiya To Darna Kya (1998), Saif Ali khan as Karan Kapoor in Hum Tum (2004), Katrina Kaif as Jasmeet Malhotra in Nameste London (2007), Sanjay Dutt as Murli Prasad Sharma in Munna bhai MBBS (2006). Akshay Kumar as Happy Singh in Singh is King (2008), Priyanka Chopra as Meghna Mathur in Fashion (2008). Salman Khan as Chulbul Pandey in Dabang (2010). In the above caste title Chauhans belongs to one of the ruler or the warrior caste of the northern India. Sharma is a surname of Brahmin caste. Malhotra is surname originating from the Punjab region of the Indian Subcontinent. The Malhotras

belong to the Kshatriya varna (the princely military order in Vedic society). Khanna is a subcaste of Khatri who are considered warrior caste of Punjab region and surrounding; many of them are also involved in merchandising. Singh is a common title, middle name, or surname in Northern India. First used by the rulers of Indian dynasties, "Singh" gradually emerged as a hereditary title to be used as a *middle name*, highlighting connections to a warrior status or occupation. Have we ever noticed that the name of main character of the movies? Why most of the time we hear the names like – Kapoor, Malhotra, Khanna, Mathur, Singh, Raichand etc. Can we remember any popular cinema where name of the leading role character was Raj Mahto or Reena Paswan. The answer is mostly negative. When films are made then naming of the main character plays a major role. There are some essential things to naming the main character. Name should be eye catching, easy to spell and hold high status. For instance protagonist title is always Singh, Malhotra, Verma, Khanna, Saxena, Mathur, etc. But chapter of 'Name' does not end here. It's just a beginning and basic requirement (other than acting) of this industry. Could one having a surname like Paswan enter this industry as an actor. Where would he stand in this glamour world? But if you have right surname then you will get more attention.

10.3. Power and Status:

The caste domination is also depicted by power and status within a relationship created in the cinema. Max Weber's definition of power is 'the probability that an actor within a social relationship will be in a position to carry out his own will despite resistance, regardless of the basis on which this probability rests.'[vii] Apart from depiction that protagonists are from upper caste, they are also depicted as a powerful person and hold high status. Lower castes are not depicted in this frame. They're only on screen to witness the ups and downs in the lives of the upper castes. In Marxist theory of class where two sections, 'Have and Have not' exist in cinema also. Upper caste has everything – power, status, wealth etc. and on the other hand lower class has nothing but poor, struggler, sufferer etc. *Stereotypes of lower castes still haunt the industry, especially in the portrayal of Dalits, formerly known as untouchables. Lower castes are loyal and long-suffering servants. They are unsavoury rickshaw pullers. They are forbidden lovers, deserving only of pity, if they are mentioned at all.*[viii] No servant and low standard work character portraits as upper caste. Example of Peepli Live where a poor and weak man digs the soil, Journalist comes to that person and asks his name and that poor man says – Mahto.

Caste features predominantly in period films. Lagaan, for instance had an untouchable character called Kachara who lives outside the village. No one wanted him in the village cricket team except the protagonist Bhuvan (Aamir Khan), who considers him a valuable option against the British team. The film also has a character called Arjan who is a blacksmith, who is abused by the British officer Captain Russell. Yet again the film's protagonist is a high caste whose actual caste is not revealed by the filmmaker. Bhuvan could not be Kachra as low castes are supposed to be less powerful and away from the mainstream life.[ix] However it's a general mindset of our society still force us to think lower class does lower work. like Ramu Kaka, Mali, Servant, Kaamwali etc who is not depicted as Brahman, Rajput, Bhumihar or any upper caste. They always belong to lower caste of Indian society.

It is noteworthy that the power structure of movies earlier mostly showed the Marxist model of power structure where conflict was one of the necessary component of it. On the other hand, movie selected here shows a remarkable change and are very close to the central ideas of Max Weber as he sees caste as a status group. According to him, status group as a group of people (part of a society) that can be differentiated on the basis of non-economical qualities like honor, prestige and religion. The core of Weber's famous definition of power is that you have power if you can enforce your own will even if another person tries to oppose you.[x]

10.4. Dialogue and Songs of the Movie

Dialogue is oral speech between fictional characters. In Indian popular cinema dialogue is also used for showing high status. We have seen dialogues like – Baat to tum solah aane sach bolte ho Lala, Thakur sahab ham garib hain to kya hamaari bhi izzat hai. Ham thakur hai jaan de denge lekin kisi ke aage sar nahi jhukaayenge, Bhrahman ki santaan hokar tune ye kukram kiya, Brahman hokar bhi aisa kaam karna par raha hai, Ek sachcha raajput hi aisa kar sakta hai, Here are some examples -

- Recently very popular movie 'Dabang' (2010) has a dialogue of Salman khan saying to actress father for his marriage – Police ki naukri hai, Jaat ka bramahn hu, aapki beti ko khus

rakhunga. 'I have a job of Police, I belong to Brahman caste and I will keep your daughter happy'.

- Movie 'Singh is King' has a strong connection of upper caste dominance through dialogues and song. This movie clearly shows that how Indian moviemaker only popularised upper caste through the medium of cinema.

Above all, there are also housing pattern, costumes, make up and many more which create an illusion of dominance of upper caste. So there is plethora of ways in cinema where lower caste is shown inferior from upper caste.

One of films starring Madhuri dixit, 'Aaja nach le' shows lower caste depriving image through its lyrics where words was *'Bole mochi bhi khud ko sonar hai'* (cobbler calling themselves a gold smith) . Although this line has been removed from the song due to controversy. Here comparison between mochi and sonar shows the differentiation of the Indian society where Mochi is not having so much power and wealth and they are comparing themselves to powerful and rich section sonar. Other side of the coin is not racial issue rather a comment on profession because Sonar is considered as high status work where mochi is a low standard work. That was another aspect of the issue. This issue linked to profession goes to favor of upper caste. Let me clear this confusion on practical basis of our society. *In India, caste is based in part on occupation; thus, families typically perform the same type of work from generation to generation.*[xi] Today the caste system is largely affected by the economic system. Where one caste accepts other caste's profession. So today it is difficult to identify caste through its profession. But it happened only in upper caste. If we examine then lower caste still considered by their profession but it is hardly found in upper caste. In general, everyone knows, even children that mochi is 'Chamar'. Mithaiwala is 'Haluwai', blacksmith is 'Lohar'. When it comes to upper caste it doesn't exist. In general Brahmans are not Pandits, Rajputs are not considered as soldiers, Bhumihar are not land-owning.

11. Important Reasons behind these Depictions:

The above mentioned caste depiction is not always unintentionally; there is a deep rooted reason behind it. According to Karl Marx's 'The German Ideology', 'The ideas of the ruling class are, in every age, the ruling ideas: i.e. the class which is the dominant material force in society is at the same time its dominant intellectual force.'[xii] In other words, which class controls the means of production; the same class also controls the means of intellectual or mental production. Because of this people who do not control the means of mental production, their views are not given much importance. In India it can be seen everywhere that every powerful post is held by upper caste. So the medium of communication has become the most important and easy tool for popularising their culture and supremacy.

11.1. The Person behind Cinema:

The reason of this depiction is industrialism and film industry run by upper caste. In this industry they have powerful status and they often show his supremacy. They hold top position of this industry and all decision makers are upper caste. From producer to director to actor all are upper caste. Here is the name of top producer– Karan Johar, Aamir Khan, Aditya Chopra, Sajid Nadiadwala, Ronnie Screwwala, Vidhu Vinod Chopra, Ritesh Sidhwani, Anurag Kashyap, Shahrukh Khan, Mahesh Bhatt. Aditya Chopra. Here is top ten director's name - Sanjay Leela Bhansali, Vidhu Vinod Chopra, Rakeysh Om Prakash Mehra, Madhur Bhandarkar, Rakesh Roshan, Ashutosh Gowariker, Ram Gopal Verma, Karan Johar, Abhishek Chaubey, Prakash Jha, Rohit Shetty, Maneesh Sharma, Vishal Bhardwaj, Dibakar Banerjee.

11.2. Upper Caste Film Clans

From the beginning of Indian cinema till date, almost all cinema icons, directors, producers, stars, superstars are from upper caste. As a result they rule generation to next generation. Their social image also reflects in popular cinema. Here are notable Indian film clans shows the dominance of upper caste – Akhtar-Azmi, Bachchan, Barjatya, Bhatt, Deol, Devgan, Dutt, Chopra-Johar, Kapoor, Khanna, Khan, Khan- Roshan, Mukherjee family etc. The data clearly shows that industry is ruled by upper caste and there is no lower caste family.

Conclusion:

The above discussion clarifies that the popular Hindi movies are still imposing caste values through its various forms and verities. The values imposed are of upper or dominant caste. This ideology establishes a hegemonic position in society which is toughened by cinema representation to serve the interest of the upper caste, generally accepted as common sense by the

majority and is consequently difficult to challenge. Whether it is title of the cinema or naming the character; caste reflects itself everywhere. Apart from that, the profession and the power structure on the screen are in favor of the ideology of upper caste. These movies not only reinforce the caste system, but also play a great role in perpetuating them. Although with the change of time a shift from caste to class can be seen in the Indian popular Hindi cinema, but the central ideas remain the same as the upper classes in the movie are still upper caste and the lower class still belongs to so called lower caste. One can argue that what is there in the society, cinema just reflects them on the screen; but after watching the strong effects of cinema in the society, situation becomes reverse and thus cinema does not remain as a mirror of society but the society itself becomes the mirror of cinema.

References:-

i Shekh Moinuddin, *Media Space and Gender Construction,* Cambridge Scholars, UK, 2010, pg. 40

ii Dave Probert, AS/A Level Media Studies Essential Word Dictionary, Philip Allan, UK, 2005

iii Raminder Kaur, William Mazzarella ed. *Censorship in South Asia: Cultural Regulation from Sedition to Seduction,* Indiana University Press, USA, 2009, pg. 98

iv K. Gokulsing and Wimal Dissanayake, *Indian Popular Cinema: A Narrative of Cultural Change,* Trentham Books, UK, 2004, pg.10

v Ibid

vi Emily Wax, *Bollywood No Longer A Dream Too Far For India's Lower Castes*, Washington Post, https://www.washingtonpost.com/wp-dyn/content/article/2008/04/26/AR2008042602200.html (accessed Oct 05, 2020)

vii Peter Hamilton, *Max Weber, Critical Assessments 2,* Routledge, New York, 1991, pg. 232

viii Emily Wax, *Bollywood No Longer A Dream Too Far For India's Lower Castes*, Washington Post, https://www.washingtonpost.com/wp-dyn/content/article/2008/04/26/AR2008042602200.html (accessed Oct 05, 2020)

ix Merinews, *Exploring caste in Hindi cinema,* http://www.merinews.com/article/exploring-caste-in-hindi-cinema/15764538.shtml (accessed Aug 16, 2020)

x Richard Swedberg and Ola Agevall, *The Max Weber dictionary: key words and central concepts*, Stanford University Press, *California*, 2005. pg.205

xi Diana Kendall**,** *Sociology in Our Times: The Essentials*, WADSWORTH Cengage Learning, USA, 2010. pg. 217

xii Karl Marx, Selected *Writings in Sociology and Social Philosophy,* McGraw-Hill, USA, 1964, pg. 90-93

THE USAGE OF ICT FOR TECHING AND LEARNING AMIDST THE PANDEMIC IN BIHAR

DR. AMITA* & SMRITY**

The COVID-19 pandemic resulted into the longest ever nationwide lockdown imposed to curb the spread of the virus. The lockdown had a severe impact on the population as a whole and also on all forms of businesses and institutions. One such major sector was education which suffered greatly due to the closure of schools and colleges.

The pandemic created a void throughout the academia by disrupting teaching and learning process. It resulted in a transitional shift from regular classroom teaching to online or ICT based mediums. This majorly impacted the teachers as well as the students. According to UNESCO the closure of schools at the local and national level has affected as many as 1.5 billion students in nearly 200 countries; this number represents almost 90% of the global student's population.[1]

With the closure of schools due to the lockdown several private schools started using ICT based mediums by conducting classes through zoom and Google meet. This transformation from regular classroom teaching to online medium has neither been easy for the students nor the teachers. The sudden migration from traditional classroom teaching to online or ICT (Information and Communication Technology) based mediums created major problem for the teachers as they got very less time to adjust with these changes.

Many teachers are not very well versed with the new technology and neither all the students have adequate access to the mediums hence in the view of this the Bihar state government reached out to Doordarshan and FM radio channels to broadcast lessons for classes 6 to 12 during the lockdown. The state has over 70,000 government schools with over 2.4 crore enrolled students currently. At least 70 per cent of these students have access to radio or TV. With schools closed due to the lockdown to curb the spread of Covid-19, each chapter in the syllabuses of class 6 to 12 of government-run schools in Bihar is being explained through recorded videos, in order to make the lessons more comprehensive animation is being used[2].

This research paper majorly focuses on analyzing the ICT based tools used for teaching and learning processes amidst the lockdown in Bihar its penetration and challenges. It includes findings and insights from a telephonic survey conducted on 200 government school students from 2 different districts of Bihar i.e. Chapra and Vaishali. The survey was conducted in order to find out the reach and the feasibility of ICT based education amidst the pandemic. The paper also includes insights from recently published news reports and also government statistics available in this regard.

Review of literature

The COVID-19 pandemic, originating in China, has not left any part of the world untouched. Globalization and increased travel around the world has facilitated the international spread of COVID-19. All over the world, COVID-19 is causing massive loss of life and economic damage. In India, the first case of COVID-19 was reported on 30th January 2020. As on 21st June 2020, there were 410,461 confirmed COVID-19 cases, out of which 169,451 were active cases, 227,755 were cured/discharged, one migrated, and 13,254 were reported deaths.[3]

Compared to the global fatality rate which was 6.19%, the fatality rate in India was relatively low at 2.83%.[4] India still has the highest number of confirmed cases across Asia. The worst hit states of India include Maharashtra, Delhi, Tamil Nadu, Gujarat and West Bengal.

ICT and digital technologies emerged as key player in fighting the crisis due to the COVID-19. The latest ICT tools offered a plethora of alternative solutions to all the sectors including healthcare services, online delivery of goods and services, online payments, work from home and especially the education sector. The pandemic has forced every individual to take a digital approach.

∗ Assistant Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Banaras Hindu University, Varanasi
∗∗ Research Scholar, Department of Journalism & Mass Communication, Banaras Hindu University, Varanasi

Aims and Objectives

The aim was to study the usage of ICT for teaching and learning among government school students in Bihar, amidst the pandemic.

Objectives:

- To identify the ICT based tools used for teaching and learning processes among government school students amidst the pandemic in Bihar
- To find out the reach and effectiveness of ICT based education in Bihar.
- To map out challenges of depending on this medium
- To find the scope for improved action by the state

Methodology

The study results are based on analyzing reports published by the Government of Bihar on their official website, and also the news reports published in various newspapers about the usage of ICT tools for education during the lockdown. Further a telephonic survey was conducted in order to find out the reach and the effectiveness of ICT based education amidst the pandemic. For the survey 200 government school students from 2 different districts of Bihar, namely Chapra and Vaishali were selected through simple random sampling. The study closely analyzed the various ICT tools used during the teaching learning process and the content available through those mediums.

ICT interventions amidst the pandemic in Bihar

Bihar Education Project Council (BEPC)

Recently, the BEPC, a wing of the State Education department, launched a mobile application "Unnayan: Mera Mobile, MeraVidyalaya" for Class VI to XII of over 70,000 government-run schools.[5] The app was jointly developed by the United Nations Children's Fund (UNICEF), the Bihar government and Eckovation, a social learning platform. The BEPC booked slots with the All India Radio for the audio broadcast of study materials for students of Government run schools.The BEPC website has launched a new tab of digital learning on its official website.

Unnayan Model

The "unnayan model" was primarily conceived by the DM of Banka District in Bihar Kundan Kumar and Eckovation an educational startup by Ritesh Singh a Chappra born IIT Delhi Graduate, inorder to improve quality education in government secondary schools in the district. The Bihar state government has decided that the model should be implemented across the state as the model majorly focuses on teaching students of government-run schools are taught through the use of smart TV in classroom.

The app has a sequential chapterisation of different subject class wise and is quite user-friendly. It even gives the students and teachers a platform for interaction through live chat services, provides students with comprehensive content through recorded videos related to the topics. It even provides a platform for regular assessment through online quizzes.

19:51
Groups
कक्षा 11| उन्नयन
few sec ago
smrity joined the group
Unnayan Class 10 (Hindi)
few sec ago
smrity joined the group
Unnayan Class 9 (Hindi)
few sec ago
smrity joined the group
कक्षा 6 | उन्नयन
few sec ago
smrity joined the group
कक्षा 7 | उन्नयन
few sec ago
smrity joined the group
उन्नयन: Unnayan
few sec ago
smrity joined the group
कक्षा 12| उन्नयन
few sec ago
smrity joined the group
कक्षा 8 | उन्नयन
few sec ago
smrity joined the group

19:51
Unnayan Class 10 (Hindi)
Course
Discussion
Video
Quiz
Class X Boards Exam Preparation (Hindi)
0%
गणित
66 Lectures
विज्ञान
61 Lectures
सामाजिक विज्ञान
45 Lectures
हिन्दी
53 Lectures
English
60 Lectures
Get Certificate

20:13
Unnayan Class 10 (Hindi)
Course
Discussion
Video
Quiz
नाभिकीय ऊर्जा :-
नाभिकीय अभिक्रिया के दौरान मुक्त होने वाली ऊर्जा नाभिकीय ऊर्जा कहलाती है।
यह ऊर्जा दो प्रकार की अभिक्रियाओं द्वारा प्राप्त की जा सकती है :-
(1) नाभिकीय विखंडन
(2) नाभिकीय संलयन
नाभिकीय विखंडन
विखंडन का अर्थ है टूटना।
नाभिकीय विखंडन वह प्रक्रिया है जिसमें भारी परमाणु (जैसे - यूरेनियम... "Read More"
Nasim Akhtar (B.B RAM+2 School)
पर्यावरण विषयक सरोकार :-
किसी भी प्रकार की ऊर्जा का अधिक प्रयोग करने से वातावरण पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अत : हमें ऐसे ऊर्जा स्रोत का ध्यान करना चाहिए जिससे -
(1) ऊर्जा प्राप्त करने में सरलता हो
(2) सस्ता हो
(3) प्रदूषण मुक्त हो तथा
(4) ऊर्जा स्रोत से ऊर्जा प्राप्त करने की उपलब्ध प्रौद्योगिकी की दक्षता हो। ... "Read More"
SEP 18, 2020

20:14
Unnayan Class 10 (Hindi)
Course
Discussion
Video
Quiz
Weekly Baseline Test (Every Monday) and Analysis Test (Every Friday)
विज्ञान Quiz
Chapter wise test of Class 10 Science (Hindi Medium)
सामाजिक विज्ञान Quiz
Chapter wise test of Class 10 Social Science(Hindi Medium)
गणित Quiz
Chapter wise test of Class 10 Maths (Hindi Medium)
IOTSE
India Open Talent Search Exam

Deep penetration through Doordarshan and All India Radio:

The BEPC in collaboration with UNICEF prepared class-wise and subject-wise study materials for classes 6 to 12. The BEPC is running virtual classroom teaching on the local DD channel for classes nine and 10 since April 20, days after the country went under a complete lockdown to curb the spread of coronavirus infection on March 24. The BEPC has booked a 3-hour slot, between 9 am to 12 pm in order to facilitate the students from government-run schools in the state through a virtual classroom teaching experience.

Survey:

A telephonic survey was conducted in order to know the reach and the feasibility of ICT based education amidst the pandemic. The survey was conducted in two different districts of Bihar, Chapra and Vaishali, where a sample of 200 random students from government schools was taken. In the telephonic survey, out of these 200 children (100 boys and 100 girls) in classes VI to X, 50 (25%) had no phone and 24 (12%) could not be reached as the number was not operational. So ultimately slightly more than half of the intended audience could be reached i.e. 126 only.

Out of the 126 students (35%) had smartphones which mean only 44 students and 25 (20%) had other phones. A higher percentage of boys (38%) had access to smartphones as compared to girls (26%). The family with no access to phones had a greater representation of girls and hence, 43% of intended girls could be reached as against 55% of intended boys. Almost 95% of the 126 cases where families had a smartphone, the device belonged to a male member and that meant it was not always accessible to children, this being truer for girls than for boys. It was found that in many cases the families couldn't afford active internet packs.

During the telephonic survey, it was difficult to convince the parents to pass the phone on to a girl. In an earlier face to face interview with the girls from government schools of Bihar, it was noticed that a bigger proportion of these girls spent a significantly longer period of time on household chores and other nonacademic engagements when compared to boys. The survey also revealed that girls have a very restricted opportunity to view TV when educational programs are being aired.

TV indeed has a greater reach than smartphones but it's a shared device and some students are not free while the programs are being aired. When asked how much did they benefit by the ICT based courses most of them answered very less because only 45% of the students had regular access to the mediums and others had almost nil exposure to these ICT based mediums. Those who had regular access said that the content available was quite comprehensive but still was not as effective as classroom teaching. Most of the parents too complained regarding the absence of interaction as students were not able to clear their doubts and ask questions

Challenges:

There are some fundamental challenges of ICT enabled education in a state like Bihar. This is directly associated with the digital divide in the state. The survey also suggests that there is a lesser percentage of students who have access to these digital mediums.

In a blog published by Ms Anushna Jha in the LSE, (London School of Economics) blog, she talks of the huge digital divide that exists in the state. She further adds that in Bihar many children have homes where television and Internet facilities are not default features but luxuries that they aspire to have someday. Expecting that the migrant population, whose major cause of concern today is their daily sustenance, would find ways to make their children digitally connected with schools and teachers or participate in online classes would simply be arrogant and irrational.

Teachers having inadequate knowledge of new technology:

Research studies have point out that teachers need to be well versed with the use of technology and should properly be trained in order to make ICT intervention in education effective. The understanding and the usage of virtual platforms cannot be taken for granted. It is unreasonable to ask teachers seamlessly move from conventional classroom teaching to ICT based online platforms. Hence teachers should be given proper training to make teaching and learning processes more effective.

Conclusion:

The COVID-19 pandemic has brought up unprecedented and complex problems for each and every individual globally. The closure of schools and the disruption of teaching-learning processes

throughout academia was one major crisis caused due to the pandemic. ICT based education was given more preference besides being effective the medium had its own challenges.

The ICT based medium did open up new possibilities such as distance learning but also posed glaring challenges in front of the state government that ranges from the digital divide to untrained teachers. The outcome of this medium was not considered as effective as classroom teaching. Hence the government should come up with solutions that not only bridge the learning gap on a socio-economic basis but may also deliver the core promise of education which mainly focus on equity and inclusion.

References:

1. *Census of India Website: SRS Statistical Report 2011*.Censusindia.gov.in. (2020).Retrieved 3 November 2020, from https://censusindia.gov.in/vital_statistics/SRS_Reports.html.
2. *Bihar Education project Council*. Bepcssa. in. (2020). Retrieved 1 November 2020, from http://www.bepcssa.in/en/
3. *indiasituationreport21*.Who.int.(2020).Retrieved3November2020,fromhttps://www.who.int/docs/default-source/wrindia/situation-report/india-situation-report-21.pdf?sfvrsn=f96effa5_2
4. *India's COVID-19 recovery rate improving, fatality rate declining: Health Ministry*. The Economic Times. (2020).Retrieved 3 November 2020, from https://economictimes.indiatimes.com/news/politics-and-nation/indias-covid-19-recovery-rate-improving-fatality-rate-declining-health-ministry/articleshow/76140228.cms?from=mdr.
5. *UPSC Exam Comprehensive News Analysis*.Cdn1.byjus.com. (2020). Retrieved 3 November 2020, from https://cdn1.byjus.com/wp-content/uploads/2020/04/13-Apr-2020-CNA.pdf.
6. *Coronavirus | Amid lockdown, Bihar plans education through mobile app, radio broadcast*. The Hindu. (2020). Retrieved2November2020,fromhttps://www.thehindu.com/news/national/other-states/amid-lockdown-bihar-plans-education-through-mobile-app-radio-broadcast/article31324774.ece12/4/2020.
7. *doordarshan-to-extend-e-learning*.www.hindustantimes.com. (2020). Retrieved 2 November 2020, fromhttps://www.hindustantimes.com/education/doordarshan-to-extend-e-learning-to-5-more-standards-from-may-4/story4/5/2020.
8. *banka-education-model-to-be-introduced-in-3106-schoolsofstate*.timesofindia.indiatimes.com(2020). Retrieved 2November2020,fromhttps://timesofindia.indiatimes.com/city/patna/banka-education-model-to-be-introduced-in-3106-schools-of-state/articleshow/69715843.cms 10/6/2019.
9. *Mera Mobile, MeraVidyalaya*. Unnayan: Mera Mobile, MeraVidyalaya | Banka | Eckovation.(2020). Retrieved 2 November 2020,from https://unnayan.eckovation.com/.

●

A REVIEW ON "REPLACEMENT OF INVASSIVE TECHNIQUE BY INTRANASAL NANOEMULSION"

RAVI* PROF. H. H. AWASTHI** PROF. N. S. TRIPATHI & DR. AJAI K. PANDAY*******

Transdermal route is the most suitable route for both paediatric and geriatric patients. The intranasal route is the most proliferated route in the transdermal application of drug. Nasal mucosa is a promising site for the systemic delivery of drug where rapid onset of action is required and for the drugs which are not easily administered via other route than by injection. Nasal chamber is covered by a thin mucosa which is well vascularised. This is the reason, a drug molecule can be transferred quickly across the single epithelial cell layer directly to the systemic blood circulation without first-pass hepatic and intestinal metabolism.(1)

Drug given by intranasal (IN) route in the form of nanoemulsion provides a more rapid onset of action than that of oral or rectal administration.(2) The formulation should be designed for targeting drug to the olfactory region of nasal cavity so as to provide its rapid transport across nasal mucosa, and mucoadhesion phenomenon further helps in drug permeation in the olfactory region along with longer residence time in the posterior nasal cavity by overcoming the nasal mucocilliary clearance.(3)

kinetically stable systems composed of oil/liquid, surfactant and co surfactant. This is one of the novel nano vehicles which have been investigated effectively for the multipurpose drug delivery system in order to enhance the *in vitro* dissolution rate/solubility, *in vivo* therapeutic efficacy and the bioavailability of poor water soluble drugs. Nanoemulsion system offers several advantages over unstable dispersions (emulsion, suspensions and colloids). Some of the advantage include ease of preparation, excellent solubilisation capacity, physical stability, smaller droplet size, lower viscosity and bioavailability enhancement.(5)

A number of the transdermal drug delivery systems, which vary in compositions and structures such as gels, micro emulsions and transdermal patches have been developed to improve the skin permeation, however the poor drug loading capacity, poor drug control and poor sustained release capacities have limited their use in transdermal carriers. To take over these limitations the level of interest in nanoemulsion as carrier systems in transdermal drug delivery has increased substantially.(6)

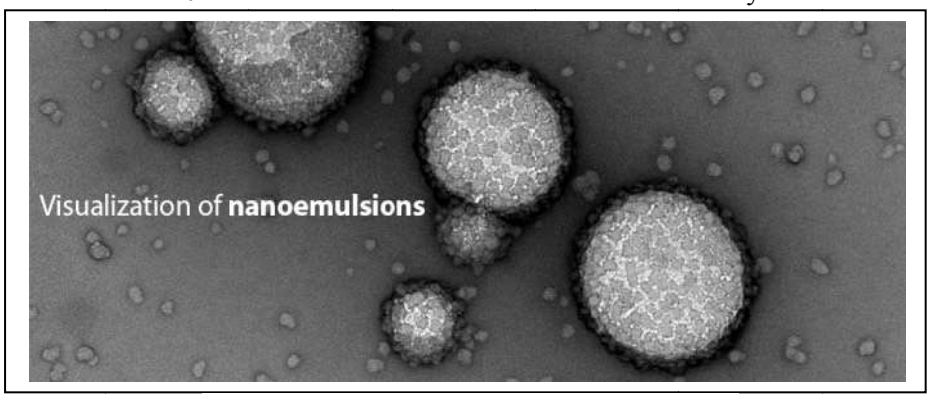

Fig. No.1 Visualization of Nanoemulsion.

Nanoemulsion are fine oil-in-water (o/w) dispersions, optically transparent nanometric sized emulsions having droplet covering the size range of <200 nm.(4) Nanoemulsion are oil/lipid based clear, transparent/isotropic and thermodynamically/ thermo

In nanoemulsion, oil and water are stabilized by an interfacial film of surfactant and co-surfactant molecules. The *in-vitro* and *in-vivo* studies have shown that nanoemulsion possess improved transdermal and dermal delivery properties than

* Ph. D. Scholar, Department of Rachana Sharir, Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, B.H.U. Varanasi
** Professor & Former HOD, Department of Rachana Sharir, Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, B.H.U. Varanasi
*** Professor, Department of Kirya Sharir, Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, B.H.U. Varanasi
****Associate Professor, Department of Kaya Chikitsa, Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, B.H.U. Varanasi

emulsions and gels. Research work describe the potential of nanoemulsion in transdermal delivery, also found that these are non-irritant, containing pharmaceutically acceptable ingredients without additional permeation enhancer because components of nanoemulsion themselves act as permeation enhancers.[7]

For the transdermal intranasal delivery, on the basis of the solubility studies, Caprylic acid was selected as the oil phase. Propylene glycol and Tween-80 were selected as surfactant and co-surfactant, respectively. Distilled water was used as an aqueous phase. [8]

Surfactant and co-surfactant (Smix) were mixed at different mass ratios. The mentioned ratios were chosen in increasing concentration of surfactant with respect to co-surfactant and increasing concentration of co-surfactant with respect to surfactant for a detailed study of the phase diagrams. For each discussed phase diagram, oil and Smix at a specific ratio was mixed thoroughly at different mass ratios from 1:9 to 9:1 in different glass vials. Total Sixteen different combinations of oil and Smix were made so that maximum ratios were covered for the study to cover the boundaries of phases precisely formed in the phase diagrams. Along with this Pseudo ternary phase diagrams of oil, Smix and aqueous phase were developed using the aqueous titration method. Slow titration was done with aqueous phase was performed for each mass ratio of oil and Smix and visual observations were made for transparent and easily flow able o/w nanoemulsion. The physical state of the nanoemulsion was represented on a pseudo-three-component phase diagram with one axis representing the aqueous phase, the second one representing oil and the third representing a mixture of surfactant and co surfactant at a fixed mass ratio.[9]

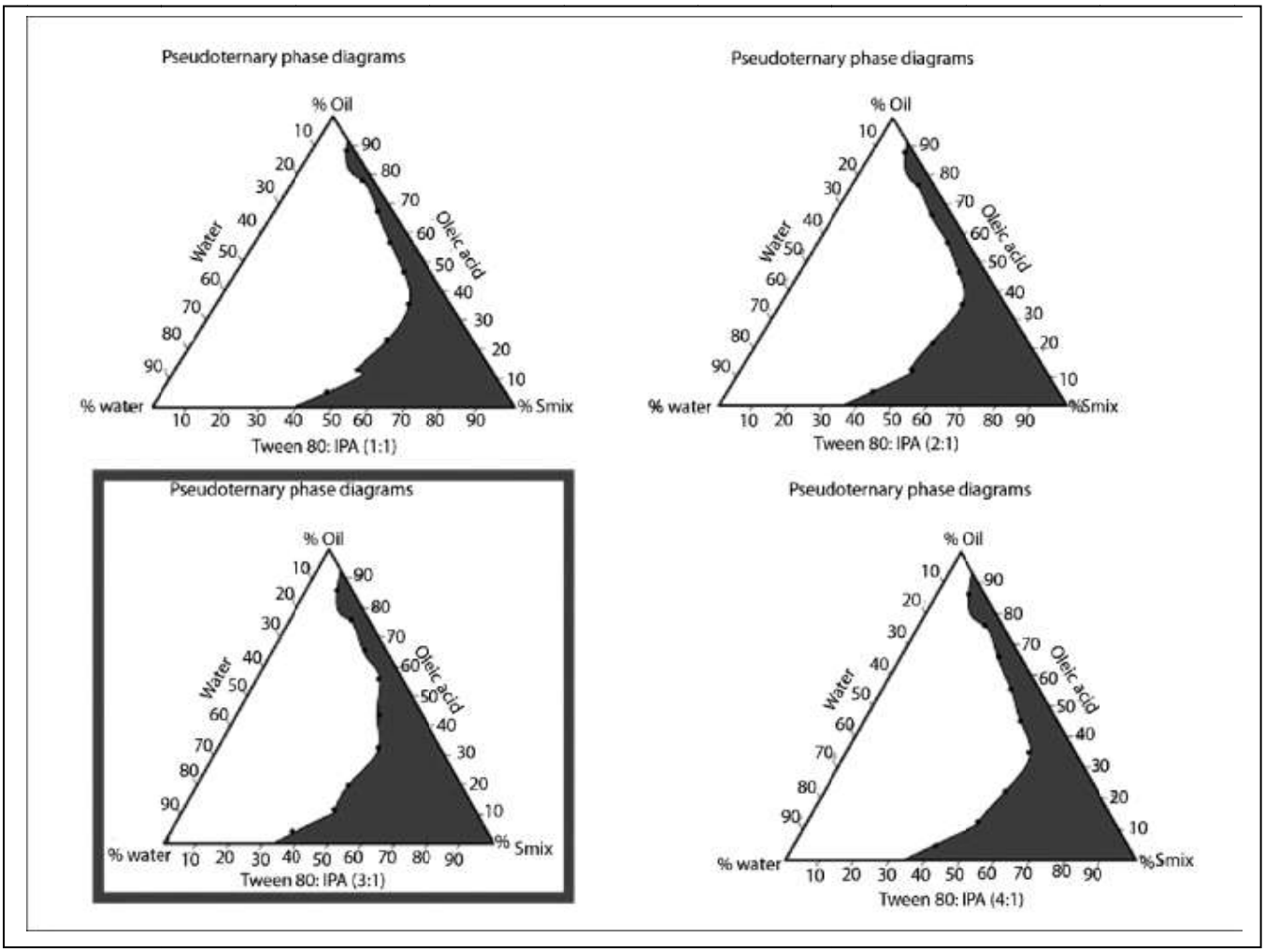

Fig. No.2.Phase diagram.

Nanoemulsions are non-equilibrium colloidal systems formed by forcing two immiscible liquids into homogenous state which is kinetically stable. The level of interest in nanoemulsion (NE) as carrier systems in transdermal drug delivery has increased substantially due to poor drug loading capacity, poor drug controlled and sustained release capacities of micro emulsion and transdermal patch. [10]

Drug is incorporated in a mucoadhesive nanoemulsion to increase penetrability, residence time and to achieve a better release pattern. Mucoadhesives are cationic polyamines, with a high charge density at pH <6.5, and adheres to negatively charged surfaces and chelates metal ions. Mucoadhesive phenomenon helps in drug permeation in the olfactory region.[11]

Colloidal nanocarriers have proved great potential in targeting drugs to the required tissue with successful intracellular retention. The effect of surface charge in enhancing the transport of nanoparticles across the blood brain barrier is controversial. Most endothelial cells and glycocalyx layer of the blood brain barrier are anionic due to sialic acid residues of concentrated acidic glycoprotein. Thus cationic nanoparticles are speculated to be easily attracted to the brain endothelial cells. This electrostatic attraction increases the contact time of cationic nanoparticles with the BBB and thus enhances their brain penetration via absorptive mediated endocytosis. [12]

The unique relationship between nasal cavity and cranial cavity tissues makes intranasal delivery to brain feasible.

An intranasal delivery provides some drug with short channel to bypass the blood-brain barrier (BBB), especially for those with fairly low brain concentration after a routine delivery, thus greately enhancing the therapeutic effect on brain diseases. The nasal mucosa is nearby the brain, cerebrospinal fluid and the drug concentrations can exceed the plasma concentration. Intranasal delivery provides a non invasive method of bypassing the BBB to rapidly deliver therapeutic agents to the brain, spinal cord, lymphatic and to the vessel wall of cerebrovasculature for treating CNS disorders. Intranasal delivery also offers the advantage of simple administration, cost effectiveness and convenient. This novel delivery method allows the drugs, therapeutic proteins, polynucleotide and viral vectors that do not normally cross the BBB to be delivered to the CNS. Additionally, intranasal targeting of drugs to the CNS avoids first- pass elimination by the liver allowing a lower therapeutic drug dose and fewer systemic side effects. Delivery from nose to CNS occurs within minutes along with both the olfactory and trigeminal nerves. Delivery occurs by an extracellular route and does not require that the drugs bind to any receptor or undergo axonal transport.[13]

Several studies have shown a direct route to transport drug from the olfactory region to the central nervous system in animal model without prior absorption to the circulating blood. The dendritic processes of the olfactory neurons are directly exposed to the external environment in the upper nasal passage, while their axons project to olfactory bulb. Targeting the brain via intranasal administration of drugs has been investigated recently in many studies. [14]

Mucoadhesive formulation provide a firmer platform of drug delivery to the nasal cavity than other type of nasal formulations like solutions, sprays, and insufflations, since the mucoadhesive agents make a better contact with the nasal mucosa , which helps enhancing drug bioavailability.[15]

Epilepsies are the group of disorders of the CNS characterized by paroxysmal cerebral dysarhythemia, manifesting as brief episodes (seizures) of loss or disturbance of consciousness, with or without characteristic body movements (convulsions), sensory or psychiatric phenomena. Epilepsy has focal origin in the brain, manifestations depend on the site of focus, regions in to which the discharges spread and postictal depression of these regions. [16]

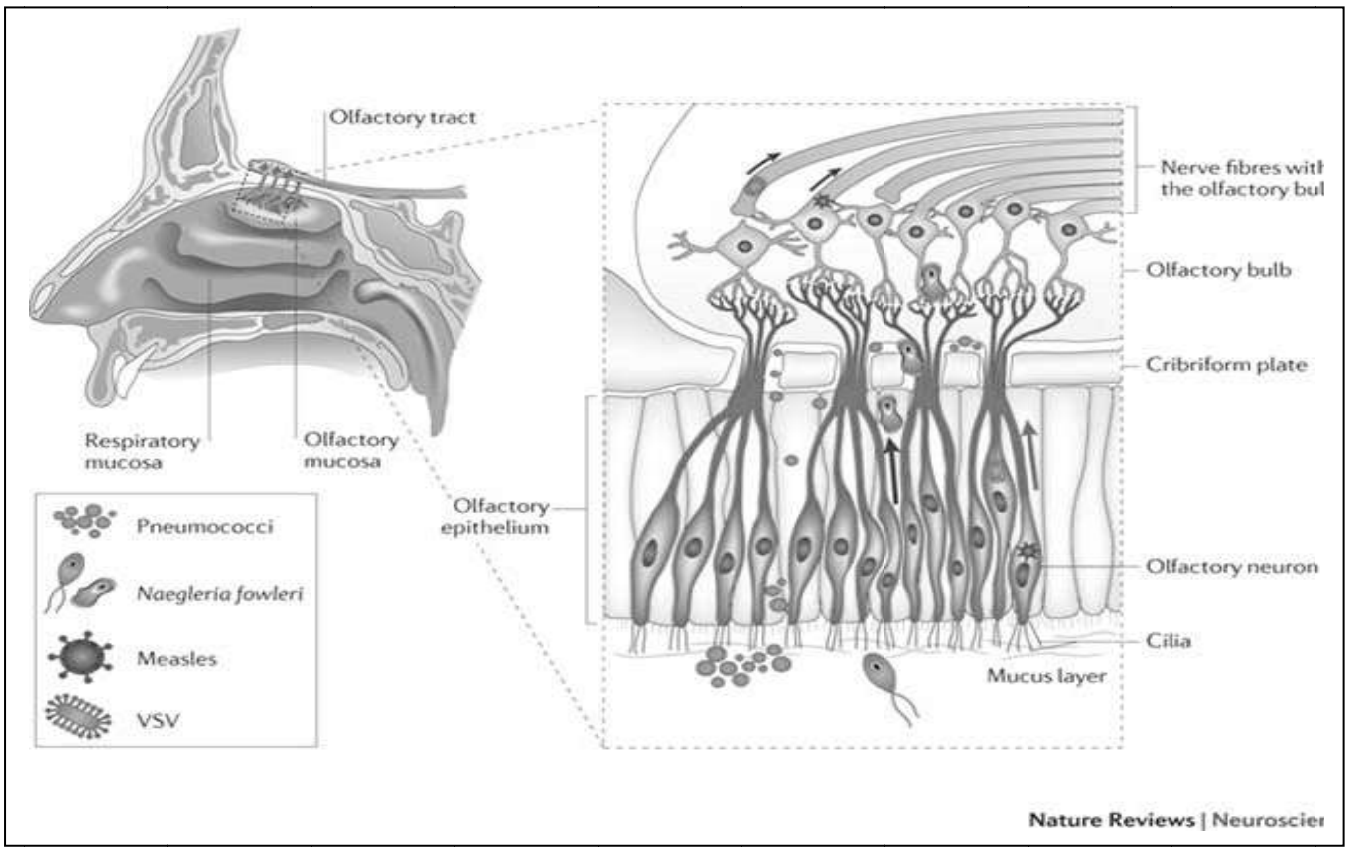

Fig. No.5.Nasal mucosa.

Types of major seizures:

A. Generalised Seizures

1. Generalised tonic-clonic seizures

2. Absence seizures

3. Atonic seizures

4. Myoclonic seizures

5. Infanite spasms (Hypsarrhythmia)

B. Partial Seizures

1. Simple partial seizures

2. Complex partial seizures

3. Simple partial or complex partial secondarily generalized

Status epilepticus (SE) is a neurologic emergency that requires prompt management. SE that does not respond to standard treatment regimens is labelled as refractory SE (RSE). Recent guidelines recommend anesthetic doses of Midazolam for these patients, but for no adequately powered randomized controlled trial have compared different treatment strategies for RSE. The difficulty of conducting such a study has been recently highlighted by early termination of a prospective trial comparing protocol and barbiturates for patients with RSE. [17]

Midazolam is a potent water soluble benzodiazepine, with a rapid onset and short duration of pharmacodynamic effects. The salt of midazolam are water soluble and is stable in aqueous solution. Midazolam is rapidly eliminated from the body, almost exclusively by metabolic processes. Elimination half lives after intravenous infusions are reported to be in the range 1.3-3.1h approximately after oral administration of ^{14}C midazolam to human subjects, about 90 % of the given radioactivity appears in the urine with in 24 h, three quarters of the dose occurring in the form of the conjugated alpha-hydroxy-metabolite. This metabolite is pharmacologically active in animals but markedly less than unaltered midazolam.[18]

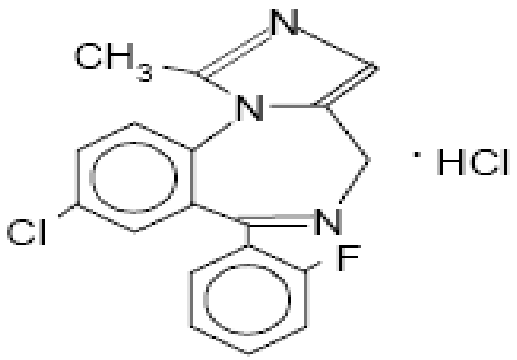

It has excellent safety profile with minimal cardiovascular and respiratory side effects. It is an important drug that is used in the treatment of *status epilepticus*. [19]

Benzodiazepene act by promoting presynthetic/postsynaptic inhibition through a specific BZD receptor which is an integral part of the $GABA_A$ receptor-Cl^- channel complex. The subunits of this complex form a pentameric transmembrane anion channel gated by the primary ligand (GABA), and modulated by secondary ligands which include BZDs. Only the alpha and beta subunits are required for GABA action, and most likely the binding site for GABA is located on the beta subunit, while the alpha/beta subunit interface carries the BZD binding site. The modulatory BZD receptor increases the frequency of Cl^- channel opening induced by submaximal concentrations of GABA. The BZD also enhance binding of GABA to $GABA_A$ receptor. [20]

Midazolam is having extremely rapid absorption-peak in 20 min. it can cause problems in the elderly (ataxia, blackouts); more liable for abuse. Therefore, it is not available now for oral use as a hypnotic. It is mainly used as an I.M. premedicant or an I.V. anaesthetic. [21]

Midazolam is usually given in the form of I.V or I.M injection, but parentral route has minimal patient compliance. Oral administration of Midazolam is preferable but it undergoes extensive first pass metabolism, owing to which its oral bioavailability range from 15% to 27% in children and 31% to 72% in adults. Hence, the administration of Midazolam via transmucosal route is advantageous. [22]

Administration of Midazolam through intranasal route is a best alternative to rectally administration of diazepam and is becoming most popular for the emergency treatment of seizures in children. Sublingual and buccal administration of Midazolam has been studied but nasal route is most important among them, in terms of drug absorption and availability of drug, for systemic effect. Administration of Midazolam via the nasal route has proved to be quite effective in the treatment of effective seizures. [23]

Midazolam solution through intranasal administration causes irritation, that is produced by its acidic pH and relatively large volume that has to be administered. [24]

Most of the benzodiazepenes are administered through I.V. or I.M., which are invasive techniques. Application of Midazolam mucoadhesive nanoemulsion, through intra nasal route, is easier as compared to other invasive techniques for pediatric and geriatric patients as well as cancer patients.[25] Nanoemulsion through intranasal route involve the following evaluation which are easily approachable.

Preformulation Studies

A): Identification of drug

a) Physical appearance.

b) Melting range.

c) λ_{max} determination by UV Spectroscopy.

d) Preparation of standard curve.

e) Functional group analysis by IR Spectroscopy.

f) Solubility analysis.

g) Partition coefficient.

h) Percent loss on drying.

i) Drug polymer interaction.

Part-2: Formulation Development

a) Selection of formulation technique.

b) Optimization of process parameters

A. <u>Preparation of nanoemulsion</u>:

1. Determination of HLB Temperature:

Emulsion with an oil concentration of 20% and different nonionic surfactant and water (10^{-2} mol dm^{-3} NaCl was added for the conductivity determinations) concentrations were prepared by manual shaking at room temperature (~25ºC).the conductivity of the resulting emulsions were measured as a function of temperature using Crison 525

conductivity meter and dipping cell (with a Pt/platinized electrode) with a cell constant of 1.02 cm^{-1} (25ºC).the latter was dertermined using standard KCl solutions.

2.Prepration of nanoemulsion phase Inversion Technique
Method (PIT):

When the samples were brought, rapidly and with agitation, from the corresponding HLB temperature (or a slightly higher temperature) to 25ºC. To acquire fast cooling, a water/ice bath was used. The resulting system was kept at 25ºC.

Part-3: Evaluation of optimized formulation

a) Particle size and shape.

b) Zeta Potential.

c) Drug loading.

d) Drug entrapment.

e) Polydispersity Index.

f) Stability studies.

g) Transmission electron microscopy.

Part-4: Physiochemical characterization of nasal insitu gels:

a) Viscosity.

b) Gelation Temperature Measurement

c) Appearance & pH.

d) Irritability.

e) Extrudability.

f) Texture profile analysis

Part-5: Histological analysis of Nasal Mucosa:

Invitro permeation is studied.

Part-6: Invivo drug absorption study:

Study is done on Albino male Rabbits weighing between 1.5 to 2 kg.

Part-7: HPLC Analysis.

Part-8: Statistical analysis.

These evaluation parameters can be analyzed very easily and are feasible also.

CONCLUSION: The overall review about the non invasive technique is positive. There is no such contact of side effects or contradictions so after discussing these points it is concluded that nanoemulsion can be the best option for the replacement of invasive technique. It is one of the most efficient and potent dosages form for the present and future point of view.

REFERENCES

1. Basu, S.; Bandyopadhyay, K. A. Development and Characterization of Mucoadhesive *In Situ* Nasal Gel of Midazolam Prepared with *Ficus carica* Mucilage. *AAPS Pharm. Sci. Tech*. **2010**, *11 (3)*, 1223-1231.
2. Bjorkman, S.; Rigemar, G.; Idvall, J. Pharmacokinetics of Midazolam Given as an Intranasal Spray to Adult Surgical Patients. *Br. J. Anesth.* **1997**, *79*, 575-580.
3. Kumar Mukesh;Misra Ambikanandan;Mishra Pushpa; Pathak Kamla; Mucoadhesive Nanoemulsion-Based Intranasal Drug Delivery System of Olanzapine for Brain Targeting. *J. Drug Targeting*, **2008**, *16 (10)*, 806-814.
4. Gabal, M.Y.; Kamel, O.A.; Sammour, A.O.; Elshafeey, H.A. Effect of Surface Charge On Delivery the Brain Delivery of Nanostructured Lipid Carriers *In Situ* Gels via the Nasal Route. *Int. J. Pharm.* **2014,** *473*, 442-457.
5. Mashooq A. Bhat; Iqbal Muzaffar; Dhfyan -Al Abdullah; Shakeel Faiyaz; Carvone Schiff base of isoniazid as a novel antitumor agent: Nanoemulsion development and pharmacokinetic evaluation. *J. Mol. Liq.* **(2015)**, *203*, 111–119.
6. Khurana, S; Jain, N.K.; Bedi, P.M.S. Nanoemulsion Based Gel for Transdermal Delivery of Meloxicam: Physico-Chemical, Mechanistic Investigation. *Life Sci.* **2013**, *92,* 383-392.
7. Baboota, Sanjula; Shakeel, Faiyaz; Ahuja, Alka; Ali, Javed; Shafiq, Sheikh; Design, Development And Evaluation Of Novel Nanoemulsion Formulations For Transdermal Potential of Celecoxib. *Acta pharm.* **2007**, *57,* 315–332.
8. Khurana, S; Jain, N.K.; Bedi, P.M.S. Nanoemulsion Based Gel for Transdermal Delivery of Meloxicam: Physico-Chemical, Mechanistic Investigation. *Life Sci.* **2013**, *92,* 383-392.
9. Borhade, Vivek,; Pathak, Sulabha,; Sharma, Shobhona,; Patravale, Vandana; Clotrimazole nanoemulsion for malaria chemotherapy. Part I: Preformulation studies, formulation design and physicochemical evaluation. *Int. J. Pharm.* **2012,** *431,* 138-148.
10. Khurana, S.; Jain, N.K.; Bedi, P.M.S. Nanoemulsion Based Gel for Transdermal Delivery of Meloxicam: Physico-Chemical, Mechanistic Investigation. *Life Sci.* **2013**, *92,* 383-392.
11. Kumar, M.; Pathak , K. Formulation and Characterization of Nanoemulsion-Based Drug Delivery System of Risperidone. *Drug Dev. Ind. Pharm*. **2009**, *35*, 387-395.
12. Gabal, M.Y.; Kamel, O.A.; Sammour, A.O.; Elshafeey, H.A. Effect of Surface Charge On Delivery the Brain

Delivery of Nanostructured Lipid Carriers *In Situ* Gels via the Nasal Route. *Int. J. Pharm.* **2014,** *473*, 442-457.

13. Desai, S.; Vidyasagar, G.; Desai, D. Brain Targeted Nasal Midazolam Microsphere. *Int. J. Pharm. Biomed. Sci.* **2010**, *1* (2), 27-30.

14. Samia, O.; Hanan, R.;Kamal, T.E. Carbamazepine Mucoadhesive Nanoemulgel (MNEG) as Brain Targeting Delivery System via the Olfactory Mucosa. *J. informa heatlh care* **2012**,*1-10,* 71-79.

15. Basu, S.; Bandyopadhyay, A.K. Characterization of Mucoadhesive Nasal Gels of Midazolam Hydrochloride Prepared from *Linum usitatissimum* L. Mucilage. *Br. J.Pharm. Sci.* **2011**, *47*.

16. Tripathi, K.D. *Essentials of Medical Pharmacology*. 5th Edition, Jaypee Brothers: Delhi, p 397.

17. Fernandez, A.; Lantigua, H.; Lesch, C.; Shao, B.; Foreman, B.; Schmidt, J.M.; Hirsch, L.J.; Mayer, S.A.; Claassen, J. High-Dose Midazolam Infusion for Refractory Status Epilepticus. *Am. Acad. Neurology,* **2013**, *82,* 1-7.

18. Heizmann, P.; Eckert, M.; Ziegler, H.W. Pharmacokinetics and Bioavailibility of Midazolam. *Br. J. Clin. Pharmac.* **1983**, *16*, 43- 49.

19. Tripathi, K.D. *Essentials of Medical Pharmacology*. 5th Edition, Jaypee Brothers: Delhi, 394,395.

20. Tripathi, K.D. *Essentials of Medical Pharmacology*. 5th Edition, Jaypee Brothers: Delhi, p 393.

21. Basu, S.; Bandyopadhyay, A.K. Development and Characterization of Mucoadhesive *In Situ* Nasal Gel of Midazolam Prepared with *Ficus carica* Mucilage. *AAPS Pharm. Sci. Tech*. **2010**, *11* (3), 1223-1231.

22. Martindale, S.S. *The Complete Drug Reference*, 36th ed.; The Pharmaceutical Press, London, **2009**, p 96.

23. Khurana, S; Jain, N.K.; Bedi, P.M.S. Nanoemulsion Based Gel for Transdermal Delivery of Meloxicam: Physico-Chemical, Mechanistic Investigation. *Life Sci.* **2013**, *92,* 383-392.

24. Talegaonkar, S.; Tariq, M.; Alabood, M.R. Design and Development of o/w Nanoemulsion for the Transdermal Delivery of Ondensetron. *Bull. Pharm. Res.* **2011**, *1*(3), 18-30.

25. M.C.Geiger; Sorenson, B.; Paul, A.; Stability of Midazolam in Syrspend SF and Syrspend SF Cherry. *Int. J. Pharm. Compd*., **2013,** *17* (4), 344-346.

●

COVID-19 PREVENTION: A DIETARY APPROACH

SHATAKSHI* DR. B.M.N KUMAR** DR. AJAI KUMAR PANDEY & PROF. H.H. AWASTHI*******

One of the today worldwide threats is corona virus causing diseases named as COVID-19, which became worldwide pandemic. Respiratory system is the main target organ system, which is affected by corona virus. Patients with diagnosis of pneumonia were initially admitted to the hospitals lately in December 2019. SARS-CoV-2 was the possible corona outbreak which was predicted in early reports of the patients causing COVID-19 diseases. World health organization declarered this ongoing epidemic as pandemic and emergency public health globally[1.]

The effect of COVID 19 drastically can be seen in people, as so many people are died, infected and some remain uninfected. One of the major concern which are seen in this pandemic that people in this situation became more concerned about security of their food consumption and interventions based on immune boosting. Lockdown of the different nations also shown that this lockdown greatly affected not only economy of the country but also the behavioural and nutritional choices of the country[2].

Insufficiently, eating less and irresistible infections can lead to serious ailing health conditions. Right now, the COVID-19 widespread is the driving challenge over the globe; in this manner researchers and analysts are endeavoring to form a particular immunization for this infection[2, 3]. Indeed in this event, if we are able to find the inoculation strategy, there's a high plausibility that other antimicrobial safe contaminations will prevail in society[3]. Wholesome status is exceptionally vital to preserve a solid safe framework against the virus. Certain variables such as way of life, age, wellbeing status, sex, and drugs influence the dietary status of individuals[4].

World Health Organization has given an advice on the outbreak on COVID-19 outbreaks, which shows that the provision for nutrition and hydration are very essentially important in this type of outbreaks. Balance diet is the combination of all the food components in proper manner. Therefore, eating a variety of foods and avoidance in the use of unprocessed foods can lead to get the right amount of all essential nutrients in the body. Some of the main dietary provisions prescribed by WHO are as follows-

- Avoiding the use of processed foods and eating fresh foods- Processing of foods contains different techniques which deals with from purification to packaging point. Along with all this process the nutrient density of the food deteriorates gradually. Because of it processed foods uses should be decreased. Use fresh fruits and vegetables, nuts and whole grain seeds. Eating foods from animal sources eg. Dairy foods, eggs etc.
- Overcooking of the food should be avoided. Instead of using of raw fruits and vegetables should be encouraged as this will lead to increase in fiber content in diet.
- Drinking of water should be encouraged as water is main transporter of compounds of nutrients in the body. And regulation and metabolism of body are mainly carried out by water. Hence 8-10 cups of water should be consumed.
- Moderation in the amount of fats and oils- Saturated fats are the present mainly in Select white meat (e.g. poultry) and angle, which are by and large in fat, instead of red meat. Avoid prepared meats since they are tall in fat and salt. Where conceivable, prefer low-fat or reduced-fat forms of drain and dairy products. Avoid mechanically delivered Trans fats. These are frequently found in prepared food, fast food, snack nourishment, fricasseed nourishment, solidified pizza, pies, treats, margarines and spreads.
- Consuming fewer amounts of salt and sugar when cooking and planning nourishment,

* Research Scholar, Department of Rachana Sharir
** Associate Professor, Department of Rachana Sharir
*** Associate Professor, Department of Kayachikitsa
**** Professor & Former Head, Department of Rachana Sharir, Faculty of Ayurveda, Institute of Medical Sciences, B.H.U. Varanasi

constrain the sum of salt and high-sodium condiments (e.g. soy sauce and angle sauce). Limiting every day salt admissions to less than 5 g (around 1 teaspoon), and utilize iodized salt. Avoid nourishments (e.g. snacks) that are tall in salt and sugar. Limiting admissions of delicate drinks or soft drinks and other drinks that is high in sugar (e.g. natural product juices, natural product juice concentrates and syrups, enhanced milks and yogurt drinks). Choose new natural products rather than sweet snacks such as treats, cakes and chocolate[5].

As of now Covid-19 widespread may be a driving challenge over the globe. It is obligatory to accomplish and keep up great dietary status to battle against infection. Dietary status of person is influenced by a few components such as age, sex, wellbeing status, life fashion and solutions. Dietary status of people has been utilized as flexibility towards destabilization amid this COVID-19 widespread. Ideal nourishment and dietary supplement admissions affect the immune system. There's no prove found that supplement can remedy the resistant framework but Vit.C, which is one of perfect way for strengthening the immune power of body. An appropriate count calories and vitamin minerals intake can ensure that the body is in legitimate state to vanquish the infection[6]. Vitamin C is one of the major constituents of water dissolvable vitamins which tends to form a solid resistant framework. The day by day prescribed dietary stipend for Vitamin C is 90mg/d for men and 75mg/d for women. Within the current circumstance, it is essential to be mindful of the particular sorts of nourishment that can make strides our safe framework in arrange to combat COVID-19[7].

Relationship between nutrition and infection-

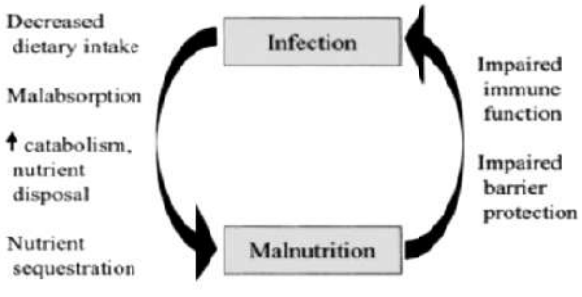

Source: K. Brown 2003

COVID-19 is a worldwide pandemic which shocked the whole world and resulted in deaths of so many individuals. In this current situation attainment of good and proper nutritional is very necessary as with the help of proper nutrition, the immunity of human body can be maintained. Immune system is the principal system which fights against the pathogens causing the different diseases.

Therefore, with the knowledge of optimal nutritional components, we can help in achieving the immune system strongly. A balanced diet not only ensures about the improvement in immune system of body but it also leads to the maintenance of physical and mental health of the body. The chief nutrient which helps in maintaining immune system are vit.C, vit.D, vit.A and zinc. There deficiency makes the body prone to infections[8]. Exploring about basic knowledge about immuno-boosting nutrients and their proper intake can help in reducing the effect of corona viruses on human body and can be prevented to some extent.

Nutrient and functional foods that have been shown to have beneficial effects on immune function-

Immune system is suppressed by malnutrition that is implicated as one of the major cause of complications. Prolonged malnourishment in the body causes suppression in the immunity of individuals. Nutrition is an important determinant of warning immunity. Epidemiological studies have shown that fortifying the diet with vitamins helps in defense system by boosting cellular capacities and by lowering the rate and seriousness of the disease[9].

Vitamin C Deficiency and Infection-

The different functions related to immune system are altered by vit.C nutriture including neutrophill chemotaxis, lymphocyte proliferation, anti microbial and natural killer cell activities. Ascorbic acid inactivates or inhibits a wide range of viruses in vitro. Decrease in severity of colds may lie in the antihistaminic action of the vitamin C and/ or its ability to reduce the inflammation associated with reactive oxidants produced by phagocytic leukocytes. Moreover, it too boosts the era of metabolic vitality by acting as a cofactor in carnitine biosynthesis, an atom dependable for the transport of greasy acids into the mitochondria[10.] It is additionally utilized as a common adjuvant for the treatment of the common cold, with meta-analysis appearing its adequacy in diminishing the seriousness, length, and frequency of the common cold[11.]

Vitamin D Deficiency and Infection-

Vitamin D plays a vital role in preparing the immune system of body. 1, 25$(OH)_2$ D_3 receptors are found in activated and stimulates cells proliferation so this takes part in explaining the susceptibility to infection. Vit.D is one of the most seasoned developmental hormones. In expansion to the control of minerals digestion system, it has been recognized to play a part within the control of irritation and security from viral contamination[12.] Considers have affirmed that decreased in vitamin D levels connect with the frequency and hazard of a few viral contaminations and flu[13.] Later thinks about found there's a critical affiliation between decrease in serum concentrations of zinc and Vit.D[14.] Vit.D delivered within the skin amid introduction to the sun, and people have the most reduced levels of Vit.D in winter and spring[15.] Accessible prove from efficient survey recommends that high dosage vitamin D may anticipate asthma compounding[16.] In this manner, Vitamin D supplementation may be required for numerous people, particularly in winter to avoid and ease in side effects from COVID-19.

Vitamin A, Zinc Deficiency and Infection-

In the early times vitamin A was called as ‘anti-infective’ vitamin. The primary function of vitamin A is that it is the major site for T-helper cells. Retinol probably is also involved in the proliferation of normal B cells and T-cells. And the deficiency of vitamin A leads in decrement of immuno-competence, because of reduction in number and of function T cells and suppressed function of antibodies by B-cells. Zinc has a very critical role in immunocompetence[17.] The deficiency of zinc causes the atrophy of lymphoid tissues and abnormalities in both cellular and humoral components. Reduction in number of antibody forming cells in spleen and impaired T-killer cells activity[18.]

Infection and other minerals-

Numerous systemic infectious diseases as well as local enteric infectious processes with frequent profound disturbance of electrolytic balance. Any infection causing electrolytic imbalance results in a disturbed mineral balance, since the loss in faeces is usually sufficiently large to deplete the body of sodium chloride, potassium and phosphorous as well as other nutrients. The potassium loss is occasioned[19]. It is well recognized that infections causes through blood loss to cause anemia even when iron intakes are normal. Infections cause haemolysis of R.B.C and hence it leads to anemia. Losses of calcium and phosphorous in body also occurs. It also interferes in the absorption of dietary minerals.

Proteins and Infection-

Infections causes an increase in nitrogen excretion in urine leading to negative nitrogen balance. Negative nitrogen balance has been reported to occur in common cold, fever, etc. Even less severe infections also cause an increase in urinary nitrogen. The increase in urinary nitrogen is due to increased catabolism of tissue proteins. Absorption of protein is seriously affected in viral infections. Frequent infections in a malnourished person receiving a protein deficient diet will deplete the protein reserves in the body of patients and precipitate the development of severe other symptoms[19,20].

Since, frequent infections cause an increase in the requirements of calories, proteins and some other vitamins and decrease in the weight of patients. It can be expected that supplementary feeding or adequate intake of balance diet will help to improve the growth rate and nutritional status. A large number of studies carried out by many researchers in various developing countries have shown that adequate diet helps to improve the growth and nutritional status of patients in developing countries[20].

Conclusion-

With the help of proper nutritional intake and changes in diet COVID-19 pandemic, can be prevented to some extent. Proper healthy diet can act as a barrier for occurrence of corona pandemic. As corona virus is one of a viral diseases and interaction between the viruses and hosts gives the amount and area of magnitude of immune defense in leading of its symptoms, severity and outcomes. Therefore, the focus of this article is awareness about healthy dietary habits and proper nutritional knowledge which can help individuals to leading improvement in immunity system of body, so that they can attain their proper physical and mental health.

References-

[1]. Farah Naja, Rena Hamadeh. Nutrition amid the COVID-19 pandemic: a multi-level framework for action, Eur J Clin Nutr. 2020 Apr 20 : 1–5.doi: 10.1038/s41430-020-0634-3.

[2]. Bogoch II, Watts A, Thomas-Bachli A, Huber C, Kraemer MU, Khan K. Pneumonia of unknown etiology in Wuhan, China:potential for international spread via commercial air travel. J Travel Med. 2020;272:1–3.

[3]. Ksiazek TG, Erdman D, Goldsmith CS, Zaki SR, Peret T. Emery S, Tong S, et al., editors. A novel coronavirus associated with severe acute respiratory syndrome. N Engl J Med. 2003;348 (20):1953–1966.

[4]. Aslam MF, Majeed S, Aslam S, Irfan JA. Vitamins:Key role players in boosting up immune response, A mini review Vitam. Miner. 2017;6:153.

[5]. http://www.emro.who.int/nutrition/nutrition-infocus/nutrition-advice-for-adults-during-the-covid-19-outbreak.html

[6]. Faseeha Aman and Sadia Masood Pak J Med Sci. 2020 May; 36 (COVID19-S4): S121–S123.doi: 10.12669/pjms.36.COVID19-S4.2776.

[7]. Haug A, Brand-Miller JC, Christo phersen OA, McArthur J, Fayet F, Truswell S. A food “lifeboat”:food and nutrition considerations in the event of a pandemic or other catastrophe. Med J Aust. 2007;187:674.

[8]. Khayyatzadeh SS. Nutrition and Infection with COVID-19. J Nutr Food Security. 2020;5 (2):93–96.

[9]. J. Du, J.J. Cullen, G.R. Buettner Ascorbic acid: chemistry, biology and the treatment of cancer Biochim Biophys Acta (BBA) Rev Cancer, 1826 (2) (2012), pp. 443-457

[10]. R. Douglas, H. Hemila, E. Chalker, B. TreacyVitamin C for preventing and treating the common coldCochrane Database Syst Rev, 3 (2007).

[11]. C.S. Johnston, G.M. Barkyoumb, S.S. SchumacherVitamin C supplementation slightly improves physical activity levels and reduces cold incidence in men with marginal vitamin C status: a randomized controlled trial Nutrients, 6 (7) (2014), pp. 2572-2583

[12]. T. Kulie, A. Groff, J. Redmer, J. Hounshell, S. SchragerVitamin D: an evidence-based reviewJ Am Board Fam Med, 22 (6) (2009), pp. 698-706

[13]. J.A. Beard, A. Bearden, R. Striker Vitamin D and the anti-viral stateJ Clin Virol, 50 (3) (2011), pp. 194-200

[14]. I. Laaksi, J.-P. Ruohola, P. Tuohimaa, A. Auvinen, R. Haataja, H. Pihlajamäki, et al.An association of serum vitamin D concentrations <40 nmol/L with acute respiratory tract infection in young Finnish men Am J Clin Nutr, 86 (3) (2007), pp. 714-717.

[15]. J.D. McNally, K. Leis, L.A. Matheson, C. Karuananyake, K. Sankaran, A.M. Rosenberg Vitamin D deficiency in young children with severe acute lower respiratory infection Pediatr Pulmonol, 44 (10) (2009), pp. 981-988.

[16]. Bo Han, Ba X Hoang Opinions on the current pandemic of COVID-19: Use functional food to boost our immune function, Review J Infect Public Health. 2020 Sep 10;S1876-0341(20)30636-5.doi: 10.1016/j.jiph.2020.08.014.

[17]. L. Anderson, P. Dormitzer, D. Nokes, R. Rappuoli, A. Roca, B. Graham Strategic priorities for respiratory syncytial virus (RSV) vaccine development Vaccine, 31 (2013), pp. B209-B215

[18]. M. Singh, R.R. Das. Zinc for the common cold, Cochrane Database Syst Rev (6) (2013), pp. 12-20.

[19]. W.H.O (1963), Malnutrition and Diseases- Freedom from hunger campaign Basic Study 12,World Health Organization, Geneva.

[20]. Scrimshaw, N.S., Taylor, C.E. and Gordon, G.E. (1968), Interactions of Nutrition and Infection, World Health Organization, Geneva.

●

THE ANALYTICAL METHODS FOR STANDARDIZATION OF KUSHMANDA AVALEHA

ABHILASHA PANDEY * DR. A.K. KUSHWAHA** DR. M.K. NANDI*

DR. D.N.S. GAUTAM**DR. B.M.N. KUMAR****** & DR. AMBRISH KUMAR SINGH*******

Avaleha kalpna is an important *Ayurvedic* preparation, has been employed in various diseases and used frequently because of its easy administration, palatability and longer shelf life. It is a semisolid preparation of herbal drugs. *Kushmanda avaleha* is a semi-solid aromatic confection (*avaleha*) prepared using white *pumpkin*, sugar, ghee, honey and different types of spices. It is used to cure diseases like *kasa* (cough), *urahkshata* (chest wound/disease of lungs), *kshaya* (tuberculosis), *puranajvara* (chronic fever), *raktapitta* (bleeding disorder), *chardi* (emesis), *trishna* (thirst), *jvara* (fever), *sukrakshya* (deficiency of semen), *daurbalya* (weakness), *karsya* (emaciation), *svarabheda* (hoarseness of voice), *vaivarnya* (discolouration), *swasa* (dyspnoea/Asthma) etc[1]. This present study evaluates and fixes certain quality control parameters for *Kushmanda avaleha*.

MATERIALS AND METHOD

Kushmanda avaleha was prepared as per classical text using authenticated raw drugs.

Table 1: Ingredients for Kushmanda avaleha[2]

S.No.	Drug	Latin name and Family	Part Used	Quantity
1.	*Kushmanda*	*Benincasa hispida/* Cucurbitaceae	Fruit pieces	200 parts
2.	*Pippali*	*Piper longum/* Piperaceae	Fruit	8 parts
3.	*Sunthi*	*Zingiberofficinale/* zingiberaceae	Rhizome	8 parts
4.	*Krishna Jeera*	*Cuminum cyminum/* Apiaceae	Seed	8 parts
5.	*Dhanyak*	*Coriander sativum/* Apiaceae	Seed	1 parts
6.	*Tejpatra*	*Cinnamomum tamala/* Lauraceae	Leaf	1 part
7.	*SukshmaEla*	*Elettaria cardamomum/* Zingiberaceae	Seed	1 part
8.	*Marich*	*Piper nigrum/* Piperaceae	Seed	1 part
9.	*Twak*	*Cinnamomum zeylanicum/* Lauraceae	Bark	1 part
10.	Water			800 parts
11.	Cow ghee			32 parts
12.	Sugar			200 parts
13.	Honey			16 parts

* Research Scholar, M. Pharm. (Ay.), Faculty of Ayurveda, I.M.S. BHU
** Supervisor, Assistant Professor, Department of Dravyguna, Faculty of Ayurveda, I.M.S. R.G.S.C. BHU
*** Assistant Professor, Department of Medicinal Chemistry, Faculty of Ayurveda, I.M.S. BHU
**** Associate Professor Department of Rasashastra, Faculty of Ayurveda, I.M.S. BHU
***** Assistant Professor Department of Rachana Sharir, Faculty of Ayurveda, I.M.S. BHU
****** Assistant Professor Department of Pharmacy, Faculty of Ayurveda, I.M.S. BHU

Preparation of *Kushmanda Avaleha*

Here, for the present study preparation of *kushmanda avaleha* is prepared by the method given by the *Ayurvedic* Formulary of India, Part – 1 and *Sharangdhara Samhita*. For making *Kushmanda avaleha*, take *kushmanda* (*Benincasa hispida*) fruit slices and water. Then, boil the water with *kushmanda* fruit slices until the water reduces to half. After that filter the water and separate the boiled fruit slices to keep this water. Now, take these fruit slices in a cotton cloth and squeeze the cloth to remove the water. Spread the slices on a clean cloth and leave it under the sun for a few hours. Then take the ghee in a big copper pan which can hold all the ingredients easily. Now, cook the boiled *kushmanda* fruit pulp in ghee and when its colour becomes brown, add remained water and sugar. When it becomes thick having *Avaleha* (semisolid) like consistency, add the other ingredients except honey. After proper cooling of *avaleha*, add the honey and mixed it very well[3].

Standardization of the Formulation

Standardization is a very important step for every formulation. With the help of standardization, we can control the purity, efficacy, & quality of formulation. In *avaleha*, we can standardize the formulation in threeway -

- Standardized crude drugs.
- Standardized the processing drugs.
- Standardized the finished product.

In API parameters suggested for standardization are – Analysis of foreign matter, Acid value, Ash value, Moisture content, Volatile content etc. In *avaleha* formulation, physiochemical analysis is also essential for quality assurance[4].

ANALYTICAL METHODS FOR STANDARDIZATION

For standardized *avaleha* formulation following parameters have to be measure[5,6]-

A. Organoleptic Properties- On the basis of sense organs study

B. Physico-chemical parameters -

C. Qualitative tests (Phytochemical Screening)

D. Quantitative estimation- Reducing sugar content

RESULTS

Kushmanda avaleha was evaluated for organoleptic characteristic (**Table 2**), qualitative evaluation (**Table 3**) and quantitative evaluation (**Table 4**) of ingredient present in it.

Table 2: Organoleptic characters

Organoleptic Characters	**Laboratory Sample (SL)**	**Market Sample (SM)**
1. Colour	Blackish brown	Brown
2. Odour	Smell of spices	Smell of spices
3. Taste	More astringent and less sweet	Less astringent and sweet
4. Appearance	Liquid to semisolid	Semisolid
5. Touch	Soft and sticky	Soft & oily

Table 3: Physicochemical Characterisation

Sr.no.	Parameters	Laboratory Sample (SL)	Market Sample (SM)
1.	Loss on drying 105^0c (% w/w)	17.48%	19.34%
2.	Total ash content	6.31 %	5.28 %
3.	Acid insoluble ash (% w/w)	0.120%	0.106%
4.	Water soluble extractive (% w/w)	54.23%	49.56%
5.	Alcohol(95%) soluble extractive (% w/w)	42.04%	47.53%
6.	Petroleum ether soluble extractive (% w/w)	23.45%	19.56%
7.	Acid value	9.06	8.02
8.	pH value of 1% aqueous solution	5.36	5.78

Table 4: Qualitative Evaluation

S. No.	Plant Constituents Test / Reagent	Aqueous Extract	Me. Extract	Chl. Extract
1)	**Carbohydrates**			
	Molisch reagent	+	+	+
	Fehling Solution	+	+	-
	Reducing sugar test	+	+	-
2)	**Alkaloid**			
	Dragendroff's Test	+	+	+
	Mayer's Test	+	+	+
	Wagner's Test	+	+	+
3)	**Glycosides**			
	Borntrager's Test	+	+	-
4)	**Phenolic Compounds & Tannin**			
	Ferric Chloride Solution	+	+	+
5)	**Flavonoids**			
	Shinoda/ Pew Test	+	+	+
	Lead acetate Test	+	+	+
6)	**Proteins & Amino acids**			
	Millon's Test	+	+	-
	Ninhydrin Test	+	+	-
7)	**Saponin** -Foam Test	+	-	+

DISCUSSION

In this study, a polyherbal formulation *Kushmanda avaleha* is selected for standardization. It is evaluated for organoleptic characteristics, phytochemical screening, physicochemical screening and quantitative evaluation of some active constituents. The organoleptic study revealed that (**table 2**) *Kushmanda avaleha* of Lab sample (SL) is blackish-brown in colour while the market sample (SM) is brown, which may be due to differences in manufacturing procedure and raw material quality. Laboratory sample is thick semi-solid mass and the marketed sample is a thinner consistency, which may be due to higher moisture content. The lab sample is the more astringent and bitter comparison to marketed sample**,** reflecting higher content of sweetening agent or less of *kasaya dravya* (astringent substance). Organoleptic screening is undertaken to establish to the profile of polyherbal formulation to its identification, adulteration and substitution. WHO recommended organoleptic study should be proposed as a practice for the analysis of polyherbal drugs[7].

Physicochemical evaluation of both samples of *Kushmanda avaleha* is done using various parameters like – loss on drying, ash value, extractive value, acid value, ph value etc. and physicochemical evaluation are mention in the table 3. The study is revealed that loss on drying in the sample is attributed to moisture content. Loss on drying value of marketed sample (SM) is higher than in comparison to lab sample (SL). Loss on drying gives information about the possibility of enzyme destruction of active constituents, so proper care & packing of the formulation are highly essential. The ash value is representing inorganic salt occurring naturally or due to adulteration proposes. A high ash value is the representation of substitution, contamination, adulteration or carelessness in preparation of formulation; total ash value and acid insoluble ash value of lab sample (SL) are slightly higher than the marketed sample (SM) [8,9].

The extractive value indicates the solubility of various classes of the compound in a particular solvent, it looks at the formulation is rich with different types of phytoconstituents. This extractive value revealed both formulations have more water-soluble (polar) phytochemical constituents than petroleum ether (non – polar), further extractive value for both polar and non – polar solvent of lab sample (SL) is highly comparative to market sample (SM). Similarly, another physicochemical parameter like acid value, ph-value etc. is high in comparison to market sample (SM). The phytoconstituents present in an *ayurvedic* formulation is related to its therapeutic activity. So, standardization of formulation based on the phytochemical aspect is highly essential to justify its therapeutic activity experimentally[10]. The respective solvent like water, alcohol and chloroform were used to distinguish the chemical nature of phytochemicals present in *avaleha*. The suitable solvent separates the phytoconstituents on the basis of hydrophilicity or hydrophobicity or polarity. In the present investigation, preliminary phytochemical screening of both samples of *Kushmanda avaleha* showed major phytochemicals like – alkaloid, carbohydrate, tannins, glycosides, flavonoids, saponin etc[11]. This study was revealed that both samples contain major secondary metabolites, which are responsible for therapeutic activity of *Kushmanda avaleha*.

CONCLUSION

Kushmanda avaleha was one of the important formulation which is mentioned in the Ayurvedic Formulary of India (AFI), Part – 1 and used in different diseases like – dementia, Hemorrhage (bleeding disorder), Heartburn, Acid Reflux, Hyperacidity, Ulcer, Bronchitis and cough, Breathing troubles and asthma, Vomiting, Dry mouth, Physical weakness, Jaundice etc. The ultimate aim of the study is to standardize *Kushmanda avaleha* and for standardization purposes, it is necessary to analyze laboratory sample qualitatively and quantitatively. The sample was analyzed by employing various parameters like – organoleptic, physicochemical, qualitative and quantitative analysis. For comparison of analytical data, the marketed sample was also procured and analyzed. These samples were analyzed for their preliminary qualitative testing (phytochemical screening), which showed the phytochemical constituents like – alkaloid, tannin, carbohydrates, saponin, proteins, flavonoids, glycosides etc. are present in the sample. Quantitative estimation of *Kushmanda avaleha* was done to know the reducing sugar. Present study standardization of *Kushmanda avaleha* by different analytic methods reflects that it has good quality and purity due to it contains major phytoconstituents (percentage reducing sugar alkaloid, tannin, carbohydrates, saponin, proteins, flavonoids, glycosides etc).

REFERENCES

1. Shri Govind Das, Bhaisajya Ratnavali, Hindi translation by Shri Kaviraja Ambikadatta Shastri Ayurvedacharya. Chaukhamba Prakashan, Varanasi, 18th edition, 2007; 232.
2. Anonymous, The Ayurvedic Formulary of India, Part-1; IInd edition, The controller of publications, New Delhi, 2003; 121.
3. Acharya Sharangadhara, Sharangadhara Samhita, Madhyama Khanda. English translation by Prof. K. R. Srikanta Murthy, Varanasi, Chaukhamba orientalia, 4th Edition 2001;111.
4. Das C, Ghosh G, Bose A, Das D. Analytical-Methods For Standardization Of Ayurvedic Asavas and-Aristas-A-Review, Indian Journal of Pharmaceutical Sciences, 2019, 81(3):396-405
5. Khandelwal K R., Practical Pharmacognosy Techniques and Experiments, 8thedition. Pune: Nirali Publication; Prelimininary phytochemical screening, 2001;149-156.
6. Kokate CK, Gokhale SB, Purohit AP, A text book of Pharmacognosy, Nirali prakashan. 29th edition, 2009;82.
7. Pramod C. B, Patgiri B. J., Prajapati P. K., Nutraceuticals in Ayurveda with special reference to Avaleha Kalpana, , Ancient Science of Life,2008, 28 (2): 29-32.
8. Singh VK, Singh NK, Physico-chemical and Phytochemical Standardization of Chitrak Haritaki avaleha, International Journal of Pharmaceutical & Biological Archives, 2015; 6(3):12 - 16,
9. Nandennavar Veena , Deshpande P.R, Pharmaceutico - Analytical study of Ardraka Avaleha, Ayurpub; 2018,III(2): 792-800.
10. Kadam PS, Jadhav BA , Salve RV, Machewad GM, Review on the High Pressure Technology (HPT) for Food Preservation, Journal of Food Processing and Technology, 2012, 3:135.
11. Ghias Uddin, Abdur Rauf, Naveed Muhammad, Shabana, Nadia Malik and Mohsina, Phytochemical and Pharmacological Studies of the Whole Plant of Calotropis procera Middle-East Journal of Medicinal Plants Research, 2012,1(4): 71-74.

●

THE EPIDEMIC OF COVID – 19 AND INDIAN SCHOOL EDUCATION SYSTEM

VISHAL GUPTA & DR. VANDANA VERMA***

For the schools being locked down due to COVID-19 epidemic, educationists across the country are moving to virtual classes to ensure learning never stops. Policy makers not only enable teachers and students to connect over video-enabled remote classrooms but also provide a host of interactive and collaborative apparatus on a single platform. Here are examples of Indian education institutions that are using classes on whats app group, and various networking sites for remote learning. In the same, The British School in New Delhi is a 57-year-old education institution. The school moved to Microsoft Teams even before the COVID-19 lockdown, to enable its teachers and students interact and collaborate in remote/online learning scenarios.

"Human beings in general thrive on social interaction, which was missing in traditional e-learning platforms. You can never really replace a teacher because the teacher provides that human interaction, but as I think platforms like Teams enable a teacher to be able to reach out to their classroom remotely and continue to interact," says Vanita Uppal OBE, director of The British School.

An enormous majority of the relief and rehabilitation packages announced following the nationwide lockdown in India have focused on economic remedy. However, the education sector has remained absent from this effort, including in India's central government's 250 billion dollar stimulus package[1]. In this paper, we ought to discuss the implementation of lockdown-induced school and rural child-care center closures on education and health outcomes for the urban and rural poor. We especially focus on food and nutritional security of children who depend on school feeding and supplementary nutrition programs. We argue that the impacts are likely to be much more severe for girls as well as for children from already destitute ethnic and caste groups. We also discuss ways in which existing social security programs can be leveraged and strengthened to ameliorate these impacts.

Gender With India slowly starting to open its economy back up, following months of nationwide Covid-19 induced lockdown, schools and colleges across the country have now been shut for over three months. Even as the lockdown ends, it is unlikely that educational institutions will re-open for months. This closure has come at a critical point in the education calendar of India, marked by school final assessments, school leaving examinations and entrance tests for undergraduate and post-graduate courses. What does this disruption imply for students across the socio-economic spectrum, both in terms of learning outcomes and food and economic security, and how can policymakers moderate these impacts? In this article I will try to discuss some of the consequences of the lockdown on the education sector and the steps that have been taken by various state and central bodies to address these consequences. Finally, I suggest ways in which existing social security nets and provisions can be addressed to support young and school-age children affected by the lockdown[2].

1) **Impact on dropout rates –**As per data of UNESCO, approximately 0.32 billion students in India have been affected by school closures due to the Covid-19 pandemic (UNESCO 2020). Of these, almost 84% reside in rural areas while 70% attend government schools. As of 2015, the average dropout rate across secondary schools in India was 17.06% with higher numbers for rural areas (NUEPA 2016)[3]. Our past experience suggests that short term disruptions in schooling often lead to permanent dropouts among the poor. One reason for this is the loss of parents' employment for which child labor is geared up as a substitute. The inevitable economic backlash of the lockdown is likely to reduce the earning capacity for many poor households and may increase the opportunity cost of sending children to school, especially in rural India. As a result, children may be pushed into the market of labor. Dropout rates are likely to be even more severe for girls who are often left out of

* Ph.D. Scholar (Education), Deptt.of Kriya Sharir, Faculty of Ayurveda, I.M.S., Banaras Hindu University, Varanasi
** Assistant Professor, Deptt. of Kriya Sharir, Faculty of Ayurveda, I.M.S., Banaras Hindu University, Varanasi

household' decisions for resource allocation. Females may also be required to undertake additional household responsibilities as parents increase their own labor hours to cope with economic distress. Similarly, these economic shocks are likely to have a greater impact on children from communities that are marginalized (on the basis of their caste, tribe and religion).

2) **Unaffordable Educational expenditure-** Without school fee waivers in the interim, dropout rates are likely to get further accelerated as educational expenses become unaffordable for many guardians. Although some states governments such as those of Haryana, Punjab, Uttar Pradesh, Himachal Pradesh and Jharkhand tried to initiate waivers for tuition and other school expenses during the lockdown period, private schools are looking unenthusiastic to implement these measures.

3) **Adverse effect on inequality and disparity-** A key step taken by some educational institutions to ensure continuation of curriculum has been to shift lectures online, requiring both students and teachers to use personal home computers and reliable internet. If school and university examinations happen as scheduled, without compensatory classes, it is likely to disadvantage students who cannot access these computer and network resources[5]. However, postponement of examinations can cause a delay for students in entering the job market. The discourse on education during the lockdown period has been essentially focused on online or televised learning.

4) **Digital learning goals must be set by authority--** In fact, the only mention of education in the Government of India's USD 260 billion fiscal stimulus packages is in the context of online and digital learning platforms. A number of Indian states including Mizoram, West Bengal and Kashmir have implemented daily televised lectures as the Human Resource Development (education) Ministry ties up with television service providers to allocate specific channels for this purpose.

5) **Rural and urban differences--**However, these measures preclude the rural and urban poor with limited or no access to electricity and network resources. Moreover, online classes are being facilitated largely for students who attend urban private schools, and already outperform government school students on most indicators of learning. The higher use of online learning platforms by private schools will increase this disparity[4].

6) **Effect on nutrition and food security -**One of the most important consequences of the lockdown and subsequent school closures has been the temporary suspension of mid-day meals and supplementary nutrition programs, which has widespread and important setback for the nutrition and food security of children across the nation. The Mid-day Meal (MDM) program in India is the largest school feeding program in the world (World Food Program 2013). This flagship program aims to provide cooked meals to all government primary school children, meeting a stipulated minimum calorie and protein requirement. The MDM program, besides eliminating classroom hunger, also addresses health issues such as micronutrient deficiencies and mass deforming. In case of economically disadvantaged families, MDM's school meals act more as a substitute rather than a complementary meal, protecting against endemic hunger for the entire family. The months of lockdown in India have already caused supply chain disruptions in the agriculture sector, leading to food shortages (Reardon et al. 2020). Interruption in school feeding programs is thus likely to exacerbate food insecurity, particularly for those who are already under-nourished, especially girls, who like older women, eat last and eat less at home, compared to boys and men[5].

7) **Lack of fund available to India--**The Global Partnership for Education has recently announced a $250 million fund to help 67 developing countries (excluding India) cope with immediate and long-term disruptions to education as a result of the pandemic (GPE 2020). This fund, to be utilized with a special focus on girls and poor children, aims to encourage investments in learning resources that will reach those who will most likely be unable to resume learning when schools reopen. In India too, local solutions by several state governments have been implemented, but there

is scope for much more .Children in certain southern states (Kerala, Telangana, Karnataka and Andhra Pradesh) have benefited millions of children and expecting mothers already. Other measures including data packages for students, TV broadcasted classes and regular SMS/IVR to parents for daily activities with children are currently underway. Moving forward, the immediate need is to expand access to nutritious food for all children eligible for school feeding programs nationwide. In addition, re-directing locally produced horticultural crops to households under the MDM and ICDS umbrella can help improve nutrient content and diet diversity for children and provide temporary relief to farmers through local requirement. Along with interventions in the education sector, initiatives are also needed to cushion the economic impact on poor families to discourage the use of child labor along with monitoring mechanisms set up to ensure children remain in school, whenever they re-open.

And the last but not the least there is also the issue of mental stress and trauma that young children may be facing, both as a result of reduced mobility due to the lockdown and the economic stress being faced by families- an issue that has remained largely absent from the current discourse. In such a context, collaborative effort between the public sector, the private sector, and the civil society would be critical for educational and social rehabilitation of affected children. As health and economy occupies the centre stage, educational and nutritional considerations must not be forgotten so as to not undo the hard-earned gains in these sectors over the past few decades.

In what extent will schools need to change in the post-Covid-19 era?

According to my point of view the Covid-19 epidemic has changed the way we study, work, and live. Thanks to social distancing norms, schools now need to plan certain design changes for the post-Covid-19 world. Here is the administrative, infrastructural and psychological changed schools need[6].

- Covid-19 has changed the way we live and study, prompting us to rethink the schools and colleges are re structured and redesigned.
- Social distancing norms make it important to think about crucial design changes in educational institutes.

Conclusion

As a scholar by my profession, the hesitation of sending children back to what was once a safe-haven is an obvious question in mind for many of us? Any crisis presents the opportunity to help them learn, cultivate compassion, and increase resilience while building a safer and more caring community.

As a caretaker, we must have the right information on Covid-19, to diminish students' fears and anxieties around the virus, as we all gear up to head back to school soon! Several considerations must be taken into account to maintain safe school activity, and if done correctly, it can promote emotional and physical well-being.

In my point of view educational institutes will, and must take corrective measures at all levels. Design standards on SOPs can help schools and colleges maintain ideal social distancing norms to prevent the spread of the virus while allowing us to inch back as close to the true normal.

While certainly, the design changes needed will be vary from school to school, here are the main changes we will see in school design in the post-Covid-19 world[7].

(a) Administrative changes in post-Covid-19 schools

1. Abiding by the new norms of social distancing is a big challenge confronted by schools as they look to open up.
2. Working in shifts or staggering school timings will be beneficial. This can be enabled by allowing for batches at different hours.
3. Important exams can be conducted on different dates, thereby reducing the number of working hours and physical interaction amongst students in schools.
4. All team sports activity, as well as spectator sports, need to be put on hold. This would also imply a reduction in activity class hours, thereby helping reduce working hours for children and teachers.
5. Art as an activity can be continued with social distancing in mind as it allows stimulating the creativity of the children.

6. Providing parents with an option to opt for classroom teaching or online can help regulate the number of students in a classroom. Installing a camera in every classroom will allow students to study from home on a virtual platform as well. It will considerably reduce the physical footfall in the school.

As I think the necessity of teaching and learning with asynchronous platforms (Canvas, Blackboard, D2L) and synchronous (Zoom) platforms also yield significant benefits, when both methods can be adopted.

(b) Infrastructural changes in schools after Covid-19

1. Considering that WHO prescribes physical distancing of at least 1 metre between students in school, the removal of standard twin benches at school would be of utmost priority.

2. The new classroom design should allow for increased circulation of fresh air indoors, and classes must be held outdoors as much as possible to reduce contamination.

3. Sanitation stations should be installed in every classroom and vinyl floor markings can be used to ensure unidirectional movement in all passages and corridors. Essentially, the class strength needs to be halved in the physical space by either increasing the number of rooms or by going in for a combination of real-time classes and online classes.

(c) Psychological changes schools need after Covid-19

1. It is necessary to show empathy towards the teachers; Working full time, managing multiple roles, grappling with technology and yet smiling and greeting the children to ensure a happy learning environment.

2. As schools reopen under appropriate health and safety protocols, school leaders will confront a new set of challenges including syllabus timelines and teaching methodologies, remedial academic support, new sanitation guidelines and possibly closing schools again in response to public health needs.

3. A new set of challenges will come our way once schools reopen under appropriate health and safety guidelines. School administrators will need to rework syllabus timelines, teaching methodologies, and remedial academic support.

While the hurdles seem insurmountable, the result will lead to learning for students, professional work environments for parents, and an eventual balance in the society.

References

1. ASER, 2016, Annual Status of Education Report 2020.
2. Bittersweet M., 2020, The collapse of education is the collapse of the Nation.
3. NUEPA explanatory notes on school closure during lockdown, Nov.2020
4. Chaube, S.P.: History and Problems of Indian Education, Vinod Pustak Mandir, Agra.
5. Parrikar Madi, 2020, Education System in India, Post Covid -Phase .
6. Ranganathan, S.(2021), Educational Reform and Planning Challenge, Kanishka Publishers & Distributors, New Delhi
7. UNESCO report on COVID 19 lockdown impact on social services, Dec.2020

●

RUDRA AS DELINEATED IN THE VĀJASANEYISAṀHITĀ

DR. MAUMITA BHATTACHARJEE & DR. JAGADISH SHARMA***

The personality of Rudra started developing gradually from the time of *Yajurveda*. In this *Veda*, homage is paid to Rudra through several names. The two opposite traits or characteristics of Rudra, i.e. his auspicious form and his terrible appearance, are encapsulated in the *Yajurveda* in such a way that it can help us arrive at the conclusion that all the basic components which created the complicated Rudra-Śiva cult of later ages are to be found here.[1]

Physical appearance of Rudra

In connection with the personification of Rudra, the physical characteristics of Rudra are described very delightfully in the *Vājasaneyisaṁhitā* of the *Yajurveda*. In the *Vājasaneyisaṁhitā*, Rudra is said to be copper-coloured,[2] *Hiraṇyabāhu* or the one who wears golden ornaments on his hands and *Harikeśa* or the one who possesses green-coloured hair.[3] Uvaṭa, the commentator of the *Yajurveda* makes him the possessor of red-coloured hair and according to Mahīdhara, he has blue-coloured hair.[4] He is called *Nīlagrīva* or the colour of his neck is blue and *Śitikaṇṭha* or his throat is white.[5] He has thousand eyes.[6] Again in another *mantra*, Rudra is called *Tryambaka*.[7] Mahīdhara explains the term *tryambaka* as *tryambakaṁ netratrayopetaṁ rudram* or Rudra who has three eyes.[8] He is *Nīlalohita*[9] or blue-necked and red elsewhere. His physical appearance is described with a number of contradictory epithets. Like, he is mentioned as *Kapardin* or the one with braided hair. At the same time, he is called *Vyuptakeśa* or shaven-haired,[10] *Jyeṣṭha* or eldest, *Kaniṣṭha* or youngest, *Pūrvaja* or first-born as well as *Aparaja* or last-born and he is also the *Madhyama* or middlemost. But Sāyaṇācārya does not accept the meaning of *jyeṣṭha* and *kaniṣṭha* like this. Sāyaṇācārya takes the term *jyeṣṭha* as the one who has great excellence in the sphere of knowledge and wealth, etc.—*vidyaiśvaryādibhiradhiko jyeṣṭhaḥ* and one who has less knowledge and wealth as *kaniṣṭha*—*tadrahito'lpaḥ kaniṣṭhaḥ*.[11] He wears a turban on his head[12] and his attire is made of skin.[13] He puts a helmet on his head, a *kavac* or cuirass and *varma* or armour on his body as well as a *varūtha* on his hands.[14] *Varūtha* means metallic cover or a bracelet which is worn over hands. Here, in his commentary Uvaṭa explains the term *varūtha* as *hastina upari gṛhākāraḥ koṣṭakaḥ*.[15] Mahīdhara points out that *varma* and *kavac* are not the same. *Kavaca* means a cover made of thread and cloth, etc. and *varma* means an iron cover which is worn over body.[16] Rudra's physical appearance as a warrior is delineated by the above mentioned attributes

Rudra's weapons

Rudra is the wielder of a sword, a quiver. He is the possessor of sharp arrows. He is known as *Āyudhin* or the one who is armed with weapons. He is praised as *Svāyudha* and *Sudhanvan*.[17] The term *svāyudha* and *sudhanvan* are explained by Mahīdhara respectively as *śobhanamāyudhaṁ triśūlaṁ yasya sa svāyudhaḥ* and *śobhanaṁ dhanuḥ pināka yasya sa sudhanvā*.[18] Rudra carries in his hands a beautiful trident and a bow named *Pināka*. So, he is called *Svāyudha* and *Sudhanvān* respectively. In another commentary of *Vājasaneyisaṁhitā*, Mahīdhara construes the term *āyudha* as *āyudhaṁ triśūlādikam*.[19] Here, it is mentioned that the name of his bow is *Pināka*[20] and the thunderbolt is *Sṛka*.[21]

Oblations to different names of Rudra

In the context of the Horse sacrifice, a reference has been found in the *Vājasaneyisaṁhitā*, where *Agni*, *Aśani*, *Paśupati*, *Bhava*, *Śarva*, *Īśāna*, *Mahādeva* and *Ugra* all these names of Rudra are mentioned. The different names of Rudra are worshipped with offerings of the different parts of the body of the sacrificial horse. As the epithet of Rudra, *Agni* is worshipped with the heart, *Aśani* with the front part of heart, *Paśupati* with the entire heart, *Bhava* with the liver, *Śarva* with the two cardiac bones, *Īśāna* with passion, *Mahādeva* with the intercostal flesh, *Ugra* with the rectum respectively.[22] *Mahādeva* is a popular name of Śiva in the post Vedic literature.[23]

The *yajamāna* or sacrificer as Rudra

In the context of the Rājasūya sacrifice, there is a reference in the *Vājasaneyisaṁhitā*, where the

* Assistant Teacher, Bidyapur High School, Bongaigaon, Assam.
** Associate Professor, Sanskrit Department, Gauhati University, Guwahati, Assam.

sacrificer is identified with Rudra. The priest addresses the sacrificer as Rudra, the very kind and gracious.[24] In this connection, Uvaṭa remarks that *suśeva* means auspicious.[25]

Tryambaka Homa

In the context of the Rājasūya sacrifice, an offering of a cake is made to *Tryambaka*, an aspect of Rudra. According to R.T.H. Griffith—'*tryambaka* is a name of Rudra who has three wives, sisters or mothers or tricolour and the three-eyed god.'[26] In later literature, god Śiva is known by this name *Tryambaka*.[27] This sacrifice is offered for each of the member of the sacrificer's family. This oblation is offered on one potsherd with the desire to bring prosperity to all of them. The sacrificer supplicates before Rudra for the protection of cattle and himself (sacrificer). In this offering, a cake is offered to Rudra along with Ambikā, sister of Rudra and after that an additional cake is buried in a mole-hill uttering the *mantra—...svāhaiṣa te rudra bhāga ākhuste paśuḥ*. It means this mole is Rudra's animal and Rudra rejoices in it.[28]

Tryambaka is earnestly invoked to free or save from every bound of death not from immortality.[29] Mahīdhara remarks that— *Tryambaka* saves beings from *apamṛtyu* or sudden, untimely death.[30] The physician character of Rudra is expressed in the *Vājasaneyisaṁhitā* and *Taittirīya Saṁhitā* also. The devotees invoke Rudra to confer medicine for cow, horse, man and to bestow happiness to ram and sheep.[31]

Rudra in the *Śatarudriya adhyāya* of the *Vājasaneyisaṁhitā*

The 16th chapter of the *Vājasaneyisaṁhitā* named *Śatarudriya* is an exceptional section where Rudra is prayed through numerous names. As quoted by V.S. Agrawala "When the author was composing that *stotra* he meditated on the glory of Rudra in the numerous forms both on the universal and the human planes and coined as many epithets as he could for the sake of offering his homage by using the word *namaḥ*. Thus the *Śatarudriya* is the first *namaḥ stotra* in Sanskrit literature on the model of which many more were subsequently composed."[32] The character of Rudra is in a much more developed form in the 16th chapter of the *Vājasaneyisaṁhitā* and here the worshipper appeals to him under a great variety of epithets. This chapter of the *Vājasaneyisaṁhitā* named *Śatarudriya* section depicts the most exceptional epithets of Rudra which shows the various aspects of his personality. Rudra's two opposite characters, viz. malevolent and auspicious are clearly portrayed here. J. Muir says in his book entitled *Original Sanskrit Texts* that 'The imagination of the rishi runs riot in the invention of these epithets, which are the most heterogeneous description.'[33] From the title *Śatarudriya* it seems that hundred names or attributes of Rurda are stated here. But here the word *śata* does not mean hundred. It is used to portray many. Here, in this section, some contradictory or opposite names are ascribed to Rudra at the same time. He is said to have braided hair as well as shaven haired at the same time. The *Śatarudriya* section expresses the various names of Rudra with their derivations. So, there is an opportunity to study these names according to their etymologies. Rudra's different names depict his different duties, nature and aspects of his personality.

Epithets relating to his auspicious character

Rudra's auspicious character is revealed by a number of epithets, such as *Mayaskara*, *Mayobhava*, *Śaṁbhava*, *Śaṅkara*, *Śiva*, *Śivatara*,[34] *Mīḍhuṣtama*,[35] *Mīḍhuṣa*,[36] *Mīḍhva*,[37] *Śivatama*.[38] Mahīdhara states that Rudra bestows *loukikasukha* (earthly happiness) and *mokṣasukha* (salvation).[39] It means the term *śiva* implies auspicious and sinless— *śivaḥ kalyāṇarūpo niṣpāpaḥ...*[40] In this context, from Uvaṭa's commentary it can be understood that he has a capacity of sprinkling rain or water and he is youthful.[41] He is also known as *Śambhu* and *Mayobhū*.[42] According to Sāyaṇācārya, one who bestows or generates happiness is called *Śambhu* and *Mayobhū*.[43] He is extolled as the first divine physician[44] and is called *Tāra* or one who protects the whole world.[45] The word *tāra* means *tārayati saṁsāramiti tāraḥ...*[46]

Malicious aspects of Rudra

Rudra's malicious nature is expressed by a number of attributes. As the slaughterer of enemies he is designated as *Abhighnan*.[47] Mahīdhara derives the term *abhighnan* as the one who always slays the enemies.[48] He is invoked as *Ugra* or fierce, *Bhīma* or terrible,[49] *Vyādhin*[50] or the one who pierced the enemies.[51] The terms *ugra* and *bhīma* are illustrated by Uvaṭa respectively as *ugra udgūrṇaḥ* and *bhīmo bhīṣaṇaḥ*.[52] Since Rudra kills the one who remains in front, he is known as *Agrevadha* and Rudra is also called *Dūrevadha* as he slays the one standing far away.[53] He is also praised as *Hantṛ* and *Hanīyas*,[54]

Śarva.[55] Mahīdhara remarks that reverence is paid to *Śarva* who kills or destroys all the sins.[56]

Epithets of different beings and tribes

In the *Śatarudriya* section of the *Vājasaneyisaṁhitā*, some unique epithets of Rudra associating him with different classes of people have been found. He is regarded as the presiding god of land-grabber.[57] Land-grabber is the one who grabs the field and house of human beings. He is also spoken as *Taskarāṇāṁ Pati* or the lord of thieves, *Muṣṇatāṁ Pati*, lord of sword-bearers, lord of those who roam at night and the lord of plunderers.[58] Uvaṭa takes the word *taskara* like thief.[59] According to Mahīdhara, those who steal paddy, etc. from the paddy field is called *Muṣṇanta* and their (muṣṇanta's) protector is called *Muṣṇatāṁ Pati*.[60] He is invoked as the lord of paths and the lord of noble and prosperous people.[61] He is also addressed as *Sabhāpati* or the lord of assemblies, *Aśvapati* or master of horses, *Gaṇapati* or the lord of troops,[62] *Satvanāṁ Pati* or the lord of those who came to his refuge, *Āvyādhinīnāṁ Pati* or the master of brave soldiers who shoot from all sides.[63]

Besides these above mentioned epithets, Rudra is portrayed as *Jagatāṁ Pati* or the lord of the universe, *Annānāṁ Pati* or the lord of food, *Kṣetrāṇāṁ Pati* or the lord of fields.[64] He is called *Bṛhat*, *Prathama*,[65] *Īśāna*, *Bhagavān*,[66] *Diśāṁ Pati* or the lord of all regions as well as *Paśūnāṁ Pati* or the lord of animals,[67] *Vṛkṣāṇāṁ Pati* or the lord of trees, *Auṣadhīnāṁ Pati* or the lord of medicinal plants.[68]

In this *Śatarudriya adhyāya* of *Vājasaneyisaṁhitā*, Rudra is portrayed as the deity not only in the higher castes but in lower castes also. Homage is paid to Rudra who reveals himself in the chariot-makers, potters, carpenters, blacksmiths, niṣādas. Mahīdhara remarks that niṣādās are a class of people or tribes who are carnivorous and who roam in the mountains[69] R.T.H. Griffith defines the meaning of this *mantra* as "come, speeding on and trampling imprecations, come gladdening to the chieftainship of Rudra."[70] This reference cleares that Rudra is prayed as *Gaṇapati* or lord of hosts.

From the above analysis it can be concluded that Rudra's auspicious nature and his supremacy are reflected very clearly in the *Vājasaneyisaṁhitā*; especially, in the *Śatarudriya* section of this *Saṁhitā*, the gradual development of Rudra can be noticed. Rudra's two contradictory characters, viz., benevolent and malevolent have been observed at the same time such as *Jyeṣṭha*, *Kaniṣṭha*, *Hrasva*, *Vāmana* etc. For the first time he is regarded as *Bhagvān*, lord of the Universe, greatest physician etc.

ABBREVIATIONS :

BOOKS	**GENERAL ABBREVIATIONS**
V.S —*Vājasaneyisaṁhitā*	cf., — Compare
T.S. —*Taittirīyasaṁitā*	Ibid.—Ibidem, in the same place
Ś.P. —*Śiva Mahāpurāṇam*	P. — Page
	Vol. — Volume
	Vide — See

Endnote:

1. cf., Bhattacharji, S., 'Rudra from the Vedas to the Mahābhārata', ABORI, Vol.XLI, p.90
2. V.S., 16.18
3. *...namo namo vṛkṣebhyo harikeśebhyaḥ...*|| Ibid., 16.17
4. Uvaṭa and Mahīdhara, Ibid.
5. V.S., 16.28
6. *namo'stu nīlagrīvāya sahasrākṣāya mīḍhuṣe* | Ibid., 16.8
7. Ibid., 3.60
8. Mahīdhara, Ibid., 3.60
9. V.S., 16.47
10. Ibid., 16.29
11. Sāyaṇa on T.S., 4.5.6.1
12. *nama uṣṇīṣiṇe giricarāya kuluñcānāṁ pataye namo...*|| V.S., 16.22
13. *avatatadhanvā pināākāvasaḥ kṛttivāsā ahiṁsannaḥ śivo'tīhi* || Ibid., 3.61
14. Ibid., 16.35
15. Uvaṭa, Ibid.
16. Mahīdhara, Ibid.
17. V.S., 16.36
18. Mahīdhara, Ibid.
19. Mahīdhara, Ibid., 16.51
20. *parame vṛkṣaṁ āyudhaṁ nidhāya kṛttiṁ vasāna ācara pināākaṁ bibhradāgahi* || V.S., 16.51
21. (a) *...namaḥ sṛkāyibhyo jighāṅsadbhyo...*|| V.S.,16.21 (b) *sṛka iti vajranāma* | Mahīdhara, Ibid.
22. *agniṁ hṛdayenāśaniṁ hṛdayāgreṇa paśupatiṁ kṛtsnahṛdayena bhavaṁ yaknā* |

    śarvaṁ matasnābhyāmīśānaṁ manyunā mahādevamantaḥ paśavyenograṁ devam...|| V.S., 39.7-9
23. Ś.P., 4.35.5
24. *abhibhūrasyetāste pañca diśaḥ kalpantāṁ brahmastvaṁ*

brahmāsi savitāsi satyaprasavo varuṇo'si satyaujā indro'si viśaujā rudro'si suśevaḥ || V.S.,10.28

25. *suśevaḥ śeva iti sukhanāma* | *śobhanaṁ sukhayitā* | Uvaṭa, Ibid.
26. Vide, Griffith, R.T.H., *The Texts of the White Yajurveda*, p.24
27. Ś.P., 4.35.98
28. V.S., 3.57
29. *tryambakaṁ yajāmahe sugandhiṁ puṣṭivardhanam* | *urvārukamiva bandhanānmṛtyormukṣīya mā'mṛtāt* | Ibid., 3.60
30. Mahīdhara, Ibid
31. *bheṣajamasi bheṣajaṁ gave'śvāya puruṣāya bheṣajam* | *sukhaṁ meṣāya meṣyai* || V.S., 3.59
32. Vide, Agrawala, V.S., *Śiva Mahādeva* : *the Great God*, p.29
33. Vide, Muir, J., *Original Sanskrit Texts*, Vol. IV, p.402
34. V.S., 16.41
35. *yā te hetimīḍhuṣṭama haste babhūva te dhanuḥ* || Ibid., 16.11
36. Ibid., 16.8
37. Ibid.,16.50
38. Ibid.,16.51
39. Mahīdhara, Ibid., 16.41
40. Mahīdhara, Ibid.
41. Uvaṭa, Ibid., 16.11
42. T.S., 4.5.8.9
43. Sāyaṇa, Ibid.
44. *adhyavocadadhivaktā prathamo daivyo bhiṣak* | V.S., 16.5
45. Ibid., 16.40
46. Mahīdhara, Ibid.
47. V.S., 16.46
48. Mahīdhara, Ibid.
49. VS., 16.40
50. Ibid., 16.18
51. *vidhyati śatrūniti vyādhī tasmai rudrāya namaḥ* |Mahīdhara, Ibid.
52. Uvaṭa, Ibid., 16.40
53. *agre puro vartamāno hantītyagrevadhaḥ tasmai* | *dūre vartamāno hantīti dūrevadhaḥ tasmai* | Mahīdhara, Ibid., 16.40
54. V.S.,16.40
55. Ibid., 16.28
56. Mahīdhara, Ibid.
57. *nama uṣṇīṣiṇe giricarāya kuluñcānāṁ pataye namo...*|| V.S., 16.22
58. V.S., 16.21
59. *taskaraścaura eva* | Uvaṭa, Ibid.
60. *kṣetrādiṣu dhānyāpahartāro muṣṇantasteṣāṁ pālaka ya namaḥ* | Mahīdhara, Ibid.
61. V.S., 16.17
62. Ibid., 16.24-25
63. Ibid., 16.20
64. Ibid., 16.18
65. Ibid., 16.30
66. Ibid., 16.53
67. Ibid., 16.17
68. Ibid., 16.19
69. Mahīdhara, Ibid., 16.27
70. V ide, Griffith, R.T.H., *The Texts of the White Yajurveda*, p.89

Bibliography:

Śiva Mahāpurāṇam, ed. by Khemraj Krishnadas, Nag Publishers, Delhi, Vols. 1-2, 1986

Taittirīyasaṁhitā, with the commentaries of Bhaṭṭabhāskara and Sāyaṇācārya, ed. by T.N. Dharmadhikari, Vaidika Saṁśodhana Maṇḍala, Vols. I-III, 1985

Vājasaneyisaṁhitā, with the commentary of Uvaṭa and Mahīdhara, Published by J.L Shastri, Motilal Banarsidass, Delhi, 1978

Agarwala, V.S., *Śiva Mahadeva : the Great God*, Prithivi Prakashan, Varanasi, 2nd edn., 1984

Bhattacharji, Sukumari 'Rudra from the Vedas to the Mahābhārata', *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute* (ABORI), Pune, Vol. XLI, 1960, Parts. I-IV, pp. 85-127

Griffith, R.T.H., *The Texts of the White Yajurveda* (English trans), E.J. Lazarus and Co., Banares, 1899

Muir, J., *Original Sanskrit Texts*, Oriental Press, Amsterdam, Vols. I- IV, 1967

Rath, P.M., *Rudra-Śiva in the Vedas*, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, 2011

●

ESOPS AND CULTURE: A THEORETICAL RELATIONSHIP

DR. ASTHA DEWAN*

In any organization, employees are the crucial for its growth. The overall accomplishment of a corporate in attaining its key goals depends on the performance level of employees. Organizations continuously motivate their workforce to make certain that they work to the best of their capacity. Their devotion, contentedness and passion depend on their motivation levels. Thus, managers continuously search for ways to incentivize workers.

Employee enthusiasm, contentment, and performance are influenced by the compensation practices (Kerr and Slocum 1987)[1]. The compensation system impacts not only the present employees but also signals about culture, values and practices of the organization to potential employees (Kuhn, 2009)[2]. An employee looks for the organization's remuneration practices at the time of joining a new organization (Barber and Roehling 1993)[3].

Employees' Stock Option Plans (ESOP) is a way employers draw and hold talented employees. Employees' Stock Option Plans (ESOP) is a plan under which a corporate give employees' stock option. An ESOP "is the right [the option] given by a company to a person [optionee] to purchase [exercise] a stated number of shares of company common stock at a prescribed price [grant or strike price] over a specified time period [exercise period]" (Ellig, 1998)[4]. Management can tailor the reward system using ESOPs as a compensation system. ESOPs can be given to employees at the time of their joining the organization or can be granted on achieving the business goals etc (Kroumova, Sesil, Kruse and Blasi, 2002)[5].

Taking into account the importance of organizational compensation strategy in shaping its culture, it becomes imperative to find out a link between ESOPs and culture. As culture impacts the compensation practices of an organizations, will it also has any influence on stock options? Does the status differential in an organization reflected in the decision to grant options? Are organizations which encourage collective efforts prefers stock options as a tool of compensation? Are managements while granting options influenced by the risk aversive nature of its employees? Will organizations where masculine traits are more prominent grants stock options over organizations where feminine traits are more prominent?

The purpose of this paper is to find out answers of the above raised questions. This is done by establishing a linkage between various dimensions of culture and their impacts on the management's decision to grant stock options. The existing literature till date focused only on compensations practices per se or on their impact on organizational culture (Kerr and Slocum, 1988[6]; Kerr and Slocum, 1987[7]).

Until 1990's, not much literature was available on stock options, though there were ample researches been undertaken on managerial compensation in general. With the growing usage of stock option in United States in late 1980's and in European countries in late 1990's, the focus on ESOPs increased worldwide. Thus, the most of the studies available on ESOPs is American. There is not much work in this area in the Indian context. So far the studies done with Indian background had been descriptive in nature. Majority of them addresses the conceptual and various theoretical concepts related to options. As per the Times of India (4 Dec, 2012), only 10% of the total organizations in India are giving ESOPs. Edward J. Carberry, 2012, stated that the Indian companies do not grant options as deeply as done by information technologies companies in USA[8]. The judicious usage of stock options even by Indian IT companies is due to the low knowledge level of technology workers about stock options, their risk averseness about the stock market and their wish for cash in an extremely mobile labour market.

However, the usage of ESOPs is growing in corporate India. The prevalent usage of ESOPs has been credited to various aspects. The frequently stated factors for usage of ESOPs lists employee enthusiasm, ownership feeling, cash saving, positive accounting & tax treatment, creation of capital, means for anti-acquisition and draw and hold employees (Hall etc, 2003[9]; Core & Guay, 2001[10]; Huddart, 1996[11]).

The present paper attempts to take a step forward in identifying the impact of culture on employee stock options, which is an unexplored area worldwide.

The organizational culture is an important organizational characteristic that give the organization a competitive edge, enhances its value and performance (Boniface C. Madu, 2012)[12]. The concept of corporate

* Assistant Professor, Shri Ram College of Commerce, University of Delhi

Culture has been defined from various viewpoints as well as fields of study, namely sociology, OB, etc. Schein (2004)[13] dwells the term culture as "the way we do things around here", "the reward system", "beliefs" and so on (Madu, 2012)[14]. The term culture includes the organization values, visions, norms, beliefs, behaviors, which helps to distinguish one organization from other (Madu, 2012[15]; Deal, 1999[16]). Schein (2004)[17] elaborated on organizational culture as a "dynamic phenomenon that surrounds us at all times, being constantly enacted and created by our interactions with others and shaped by leadership behavior, and a set of structures, routines, rules, and norms that guide and constrain behavior".

To study the impact of organization's culture on stock option, Hofstede's categorization of cultures becomes relevant. Hofstede (1980)[18] divides culture into four aspects-power distance, individualism- collectivism, uncertainty avoidance, and masculinity-femininity. Figure 1 gives a diagrammatic presentation to the relationship between Hofstede's cultural dimensions and stock options compensation strategy.

In the following sections an attempt has been made to establish a relationship between the above mentioned dimensions of culture and stock options.

a) Power Distance

The degree to which employees in the organizational structure accept power inequalities. It is the level to which difference in the rank are acknowledged in society (Hofstede, 1980)[20]. The organizational layers increases in high power distance countries. Thus, top executives will have a higher compensation packages in high power distance countries due to taller organizational structures, increased supervisory personnel, and higher pay differences (Gomez-Mejia and Welbourne 1991)[21]. To put in plain words, status, power, and authority vary in their importance, thus, Hofstede (1980) states that the way people, society deals and responds to differences in hierarchical system determines the degree of power distance[22].

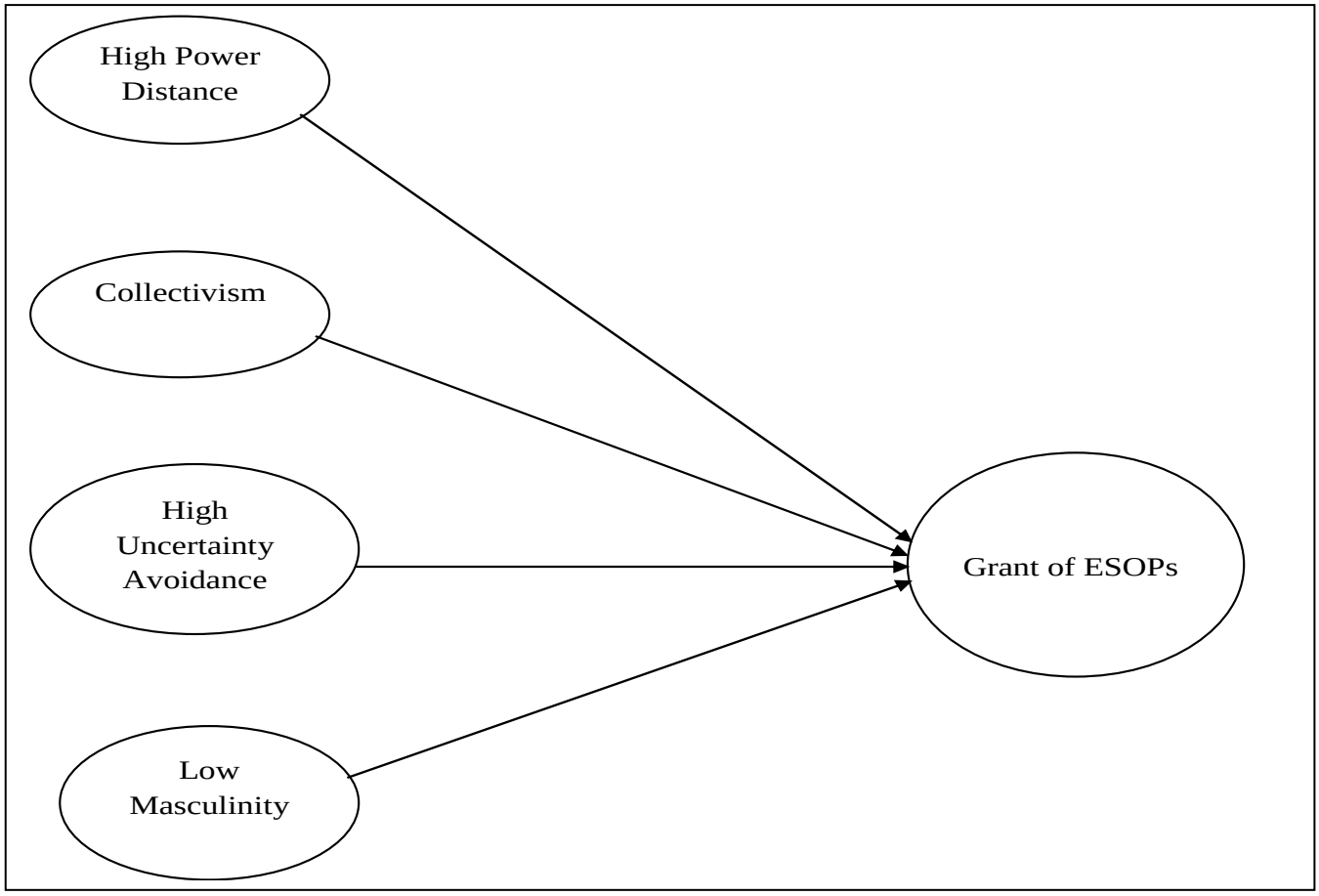

Fig 1: Theoretical relationship in Hofstede's (1980)[19] cultural dimensions and ESOPs' grant

In high power distance countries, compensation system will reflect status gap among employees (Muduli, 2009)[23]. The lack of parity encourages a reward system that should not show any kind of fairness. This will result in corproate, wherein power distance is high, to follow a compensation system which supports collective effort based reward system such as stock options and not individual performance based reward system.

The above debate has resulted into the following proposition:

Proposition 1a. An organization operating in high power distance lead culture supports stock options.

b) Individualism-Collectivism

Individualism-Collectivism is the degree to which individuals value personal independence or group membership. The extent of independence given to an individual determines this aspect of individualism-collectivism in an organizational set up. It is based on "I" or "We" concept. Individualist culture encourages independence and employees individual goals. Collectivist culture promotes loyalty and group working among employees. Individualist cultures are prone to following remuneration strategies that supports individual performance based reward system. Collectivist cultures, on other hand, are prone to following remuneration strategies that supports collective effort based reward system to encourage group behavior (Bond, Leung & Wan, 1982)[24]. In other terms, collective cultures don't promote individual performance based reward system.

The above discussion has led to the following proposition:

Proposition 1b. The organizations operating in collectivism based culture supports stock options.

c) Uncertainty Avoidance

Uncertainty avoidance symbolizes the ways by which members of the society handles risk. It reveals the degree to which people deals or not deals with new, novel, unknown random situations. High uncertainty avoidance culture based organizations tries to minimize the risk for its employees as employees don't want to assume risk. Thus, an organization in these societies follows stringent rules, regulations, and safety norms and wants to function in a predictable environment. In contrast to this, in low uncertainty avoidance culture, modelled solutions to unstructured situations are not given in advance as people are willing to assume risk and challenges (Hofstede, 1980)[25]. Management in high uncertainty avoidance culture deploys collective methods of rewards than variable based, leaving less power in the hands of supervisors in awarding rewards.

The above discussion has led to the following propositions:

Proposition 1c. The high uncertainty avoidance culture encourages stock option based pay in an organization.

d) Masculinity-Femininity

Masculinity-femininity refers to the extent to which masculine or feminine practices are prominent in society. "Masculinity" promotes assertiveness and competitiveness in the society. "Femininеness" encourages caring and modest conduct in the society. Organizations based on masculine cultures rely on such compensation policies that support achievement, competition and motivate employees to give their best performance. Thus, individual performance based reward system are more prevalent in this culture. On other hand, in organizations where feminine cultures is dominant, bureaucratic and fixed pay policies are likely to be emphasized which supports equality.

The above discussion has led to the following proposition:

Proposition 1d. The low masculinity culture encourages stock option based pay in an organization.

Thus, high power distance, more collectivism, high uncertainty avoidance, and low masculinity based culture doesn't support variable compensation schemes, rather favors stock options.

To conclude, it can be said that stock option is basically a right to purchase company shares in future at a given price in a specified time frame. The possibility of gains due to increase in share prices is the main reward which employees derive from options. While culture on other hand, defines organisation's reward system, beliefs, values, practices. The basic objective of this paper is to establish the impact of culture on ESOPs in the Indian context. The study sums up that organizations

operating in high power distance based culture, collectivism based culture, high uncertainty avoidance culture and low masculinity culture encourages stock option based pay in their organizations.

REFERENCES

1. Barber, A.E. & Röhling, M.V. (1993). "Job Postings and the Decision to Interview: Verbal Protocol Analysis." *Journal of Applied Psychology*, 78, 845-856.
2. Bond, M.H., Leung, K. and Wan, K.C. (1982). "How Does Cultural Collectivism Operate? The Impact of Task and Maintenance Contributions on Reward Distribution." *Journal of Cross-Cultural Psychology*, 13, 186-200.
3. Carberry, Edward. (2012). "Making Sense of Organizational Environments: The Adoption of Employee Stock Options in the Indian Technology Sector." *International Journal of Human Resource Management*, 23(8).
4. Core, J. E. and Guay, W. (2001)." Stock Options Plans for Non-Executive Employees." *Journal of Financial Economics*, 61, 253-287.
5. Deal, T. E. (1999). *The New Corporate Culture*. New York, Peruses.
6. Ellig, B. (1998). "Employee Stock Options: An Overview." ACA Journal, 7(1), 8-12.
7. Hall, B. J. and Murphy, K. L. (2003)." The Trouble with Stock Options." *The Journal of Economic Perspectives*, 17, 49-70.
8. Hofstede, G. (1980). *Culture's Consequences: International Differences in Work-Related Values*. Beverly Hills, CA: Sage.
9. Huddart, S. and Lang, M. (1996). "Employee Stock Option Exercises: An Empirical Analysis." *Journal of Accounting and Economics*, 21 (1), 5-43.
10. Gomez-Mejia, L. R. and T. Welbourne (1991), "Compensation Strategies in a Global Context", Human Resource Planning, 14, 29-41.
11. Kuhn, K.M. (2009). "Compensation as a Signal of Organizational Culture: The Effects of Advertising Individual or Collective Incentives." *The International Journal of Human Resource Management*, 20(7), 1634-1648.
12. Kerr, J. L. and John W. Slocum (1987). "Managing Corporate Culture through Reward System Design." *Academy of Management Executive*, 1(2), 99-108.
13. Kerr, J. L. and John W. Slocum (1988). *Linking Reward Systems and Organizational Cultures*. In Schuler, Randall S., Stuart A. Youngblood, and Vandra Huber (eds.), Readings in Human Resource Management (3rd Ed.), St. Paul, MN: West.
14. Kroumova, M. K, Sesil, J. C., Kruse, D. L. and Blasi, J. R. (2002). "Broad-Based Employee Stock Options – A Union-Non-Union Comparison." In: Lewin, D. and Kaufman, B. (Eds) *Advances in Industrial and Labor Relations*, 11: 69-94. New York, NY: JAI Press.
15. Madu, Boniface C. (2012). "Organization Culture as Driver of Competitive Advantage." *Journal of Academic and Business Ethics*, 5, 1-9.
16. Muduli, *A.* (2009), "*Performance based Pay and Indian Culture*." The International Conference on Management, Indian Academy of Management, XLRI, Jamshedpur, December.
17. Schein, E. M. (2004). *Organizational Culture and Leadership*. (3rd. ed.). Jossy-Bass.

●

ONTOLOGICAL SIGNIFICANCE OF MAN AND BEING IN THE LIGHT OF HEIDEGGER'S SEIN UND ZEIT (BEING AND TIME)

ASHUTOSH PANDEY & DR. JAI SINGH***

In terms of Heidegger's philosophy, there are innumerable ways to interpret his work but it is always right to predict his philosophy in a manner in which he actually intended to put it. He was always concerned about human situation in this world. It is a world which is full of things, so that man does not get involved in this so much that he can't think of himself other than a thing. In his own words, "man's being is situated, always situated in time and space". Heidegger always wanted to break the traditional linkage of Being with timelessness. His way towards philosophy is revisionary. In his view, philosophy is the clarification of what it means to ask about "Being". This was the reason why he put the name of his book "Being and Time". Being is the central topic which concerns the metaphysician from Greek time through the medieval period up to the modern era. Man and world are the two focus point of concern in this paper and Heidegger's explication of Dasein provides us with his concept of man.

The attempt will be made in this paper to explain the philosophical justification of the concept of being and the concept of man in philosophical literature of Heidegger. Heidegger was a student of famous German philosopher, Husserl who hold his chair for long time in Freiburg after Husserl's demise. His most renounce work, Sein und Zeit (Being and Time) written in the year 1927, was dedicated to Husserl. This book summarised most of his philosophy but there are many other writings also which have significant importance.Heidegger in his philosophical work raises the question about meaning of being, the being which is related to this world with its unity and totality. To answer the question about being we should start analysis of human existence and we have to uncover the structure of human existence on the account of Heidegger's philosophy. The task is to show that Dasein is of an altogether different ontological type, of all other entities and that the ontological type of dasein being what it is, conceals within itself the possibility of transcendental constitution. To begin with, this paper starts from his key world Dasein and tries to explore the how of man, what Heidegger called man's existentials, the basic modes of human condition.

Dasein

This world is ambiguously used by him at several occasions but generally means the mode of existence of human being. Clearly Dasein means "being there" and is a German word. This entity which each of us is himself and which includes inquiring as one of the possibilities of its Being, we shall denote by the term "Dasein".[1]Dasein for Heidegger can be a way of being involved with and caring for the immediate world in which one lives, while always remaining aware of the contingent element of that involvement, of the priority of the world to the self, and of the involving nature of self itself.[2]Dasein has his essence in its existence. Dasein is always what it can be and the way in which it is its possibility.[3] This means we cannot define human reality, it is a question. Man signifies possibilities, he has power to be. Heidegger's position is that of man, least of all, we are in a position to say that he is what he is. Dasein is also constituted by its relation to system but refers to its own possibilities and not to the system for its meaning and also gives intelligibility to the world as the realization of projects. The problem under consideration is not simply the world but the worldness of the world.

Being-in-the-world

Man is in the world, world consists things. Human beings are not things. Man is neither substance nor subject. Man's being in this world is not like a thing but for man things in this world are like tools. The nature of Dasein is being-in-common, human existence is a shared existence and the social interdependence of our everyday experience is primordial and constitutive. Just as one can free oneself from this or that preoccupation but not from preoccupation of some sort, so one can free oneself from dependence upon this or that person but not from social relations altogether.[4] My comprehension of the

* Research Scholar, Deptt. of Philosophy, Banaras Hindu University.

** Associate Professor, Deptt. of Philosophy, Banaras Hindu University.

world springs together with my sense of being cast into the world from a common root in the basic human situation, for I recognize what I exist for in my possibilities and what the things about me exist for in their answering to my possibilities. Our consciousness is worldly in that the world reflects our attitude to it, our immediate preoccupations. The meaning of human existence is elaborated in the action of Dasein, I gave sense to what is about me by making use of it. To do with something, using something are various ways of being-in-the-world all of which involve taking care or being "preoccupied" in some way or other. Knowing is also another mode of dasein's being-in-the-world.

Being-in is not a 'property' which Dasein sometimes has and sometimes does not have, and without which it could be just as well as it could be with it. It is not the case that man 'is' and then has, by way of an extra, a relationship-of-Being towards the 'world'—a world with which he provides himself occasionally. Dasein is never 'proximally' an entity which is, so to speak, free from Being-in, but which sometimes has the inclination to take up a 'relationship' towards the world. Taking up relationships towards the world is possible only because Dasein, as Being-in-the-world, is as it is. This state of Being does not arise just because some entity is present-at-hand outside of Dasein and meets up with it. Such an entity can 'meet up with' Dasein only in so far as it can, of its own accord, show itself within a world.[5]

The world in which I lived is a world of brute existence as it is not a world of my imagination so there must be a limit to my possibilities with relations to others. Human existence is deployed in space and time. Man lives and moves among objects which invites his interest and attention and the very structure of the world is revealed through his serious preoccupations.[6] The analysis of man therefore goes along with the analysis of things and not apart from it. In Heidegger's view, our usual categorization of things in terms of substantiality, materiality, extension, contiguity, causality and the rest, covers up the fact that our orientation to them is in terms of their potentiality as gear. Secondly, Heidegger's says, gear presents itself in a gear context, that is to say, in relation to a project. E.g., a hammer presents itself in context of a tool-maker, table, nail, etc. Thirdly, our acquaintance with gear comes about largely through touch and kin aesthetic sensation rather than vision. The question of usability, of potentiality as gear, belongs peculiarly to man and the things he encounters.

Man's situation in this world as he says "man finds himself in the world; he feels as if he has been thrown into it". Man lives in a world, world is surrounded by things, a thing is involved in making something and that thing is involved in another thing Such totalities of involvements are the contexts of everyday equipment-al practice. So one thing is involved in is intelligible as what it is only with respect to the another and, indeed, all the other items of equipment to which it meaningfully relates in Dasein's everyday practices. Heidegger here try to points out that involvements are not uniform structures in nature. Thus I am currently working with a computer, in the practical context of my office, in order to write this chapter, which is aimed towards presenting an introduction to Heidegger's philosophy, for the sake of my academic work, that is, for the sake of my being an academic. The final involvement here, the for-the-sake-of-which, is crucial, because according to Heidegger all totalities of involvements have a link of this type at their base. This forges a connection between (i) the idea that each moment in Dasein's existence constitutes a branch-point at which it chooses a way to be, and (ii) the claim that Dasein's projects and possibilities are essentially bound up with the ways in which other entities may become intelligible. This is because every for-the-sake-of-which is the base structure of an equipment-defining totality of involvements and reflects a possible way for Dasein to be. Moreover, given that entities are intelligible only within contexts of activity that, so to speak, arrive with Dasein.

Care

As a Dasein I find myself in a world which matters to me in some way or another. Like he said that man is thrown in this world.[7] Man is bound in this world like a have been thrown into this world. The introduction of the 'they' is followed by a further layer of interpretation in which Heidegger understands Being-in-the-world in terms of thrownness, projection and fallen-ness and in terms of Dasein as a dynamic combination of disposedness, understanding and fascination with the world. Dasein's existence is thus now to be understood by way of an interconnected pair of three-dimensional unitary structures: thrownness-projection-fallen-ness and disposedness-understanding-fascination. Each of these can be used to express the

"formally existential totality of Dasein's ontological structural whole", a phenomenon that Heidegger also refers to as disclosedness or care.[8] With the emergence of care, we encounter the first tentative emergency of temporality as a theme in Being and Nothingness, care can be interpreted in terms of three temporal dimension: past, present, and future. In Heidegger's analysis, I am always in some mood, which can be interpreted in the following way - when I am depressed, this world opens to me like a gloomy and sombre place. This can be a shift to the other but can't be denied. This mood is not an inner subjective colouring imposed on a given objective world. A mood "comes neither from 'outside' nor from 'inside', but arises out of Being-in-the-world, as a way of such being.[9]Dasein confronts every concrete situation in which it finds itself. Sometime it is possible that some possibilities are actualised, other will not be, so there must be an option that not-Being is a part of the structure of dasein.

Other

'Other' does not mean everyone else but me—those over against whom the 'I' stands out. They are rather those from whom, for the most part, one does not distinguish oneself—those among whom one is too… By reason of this with-in-the-world, the world is always the one that I share with Others.[10] This is what Heidegger said about other in "being and time". He believes that human existence is a shared existence. Dasein's everyday world is, in the first instance, and of its very essence, a shared world. The phenomenon of the Others, the 'who' of everyday Dasein, the group from whom for the most part I do not stand out, is my culture, understood not as the sum of all its members, but as an ontological phenomenon in its own right. This explains the following striking remark. "The 'who' is not this one, not that one, not oneself, not some people, and not the sum of them all. The 'who' is the neuter, the 'they' "[11]. They are psychological factors that enable (in a 'merely' developmental or causal way) human beings to realize the phenomenon of Being-with.

Dread

Heidegger believed that dread has important role in human existence. Heidegger's concept of dread is quite similar to Kierkegaard. Man hides himself in many form of impersonal existence because of dread. It is very different from fear because it has no object and no cause that's why it is so disturbing. It is so authentic to extirpated but can be analysed. My to be in the world meant my recognition which inspired my dread. Dread cut me from my preoccupations and gives me option to choose whether I will be my self or not.

On Death

Heidegger deals with the phenomena of death in different manner from all other existentialists. What he thinks about death is very specific because among all other possibilities it is specifically mine. Death is only thing which nobody can do for me. Death is furthermore an "unrelated possibility" in that, through it, my relation to other Dasein is dissolved. The possibility of death is a constant threat to my being. This constant threat of the possibility of death causes anxiety in fact it constitutes the experience of 'care' in its extreme form. Care is now interpreted in terms of Being-towards-death, meaning that Dasein has an internal relation to the nothing.

The greater the phenomenal appropriateness with which we take the no-longer-Dasein of the deceased, the more plainly is it shown that in such Being-with the dead, the authentic Being-come-to-an-end of the deceased is precisely the sort of thing which we do not experience. Death does indeed reveal itself as a loss, but a loss such as is experienced by those who remain. In suffering this loss, however, we have no way of access to the loss-of-Being as such which the dying man 'suffers'.[12]

The dying of others is not something which we experience in a genuine sense; at most we are always just 'there alongside'. Heidegger's move is to suggest that although Dasein cannot experience its own death as actual, it can relate towards its own death as a possibility that is always before it—always before it in the sense that Dasein's own death is inevitable. Peculiarly among Dasein's possibilities, the possibility of Dasein's own death must remain only a possibility, since once it becomes actual, Dasein is no longer. Death is thus the "possibility of the impossibility of any existence at all".[13] In everyday Being-towards-death, the self that figures in the for-the-sake-of-itself structure is not the authentic mine-self, but rather the inauthentic they-self. In effect, the 'they' obscures our awareness of the meaning of our own deaths by de-individualizing death.

As Heidegger explains: in "Dasein's public way of interpreting, it is said that 'one dies', because everyone else and oneself can talk himself into saying

that 'in no case is it I myself', for this 'one' is *the* 'nobody'".[14] In reinterpreting care in terms of Being-towards-death, Heidegger illuminates in a new way the taking-as structure that, as we have seen, he takes to be the essence of human existence.

Human beings, as Dasein, are essentially finite. And it is this finitude that explains why the phenomenon of taking-as is an essential characteristic of our existence. The person always understand himself as a projection outward from himself, a projection made possible by the fact that to exist is the essence of the person.[15]

To Conclude

One of the basic epistemological problem in the western epistemology had been to establish a secure foundation for a human's presumed knowledge of the world around him on the basis of phenomena that is certain beyond all doubts. Such an approach presumed an individual just as a thinking substance who is cognitively distinct from the world. Heidegger turned this approach upside down. To him, the very being of the individual involved engagement with the world. Dasein's practical involvements are, therefore, ontologically more fundamental than the thinking substance and all other cartesian abstractions. "Being and Time" secures a pride of place to ontological concepts such as "world", "everydayness", and "Being-with-others." Heidegger's Being is not an inert being of things or something nonecstatic but a form of Being that is ecstatically, rather than passively oriented towards its own possibilities!

REFERENCE

1. Heidegger, M.; *Being And Time*, Trans. John Macqurie and Edwar Robinson, London, 1962, Page 143.
2. J. Childer/G. Hentzi ends., The Columbian Dictionary of Modern Literary and Cultural criticism, 1995, Page 27.
3. Heidegger, M.; *Being And Time*, Trans. John Macqurie and Edwar Robinson, London, 1962, Page 70.
4. Blackham, H.J.; Six Existential Thinker, Routledge, London and New York, 1961, Page 90.
5. Heidegger, M.; *Being And Time*, Trans. John Macqurie and Edwar Robinson, London, 1962, Page 84.
6. Chatterjee, M.; The Existential Outlook, Orient Longman, New Delhi, 1973, Page 135.
7. Heidegger, M.; *Being And Time*, Trans. John Macqurie and Edwar Robinson, London, 1962, Page 172.
8. Ibid Page 237.
9. Ibid Page 176.
10. Ibid Page 154-5.
11. Ibid Page 164.
12. Ibid Page 282.
13. Ibid Page 307.
14. Ibid Page 297.
15. Ibid Page 12.

●

POLITICS AND AESTHETICS OF THE CITY OF DELHI

ISHAN SHAHI & PROF. SHUBHA RAO***

This paper will review the literature that examines the spatial transformation of the city of Delhi which happening in pursuit of the status of 'world-class city'. The paper explores the physical transformation of the city of Delhi in terms of the judicial and administrative drive towards a world class aesthetic and the forms in which such an aesthetic manifests itself. Obviously, the aesthetic aspect of the spatial transformation goes along with political and social transformation of the city and drastic changes in the regime of economic production since the liberalisation of land policy in the city of Delhi. The examination of the transformation of the city will delve in to the works of Asher Ghertner and Veronique Dupont. The paper will arrive at the moment of world class aesthetic after a brief historical survey of the city of Delhi and its transformation.

New Delhi and the making of a world class city.

The city of New Delhi became the Capital of undivided British India in the year 1911 after a brief hiatus since 1857. While the history of the city is long, rich, and complex, here we shall make a thin and brief sketch of the major events that have brought about a change in the urban landscape of the city in the post-independence past. While the walled city of Shahjahanabad was the Mughal capital, the British established their capital in what was named New Delhi relegating the already existing city to the status of old. The built environment of the British capital was taken over by the post-independence administration which had to make arrangements for a very large number of immigrants who came to the city in the wake of partition and had to be provided with places of habitation. The residential development in East Delhi were to accommodate these immigrants. While the city continued to grow as a centre of government and education, it also became one of the commercial opportunities leading to a growth in population that planned development could not cope with (Baviskar, 2003).

The next drastic change in the urban landscape was brought about during the Emergency (1975-77) when various anti-encroachment and slum clearance drives were embarked upon by the administration at the behest of Sanjay Gandhi, the son of the then Prime Minister Indra Gandhi. Half a decade later massive construction was undertaken for the 9th Asian Games hosted in the city of New Delhi. This construction required numerous construction workers who came in the city and were to be provided with affordable housing, a promise reiterated in subsequent Master Plans but never fulfilled. After the economic reforms of the early nineteen nineties the city of Delhi attracted a large amount of capital investment and became a major hub of information industries along with the satellite cities of Gurgaon in Haryana, and, Gaziabad and NOIDA, in Uttar Pradesh to form the National Capital Region of Delhi (hereby Delhi NCR) The last major exercise of extensive construction took place in the lead up to the Commonwealth Games 2010, this involved the construction of Sports Villages and extension of the metro service to cater to the needs of the games (Baviskar, 2003). It also brought another wave of construction workers, who were also supposed to be provided with affordable housing.

This explains the existence of what the Delhi Master Plan calls JJ (jhuggi jhonpdi) clusters an agglomeration of shanties which defies the land use and other guidelines of the master plans, is a necessary corollary of the trajectory of urban development in New Delhi. It needs to be kept in mind that the series of events which have been narrated above have taken place in vastly different political and economic conditions, this refers not just to the political atmosphere during the partition period or the emergency but also a stark difference in the regulatory framework regarding land use before and after the economic reforms and the changed regime of accumulation. This change in the regulatory framework allows the private sector to play an increasingly important role in urban development in the city. Similarly, the Bhagidari scheme of the Delhi State government which gave the Resident Welfare Associations, and as a consequence the property owners, an enhanced say in the development and upkeep of urban space around their specific colonies.

∗ Ph.D Student, Deptt. of Humanities and Social Sciences, IIT, Bombay.
∗∗ Professor, Deptt. of Political Science, Banaras Hindu University.

Consequently, the structure of urban governance in the city of New Delhi is a peculiar one. Where power is devolved between DDA which falls in the purview of the ministry of urban development, the elected municipal corporation of Delhi, the state government and the lieutenant-governor answerable to the union home ministry. Therefore, we have municipal, state, and federal bodies overseeing different although sometimes overlapping. Units as Delhi does not have full statehood, the government of India exercises direct oversight over state and municipal government. The legislative arm of the Delhi Government is constrained by the fact that any act it tables must first be approved by the lieutenant governor, who is appointed by the Government of India. This is accompanied by the dual executive setup with the unelected lieutenant governor, appointed by the Government of India, who is a senior officer of the Indian Administrative Service and the chief minister, chosen from the elected members of the legislative assembly. The municipal government constituted by the elected councillors, who choose a mayor and make up the deliberative wing of the Municipal Corporation of Delhi (MCD)-a primary consultative role that frames thematic committees and has limited financial control— while the central government appointed MCD commissioner heads the executive wing, which drafts the budgets (Ghertener, 2015).

Local electoral politics is further removed from executive and planning decisions because the central government retains control over the domains of police, social order, and land management and planning in Delhi. Thus, the Delhi Development Authority (DDA), which is responsible for the acquisition, development, management, and disposal of land, operates under the central government. This means that the elected MLAs (the state government) and the councillors elected into municipal government do not have any direct input into urban planning in Delhi. This rather complex politico-bureaucratic setup, which did allow considerable space for manoeuvre for those who were likely to be adversely affected by the development plans to be implemented. Since the implementation of the plans required multiple electoral and bureaucratic levers to be pulled which translate into more avenues and possibility of negotiation, Ghertner frames this phenomenon using Partha Chatterjee's concept of political society (Chatterjee, 2004).

It is here that the institution of the RWAs come into the picture, it moved from the status of a club of retirees to what was considered the de facto voice of the residents in both administrative and judicial settings through the citizen-government partnership program initiated by the state government in the year 2000 called Bhagidari. This put the members of the RWAs in direct contact with the government official at all levels of urban governance and were given an effective veto in the developmental work in the colony. They used this ability to lobby all levels of governance and mass media to propose for slum removal and pushed for the new world-class aesthetic.

The Bhagidari scheme, was divorced from the processes of electoral politics and put the property-owning classes and the bureaucracy in shared state spaces which significantly enhanced the power of the property-owning classes (Ghertener, 2015). This allowed them to push for policies and norms of urban development which displace the poor from their informal inhabitation and close the space for the urban poor to pursue their political goals (securing their inhabitation) as the lower level state personnel, who was in their vicinity (direct point of contact) is now obligated to cater to the needs and demands of the RWAs and property owning classes. This has led to increased displacement of slums and institutional exclusion of the poor from politics.

While slums are not the only form of habitation which fall afoul of DDAs regulatory standards as Ghertner points out that nearly 70% of the construction in Delhi does not meet these standards and can justifiably be categorised as informal. The benefit of informality has not just been limited to the poor but also to affluent real-estate developers, but it is mostly the poor that have been punished for their failure to meet the standards of the DDA[1]. The question we must consider is how does this come to be? It is here that the idea of the world class aesthetic come into the picture, how one might ask?

Ghertner answers the question by tracing the evolution of the judicial discourse of the concept of 'nuisance'. It ended up treating the poor as a source of nuisance, which was a departure from the earlier precedence which defined public nuisance as a

[1]In the Delhi master plan the poor are entitled to much more land than they occupy in the JJ clusters (Ghertener, 2015), however the affordable housing they are entitled to has not been provided by the DDA and it has shirked its responsibility to that of a 'facilitator' for the construction of affordable housing (DDA, 2007).

condition preventing the enjoyment of land, and the municipal authorities rather than the slum dwellers were held responsible for the nuisance. This was reinterpreted in what Ghertner calls the new nuisance discourse where the slum dwellers are deemed to be the source of nuisance, this has been a driving force in an increasing number of public interest litigations which have led to slum demolitions (Ghertner, 2008). He draws two conclusions from it, that the instrument of public interest litigation was employed in the pursuit of distinctly private (bourgeois) interests and in the making of a new urban order based on a world-class aesthetic found on property ownership.

Till the 1990 Delhi used to have a policy of socialised land ownership with all the land being vested in the DDA and it alone having the power to acquire land for public purposes and to lease them out for public purposes, while there was a reservation of 25% for housing the poor and all land was leased out rather than sold for proprietary ownership. However, with the approval of the Delhi master plan 2021 in 2007 things changed drastically, it stated a vision to make Delhi a global metropolis and a world-class city and the last remnants of socialised land policy were done away with. This proclamation followed a set of changes in the policy related to land use in Delhi. In 1999 the DDA launched its first commercial auction selling unused or underused land that it had acquired for public purposes. In 2000, the DDA initiated its freehold conversion program, which allowed leaseholders to obtain legal title to their land thereby allowing sale of land in the unregulated markets. In 2001 the DDA passed a new cooperative housing society policy which allowed the cooperative societies which had been allotted land on subsidised rates to sell it in the open market. In 2005, the central government opened real estate and construction sectors to 100 percent FDI.

Behind these changes were not unmediated forces of the market but specific policy proposals and studies commissioned by think tanks and consultancy firms, most notably, Mckinsey & Company. Two broad categories of studies conducted by Mckinsey are of particular interest here, the first has to do with the socialist land use policy being a bottleneck for the growth of the economy, and how there was to be an eminent boom in what has been called the Great Indian Middle Class and conjuring up a future of a prosperous consumption based life style based in world-class urban centre's like Delhi. The Mckinsey Global Institute advanced the argument made in the world bank's India Urban Strategy Paper that there are 'frozen land banks' owned by the government. This created a shortage of basic infrastructural capital, as it was outside the formal system of property and beyond the access of property developers.

This argument conveniently ignored the fact that more than 50 percent of the population of the city of Delhi lived in such government owned land banks. Mckinsey departed from the conventional position in its "the barriers to productivity and output growth" in India study and *India: The Growth Imperative* report (Mckinsey & Company, 2001), where it blamed the unavailability of private land as one of the most significant barriers to economic growth rather than the more conventionally argued factors by economists like, fiscal deficit, capital market distortions, restrictive labour laws, or poor infrastructure. Simple deregulation of land market and opening the real estate sector FDI was not going to bring in investment, for that to happen a world-class future had to be conjured, this was done by putting in place a compelling urban vision to attract foreign capital, encourage rising valuation of land, and produce a citizenry desirous of cities in which they can enjoy benefits of world-class consumption and lifestyle (Ghertener, 2015).

This vision was put forward with the help of a series of proprietary datasets which predicted an immanent explosion of the middle class, featuring National Council of Applied Economic Research's (NCAER) report called the "Great Indian Market," (National Council of Applied Economic Research, 2005) which was based on a marketing survey that divided the Indian population into eight income groups, namely Deprived, Aspirers, Seekers, Strivers, Near Rich, Clear Rich, Sheer Rich, and Super Rich. In 2005 the top four categories of the list made up less than one percent of the Indian population. This should reveal the narrative logic behind the class hierarchy as only one of the eight categories directly referred to poverty. The numerical absence of rich people in India was obscured by the discursive erasure of the category of poverty and the poor..

Next the NCAER's data was fed to Mckinsey's proprietary model to predict the class composition in India in the year 2025. In the resulting report called *The Bird of Gold: The Rise of India's Consumer Middle Class* (Mckinsey & Company , 2007), which claimed that over the next two decades India's middle class would expand from 5 percent of the population

to 40 percent creating world's fifth largest consumer market. It clubbed the four categories of the rich from the NCAER dataset into a single category called the Globals, in doing so it came up with results even more favourable to the rise of the middle classes, as it stated that the lowest category, the "deprived" NCAER set was shrunk from 65 percent to 54 percent in the year 2005. Mckinsey in this model makes a straightforward correlation between the GDP growth rate and the poor entering the middle class, where it says that if India maintains a GDP growth rate of 7.3 percent for the next 20 years 465 million more people would enter the middle classes, quadrupling aggregate demand by 2025. The NCAER categories of the middle class the strivers and the seekers would see a tenfold increase in size with 583 million people of which 400 million city dwellers will belong to households with comfortable standard of living (Mckinsey & Company , 2007).

Since the model used to come up with these statistics is proprietary it isn't open for public scrutiny, but it is important to follow up on some of its presumptions. Ghertner does this by following the work of Utsa Patnaik who has juxtaposed the data of the NCAER to that of the National Sample Survey Organisation (NSSO) (Patnaik, 2007). Poverty levels can be directly observed on the NSSO tables as they show the percentage of households which do not have enough per capita consumption expenditure to meet calorific norms. Utsa Patnaik has shown how the poverty line estimates by the Planning Commission which uses the consumer price index adjustment to the 1974 poverty line rather than the direct observation method ends up excluding a large number of people who do not have enough money for food from the list of the poor. Thus, we have different trendlines of poverty being released by different government agencies depending upon the method that they follow[2]. It becomes necessary to follow the political and economic consequences and reasoning behind such divergent estimates and trend lines.

The delinking of hunger from poverty had the effect of making poverty no longer an economic problem. Hunger becomes an anachronism in the present, and the present is an already anticipated future without poverty, this necessitates that the poor be statistically erased. This is the myth of economic growth. Myth according to Roland Barthes, is a type of depoliticized speech that produces statements that go without saying. It does so by giving them a "natural and eternal justification … a clarity which is not that of an explanation but that of a statement of fact" (Barthes, 1972). In light of this consider the Planning Commission's India Vision 2020 report:

> The compounded effect of achieving the targeted annual GDP growth rate of 8.5 to 9 per cent over the next 20 years would result in a quadrupling of the real per capita income and almost eliminating the percentage of Indians living below the poverty line. This will raise India's rank from around 11th today to 4th from the top in 2020 among 207 countries given in the World Development Report in terms of GDP. Further, in terms of per capita GDP measured in PPP [purchasing power parity] India's rank will rise by a minimum of 53 ranks from the present 153 to 100. This will mean India will move from a low-income country to an upper middle income country. This is a very real possibility for us to seize upon and realise. (Planning Commission Of India, 2003)

According to the 2005 poverty line reported by the planning commission for urban poverty was 539 rupees per month. The myth of economic growth takes the expenditure data as the signifier and the statement "the number of people spending less than 539 rupees a month has decreased" is the signified. These two make up a linguistic sign (poverty has decreased), the raw material upon which mythical speech operates. Once the myth takes over the original signified "more people spend 539 rupees a month", a statement with stable reference to the field is transformed into a new meaning, "the poor are becoming rich." This is the invention of the myth of economic growth, a decrease in poverty numbers even if it ignores the rising hunger is taken to signify that economic growth solves poverty, and more people spending more than 539 rupees a month confirms what we already know, that poverty will disappear (Ghertener, 2015).

So, we have come across the myth of economic development and the vision of world class city. Both have been recognised by state institutions, the former

[2]A government report in 2007 put the number of poor people in the country at 77 percent while another government report in 2009 with a different method gave figures of 38 percent (Ghertener, 2015).

implicitly and the latter explicitly, in the planning commission reports and the Delhi master plan of the DDA. While we have seen how they are linked, their relationship needs to be explored further. It is not just that the world class city is the logical consequence of accepting the projections made by Mckinsey and the planning commission about the explosion of the middle class in India. The relationship between the world class city and the middle class with a lifestyle based in global consumption is more complex, as we know that the models and projections which predict this explosion of the middle class have been way off the mark as their methods seem to be geared towards arriving at a predetermined outcome. Thus, the existence of the world class is not so much the consequence of the explosion of the middle classes but a validation of the myth of economic growth. So, even if the growth in the middle class is way short of the predictions made by various institutions the existence of world class infrastructure breathes life into this myth. What we have in front of us is a self-reinforcing myth, an ideological crystallization which is manifested in the form of built structures (world class infrastructure) and reinforces the ideology which it manifests.

World-Class Aesthetics in the city of Delhi

What constitutes the world class aesthetic in the city of Delhi? We shall now turn to the answer given to this problem given by Veronique Dupont. Dupont in her papers makes the point that the goal of world-class city adopted by the DDA is the pursuit of the status of a global city, a status which she traces to the work of Saskia Sassen (Dupont, 2011) (Dupont, 2005). Dupont traces the trajectory of this pursuit and looks at its various constituent elements along the consequences which follow from such a pursuit. The constituent elements of the global city for Dupont are its economy consisting of an agglomeration of Export Processing Zones, investment opportunity for international firms and integration with global economy through outsourced services, and firms dealing in the knowledge economy. The other component of the Global city image is the transformation of the built urban landscape, with emergence of high-rise residential apartments and exclusive shopping malls along with the high-speed metro rail network which all project the image of a global city. The final element that she examined in the making of the image of Delhi as a global city is the 2010 Commonwealth Games which would advertise the world class status of the city to the world (Dupont, 2011).

We shall expectedly concern ourselves with the changes in the urban landscape and examine two of the three headings flagged by Dupont: the high-rise apartment and metro rail network, since the shopping mall is our running theme and Dupont doesn't make any specific arguments about the malls beyond the frame of the global city. The high-rise residential apartments are popular amongst the city dwellers as housing within the city limits is extremely expensive, this has led to urban development in the districts in the NCR. In the analysis of the advertising scheme for these housing complexes Dupont finds a few trends that are interesting to note, there are references made to nature and pollution free environment, the names of these housing complexes predominantly have a geographical reference in some foreign location such as, Malibu, Wellington, and Sentosa (Dupont, 2005). There is an attempt to attract NRI buyers who might want to buy properties back home for when they return and may have expectations of global consumption standards. The marketing makes explicit references to elite status and the notion of township is invoked frequently which marks a radical departure from the environment where the complex is based. The segregation from the immediate context is both symbolic and physical as the township will limit any social interaction with its physical surrounding.

The metro rail network was criticised by transportation experts for poor effective returns in terms of ridership, reduction in pollution and road congestion, and lack of financial sustainability (Mohan, 2008). There is another agenda behind the Delhi metro that matters more to the city planners than its utility, to use the iconic power pf the high tech project as a symbol of progress, to stake a claim as a world class city (Siemiatycki, 2006). While the Delhi metro has continued to expand adding newer lanes, the fleet of the Delhi bus service has been working under-capacity. One may observe that while the metro may serve the purpose of public transportation the objective for its establishment was the creation of an image of Delhi as a world-class city. Once we can discern the ideological aura of infrastructural projects from their utility, we see that a good number of such projects are built to realise the dream of the global city. Similarly, in the Commonwealth Games sports were a very marginal concern as the Games gave an opportunity to the organisers to advertise the city as a world-class destination which is suitable for investment.

This creation of the image of a global city has also been aided by bourgeois environmentalism which merges disciplining zeal of the state with the interest of the bourgeois to create legible and docile spaces (Scott, 1998), through judicial activism which is able to effectively target the squatter settlements of the poor. We have seen this in our discussion on the new nuisance discourse, as to how the inhabitations of the slum dwellers were declared a source of pollution and nuisance while the ecologically destructive built structures representing the project of the global city have sailed through judicial scrutiny.[3] It is therefore important to see in class terms the interests that are being advanced in the pursuit of the world-class aesthetic and its infrastructural components.

Conclusion

The examination hereto has revealed the following features about the transformation of the city of Delhi. The spatial transformation of the city is a complex process effected not just by a radical change in the land use pattern but also the history of the city, the influx of capital investment, the initiative taken by the propertied classes, judicial intervention and the emergence of the world class aesthetic. Another aspect of the transformation which has not been touched upon here are the instances of resistance and subversion resorted to by people who do not fit the world-class aesthetic. Apart from the complexity of the process at hand there are certain clear trends which emerge from this examination.

The role played by judicial intervention in creating a new discourse on nuisance has been pivotal in the spatial transformation of the city of Delhi. This has been aligned with the judicial activism of the propertied classes. Combined these two have led to the displacement of the poor from the places that they had inhabited. The declaration of the poor as a source of nuisance glosses on the ideological moorings and political consequences of the changes underway in the city of Delhi. The Bhaagidari scheme and propertied classes of Delhi a place in the institutional spaces through the modality of the RWA which placed them in constant contact with the bureaucracy and gave them effective vetoes over any developmental project.

Then is the intellectual genealogy of these developments which can be traced to the works of institutions like Mckinsey & Co. and the NCAER which argued that urban poverty was a relic of the past and would soon cease to exist. This was followed by recommendations to privatise the public land which was already occupied by almost 50% of Delhi's population. Thereby enshrining a conflictual model of urban growth, which is sustained by an aesthetic which is shared even by those who are victimised by it. The urban growth in Delhi hides the poor who do not fit the standard of a world-class aesthetic.

Lastly the objects constituting the world-class aesthetic have an internalised architectural logic of segregation to them. Thus, the gated communities and the shopping malls which are being built and their advertising and naming scheme stand in stark contrast to the places where they are built. This creates a world for the client of the world-class city and its services where the poor are rendered invisible to him. Therefore, the world-class city which emerges from a policy space where the urban poverty is assumed to be a relic of the past, to an urban space where the urban poor are not visible.

[3]The DLF Emporio mall and the Akshardham Temple on Yamuna Riverbank, being examples of such projects.

References

1. Barthes, Roland. 1972. *Mythologies* . New York : Hill and Wang.
2. Baviskar, Amita. 2003. "Between Violence and Desire: Space Power and Indentity in the making of metropolitan Delhi." *International Social Science Journal* 89-98.
3. Chatterjee, Partha. 2004. *The Politics of the Governed: Reflections on Popular Politics in Most of the World.* Columbia University Press: New York.
4. Dupont, Veronique. 2011. "The Dream of Delhi as a Global City." *International Journal of Urban and Regional Research* 35 (3): 533-554.
5. Dupont, Veronique. 2005. "The idea of a ne chic Delhi through publicity hype." In *The Idea of Delhi*, edited by Romi Khosla, 78-93. Mumbai: Marg Publication.
6. Ghertener, Asher D. 2015. *Rule by Aesthetic: World-Class city making in Delhi.* New Delhi: Oxford University Press.
7. Ghertner, Asher D. 2008. "Analysis of New Legal Discourse behind Delhi's Slum demolitions." *Economic and Political Weekly* 43 (20): 57-66.
8. Mckinsey & Company . 2007. *The "Bird of Gold": The Rise of India's Consumer Market* . New Delhi : Mckinsey Global Institute.
9. Mckinsey & Company. 2001. *India: The Growth Imperative.* New Delhi : Mckinsey Global Institute. Accessed September 2, 2020. https://www.mckinsey.com/featured-insights/india/growth-imperative-for-india.

10. Mohan, Dinesh. 2008. "Mythologies, metro rail systems and future urban transportation." *Economic and Political Weekly* 43 (4): 41-53.

11. National Council of Applied Economic Research. 2005. *The Great Indian Market* . Results from NCAER Market Information Survey of Households, New Delhi : National Council of Applied and Economic Research .

12. Patnaik, Utsa. 2007. *The Republic of Hunger*. New Delhi: Three Essays.

13. Planning Commission Of India. 2003. *India Vision 2020.* New Delhi : Government of India .

14. Scott, James C. 1998. *Seeing like a State: How Certain Schemes to Improve the Human Condition Have Failed.* New Haven, Connecticut: Yale University Press.

15. Siemiatycki, Matti. 2006. "Message in a Metro: building urban rail infrastructure and image in Delhi." *International Journal of Urban and Regional Research* 30 (2): 277-292.

●

'प्रज्ञा' पत्रिका अंक - 66, भाग-2, वर्ष 2020-21 का लोकार्पण करते हुए माननीय कुलपति प्रो. सुधीर कुमार जैन
स्थान एवं दिनांक - कुलपति आवास, 31 जून 2022

'प्रज्ञा' जर्नल के लोकार्पण के समय लिया गया चित्र (फोटो)
मध्य में– कुलपति, प्रो. सुधीर कुमार जैन
कुलपति के बायें– प्रो. माया शंकर पाण्डेय, अंग्रेजी विभाग; प्रो. विजय बहादुर सिंह, संकायप्रमुख, कला संकाय एवं सम्पादक, 'प्रज्ञा' जर्नल
कुलपति के दायें– प्रो. सुमन जैन, हिंदी विभाग, महिला महाविद्यालय; डॉ. अशोक कुमार सिंह, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

BANARAS HINDU UNIVERSITY

सर्वविद्या की राजधानी

विश्वविद्यालय के उद्देश्य

1. अखिल जगत् की सर्वसाधारण जनता के एवं मुख्यतः हिन्दुओं के लाभार्थ हिन्दू शास्त्र तथा संस्कृत साहित्य की शिक्षा का प्रसार करना, जिससे प्राचीन भारत की संस्कृति और उसके विचार-रत्नों की रक्षा हो सके, तथा प्राचीन भारत की सभ्यता में जो कुछ महान् तथा गौरवपूर्ण था, उसका निदर्शन हो।
2. साधारणतः कला तथा विज्ञान की समस्त शाखाओं में शिक्षा तथा अन्वेषण के कार्य की सर्वतोन्मुखी उन्नति करना।
3. भारतीय घरेलू धन्धों की उन्नति और भारत की द्रव्य-सम्पदा के विकास में सहायक आवश्यक व्यावहारिक ज्ञान से युक्त वैज्ञानिक, तकनीकी तथा व्यावसायिक शिल्प कलादि सम्बन्धी ज्ञान का प्रचार और प्रसार करना।
4. धर्म तथा नीति को शिक्षा का आवश्यक अंग मानकर नवयुवकों में सुन्दर चरित्र का गठन करना।

OBJECTIVES OF THE UNIVERSITY

1. To promote the study of the Hindu Shastras and of Sanskrit literature generally as a means of preserving and popularizing for the benefit of the Hindus in particular and of the world at large in general, the best thought and culture of the Hindus, and all that was good and great in the ancient civilization of India;
2. To promote learning and research generally in Arts and Sciences in all branches;
3. To advance and diffuse such scientific, technical and professional knowledge, combined with the necessary practical training as is best calculated to help in promoting indigenous industries and in developing the material resources of the country; and
4. To promote the building up of character in youth by religion and ethics as an integral part of education.